परलोक
तत्त्व
भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द

परलोक तत्त्व

लेखक
भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द
(पूर्वनाम : शशिभूषण सान्याल)

अनुवादक
एस०एन० खण्डेलवाल

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

PARALOKA TATTVA

by

Bhargava Shivram Kinkar Yogtrayanand
(Original Name : Shashibhushan Sanyal)

Translated by

S. N. Khandelwal

ISBN : 978-81-7124-784-4

प्रथम संस्करण : 2011 ई०

मूल्य : तीन सौ रुपये (Rs. 300.00)

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी-221 001
फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082
E-mail : vvp@vsnl.com • sales@vvpbooks.com
Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक
वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०
चौक, वाराणसी-221 001

भूमिका

[इस पुस्तक के सम्बन्ध में महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज का अभिमत 'बंगवासी' पत्रिका में श्रावण मास शनिवार 1334 बंगाब्द (ईस्वी सन् 1926) में छपा था, उसे उद्धृत किया जा रहा है।]

जो बंग-साहित्य के इतिहास से परिचित हैं उन्होंने 'आर्यशास्त्र प्रदीप' का नाम अवश्य सुना होगा। भारतवर्ष के लिए नितान्त दुर्भाग्य का विषय है कि ऐसा प्रदीप प्रज्ज्वलित होकर इस देश में स्थायित्व-लाभ नहीं कर सका। वह दीप प्रतिकूल वायु की ताड़ना से निर्वाण प्राप्त कर गया। यदि देश में वास्तविक ज्ञान-पिपासा रहती, तब ऐसा अमूल्य ग्रन्थ रत्नखण्ड की तरह यत्न तथा आदर के साथ यहाँ के प्रत्येक घर में स्थान-लाभ करता। जिज्ञासु के निकट ही ज्ञान की महिमा प्रकाशित होती है। जिनको ज्ञानलिप्सा नहीं है, वे स्वभावतः ज्ञान तथा ज्ञानप्रद साधन का समादर नहीं कर सकते। आर्यशास्त्र प्रदीप के उपरान्त महान् विद्वान् लेखक ने मानवतत्व, भूत तथा शक्ति, आयुष्तत्व प्रभृति कई अपूर्व ग्रन्थ प्रकाशित किये। श्रीभगवान् की प्रेरणा से जगत् के दुःख से व्यथित होकर उन्होंने लेखनी धारणपूर्वक 'परलोक तत्व' का प्रणयन किया था। दुःख का विषय है कि उनके एक भी ग्रन्थ आज सहजलभ्य नहीं हैं। जो वस्तुतः ज्ञानलिप्सु मुमुक्षु हैं, जो शास्त्र-विश्वासी हैं तथा ऋषिवाक्य में श्रद्धावान् हैं, वे इस ग्रन्थ से अत्यन्त प्रीतिलाभ करेंगे। विशेषतः इस ग्रन्थ में निगूढ़ अध्यात्म तत्व की समालोचना है। शास्त्र वाक्य के आपात प्रतीयमान विरोध का सामंजस्य है, साधना का भी रहस्य वर्णित है। एक प्रकार से इसमें संसारपीड़ित विक्षिप्त मति जीवों के स्थिर कल्याण-लाभ का उपाय विवृत है। ऐसे वक्ता दुर्लभ हैं। पूज्यपाद ग्रन्थकार के समान प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्या में समभावेन निष्णात, बहुश्रुत तथा भूयोविद्य एवं अनुभूतियुक्त महापुरुष के ज्ञान तथा धर्मतत्व विषयक साक्षात् उपदेश अति दुर्लभ हैं।

इसीलिए उनकी लेखनी प्रसूत ग्रन्थ परलोक तत्व के तीन खण्ड को प्राप्त करके आनन्द-लाभ कर रहा हूँ। यद्यपि यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं है, बहुत खोज के पश्चात् भी इसके चतुर्थ खण्ड का संधान नहीं मिला, किन्तु इन तीन खण्डों में ही गागर में सागर की उक्ति चरितार्थ प्रतीत हो रही है। आशा करता हूँ कि वर्तमान हिन्दू समाज इस ग्रन्थ से प्रभूत उपकृत होगा।

7 श्रावण शनिवार 1334 बंगाब्द —गोपीनाथ कविराज

अनुवादक का निवेदन

परमश्रद्धेय पद्मविभूषण डॉ० पं० गोपीनाथजी कविराज के सान्निध्य में उनके निवास पर अनेक बार ग्रन्थकार श्री श्री शिवरामकिंकर योगत्रयानन्दजी की चर्चा सुनने का अवसर उनके श्रीमुख से प्राप्त हुआ था। वहाँ की चर्चा से प्रेरणा प्राप्त करके कल्याण के मासिक अंकों तथा विशेषांक में भी प्रातः स्मरणीय ग्रन्थकार के स्फुट किन्तु सारगर्भित लेखों को पढ़ने का भी सौभाग्य मिला। तभी उस किशोरावस्था से ही संस्कार में ग्रन्थकार के प्रति एक आकर्षण तथा आदर के भाव बीजरूप से अपना स्थान बना चुके थे, जिसने पादप रूप लेकर इस अकिंचन द्वारा 'आर्यशास्त्र प्रदीप' जैसे दुरुह, अत्यन्त सारगर्भित ग्रन्थ के चार खण्ड के हिन्दी अनुवाद के रूप में आत्म प्रकाश किया। उक्त ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में ग्रन्थकार की परमपावन जीवन गाथा का भी अंकन किया है, जिसे बंगाल के कई अंचलों की यात्रा करके वहाँ से तथ्य संकलित करके वांगमय रूप दिया गया। भक्त की गाथा भी राम की ही गाथा है। दोनों अभिन्न जो हैं। इसे मैं अपना चरम सौभाग्य मानता हूँ।

इसी तारतम्य में उन शिवस्वरूप ग्रन्थकार के ग्रन्थ 'परलोक तत्व' के अनुवाद कार्य में भगवती ने नियोजित किया है। ग्रन्थ के अनुवाद कार्य में प्रवृत्त होने के पूर्व ग्रन्थकार के जीवन तथा उपलब्धि से सम्बन्धित कुछ तथ्य देना आवश्यक है। ग्रन्थकार जिनका पूर्वनाम शशिभूषण था, इनका जन्म 1858 ई० में हुआ था। अत्यल्प वयस में ही शिवरामानन्दजी की कृपा प्राप्त करके इनका जीवन धन्य हो गया। गुरु के तिरोधान के उपरान्त इन गुरुभक्त महापुरुष ने अपना नाम ही शिवरामकिंकर रख लिया। मनीषा, प्रज्ञा तथा योगशक्ति के विस्मयकारी समाहार के कारण लोग इनको योगत्रयानन्द कहने लगे। कर्म-भक्ति तथा ज्ञान का ऐसा अपूर्व मणिकांचन संयोग क्वचित-कदाचित ही देखने को मिलता है। इन्हें वेद मन्त्रों से चिकित्सा करने की अपूर्व सिद्धि की प्राप्ति हुई थी। इन्होंने दीर्घकाल पर्यन्त काशी में भी निवास किया था। साहित्यसम्राट् बंकिमचंद्र चटर्जी, स्वामी विवेकानंद, महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज इन्हें गुरुवत् मानते थे। त्याग, तपस्या, अगाध ज्ञान युक्त इन महापुरुष का शिवलोक गमन 12 अक्टूबर 1927 ई० को बंगाल के वरानगर के गंगातीर पर हो गया। विस्तृत जीवनगाथा हेतु आर्यशास्त्र प्रदीप, द्वितीय खण्ड का अवलोकन किया जा सकता है।

इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अधिक कहने का अधिकार नहीं है, क्योंकि प्रज्ञालोक की जिस छटा में प्रत्यक्ष सूक्ष्म ज्ञान के आधार पर इस ग्रन्थ का ग्रन्थन हुआ

है, वह आलोचना, समालोचना, प्रशंसा आदि की सीमा से परे का क्षेत्र है। 'आखिन की देखी' को कौन झुठला सकता है? वह भी ऐसी आँखें, जिनके सम्बन्ध में श्रुति कहती है "दिवीव चक्षुराततम् सदा पश्यन्ति सूरयः" सूरीजन अहर्निश निर्निमेष नेत्रों से उस परम सत्य को निहारते रहते हैं, यह उसी परम सत्य का वाङ्मय स्वरूप है। स्तुति निन्दा से परे है?

अन्त में यह कहना है कि ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के चार खण्डों का उल्लेख किया है, परन्तु एशियाटिक सोसायटी तथा बंगाल के अनेक पुस्तकालयों में खोज करने पर भी इसके चतुर्थ खण्ड का सन्धान नहीं मिला। अतएव तीन खण्डों का ही अनुवाद प्रस्तुत है।

सर्वान्त में यह कहना है कि इस प्रकार के गम्भीर, दुरूह तथा सारगर्भित अध्यात्म ग्रन्थों के अध्येता आज के युग में विरल होते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में श्रीमान अनुराग मोदीजी ने ग्रन्थकार के कई ग्रन्थों के भाषानुवाद के प्रकाशन का उत्साह दिखलाया है, जो प्रचुर व्ययसाध्य है तथा जिसका प्रतिदान उन्हें अर्थरूप में भले ही न मिल सके, परन्तु उन्होंने एक ऐसे महापुरुष की कृति का संरक्षण किया है जो नाम-यश से पूर्णतः विमुख रहकर भगवती की सतत आराधना में अपना सब कुछ समर्पित कर चुके थे और अन्त में भगवती गंगा के तट पर एक मास निराहार रहकर अपना शरीर भी उत्सर्जित कर दिया था।

मकर संक्रान्ति, सन् 2011 ई० —**एस०एन० खण्डेलवाल**

बी 31/32, लंका, वाराणसी

॥ श्री सदाशिव शरणम् ॥

॥ श्री गुरवे नमः ॥

लेखक की भूमिका

परलोक नामक ग्रन्थ-प्रकाशन का कारण! मनुष्य यह जानता है कि एक दिन मरना ही होगा। सर्वदा स्मरण न रहने पर भी एक दिन मृत्यु के हृदयहीन करालकवल में अवशभाव से कवलित होना पड़ेगा। नितान्त अनिच्छा के साथ प्रियतम, धनजन का ममता-पाश छेदन करके अनित्य संसार को छोड़ना होगा, यह कभी-कभी स्मरण हो आता है। मरण अवश्यम्भावी है, इसका तो विश्वास है, किन्तु जब यह याद आता है कि मुझे भी एक दिन मरना होगा, तब न जाने क्यों हृदय विचलित हो उठता है, चित्तगगन निराशा के मेघों से आच्छादित हो जाता है। मरण-विचार आनन्दप्रद नहीं है। हमें मरकर यह लोक छोड़ना ही होगा, ऐसे विचार हमारे मन में स्थायी नहीं रहते। मरण का रूप क्या है? सभी का हृदय मृत्युभय से भीत है। मृत्यु किसी की भी प्रिय नहीं है, यह निश्चित नियम होने पर भी हर कोई मृत्यु से भीत नहीं होता। ऐसे व्यक्ति मृत्यु की भी उपेक्षा कर देते हैं। ऐसे सामर्थ्यशाली महान् लोग भी यहाँ हैं। कैसे मृत्यु की भीमभृकुटि की उपेक्षा करने का सामर्थ्य जन्म लेता है? मृत्यु हमारे लिए इतनी अहृद्य तथा भीषण क्यों है?

ज्ञानी का हृदय मृत्यु-भय से कम्पित नहीं होता। विवेकीजन मृत्यु को निद्रा का रूपान्तर कहते हैं, तत्वदर्शी मृत्यु की भीम-भृकुटि की अनायास उपेक्षा कर देते हैं। अविद्या के कारण मृत्यु इतनी भीषण लगती है। जिस ज्ञान का उदय हो जाने पर मृत्यु-भय तिरोहित हो जाता है, जिस ज्ञान का विकास होने के उपरान्त मृत्यु की भीम-भृकुटि की उपेक्षा की समर्थता आ जाती है, उसका स्वरूप क्या है? हमारा वास्तविक स्वरूप तो आत्मा है, जो मरणरहित है। मैं वास्तव में अमर हूँ, देशकाल आदि जनित परिवर्तन से मेरा परिवर्तन नहीं होता। मैं अविचाली अपरिणामी हूँ, यही ज्ञान है। यदि हम अमर हैं, तब मरण-भय क्यों? तब किसके मरण का भय? मनुष्य-मात्र में यह विश्वास कब सहज होगा कि उसे एक दिन मरना ही है?

मैं स्वयं को नहीं पहचानता। मैं कौन हूँ? यह नहीं जानता। अविद्या मेरे प्रकृत रूप को देखने नहीं देती। जो मरणधर्मा नहीं है, उसे मैं मिथ्याज्ञान के कारण मरणधर्मा कहता हूँ। मैं नित्य को अनित्य तथा अनित्य को नित्य मानकर भ्रम में पड़ा हुआ हूँ। मैं आत्मज्ञानरहित, अबोध-भ्रमयुक्त हूँ, इसी कारण मुझे मृत्यु-भय दिखलाती है। 'मुझे मरना ही होगा' यह प्रत्यय मनुष्य-मात्र में सहज हो गया है। मरण तो परिवर्तन के

अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जो स्वभावतः परिवर्तनशील है, जो वास्तव में मरणधर्मा है, उसकी मृत्यु हो जाती है। जिसका जो स्वभाव है, वह उसे कभी भी छोड़ नहीं सकता। जो स्वभावतः ऐसे मरणशील हैं, हमेशा मर रहे हैं, मरेंगे। जो स्वभावतः अमर हैं, वे चिरकाल से एक ही प्रकार से हैं, चिरकाल पर्यन्त अपरिवर्तनीय रहेंगे।

मैं मरकर कहाँ जाऊँगा ? मैं जिन्हें चाहता हूँ, जो मुझे आत्मीय मानते हैं, उनका संग छोड़ना होगा। यह सोचकर मेरा हृदय शोकाभिभूत हो जाता है। जिनका प्राण यह सोचकर व्याकुल हो जाता है कि उन्हें मुझे छोड़कर जाना होगा अथवा मैं उन्हें छोड़ जाऊँगा, वहाँ यह भी विचार आता है कि मृत्यु के पश्चात् उन्हें अथवा मुझे कहाँ जाना है ? यहाँ जिन आत्मीयजनों के साथ प्रेम-शृंखला में बद्ध होकर सुखपूर्वक समय अतिवाहित कर रहा हूँ, क्या मृत्यु के पश्चात् उनसे ऐसे मिल सकूँगा ? क्या तब उन्हें देख सकूँगा ? जिनका मानवीय ज्ञान अनेकांश में विकसित है, जिन्होंने आसन्न चेतनराज्य का अतिक्रमण कर लिया है, विशिष्ट प्रकृति की प्रेरणा से जिन्होंने इहलोक तथा परलोक का तत्वानुसंधान किया है, उनके हृदय में इन सभी प्रश्नों के समाधान की इच्छा होती है। इस प्रकार के चिन्ताशोकानल से दग्ध हृदय में ये प्रश्न स्थान पाते हैं। तत्वज्ञ तथा तत्वजिज्ञासु के हृदय में भी ये मीमांसिततत्व के प्रश्न विवेचित होते रहते हैं। मरणोपरान्त जीव कहाँ जाता है, जीव का क्या होता है, यह जानने की इच्छा अवश्य होती है, तथापि क्या यह जान सकना सम्भव है ? शास्त्र का कथन है कि स्थूल प्रत्यक्ष तथा अनुमानप्रमाण से यह जानना सम्भव न होने पर भी सूक्ष्म प्रत्यक्ष तथा आप्तोपदेश द्वारा इसे जाना जा सकता है। परलोक दुर्ज्ञेय होने पर भी अज्ञेय नहीं है। जब तक मोक्षसाधन-रूप ज्ञान का विकास नहीं हो जाता, जब तक अविद्याध्वान्त सर्वतोभावेन तिरोहित नहीं हो जाता, तब तक जीव को मरणोपरान्त कर्मानुरूप जन्मग्रहण करना होगा। सूक्ष्मदर्शी शास्त्रों ने प्रेत्यभाव अथवा पुनर्जन्म को माना है। पूर्वजन्म मानने में किनको असहमति है ? लोकान्तर के अस्तित्व में विश्वास-स्थापना करने में कौन अपारग है ? शास्त्र इनको नास्तिक कहता है। पुनर्जन्म नहीं, कर्मफल नहीं, आत्मा नहीं। परोक्षविषय (जो स्थूल प्रत्यक्ष का अविषय है) नहीं है, ऐसा जो मानते हैं, वे शास्त्र-दृष्टि से नास्तिक हैं। वैदिक आर्य जाति के अतिरिक्त अन्य किसी जाति ने यथायथभावेन परलोक का तत्वानुसन्धान नहीं किया है। यदि यह कहें कि पुनर्जन्म में विश्वास अन्य किसी जाति वाले नहीं करते, तो यह अत्युक्ति नहीं होगी। अन्य जाति का धर्मग्रन्थ पढ़ने पर पूर्वजन्म का कोई विशेष सन्धान उनमें नहीं मिलता। अन्य देश के दार्शनिक ग्रन्थों में पूर्वजन्म के सम्बन्ध में कुछ विशेष सन्धान नहीं मिलता। अन्य देशों के ग्रन्थों में प्रेत्यभाव विशेष विचार्यरूप से गृहीत नहीं है। ग्रीक तथा मिश्र सभ्यता के प्राचीन धर्म तथा दर्शन का अध्ययन करने से भले ही उनमें पूर्वजन्म (पुनर्जन्म) का आभास मिलता हो, तथापि अत्यल्प विवरण ही देखा गया है। वह वेदादि शास्त्रों में पुनर्जन्म-विषयक उपदेश की विकृत प्रतिध्वनि-मात्र है। उन्होंने

वेदादि शास्त्रों के वर्णन को यथायथ भाव से ग्रहण नहीं किया है। जो जाति परोक्ष-विषयक अस्तित्व मानने को प्रस्तुत नहीं है, जो जाति स्थूल प्रत्यक्ष के अविषय पदार्थ के तत्वानुसन्धान को व्यर्थ श्रम माने, इस देह का पतन होने पर वह जाति अनन्तकाल-पर्यन्त दुःखसंकुल नरक में वास करेगी अथवा स्वर्ग जायेगी यह माने, अथवा यह माने कि मरणोपरान्त आत्मा का अस्तित्व एकबारगी विलुप्त हो जायेगा, ऐसी जाति की दृष्टि नितान्त संकीर्ण है। उनके बारे में यही कहा जा सकता है कि उनकी जाति का धर्म तथा दर्शनग्रन्थ अतिमात्र अपरिपुष्ट है।

हमने वैदिक आर्य जाति के कुल में जन्म लिया है। भले ही कालधर्म से हमारा हृदय कलुषित हो गया हो, वैदिक आर्य जाति की प्रतिभा ने हमें अयोग्य तथा विकृत मानकर भले ही त्याग दिया हो, तथापि आज भी वेदों को हम ईश्वर कहकर पूजा करने को प्रस्तुत हैं। हम ऋषियों को साक्षात्कृतधर्मा तथा सर्वज्ञ मानकर उनमें पूर्ण विश्वास करते हैं (भले ही उन्हें समझ न सकें)। हमारा परलोक में दृढ़ प्रत्यय है। जब तक मोक्ष-साधन ज्ञान का उदय नहीं हो जाता, तब तक जीव को कर्मानुरूप जन्म ग्रहण करना ही होगा, इस शास्त्रोपदेश को हम शिरोधार्य करते हैं। हमारा विश्वास है कि इस लोक के अतिरिक्त लोकान्तर की सत्ता है। धर्म का मूल फल है सुख, अधर्म का फल है दुःख। धर्माधर्म ही सृष्टि वैषम्य का हेतु है। कर्म विचित्रता के कारण जगत् में विचित्रता है। हमारी बुद्धि को ये सभी बातें युक्तिसंगत लगती हैं। अतएव परलोक का अनुसन्धान मानव का परम कर्तव्य है, यह हमारी दृढ़ धारणा है।

वेद, वेदांग, दर्शन, पुराण, इतिहास, आयुर्वेदादि किसी भी शास्त्र का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि परलोक का तत्वानुसन्धान आस्तिक का कर्तव्य है। परलोक के सम्बन्ध में शास्त्रों में ये सभी उपदेश मिलते हैं, यह जाना। यहाँ उनके उद्दीपक कारण के सम्बन्ध में एक दो बात!

पुनर्जन्म का सिद्धान्त कोई नयी धारणा नहीं है। यह मनुष्य के उदय इतनी प्राचीन है। कहा है—

The reincarnation of souls is not a new idea. It is on the contrary an idea as old as humanity itself. It is the metempsychosis, which from the Indian passed to the Egyptians, from them to Greeks and which was after-ward professed by the Druids. (The Day after Death) page 245.

सृष्टि में सुतीक्ष्ण शोक-बाण से हृदय विद्ध न हुआ हो, शोक से भरे इस संसार में ऐसे पुरुष अत्यल्प होते हैं। जिनसे भी बात करता हूँ, उनका भी हृदय शोकरूपी बाण से क्षत-विक्षत है। देखता हूँ कि काल के शासन का कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता। सोचता हूँ कि अस्थिर पदार्थों को अब नहीं चाहूँगा। जिसे चाहूँगा, इस विश्वास के साथ उससे कहूँगा कि वह मेरी बात रखेगा उसकी उपेक्षा नहीं करेगा "जो भाव मरण के अधीन नहीं है, जो भाव कभी भी तुम्हारा त्याग नहीं करता, उसे

ही चाहो।'' किन्तु ऐसा नहीं कह पाता, क्योंकि मेरे कहने के अनुरूप कोई भी कार्य नहीं करेगा, इसीलिए किसी से नहीं कहता। तीन-चार वर्षों के बीच कई प्रिय पदार्थों को खो चुका हूँ। यदि मैं पहले ही मर जाता, तब मेरा ऐसा विश्वास है कि वे मेरे न रहने से जीवन्मृत हो जाते। मेरे प्रति उनकी जैसी भक्ति थी, उससे मैं ऐसे विश्वास को बिना अपने हृदय में स्थान दिये नहीं रह पाता, किन्तु ऐसा नहीं हुआ, वे ही मुझे छोड़कर चले थे। अल्पकाल में ही अपने अनेक प्राण-समान प्रियजनों को खोकर त्रिभुवन जननी से बहुत दिनों तक कई बार कहा, ''माँ! मेरे न चाहने पर भी तुमने जिनको दिया था, अब उन्हें मुझसे क्यों छीन लिया? माँ! तुमने मुझसे जिनको बाह्यप्राण के समान प्रेम करने को कहा था, मैंने तुम्हारे ही आदेश से जिनको इतना चाहा, तुमने उन्हें मुझसे छीनकर कहाँ छिपा दिया? क्या पुनः उनसे नहीं मिलवाओगी?'' जननी ने कहा, ''मृत्यु क्या है, प्रकृत प्रेम किसे कहते हैं, मृत्यु के पश्चात् जीव कहाँ जाता है, यही बतलाने के लिए, मैंने तुम्हारे प्रियजनों को छिपा रखा है। मृत्यु क्या है, यह तुम नहीं जानते, प्रेम क्या पदार्थ है, यह तुमको ज्ञात नहीं, इसी कारण तुम शोक से अधीर हो। देह-भेद अथवा शरीर का नाश होने पर भी जीव का नाश नहीं होता। मूढ़ व्यक्ति ही देह-भेद हो जाने पर, जीव का अस्तित्व विनष्ट हो जाने पर ऐसी अमूलक बातें कहता है।'' वर्तमान देहधारण का प्रयोजन समाप्त होते ही, जीव देहान्तर-गमन करता है। ऐसी देहान्तर-प्राप्ति अथवा देह-भेद को पंचत्व-प्राप्ति भी कह सकते हैं, जीव का नाश नहीं होता। मृत्यु अवस्थान्तर-प्राप्ति के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं है। परिवर्तनात्मक संसार का कोई भी पदार्थ बिना परिवर्तन मुहूर्त-मात्र भी नहीं रह सकता। योगीश्रेष्ठ, महातेजा, सर्वज्ञ महर्षि वेदव्यास ने प्रियजन वियोगजनित शोकानल में दह्यमान पाण्डवों को उनके शोकापनोदनार्थ कुरुक्षेत्र महासमर में मरे हुए कुरु-पाण्डव सेना वालों तथा नाना देशवासी महाभाग राजाओं को पुनः दिखलाया था। सागर में उतराता-बहता दो अलग-अलग काष्ठ-खण्ड जैसे कभी परस्पर युक्त तो कभी वियुक्त हो जाता है, उसी प्रकार से इस दुष्पार भवसागर में भासमान प्राणिगण भी उसी प्रकार से काल के कारण एकत्र होते हैं और बिछुड़ जाते हैं। चक्रवत् नियत परिवर्तनशील इस अनित्य संसार में प्रियजनों के साथ चिरसहवास नहीं हो पाता। राह चलते पथिक जैसे कुछ समय के लिए परस्पर संगत होकर बाद में अपने-अपने गन्तव्य की ओर चले जाते हैं, वैसे ही इस संसार में स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, सखा सभी की संगति इसी प्रकार की अल्पकालिक है। जब व्यक्ति स्वयं अपने शरीर में चिरकालपर्यन्त नहीं रह सकता, तब अन्य लोगों के साथ चिरकालपर्यन्त रहने की सम्भावना कैसे हो सकती है? जन्म-मृत्यु, लाभ-अलाभ, प्रियवस्तु-वियोग, अप्रिय का संयोग, सुख-दुःख, सम्पद्-विपद, यह सब अदृष्ट का अनुवर्ती है। अदृष्ट के अनुवर्ती होकर प्राणिगण के भोग के लिए, ये कालक्रम से उपस्थित होते हैं और काल पूर्ण हो जाने पर अन्तर्हित हो जाते हैं। मैं कहाँ हूँ, कहाँ

जाना है, मैं कौन हूँ, कैसे और क्यों इस संसार में हूँ, किसलिए अनुताप कर रहा हूँ, इस प्रकार से विवेकशक्ति का सहारा लेना चाहिए। हृदय में, चित्त में, विवेकशक्ति को संस्थापित कर लेना चाहिए। इस अनित्य संसार में दुःख के अवसान से सुख तथा सुख के अवसान से दुःख होता है। अतः जो भाग्यवान् नित्य सुख के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे अनित्य सुख तथा अनित्य दुख का परित्याग करें। जिस कारण से दुःखजनक शोक तथा सन्ताप प्रभृति विविध क्लेश उपस्थित होते हैं, उसके लेशमात्र को चित्त में स्थान देना अनुचित है। जिसके हृदय में प्रकृत-प्रेम का विस्तार होता है, वह कभी भी शोकग्रस्त नहीं होता। आत्मज्ञान के बिना प्रकृत-प्रेम का विस्तार कभी नहीं होता। हममें पुत्रादि के प्रति जिस शुभेच्छा तथा लगाव का अनुभव होता है, उसका सत्य तो यह है कि हम पुत्रादि के लिए उनमें रति नहीं रखते, पुत्रादि के प्रति 'यह मेरे हैं' यह जो भावना है, वही 'मेरापन' उनके प्रति लगाव तथा प्रेम का कारण है। श्रुति का कथन है कि आत्मा ही परम प्रेम का आस्पद है। 'अपने' की ही तरह सर्वभूत समूह में समान प्रीति की दृढ़ता का नाम ही है ज्ञान की परिसमाप्ति। वास्तव में आत्मज्ञान का पूर्ण विकास जब तक नहीं हो जाता, तब तक वास्तविक प्रेम असम्भव है। वास्तव में आत्मदर्शी ही यथार्थ प्रेमिक है।[1]

आत्मा ही सर्व है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है, सब कुछ आत्मरूप है, जिसमें इस पारमार्थिक ज्ञान का उदय हो जाता है, वे मोहरहित हो जाते हैं, कभी शोकार्त नहीं होते।

शोक-मोह इत्यादि अविद्या का कार्य है। अविद्या का नाश हो जाने पर शोक-मोह आदि नहीं रह जाता। कहा है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत् (शुक्लयजुर्वेद संहिता 40/4)

जो व्यक्ति वेदोपदिष्ट भावनारूप अग्निहोत्र करते हैं, वे उनकी कोई वस्तु इस लोक में नहीं नष्ट होती, जिन प्रियजनों का वियोग हो जाता है, मरण के पश्चात् उन्हें, वे स्वर्गादि लोक में पुनः मिल जाते हैं। उक्त है—

"यद्ध वा तस्य किञ्चनश्यति मन्प्रियते यदपाजन्ति सर्वं हैवेनं तदमृष्मिल्लोके..."

दयामयी माँ के इन सब उपदेशों को अन्तःकर्ण में सुनकर शोक-सन्तप्त हृदय को अनेकांश में शान्ति का अनुभव होने लगा। जो व्यक्ति जिस भेषज का सेवन करके जिस रोग से मुक्ति प्राप्त करता है, उसी रोग से आक्रान्त देखकर अन्य को भी वह व्यक्ति उसी भेषज के सेवन का अनुरोध करता है। जो शास्त्र पर विश्वास करते हैं, फिर भी मेरी तरह शोकानल से दग्ध हैं, उनका शोक-निवारण करने के लिए उन्हें

---

1. पंचदशीकार कहते हैं—"देहात्मवत् परात्मत्वदार्द्येबोधः समाप्यते"
अतः कहा जा सकता है कि ज्ञान तथा प्रेम अभिन्न पदार्थ हैं। जो ज्ञान की उपेक्षा करते हैं तथापि प्रेम का आदर करते हैं और कहते हैं कि वेद में, दर्शन में प्रेम विकास प्रदर्शित नहीं है, प्रेम की बातें नहीं हैं, वे भ्रान्त हैं। क्योंकि प्रेम की विमलमूर्ति, प्रकृतरूप उन्हें दृष्टिगोचर नहीं है।

शास्त्रोक्त भेषज के आधार पर अपहृत प्रियजनों के साथ पुनः मिलाने का उपाय बतलाने की इच्छा हो गई। यह इच्छा ही इस ग्रन्थ के लेखन का प्रधान कारण है। यदि कोई भी इस ग्रन्थ को पढ़कर उपकृत हो, उससे मेरे लोकान्तरगत प्रियजन को भी उसका फलभाग मिले, दयामयी से उनके इस अबोध सन्तान की करबद्ध प्रार्थना है। माँ जब तक अपने इस अधम, नितान्त अकिंचन सन्तान को इस देह में रखना चाहेंगी, उतने दिनों तक यही अविराम प्रार्थना करता रहूँगा कि जो मुझसे परमानन्दमयी त्रिभुवन-जननी के चिरशान्ति निकेतन में जाने के पथ में जिज्ञासा करें, त्रितापहरिणी भगवती उन्हें उनके इप्सिततम स्थान में जाने के पथ का प्रदर्शन करें और उन्हें अपने क्रोड़ में स्थान प्रदान करें।

परलोक नामक ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय तथा उसकी प्रतिपादन रीति के सम्बन्ध में कुछ बातें। यह ग्रन्थ चार खण्डों में परिपूर्ण हुआ है। प्रस्तावना, आस्तिक तथा नास्तिक, परलोक क्या है? जीव-जन्म से सम्बन्धित शास्त्रोपदेश, इसी सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का मत, यह है प्रथम खण्ड का विषय। द्वितीय तथा तृतीय खण्ड में जीव के जन्म-सम्बन्ध में मेरे मन्तव्य की अनुवृत्ति तथा पुनर्जन्म-सम्बन्धित विवेचना है। चतुर्थ खण्ड में पुनर्जन्म-सम्बन्धित मेरी अनुवृत्ति (मन्तव्य की अनुवृत्ति), कर्मतत्व का संक्षिप्त विवरण, लोकान्तर, मरणोत्तर जीव की गति तथा ब्रह्म, ईश्वर, जीव तथा लिंग देह का विवरण है। (*खेद का विषय है कि यह चतुर्थ खण्ड बहुत खोजने पर भी प्राप्त नहीं हो सका, अतः इस प्रस्तुति में मात्र तीन खण्डों का ही समावेश हो सका है। —अनुवादक*)

परलोक शब्द की व्युत्पत्ति है 'जो लोकित अथवा दृष्ट नहीं होता।' लौकिक दृष्टि से जो लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, यह परलोक का अर्थ है। इस व्युत्पत्ति से जो अर्थ प्राप्त होता है, उससे इसे सूक्ष्म, अतीन्द्रिय अथवा अदृष्ट (Unseen) पदार्थ-मात्र के वाचक रूप से ग्रहण किया जा सकता है। स्थूल अथवा सूक्ष्म प्रत्यक्ष के जो अविषय हैं, ऐसे पदार्थ की संख्या अधिक है। प्रत्यक्षगम्य पदार्थ की संख्या अत्यल्प है। इसलिए जो प्रत्यक्ष के अविषय पदार्थ के अस्तित्व में विश्वास स्थापित नहीं कर पाते, उनका ज्ञान स्वल्पदेशवृत्तिक है। जो परलोक के अस्तित्व में विश्वास नहीं कर पाते, उन्हें शास्त्र ने नास्तिक कहा है, यह अन्वर्थ हो गया है। आस्तिक तथा नास्तिक के शास्त्रोक्त लक्षणों का तात्पर्य हृदयंगम करने के लिए सर्वप्रथम परलोक के स्वरूप को समझना होगा। कार्य के कारण की अवधारणा करना ही विज्ञान तथा दर्शन का उद्देश्य है। कार्य के कारण की अवधारणा करना तथा परलोक का स्वरूप-निरूपण करना ही प्रकृत रूप से जगत् के कारण के अनुसन्धान करने का उद्देश्य है। इसलिए ईश्वर, आत्मा, कर्म, जड़शक्ति तथा परमाणु इत्यादि पदार्थ का तत्वान्वेषण करना ही होगा। प्रत्यक्ष प्रमाण को कभी भी दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक पदवाच्य नहीं माना जाता। स्थूल प्रत्यक्ष से किसी भी कार्य का तत्वविनिश्चय असम्भव है। जगत्

कैसे सृष्ट हुआ, चेतन-अचेतन का स्वरूप क्या है, जीव की उत्पत्ति कैसे होती है, मरणोपरान्त जीव का अस्तित्व रहता है अथवा नहीं, संसार में कोई सुखी तो कोई दुःखी है, कोई विद्वान् तो कोई मूर्ख है, कोई स्वस्थ तथा विकलांग नहीं है—जहाँ कोई अस्वस्थ तथा विकलांग है, कोई धार्मिक है तो कोई अधार्मिक, इस प्रकार की सृष्टि-विषमता का कारण क्या है, केवल स्थूलप्रत्यक्ष द्वारा इस प्रश्नसमूह का समाधान कदापि नहीं हो सकता। क्रमविकासवादी इन सभी प्रश्नों का सन्तोषजनक संशयरहित उत्तर नहीं दे सके। उनके अनुसार अणुसमूह के परस्पर संयोग से जीवन-संचार से जीव का जन्म होता है, उनका विश्लेष (अणु का वियुक्त होना) ही मरणविकार है। ऐसा सुनकर किसी भी प्रेक्षावान् को सन्तोष नहीं होता। सूक्ष्मतम जीव से लगाकर मनुष्यपर्यन्त जो सभी स्वत्व संरक्षणार्थ सदा चेष्टावान् रहते हैं, मरणोपरान्त वह स्वत्व नहीं रह जाता। क्या कोई व्यक्ति इस प्रकार के विचार को हृदय में स्थान देगा कि मरणोपरान्त जीव-सत्ता ही समाप्त हो गयी? जिसके प्रति जीव की इतनी ममता है, उसका एकबारगी नाश होगा, यह चिन्ता ही जीव के लिए बाधाप्रद है। मरणोपरान्त किसी न किसी रूप में हमारा अस्तित्व रहता है, अधिकांश का यही मत है। आत्मा के अनश्वरवाद का पक्षपाती होना मानव की प्रकृति है। वैज्ञानिक विद्वान् बैलफोर स्टुअर्ट तथा पी.जी.टेट ने अपने ग्रन्थ 'Unseen Universe' में ऐसा ही विचार प्रकट किया है।[1] मरणोपरान्त जीवन का अस्तित्व है, इस पर इन विद्वानों ने एक सीमा तक विश्वास किया है। साथ ही यथासम्भव वैज्ञानिक युक्तियों द्वारा भी लोगों को यही विश्वास कराने का प्रयत्न भी किया है, तथापि जब तक पुनर्जन्म तथा कर्मतत्व की शास्त्र-व्याख्यात रूपरेखा को ये लोग न देख सकेंगे, तब तक इनको शास्त्रीय दृष्टि से आस्तिक नहीं कह सकते।

जीव का पुनर्जन्म होता है, अथवा नहीं, यह किस प्रमाण से निश्चित होगा? शास्त्र से यह विदित होता है कि सूक्ष्म प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश से (इन तीन प्रमाणों से) यह प्रमाणित हो सकेगा। आप्तोपदेश ही तब प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के अविषय पदार्थों के तत्वनिश्चय का प्रधान प्रमाण है। यह जानने के लिए कि जीव का पुनर्जन्म होता है अथवा नहीं, प्रथमतः जीव के जन्म के सम्बन्ध में जो उपदेश प्राप्त होते हैं, उन्हें सुनना-गुनना आवश्यक है। जो पुनर्जन्म के प्रतिक्षेपक हैं (उसे नहीं मानते) वे लोग आत्मान्तर निरपेक्ष माता-पिता को ही अपत्योत्पादन का कारण मानते हैं। अतः इनके मत से पूर्व शरीर के परित्याग के अनन्तर शरीरान्तर ग्रहणरूप आत्मा का कोई पुनर्जन्म नहीं होता। 'पुनर्जन्म' शीर्षक विवेचना में मैंने नास्तिकों के

1. "The great majority of mankind have always believed in some fashion in a life after death; many is essential immortality of the soul; but it is certain that we find many disbelieveres in such doctrines who yet retain the nobler attributes of humanity. It may, however, be questioned...." *The Unseen Universe*, page 23.

मत का भी वर्णन किया है। जीव के जन्मतत्व को जानने के लिए उसकी उत्पत्ति से सम्बन्धित जितने मत प्रचलित हैं, उनको जानना आवश्यक है। इसलिए मैंने सृष्टि-सम्बन्धित जितने भी मत हैं, उनका संक्षिप्त संवाद अंकित किया है। जगत् सृष्टि तथा जीवन जन्म के सम्बन्ध में शास्त्र के साथ प्रतीच्य दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों के मत में कहाँ-कहाँ साम्य है, कहाँ-कहाँ इनमें विरोध है, यह भी अंकित करने का प्रयत्न किया है। वेद के ऋषि तथा आचार्यगण जिस कारण को अभ्रान्त तथा श्रेष्ठ प्रमाण कह गये हैं, उसे सबको जानना चाहिए। आधुनिक शिक्षित श्रेष्ठ पुरुषवृन्द के लिए वेदज्ञान उचित है। इनकी दृष्टि में वेद का जो स्वरूप बैठ गया है, वह वेद का प्रकृत रूप नहीं है। यह मैंने इस ग्रन्थ में कहने का प्रयास भी किया है। ऋषि तथा आचार्यगण वेद को सर्वविद्या की प्रसृति कहते हैं। वे कहते हैं कि वेद से विश्व की उत्पत्ति हुई है। यह जानना होगा कि इनके द्वारा कहे गये ऐसे वचनों का अभिप्राय क्या है? यह जानने के लिए वेद के स्वरूप का दर्शन आवश्यक है। इनका स्वरूप-दर्शन करने के लिए तत्पर होने पर शब्द का तत्वान्वेषण करना होगा। मैंने जो इस ग्रन्थ में शब्द का तत्वानुसंधान किया है, यही उसका प्रधान कारण है। अनेक की धारणा है कि वेद में सत्यांश से काव्यांश की अधिकता है। परन्तु यह सत्यभूमिक धारणा नहीं है। इसके प्रतिपादन के लिए तथा यह बतलाने के लिए कि वेद से ही अखिल शास्त्र की उत्पत्ति हुई है, मैंने इस ग्रन्थ में न्याय, व्याकरण तथा अलंकारशास्त्र का भी वर्णन किया है।

प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के परे (उनके अविषय) जो पदार्थ हैं, उनके तत्वान्वेषण में प्रवृत्त हो जाना, उनके लिए श्रेयस्कर है जो निःश्रेयस प्रार्थी तथा स्थिर कल्याणकांक्षी हैं। जिनके हृदय में यह दृढ़ विश्वास है कि वेद के अतिरिक्त उनका अन्य कोई गन्तव्य नहीं है। क्योंकि परलोक स्थूलप्रत्यक्ष का विषय कदापि नहीं है। अतएव परलोक का स्वरूपदर्शन एकमात्र वेद ही करा सकते हैं। इसी कारण मैंने परलोक का तत्वविनिश्चय करने में प्रवृत्त होने पर वेदादिशास्त्रसमूह का ही प्रधान आश्रय लिया है। प्रतीच्य दार्शनिक तथा वैज्ञानिकों ने (वेद तथा वेदाश्रित शास्त्रसमूह का ज्ञान न होने के कारण) परलोक के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं कहा है। इसलिए परलोक तत्व का अनुसन्धान करनेवालों को प्रतीच्य दर्शन तथा विज्ञान से कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकती।

यह सत्य है कि शास्त्र पढ़ने पर आपातदृष्टि से प्रतीयमान परस्पर विसंवादी अनेक मतों के नाना सिद्धान्तों का संवाद प्राप्त होता है। शास्त्र में द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद इत्यादि विविध वादों की बातें आती हैं। सबने ही यथाशक्ति अपने-अपने मत के प्रतिष्ठापनार्थ तथा अन्य मत के खण्डनार्थ चेष्टा की है। परस्परविरुद्ध मतसमूहों में से प्रत्येक सत्य नहीं हो सकता। अतः शास्त्रों से कोई भी स्थिर सिद्धान्त बना सकना असम्भव है। प्रतिभाभेद ही मतविभिन्नता का कारण है। गुणभेद के कारण प्रतिभाभेद हो जाता है। ऋषिगण अवश्यमेव सर्वज्ञ थे, परन्तु उनका तत्वोपदेश

अधिकारी के अनुसार हुआ है। कोई भी मत ऋषियों द्वारा कपोल-कल्पित नहीं है। द्वैतवादादि जितने भी प्रकार के वाद हैं, सभी का उदय सनातनी श्रुति से ही हो सका है। जिन्होंने जैसी प्रतिभा के साथ जन्म लिया, उन्होंने तदनुरूप मत का अवलम्बन लिया। संसार में चिरकाल से मतभेद है और चिरकालपर्यन्त रहेगा। फिर भी यह ऋषियों का मतभेद प्रकृत साधक के लिए हानिकारक नहीं है। परन्तु उस उपाय के सम्बन्ध में ऋषियों में मतभेद नहीं है, जिसका सहारा लेकर मतभेदों का समन्वय हो जाता है तथा पारमार्थिक ज्ञान का विकास होता है। ऐसे उपाय के सम्बन्ध में तथा साधना के सम्बन्ध में ऋषिगण एकमत हैं। बिना चित्तशुद्धि हुए प्रकृत ज्ञानोदय नहीं होता, इस सम्बन्ध में ऋषियों में कोई मतभेद ही नहीं है।

शास्त्रों की रचना रटकर कण्ठ में ही रखने के लिए नहीं है। शास्त्रोपदेश हैं हृदय में धारण करने के लिए। शास्त्रोपदेश हैं कर्म करके चित्त मल का शोधन करने के लिए। इसीलिए शास्त्र-रचना हुई है। जो शास्त्रोपदेश का पालन करते हुए इनका अध्ययन करते हैं, वे कभी विपन्न नहीं होते। वे कृतार्थ हो जाते हैं। अभिमान राहुग्रस्त हृदय में शास्त्र का प्रकृतरूप नहीं आता। साधनाविहीन के मुख से शास्त्रोपदेश सुनकर किसी भी अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती। वैज्ञानिक भी मेरी इस बात को ग्राह्य समझ सकते हैं। जैसे कोई हैं रामचन्द्र वेदान्तवागीश। यह मुख से वेदान्तवागीश हो सकते हैं; समस्त वेद इनको कण्ठस्थ हो सकता है। तथापि यदि ये हृदय से वैदान्तिक नहीं हैं तब इनके द्वारा वेदान्ततत्व जिज्ञासु का कौन उपकार होगा? जिन्होंने पातंजलसूत्र, वेदव्यास-प्रणीत योगसूत्रभाष्य, वाचस्पति मिश्र-कृत भाष्यटीका तथा विज्ञानभिक्षुकृत योगवार्तिक कण्ठस्थ किया है, किन्तु चित्तवृत्ति निरोधार्थ योगशास्त्रोक्त विधि से किसी भी क्रिया का अनुष्ठान नहीं किया है, क्या वे योगशास्त्र के उपदेष्टा हो सकते हैं? जैसे आपने भगवान् शास्त्री से वेद पढ़ना प्रारम्भ किया। उन्हें चारों वेद, निरुक्त, व्याकरणादि कण्ठस्थ हैं, उनके स्मृति-पथ में यह सब सदा जाग्रत् है, किन्तु उन्होंने वेदोक्त किसी भी क्रिया का अनुष्ठान नहीं किया है। वे वेदसंस्कृतमति नहीं हैं (उनकी मति का संस्कार वेद से नहीं हुआ है), अतः मन्त्रशक्ति में उनकी श्रद्धा नहीं है, देवताओं के अस्तित्व में दृढ़ विश्वास भी नहीं है। वे योगी अथवा तपस्वी भी नहीं हैं। इनसे वेद पढ़कर आप कभी भी ऋषिगण सेवित वेद का साक्षात्कार नहीं कर सकते। यह अभ्रान्त ज्ञान है, सर्वविद्या तथा जगत् का उन्मेष भी इसी से हो सका है, इन सबको आप भगवान् शास्त्री के समान कण्ठस्थ भले ही कर लो, इससे कुछ भी नहीं होना है।

इसीलिए कहता हूँ कि शास्त्र का प्रकृतरूप जानकर कृतार्थ होने के लिए शास्त्रोपदेश का पालन आवश्यक है। यदि सांसारिक ख्याति, अर्थ तथा सम्मान-प्राप्ति ही शास्त्राध्ययन का प्रयोजन है, तब तो अलग बात है। यदि मोक्षसाधन-प्राप्ति तथा ज्ञान की प्यास बुझाने के लिए, भवसन्ताप निवारण के लिए शास्त्रसिन्धु में अवगाहन किया गया है, तब अभिमानरहित होना होगा। साधक, शास्त्रज्ञ, गुरु की चरणसेवा

करके यह उपलब्धि होगी कि वस्तुतः ऋषियों में कोई मतभेद नहीं है। यह भी ज्ञात होगा कि ऋषिगण सर्वज्ञ थे। शास्त्र का कहना है कि तर्क से यह मीमांसा नहीं हो सकती कि पुनर्जन्म है अथवा नहीं है। संस्कार से साक्षात्कार होने पर अपने-आप ही यह समझ में आ जाता है।[1] देवता हैं अथवा नहीं है, इसका प्रमाण स्वाध्याय से मिलेगा। यथाशास्त्र अध्ययन से इष्ट-प्राप्ति भी होती है। अभीष्ट देवता साधक की सभी प्रार्थना पूर्ण करते हैं। उसके सभी अभाव को मिटा देते हैं।[2] अतएव देवता हैं अथवा नहीं हैं, यह जानने के लिए वाक्युद्ध करके व्यर्थ समय अतिवाहित करने से अच्छा है स्वाध्याय करना। शास्त्र अनेक प्रत्यक्षसिद्ध सत्य का उपदेश करते हैं। शास्त्रकर्ताओं ने शुद्ध (केवल) कल्पना द्वारा किसी भी कथा को नहीं कहा है। देवगण मूर्तिमान प्रकट होकर भक्त के साथ वार्तालाप करते हैं। याज्ञिकगण मन्त्र-शक्ति से अग्नि आदि देवताओं का आवाहन कर सकते हैं, वे शरीरधारी होकर यज्ञस्थल में उपस्थित होते हैं, यह सब केवल कल्पना का विजृम्भण नहीं है। जिस क्रिया से इन शास्त्रवाक्यों की सत्यता परीक्षित होती है, उसको इस काल में अत्यल्प व्यक्ति ही जानते हैं। इसके लिए देह तथा मन का जैसा संस्कार होना चाहिए, आजकल बहुत ही कम लोग वैसा कर सकने में समर्थ हैं। विषयभोगासक्त चित्त कभी भी चित्तवृत्ति निरोध के योगसाधन में नहीं लग सकता। योग किसे कहते हैं, व्याकरण के साथ योग का क्या सम्बन्ध है, उसका इस ग्रन्थ में आभास देने का प्रयत्न किया गया है। परलोक के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करने के लिए, लोकान्तर, कर्मतत्व, मरणोत्तर जीवगति, ब्रह्म, ईश्वर, जीव तथा लिंगदेह, इन सब तत्वों की तत्व-व्याख्या आवश्यक है। वेदान्तदर्शन के तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय में जीव के कर्मानुरूप गति के सम्बन्ध में जो उपदेश प्राप्त हुआ है, उसे इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में संक्षेप में कहा है। इहलोक तथा परलोक परस्परतः विच्छिन्न नहीं हैं। इहलोक के बारे में न जानकर परलोक के सम्बन्ध में भी नहीं जाना जा सकता। 'पुरुष का इहलोक तथा परलोक यह दो स्थान है' इत्यादि श्रुति-वचनों का अर्थ वैज्ञानिक टेट तथा बैलफोर स्टुअर्ट के मस्तिष्क में किंचित् प्रतिभान हुआ था, ऐसा उनके ग्रन्थों से विदित होता है। इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय तथा उसकी वर्णना उपक्रम के सम्बन्ध में कहा गया। मानवतत्व, भूत तथा शक्ति तथा परलोक, ये ग्रन्थत्रय जिस अवस्था में तथा जिस प्रकार से लिखे गये, उससे यह भावना आई 'माँ! तुम्हारी कृपा होने पर पंगु भी गिरिलंघन में समर्थ होता है, अन्ध भी चक्षुष्मान हो जाता है, मूक भी वाक्शक्ति प्राप्त कर लेता है।' मेरे मुख से अवशभाव से यह सब बातें उच्चारित हो रही हैं। यदि इस ग्रन्थ में कुछ त्रुटियाँ हैं, उसके लिए विज्ञ पाठकगण दया करके क्षमा करेंगे।

●

---

1. 'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्' ॥ पातंजलदर्शन, विज्ञानपाद 18 ॥
2. 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' ॥ पातंजलदर्शन ॥

विषयानुक्रमणिका

●

प्रस्तावना

ज्ञान का विषय—देखता हूँ—देखा—देखूँगा। जानता हूँ—जाना—जानूँगा। पाता हूँ—पाया था—पाऊँगा। सुनता हूँ—सुना था—सुनूँगा। हो रहा है—हुआ था—होगा। यह है वर्तमान, अतीत तथा भविष्यत् क्रिया का प्रमाण। प्रत्येक क्रिया की यह त्रिविधावस्था होती है। इस त्रिविधावस्था को सभी जानते हैं। जो व्याकरण-ज्ञाता अथवा उसके छात्र नहीं हैं, वे भी जानते हैं। नितान्त असभ्य जातियाँ भी इस तीन काल का व्यवहार करती हैं। सुकुमार बुद्धि बालक भी इसी प्रकार से तीनों काल का व्यवहार करते हैं। मनुष्य के समान स्पष्ट अथवा व्यापक भाव से न होने पर भी पशु-पक्षी तक यथाशक्ति अतीत का स्मरण रखते हैं तथा भविष्यत् में विश्वास करते हैं। अतीत का स्मरण तथा भविष्यत् का विश्वास किये बिना बुद्धिपूर्वक कर्म भी सम्पादित नहीं हो सकता। जैसा कर्म किया, वैसा फल मिल रहा है। उस प्रकार का कर्म करने से पुनः वैसा ही फल मिलेगा, यही विश्वास है कर्मप्रवृत्ति तथा कर्मनिवृत्ति का कारण। जिस प्रकार का कर्म करके एक बार सुख मिला था, व्यक्ति उसी प्रकार का कर्म करने में लग जाता है। एक बार जो कर्म करने से दुःख मिला था, वह व्यक्ति इच्छापूर्वक वह कर्म नहीं करता। फल की आकांक्षा से जो कर्म किया जाता है, भविष्यत् में विश्वास न रहने से क्या व्यक्ति उसे पुनः करेगा? यदि भविष्य असत् होता, उस स्थिति में अभावविशिष्ट जीव की अभावमोचन की प्रवृत्ति ही नहीं होती। शोकार्त व्यक्ति भविष्यत् के आशाव्यंजक मुख की ओर ताकता रहता है और भविष्य की आशा में दुर्वह शोकभार को वहन कर लेता है। सर्वजन उपेक्षित दरिद्र का भी भविष्य एकमात्र बन्धु है। प्रारब्ध का भोग अवश्य करना होगा। भोग के बिना प्रारब्ध का क्षय ही नहीं होता। विवेकी व्यक्ति यह जानते हुए नीरवता से प्रारव्ध का भोग करते हैं कि भविष्य में उनको सुख मिलेगा। भविष्य का आश्वास वाक्य ही सबके सन्तोष का कारण बन जाता है। पारलौकिक दुःख का वर्णन सुनकर कई बार पापियों के दुर्दमनीय पापानुष्ठान का वेग भी मन्दीभूत होने लगता है। यदि भविष्यत् असत् होता, तब कोई भी कालान्तर में फल-लाभेच्छा के वशीभूत होकर कर्म ही न करता। सभी कर्म का फल तत्काल नहीं मिलता। बीज बो देने मात्र से फल नहीं हो जाता। वहाँ भी कालक्रम अपेक्षित है। अतः भविष्यत् में विश्वास विशेषतः मनुष्य में स्वतःसिद्ध है। यह उन्नति-सोपान पर अधिरोहण करने का प्रधान आलम्बन है।

ज्ञान के स्वरूप का चिन्तन करने से ज्ञात होता है कि वह इसी त्रिकाल विषयक है। वर्तमान तथा भविष्य को अतीत के साथ जोड़े बिना विज्ञानोदय नहीं

होता। परिपुष्ट विज्ञान के लक्षण का निर्देश करने पर हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं कि परिमाणात्मक भविष्य-दर्शन (Quantitative prevision) ही परिपुष्ट विज्ञान (Developed) है। मनुष्यों में जो प्रज्ञानसम्पन्न हैं, जो लोकालोकदर्शी हैं, अर्थात् जो इहलोक तथा परलोक का अवलोकन करते हैं, उनको श्रुति ने विशिष्ट चेतन कहा है। जो इसमें विश्वास नहीं करते, उन्हें अन्य जीवों के समान आसन्नचेतन कहा गया है। यह ऐतरेय आरण्यक का मत है।

हम वाह्य जगत् का चक्षुः, कर्ण, नासिका, जिह्वा तथा त्वक् इन पंचेन्द्रियों से अनुभव करते हैं। इन इन्द्रियों के साथ रूप-शब्द-गन्ध-रस तथा स्पर्श का सम्बन्ध होने पर जो क्रिया होती है, हम केवल उसे ही प्रत्यक्ष कर पाते हैं। इन्द्रियों के साथ विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न क्रिया का संस्कार हमारे चित्त पर संश्लिष्ट हो जाता है। यदि इन्द्रियों के साथ विषयों के सम्बन्ध से उद्‌भूत क्रिया का संस्कार हमारे मन से संलग्न न हो, तब हमें अतीत का स्मरण न होता। किम्बहुना, तब विशिष्टज्ञान की उत्पत्ति ही न होती। तब मनुष्य संसार में उच्चतम जीव न कहलाता। ऐतरेय आरण्यक ने इसीलिए जो लोकालोकदर्शी नहीं हैं, उनको आसन्नचेतन कहा है।

जिस शक्ति द्वारा चित्त में इन्द्रिय के साथ विषय सम्बन्धजनित क्रिया का संस्कार संलग्न रहता है, चित्त की उस शक्ति को धारणाशक्ति (The power of retention) कहा गया है। विवेचन (Discrimination), सम्मेलन अथवा समीकरण (Agreement or indentification) तथा सन्धारण (Retention), इन तीनों क्रिया का प्रयोजन है विशिष्ट ज्ञानोत्पत्ति में। मानव का चित्त विवेक, समीकरण तथा धारणा शक्तियुक्त है। इसी कारण मनुष्य विज्ञान का आविष्कार करने में सफल है। इसी कारण मनुष्य को विशिष्ट चेतन कहा जाता है।

प्रत्येक इन्द्रियजनित व्यवहार को निष्पादित करने में हम विवेकशक्ति का आश्रय लेते हैं। जब तक अतीत संवेदन से वर्तमान संवेदन को विवेचित, पृथकीकृत् नहीं किया जा सकेगा, तब तक वर्तमान संवेदन परिज्ञात नहीं हो सकता। चित्त अहर्निश विवेचन क्रिया में निरत रहता है। चित्त सर्वदा अतीत संवेदन से वर्तमान संवेदन को अवश्य पृथक् करता है, तथापि यदि यही विवेचन ही चित्त का एकमात्र धर्म होता, तब विज्ञानोत्पत्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में मानव में भविष्यत्-दर्शन (Previsicr) ही न रहता। एक प्रकार के संवेदन को अन्य संवेदन से विवेचित करने पर 'यह इससे भिन्न है' अथवा 'यह वह नहीं है' हम केवल यही जान पाते हैं। शुद्ध विवेचन से यह निश्चित नहीं होता कि 'क्या होगा'। एक ऐसी सिढ़ी (निःश्रयणी) की आवश्यकता रहती है जो अतीत के साथ वर्तमान एवं भविष्य को सम्बद्ध कर सके। यह सिढ़ी लोकालोकदर्शी मानवचित्त हेतु अत्यन्त प्रयोजनीय है। जिस शक्ति द्वारा मानव भिन्न-भिन्न भाव से उपस्थित संवेदनसमूह का समीकरण

(Identification) कर सके उसे सम्मेलन अथवा समीकरण शक्ति (The power of detecting identity) कहते हैं।

प्रोज्वलित अग्निकुण्ड के समीप जाने से, ज्वररोग से आक्रान्त होने पर अथवा प्रखरकर दिवाकर की किरणों से उत्तप्त होने पर हम यह जान पाते हैं कि ताप क्या वस्तु है। कुछ भी उपलब्धि करने के लिए चिन्तन करना पड़ता है कि पूर्व संस्कार-समूह के साथ उपलभ्यमान संवेदन का संयोजन करना होगा और तुलना करनी होगी। उपलब्धि के नियमानुसार ताप संवेदन का चित्त में संलग्न संस्कार के साथ तुलना करने से यह ज्ञात होगा कि यह ताप शैत्यानुभूति का विरोधी है। यह बुद्धिगोचर होगा कि यह शैत्य (ठण्डक) से पृथक् है। किन्तु मात्र इस जानकारी से यह उपलब्धि नहीं होगी कि 'ताप' कौन-सा पदार्थ है? इसे यथायथभाव से जानने के लिए इसको चित्त संलग्न ताप संस्कार के साथ समीकृत करना होगा। जिस पदार्थ को व्यक्ति ने इस जीवन में प्रत्यक्ष ही नहीं किया है अथवा जो पदार्थ स्थूलप्रत्यक्ष के विषयीभूत होने लायक ही नहीं है, उसे केवल विवेचना द्वारा इस प्रकार से अर्जित करना होगा कि 'यह वह नहीं है, यह उससे भिन्न है' इत्यादि।

कहा जा चुका है कि ज्ञान वर्तमान, अतीत तथा भविष्यत्रूपी त्रिकालविषयक है। वर्तमान तथा भविष्यत् को अतीत के साथ सम्बद्ध किये बिना विज्ञान का उदय नहीं हो सकता। पतंजलिदेव कहते हैं कि अतीत तथा अनागत (भविष्यत्) स्वरूपतः सत् है। ये सूक्ष्मरूपेण अवस्थान करते हैं। ये असत् नहीं हैं। इसका प्रमाण क्या है?

जो असत् है, अविद्यमान है, जो वास्तव में नहीं है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जो सत् है, उसका तो विनाश ही असम्भव है। जो आगे होगा उसे अनागत् (भविष्यत्) कहा है। जो हो चुका वह है अतीत। जो व्यापार में स्वयं प्रवृत्त है, जो हो रहा है—वह है वर्तमान। ये तीनों ज्ञान के ज्ञेय हैं, ज्ञान के विषय हैं। हमने इस प्रकार इन तीनों के सम्बन्ध में जाना। विषय-ज्ञेय के न रहने से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। जब भविष्यत् तथा अतीतविषयक ज्ञान होता है, तब स्वीकार करना होगा कि भविष्यत् एवं अतीत, ये दोनों ही सूक्ष्म तथा अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहते हैं।

कर्म को भोगजनक तथा मृत्युजनकरूपेण द्विधा विभक्त किया जा सकता है। मनुष्य भोग अथवा मोक्ष के लिए कर्म करता है। दोनों कर्म का जो फल होगा, वही है भविष्यत्। कर्म करूँगा, भविष्य में फल मिलेगा, इसी विश्वास से लोग कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं। यदि फल असत् होता तब कुशल व्यक्तिगण (प्रज्ञानसम्पन्न, अभ्रान्त योगीगण) कभी भी कर्मप्रवृत्त नहीं होते। जो सूक्ष्म तथा अव्यक्तभावेन विद्यमान है, उसे ही निमित्त कारण वर्तमान भाव में अर्थात् व्यक्त अवस्था में लाने में समर्थ होता है। जो वास्तव में है ही नहीं, निमित्तकारण उसे प्रकट कर ही नहीं सकता। जो नहीं है (अपूर्वक् है) उसका उत्पादन कर सकना

निमित्तकारण के वश में नहीं है। धर्मी अथवा द्रव्य का धर्म अनेक प्रकार का है। धर्मी अनेक धर्मस्वभाव वाला होता है। धर्मी के सभी धर्म अध्वभेद से अवस्थाविशेष में अवस्थान करते हैं। कोई धर्म वर्तमान अवस्था में, कोई धर्म अतीतावस्था में, तो कोई धर्म अनागत रूप में विद्यमान रहता है। वर्तमान धर्म जिस प्रकार से व्यक्तभाव में अवस्थान करता है (अर्थात् प्रत्यक्ष होता है), वैसे उस प्रकार से अतीत तथा अनागत कदापि अवस्थान नहीं करते। अनागत धर्म प्रकाश्य है, अर्थात् जो आगे प्रकाशित होगा। अतीत है अनुभूत व्यक्तिभाव में (जो अनुभूत हो चुका है। व्यक्ति = (जिसका प्रकाश है) विद्यमान। एक अवस्था के वर्तमान काल में अवस्थान करता है। अन्य दो (अतीत एवं अनागत) धर्मिस्वरूपेण अव्यक्तरूप से अवस्थान करते हैं। इसी कारण वर्तमान आदि तीनों अवस्थाएँ असत् नहीं हैं। पातंजलदर्शन, कैवल्यपाद 12वें सूत्र में कहा है कि 'अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्व-भेदाद्धर्माणाम्'। इस सूत्र का भाष्य भी द्रष्टव्य है।

अतीत तथा अनागत दोनों स्वरूपतः सत्य हैं। इसके प्रमाण में पतंजलिदेव तथा योगसूत्र-भाष्यकार भगवान् वेदव्यास ने जो कहा है, उसे विवेचित किया है। असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा सत् का नाश नहीं हो सकता। इस सत्य को आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी उपलब्ध किया है। वैज्ञानिकों ने शक्ति सातत्य (Persistence of force) का स्वरूप-वर्णन करते समय यह पाया है कि असत् की उत्पत्ति तथा सत् का नाश नहीं हो सकता।

क्या वैज्ञानिक परलोक के अस्तित्व में विश्वास करते हैं? यद्यपि वे असत् की उत्पत्ति को नहीं मानते तथा सत् के नाश को भी नहीं मानते, तथापि जिज्ञासा होती है कि क्या उन्होंने परलोक नामक पदार्थ को स्वीकृति प्रदान की है?

जो यह मानते हैं कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती तथा सत् का नाश नहीं होता तथा जो यह मानते हैं कि जगत् अव्यक्त अवस्था से व्यक्तावस्था में आता है और पुनः अव्यक्तावस्था में चला जाता है, उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे लोग परलोक को नहीं मानते। तब भी यह अवश्य कहना है कि आधुनिक वैज्ञानिकों में अनेक परलोक नामक पदार्थ के अस्तित्व को पूर्णरूप विश्वसनीय नहीं मानते। इसमें वे संशय में हैं।

जिनकी दृष्टि में आधुनिक वैज्ञानिकगण सर्वज्ञ अथवा अभ्रान्त पुरुष हैं, जो इन्द्रिय-सुखभोग को ही जीवनोद्देश्य मानते हैं, स्थूलप्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाण को स्वीकार ही नहीं करते, शास्त्र-प्रतिपादित परलोक नामक पदार्थ के तत्वानुसन्धान का प्रयोजन वे नहीं समझ सकते। उनकी समझ में यह अनुसन्धान कर्त्तव्य-रूप से विवेचित ही नहीं।

कठोपनिषद् में कहा है कि जो बालक, अविवेकी, प्रमादी, वित्तमोह से मुग्ध, दृश्यमान जगत् को ही सबकुछ मानने वाले हैं, वे ऐसे तत्पदार्थ के अस्तित्व में

विश्वास नहीं कर सकते जो स्थूलप्रत्यक्ष का विषय ही नहीं है। वे उन साधनों के प्रयोजन को भी नहीं जान सकते जिसे शास्त्र ने पारलौकिक सद्गति पाने के लिए विहित किया है। कठोपनिषद् में उक्ति हैं—

''न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेनमूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥''

परलोक परोक्ष है। स्थूलप्रत्यक्ष का विषय नहीं है, अविषय है। जो इसे स्वीकार नहीं करते, वे परलोक का अस्तित्व नहीं मानेंगे। वे शास्त्रोपदिष्ट पारलौकिक सद्गति-प्राप्ति के उपदेशों के प्रति कर्णपात् भी नहीं करेंगे। इससे अधिक क्या कहा जाये?

यह तो जान लिया कि किनके लिए परलोक में विश्वास-स्थापन करना असम्भव है। अब यह जानना है कि कौन इस पर विश्वास करने को प्रस्तुत है? साथ ही यह भी जानना है कि जो परोक्ष विषयक परलोक के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं, वे किस प्रमाण से इस अदृष्ट पदार्थ के अस्तित्व में विश्वास की स्थापना कर सके हैं?

जो आप्त वचनों के प्रति आस्थावान हैं, जो आप्तोपदेश को श्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं, वे वेदादिशास्त्र के उपदेशानुसार परलोक के अस्तित्व में विश्वास की स्थापना किये हुए हैं। जो शास्त्रोपदेश प्राप्त करके बुद्धिमान तथा भाग्यवान हैं, वे परलोक में संशय नहीं करते। संसार में प्रत्यक्ष अल्प है, अप्रत्यक्ष ही अधिक है। शास्त्र, अनुमान तथा युक्ति द्वारा अप्रत्यक्ष की उपलब्धि होती है। जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष की उपलब्धि होती है, वे स्वयं अप्रत्यक्ष हैं। यह भी देखा जाता है कि अत्यन्त सन्निकर्ष अथवा अति विप्रकर्ष के कारण, इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण, चित्त की चंचलता के कारण, समानगुण वाले द्रव्यों के परस्पर सम्मिश्रण के कारण, अन्य वस्तु द्वारा अभिभूत होने के कारण, अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण, विद्यमान वस्तु भी अनुपलब्ध हो जाती है, प्रत्यक्षीभूत नहीं होती। इसलिए यह कहना त्रुटिपूर्ण है कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष है, वही सत् है। उसके अतिरिक्त कुछ भी सत् नहीं है। स्थूलवादी प्रत्यक्षवादी लोग बिना विशेष परीक्षण किये स्थूल तथा सूक्ष्म प्रत्यक्ष में न आने वाले पदार्थों के अस्तित्व का ही प्रत्याख्यान करने की भूल कर देते हैं।

परलोक में आस्थावान पुरुष भी इस संसार में हैं। अपनी-अपनी विशिष्ट प्रेरणा से जो परलोक का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उनमें परलोक की जिज्ञासा न हो, ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए शास्त्र-प्रतिपादित परलोक नामक पदार्थ का तत्वानुसन्धान कतिपय मानवों का ही कर्तव्य कहा जाता है।

परलोकतत्व जिज्ञासा का स्वरूप क्या है? मैं क्या था, किस रूप में था, भविष्य में मेरा क्या होगा, कहाँ जाऊँगा, कैसे रहूँगा, वर्तमान जन्म में जिनसे सम्बन्ध

है, वे कहाँ थे, कैसे थे, उनसे मैं कैसे सम्बद्ध हो गया, जिनको इतना चाहता हूँ, जिनके दुःख से दुःखी तथा सुख से सुखी होता हूँ, जिनका विरह कष्टजनक है, क्षणकाल को जिनको न देखने पर जगत् शून्य लगने लगता है, उनका सबका संग एक न एक दिन छोड़ना पड़ेगा यह तो निःसन्दिग्ध है। यह बात तो प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध है। लेकिन बात यह है कि जब काल मुझे इन सबका साथ छोड़ने पर बाध्य करेगा, जब इनका साथ छोड़कर लोकान्तर जाऊँगा, तब क्या मुझे इनकी याद आयेगी अथवा नहीं। क्या तब भी मुझमें इनके प्रति ममता रहेगी? मृत्यु के पश्चात् जीव कहाँ जाता है, क्या इस पृथ्वी को छोड़कर कहीं और जाता है? यदि अन्य लोक में जाता है, तब उसका स्वरूप क्या है? शास्त्रों में कहे गये स्वर्ग-नरक कहाँ हैं? क्या जीवत्व की चरमावस्था है मनुष्य? क्या अन्य लोकों का अस्तित्व है? क्या मनुष्य से भी उत्कृष्ट जीव स्वर्गादि में हैं? संसार विचित्र है, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई निर्धन, कोई राजा, कोई प्रजा, कोई सत्, कोई असत्, कोई बीमार तथा दुर्बल, कोई स्वस्थ, सबल। जहाँ भी दृष्टि जाती है, वहीं जगत् की विचित्रता-भरी मूर्ति नयनगोचर होती है। इतनी विचित्रता क्यों? सद्गति-प्राप्ति का क्या उपाय? ईश्वर को जानने का उपाय? परलोक का तत्व जानने की इच्छा करने पर ये सभी प्रश्न उत्थित होने लगते हैं। यही है परलोक की तत्व-जिज्ञासा का स्वरूप। इस विवेचना से ज्ञात होता है कि अतीत तथा भविष्यत्, अव्यक्त तथा व्यक्त की तत्व-जिज्ञासा और पारलौकिक तत्व-जिज्ञासा एक ही पदार्थ है।

वर्तमान तथा अतीत को भविष्यत् से सम्बद्ध किये बिना विज्ञान का उदय नहीं हो सकता। यह चेष्टा ही मनुष्य को अन्य जीवों से पृथक् करती है। अतः कहा जा सकता है कि जिस मनुष्य का जितने परिमाण में विकास हुआ है, उस मनुष्य को उसी परिमाण में परलोक तत्व की जिज्ञासा रहती है। यह तत्वानुसन्धान ही मानव का परम कर्तव्य है। जो परलोक का विश्वास नहीं करते, शास्त्र के अनुसार वे नास्तिक हैं। हम आप्तोपदेश में ही विश्वास करते हैं। वेद और वेदाश्रित अखिल शास्त्र परलोक के सम्बन्ध में तत्वोपदेश करते हैं। इसलिए मैंने शास्त्र से जो उपदेश प्राप्त किया है, उसका आभास उनको देने के लिए जो परलोक में विश्वास करते हैं, यह उपक्रम किया जा रहा है।

प्रस्तावना समाप्त

प्रथम प्रस्ताव

हम आस्तिक तथा नास्तिक शब्द का बहुशः व्यवहार करते हैं। ये प्रसिद्धार्थक है, इसमें सन्देह नहीं है। आस्तिक तथा नास्तिक इन दोनों शब्दों के प्रसिद्धार्थक होने पर भी हम शास्त्र से जो अर्थ प्राप्त करते हैं, उसे जानना आवश्यक है।

आस्तिक तथा नास्तिक शब्द की निरुक्ति—पाणिनीदेव कहते हैं कि अस्ति (है) तथा नास्ति (नहीं) इन दोनों शब्दों के उत्तर में ठक् प्रत्यय लगाने से यथाक्रमेण आस्तिक तथा नास्तिक पदद्वय सिद्ध हो जाता है। उक्त है—

''अस्तिनास्तिदिष्ठं मति'' (पाणिनि 4।4।60॥)

'है' इस प्रकार की मति अर्थात् विश्वास जिनको है, वे हैं आस्तिक। जिनकी मति 'नहीं है' वे हैं नास्तिक।[1] अस्ति—सत्—'है' (Exists) जो इस प्रकार की बुद्धिवाले हैं, इस मति से मतिवान् हैं, यदि वे ही आस्तिक पदवाच्य हैं, उस स्थिति में 'आस्तिक' शब्द चेतन पदार्थ मात्र का वाचक हो जाता है। क्योंकि 'मैं हूँ' यह ज्ञान समस्त चेतनों में विद्यमान है। लेकिन वास्तव में आस्तिक शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। तब आस्तिक शब्द की ऊपर कही गयी व्युत्पत्ति की क्या सार्थकता है?

कैयट तथा वृत्तिकार जयादित्य कहते हैं कि 'परलोक है', इस प्रकार की बुद्धि से जो युक्त हैं, वे आस्तिक हैं। इससे विपरीत 'परलोक नहीं है' 'यह लोक ही एकमात्र लोक है' जिनका यह विश्वास है, वे हैं नास्तिक।[2] भगवान् पाणिनि तथा पतंजलिदेव ने नास्तिक तथा आस्तिक शब्दों का जो अर्थ किया है, उसके अनुसार जो स्थूल प्रत्यक्षवादी हैं, वे ही हैं नास्तिक श्रेणी के अन्तर्गत। यह प्रतिपन्न होता है।

आस्तिक तथा नास्तिक के प्रसिद्ध अर्थ के साथ उनकी यथोक्त व्युत्पत्ति की संगति प्रदर्शित करना आवश्यक है। जो ईश्वर के अस्तित्व को अंगीकार करते हैं, वे आस्तिक हैं। जो इसके विपरीत हैं अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वे हैं नास्तिक। आस्तिक तथा नास्तिक शब्द द्वारा साधारणतः इसी अर्थ में व्यवहार होता है। इसलिए यह ज्ञातव्य है कि भगवान् पाणिनि तथा पतंजलिदेव ने आस्तिक तथा नास्तिक शब्द की जो निरुक्ति की है, क्या उसके साथ इन व्यावहारिक अर्थ का कोई सम्बन्ध है? क्या शास्त्र ने इन शब्द द्वय का इन अर्थों में व्यवहार किया है, जैसे 'जो परलोक को मानते हैं, वे आस्तिक हैं', जो नहीं मानते वे नास्तिक हैं।

---

1. 'अस्तीतस्य मतिः आस्तिकः। नास्तीस्तस्य मतिः नास्तिक' —महाभाष्य।
2. 'परोलोकोऽस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकस्तद्विपरीतो नास्तिकः' —कैयट।

जो परलोक के अस्तित्व को मानते हैं, अदृष्ट को मानते हैं, शास्त्र की दृष्टि में वे आस्तिक हैं। इससे विपरीत विचारधारा वाले व्यक्ति नास्तिक हैं। शिवपुराण के अनुसार आस्तिक्य ही सदाचार का मूल कारण है। यदि आस्तिक व्यक्ति सदाचार से विच्युत हैं (प्रमाद के कारण), तथापि वे चिरदूषित अथवा मलिन नहीं होते। आस्तिकता उनको पुनः विमल कर देती है। इसलिए आत्मकल्याणार्थी का प्रमुख कर्तव्य है आस्तिक होना। सुकृति (पुण्यकर्म से) से इस लोक में सुख मिलता है तथा दुष्कृति के कारण दुःखभोग करना होता है, उसी तरह से परलोक में भी इन दोनों का भोग करना होगा, ऐसा विश्वास ही आस्तिक्य है।[1]

शाण्डिल्योपनिषत् के अनुसार वेदोक्त धर्माधर्म ही है आस्तिक्य।[2] जिनका परलोक में विश्वास नहीं है, उनका वेदोक्त धर्माधर्म में विश्वास हो सकना सम्भव ही नहीं है। कठोपनिषद् में भी परलोक के अस्तित्व को न मानने वाले व्यक्ति को नास्तिक कहा गया है। यह पहले कहा जा चुका है। शुक्रनीतिसार में कहते हैं कि जिस ग्रन्थ में यह कहा गया हो कि सभी वस्तु स्वभावसिद्ध हैं, ईश्वर कर्ता नहीं है, वेद अकिंचित्कर है, वे ग्रन्थ नास्तिक ग्रन्थ हैं।[3] इन ग्रन्थों में युक्ति को ही बलीयसी माना जाता है।

जो स्थूलप्रत्यक्ष का विषयीभूत है, उसे आसन्नचेतन पशु–पक्षीगण भी सत् मानते हैं। जो सूक्ष्म है, वह स्थूलप्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता। उसी के अस्तित्व में विश्वास–स्थापन, उसे जानने की चेष्टा करना, यह विशिष्ट चेतन मानव का विशेष धर्म है। जो मानव स्थूलप्रत्यक्ष के अविषय पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वे 'आसन्नचेतन' हैं। जो उसे 'नहीं है' ऐसा मानते हैं, वे हैं नास्तिक। नास्तिक शब्द की यह व्युत्पत्ति कितनी सुन्दर तथा व्यापक है, इसका चिन्तन करना होगा। जिन पदार्थों को अनायास जाना जा सके, उनको 'है' करके मानने वाले को 'आस्तिक' नहीं कहा जा सकता। जो स्थूल दृष्टि में नहीं आता, अर्थात् स्थूलप्रत्यक्ष का विषय नहीं है, ऐसे तत्व में विश्वास करने वाला और उसका तत्वान्वेषण करने वाला ही आस्तिक कहलाने योग्य है। जो स्थूलप्रत्यक्ष के अविषय पदार्थ के अस्तित्व में विश्वास नहीं कर सकते, अदृष्ट जिनका प्रत्यय नहीं है, वे कभी भी वास्तविक रूप से ईश्वर- विश्वासी नहीं हो सकेंगे। वे ईश्वर के स्वरूप को नितान्त संकीर्ण रूप से देखते हैं। अतः सिद्धान्त है कि जो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार

1. 'सदाचारस्य तस्याहुरास्तिक्यं मूलकारणम्। आस्तिकश्चेत् प्रमादाद्यैः सदाचारादपि च्युतः॥ न दूष्यति नरो नित्यं तस्मादास्तिकतां ब्रजेत्। यदेहास्ति सुखं दुःखं सुकृतैर्दुष्कृतैरपि॥ तथा परत्र चास्तीति मतिरास्तिक्यमुच्यते॥' —शिवपुराण
2. 'आस्तिक्यं नाम वेदोक्त धर्माधर्मेषु विश्वासः॥' —शाण्डिल्योपनिषत्
3. 'युक्तिर्बलीयसी यत्र सर्वं स्वाभाविकं मतम्।
कस्यापि नेश्वरः कर्ता न वेदो नास्तिकं हि तत्॥' —शुक्रनीतिसार

करते हैं, वे हैं आस्तिक और जिनकी धारणा इससे विपरीत है—वे हैं नास्तिक। इससे यह प्रतिपन्न हो जाता है कि आस्तिक तथा नास्तिक का जो सामान्य प्रचलित अर्थ है, वह इस व्युत्पत्ति के ही गर्भ में विद्यमान है। इस विवेचना का तात्पर्य जानने के लिए यह चिन्तन करना होगा कि 'ईश्वर है' यह ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है और ईश्वर के अस्तित्व में मानव का विश्वास उत्पन्न होने का क्या कारण है?

कार्य का कारणानुसन्धान करने के लिए उद्यत होने पर ही मनुष्य में ईश्वर के प्रति विश्वास का जन्म होता है। यह सर्वसाधारण ही जानता है कि बिना कोई कारण के कार्य नहीं होता। कार्य का कारणानुसन्धान करना ही विज्ञान तथा दर्शन का कार्य है। इन्द्रियों से जो अनुभव होता है, वह क्या है? वह किस नियम से तथा क्यों उत्पन्न होता है, क्यों स्थिति तथा विनाश को प्राप्त होता है? तथा जो परिदृष्ट नहीं होता (अर्थात् इन्द्रियों का अविषय है), इन सबके उत्तर तथा समाधान के हेतु विज्ञान एवं दर्शन का आविर्भाव हुआ है।

यद्यपि यह सभी का मानना है कि बिना कारण कार्य नहीं होता, तथापि जिज्ञासा होती है कि 'बिना कारण कोई कार्य नहीं होता' मनुष्य को यह ज्ञान कहाँ से मिला? इस प्रकार के विश्वास का हेतु क्या है। कार्यमात्र का कारण है। इस प्रकार के सिद्धान्त में उपनीत होने की युक्ति क्या है?

मनुष्य को कभी भी सींग नहीं निकलते, बालुका को निचोड़ने से उससे तेल बाहर नहीं आता। इससे विदित होता है कि जो सत् है, सूक्ष्मभाव से शक्तिरूप से जो विद्यमान है, वही उत्पन्न होता है। उसी की अभिव्यक्ति होती है। जो असत् है, वास्तव में नहीं है, उसकी उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति नहीं होती। कोई भी सत् को असत् तथा असत् को सत् नहीं कर सकता। मनुष्य में स्वाभाविक नियमानुसार इस प्रकार का विश्वास उदित होता है कि कार्यमात्र का कारण है। बिना कारण कार्योत्पत्ति नहीं होती।

जो उत्पन्न होता है, विद्यमान रहता है, वृद्धिप्राप्त होता है, जिसका विपरिणाम होता है (अर्थात् अपक्षय तथा विनाश होता है), वही है कार्य। जिसके रहने से जो उत्पन्न होता है, विद्यमान रहता है, वृद्धि पाता है, जिसके रहने से विपरिणाम, अपक्षय, विनाश होता है, वह है कारण। न्यायवार्तिककार कहते हैं कि जिसके न रहने पर जो नहीं होता, जो जिसका नियत पूर्ववर्ती है, वह है उसका कारण। पाश्चात्य वैज्ञानिक तथा दार्शनिक कहते हैं कि जिस पूर्ववर्ती भाव तथा समूह से जो कार्य उत्पन्न होता है, जिसके तथा जिसकी नियतपूर्ववर्तिता के बिना जो कार्य संघटित नहीं होता, उस कार्य का वह कारण है।

कार्यकारण सम्बन्ध में विचार करने में प्रवृत्त होने पर आधुनिक दार्शनिक तथा वैज्ञानिक पण्डितगण शक्तिसातत्य (Persistence of force and conservation of Energy) को प्रधानतः लक्ष्य करते हैं। धर्मी किंवा वस्तुमात्र ही निर्दिष्ट

धर्म, शक्ति तथा योग्यताविशिष्ट है। धर्मी का धर्मपरिवर्तन होता है। शक्तिसमूह एक अवस्था से अन्य अवस्था को ग्रहण करते हैं, किन्तु वे तत्वत: विनष्ट अथवा वर्द्धित नहीं होते। समष्टिभूत शक्ति के मान में ह्रासवृद्धि नहीं होती। वह सतत समान रहती है। द्रव्य के धर्म अथवा शक्तिसमूह एक अवस्था से अन्य अवस्था में गमन कर सकते हैं, ये परस्पर सम्बद्ध हैं। शक्ति का तत्वत: ध्वंस नहीं होता, इसी कारण जगत् में विचित्र परिणाम संघटित होता है। शक्तिसमूह चाहे वह रासायनिक शक्ति हो, तड़ित शक्ति हो, जीवनी शक्ति हो, सभी आपस में सम्बद्ध हैं। सभी सबका आकार धारण करके सभी के भाव से भावित हो सकती हैं। शक्तिसमूह का सातत्य, इतरेतर सम्बन्ध (एक-दूसरे से सम्बन्ध), इनकी रूपान्तर प्रतियोगिता तथा इनका तुल्यवृत्तिकत्व (Equivalence) आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि में कारणतत्व है।

शक्तिसातत्य (Persistence of Force), इनका इतरेतर सम्बन्ध (Co-relation), इनकी रूपान्तर ग्रहण योजना (Convertibility) इत्यादि को कार्य का कारण कहने में सन्देह नहीं है। किन्तु कारणतत्व ही इनका पूर्वरूप नहीं है, यह स्वीकार्य तथ्य है। किसी कार्य का कारणानुसन्धान करने के लिए केवल उसकी साधारण शक्ति को लेने से कारणानुसन्धान यथासम्भव सम्पन्न नहीं होता। शक्तिसमूह का तत्वत: नाश नहीं होता। ये एक प्रकार के भाव का त्याग करके अन्य भाव को ग्रहण कर सकते हैं। इन सबको जान लेने से कारणानुसन्धान की चेष्टा पूर्ण रूप से फलवती नहीं हो जाती। केवल उपादान कारण ही कार्यप्रसविता नहीं है। प्रत्येक कार्योत्पत्ति में उपादान तथा निमित्तरूप कारणद्वय का प्रयोजन रहता है। सहकारी अथवा निमित्तकारण (Collocation) की विचित्रता ही विचित्र कार्योत्पत्ति की हेतु है। सहकारी तथा निमित्त को भी कार्य के कारणरूप में ग्रहण करना होगा।

जगत् विचित्रता से पूर्ण है। यह सभी अनुभव करते हैं। इस विचित्रतापूर्ण संसार का कारण क्या है, यह जानने के लिए विचित्र कार्य का जो विचित्र कारण है, उस एकरूप कारण से विचित्र कार्यसमूह की उत्पत्ति नहीं हो सकती, ऐसा अनुमान होने लगता है। शास्त्र के अनुसार कर्म की विचित्रता ही सृष्टिवैचित्र्य का कारण है। जो अदृष्ट अथवा पूर्वकर्म को नहीं मानते, जो कहते हैं कि ईश्वरेच्छा (Will of God) ही इसका कारण है, उनसे मैं पूछता हूँ कि क्या ईश्वर पक्षपाती है अथवा अनवस्थित चित्त वाला है? यदि ईश्वर पक्षपाती अथवा अनवस्थितचित्त (Whimsical) नहीं है, तब उनकी यह इच्छा क्यों कि एक सुखी है—दूसरा दु:खी, एक धनी—तो दूसरा निर्धन! एक आस्तिक—तो अन्य नास्तिक।

शास्त्र का कथन है कि ईश्वर किसी को सुखी, किसी को दु:खी, किसी को मध्यम भाग्यवाला—किसी को अत्यन्त दु:खी करते हैं। लेकिन इससे उनमें साधारण मनुष्य के समान राग-द्वेष कारण नहीं है। उनके निर्मल स्वभाव का कदापि विलोप

नहीं होता। उनमें पक्षपात अथवा निष्ठुरत्व का दोष कदापि नहीं होता। ईश्वर सापेक्ष है। ईश्वर धर्माधर्म अथवा अदृष्ट की अपेक्षा करके सृष्टि करते हैं। सृज्यमान प्राणियों का धर्माधर्म ही सृष्टिवैषम्य का हेतु है। इसमें ईश्वर का कोई अपराध नहीं है।[1] ईश्वर मेघ के समान है। मेघ जैसे बीज, यवादि का साधारण कारण है, ईश्वर उसी प्रकार देवमनुष्यादि सृष्टि का साधारण कारण है। बीज तथा यवादि का विचित्र धर्म अथवा शक्ति जैसे इनके वैषम्य तथा विचित्रता का असाधारण हेतु है, उसी प्रकार जीवगत कर्म उनके वैषम्य का असाधारण हेतु है। अतएव ईश्वर पक्षपाती, अनवस्थित अथवा निर्दय नहीं है। अदृष्ट अथवा पूर्वकर्म स्वीकार न करने से सृष्टिवैचित्र्य का रहस्य किसी भी तरह से उद्भिन्न नहीं होता। जगत् का अस्तित्व अदृष्ट की विचित्रता को प्रमाणित करता है।

कार्यमात्र का कारण है। बिना कारण किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, यह ज्ञात हो गया। यह भी मान लिया कि विचित्र कार्य का विचित्र कारण है, किन्तु ईश्वर नामक पदार्थ का अस्तित्व क्यों मानूँ? जो स्वाधीनरूपेण कोई कार्य नहीं करते, जो सापेक्ष हैं, जो धर्माधर्म अथवा अदृष्ट की अपेक्षा करके कर्म करते हैं, उन्हें ईश्वर, सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ क्यों कहा जाये?

प्रकृति, परमाणु, धर्माधर्म इत्यादि अचेतन है। अचेतन अथवा जड़ किसी कार्य का स्वतन्त्र कारण नहीं हो सकते। वे चेतन के प्रणोदन के बिना स्वयं प्रेरित होकर किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकते, न निवृत्त ही हो सकते हैं। जड़ को यह साध्य ही नहीं है। इसी कारण ईश्वर नामक स्वतन्त्र कारण के अस्तित्व को मानना ही पड़ता है।

यह हमें प्रत्यक्षसिद्ध है कि कतिपय कार्य चेतन द्वारा किये गये हैं। ऊपर जो कहा है कि चेतन की प्रेरणा के बिना जड़ कदापि न तो कार्य में प्रवृत्त हो सकता है, न उससे निवृत्त ही हो सकता है। इस सिद्धान्त को अंगीकार करने के लिए अनेक अनुकूल दृष्टान्त हमें दृष्टिगोचर होते हैं। मृत्तिका स्वयं घट (घड़ा) नहीं बन जाती। इसी प्रकार तन्तु स्वयं वस्त्र नहीं बन जाता। घट के उपादान मृत्तिका में घटरूप होने की योग्यता तो है, लेकिन जब तक उस उपादान का ज्ञाता कुम्हार उसे दण्ड् चक्रादि निमित्त कारण के सहयोग से उसे घटाकार में परिणत नहीं करता, तब तक मृत्तिका घट नहीं बन सकती। इसी प्रकार जुलाहा जब तक तन्तु को करघा पर चढ़ाकर वस्त्र नहीं बुनता, तब तक तन्तु तो तन्तु ही रह जाता है। इसलिए यह असन्दिग्ध है कि घट-पटादि चेतन द्वारा निर्मित है।

---

1. 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति'—वेदान्तदर्शन, 2। 1। 34॥
सापेक्षोहीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मीमिते। किमपेक्षत इति चेत् धर्माधर्मवपेक्षत इति वदामः। अतः सृत्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्ष। विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः। —शारीरकभाष्य

वृक्षादि की उत्पत्ति, पर्वत का अभ्युत्थान, वाष्प का मेघाकृतिधारण तथा जलरूप से पृथ्वी पर वर्षण, रासायनिक तथा भौतिक शक्ति की अनेक लीला, जीवनी शक्ति का विचित्र व्यापार, भूकम्प इत्यादि सन्दिग्ध चेतन कर्तृक हैं। ये सभी कार्य चेतन के प्रेरणापेक्ष हैं अथवा नहीं, यह स्थूलप्रत्यक्ष प्रमाण से निश्चित नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ये सब विषय निर्णीत नहीं होते। इनके तत्वनिर्णयार्थ अनुमान तथा आप्तोपदेश की शरण लेनी होगी।

नैयायिकों ने अनुमान प्रमाण द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया है। जो सावयव है (अवयवयुक्त है), वह कार्य है। जो कार्य है, वह है चेतनकृत। क्षित्यादि जगत् तो कार्य पदार्थ है। अतएव वह चेतन कृत् है।[1] नैयायिक लोग इस प्रकार की युक्ति से ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। न्यायमतानुसार परमाणु जगत् का उपादान कारण है और ईश्वर है निमित्तकारण। पुरुष कर्म करता है। सर्वकर्माध्यक्ष सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर पुरुष के पुरुषाकार को सफल करता है। पुरुष के कर्मफल की निष्पत्ति ईश्वराधीन है। किन्तु इसका प्रमाण क्या है? इसे स्वीकार क्यों करें कि फलनिष्पत्ति ईश्वराधीन है?

महर्षि गौतम इसका उत्तर देते हैं कि पुरुष चेष्टा करने पर भी कभी सफल तो कभी असफल हो जाता है। इसलिए अनुमान करना होगा कि पुरुष की कर्मफलप्राप्ति जिनके अधीन है, वे हैं ईश्वर।[2] फलनिष्पत्ति यदि ईश्वराधीन है, तब पुरुष की समीहा (चेष्टा) के बिना फल निष्पन्न हो! पुरुष की चेष्टा के बिना जब फलनिष्पत्ति नहीं होती, तब कर्म को फलनिष्पत्ति का कारण न कहकर ईश्वर को कारण कहने का हेतु क्या है?

फललाभार्थ यतमान पुरुष के पुरुषाकार को ईश्वर फलदान द्वारा अनुगृहीत करते हैं, यह शास्त्र में कहा गया है। यह नहीं कहा गया है कि फललाभार्थ चेष्टा न करने पर भी ईश्वर फलदान करते हैं।[3]

जैसा फल चाहिए, तदनुरूप कर्म करना उचित है। जो जैसा फल चाहता है, उसे अविलम्ब वैसा ही कर्म करना चाहिए। यदि कर्म यथायथ रूप से नहीं किया जायेगा, तब प्रार्थनारूप फल नहीं मिलेगा। पुरुष चेष्टा करके भी जहाँ विफलचेष्ट हो जाये, वहाँ यह मानना होगा कि कर्म यथायथरूप से नहीं किया गया। इसलिए कर्म ही कर्म का फलदाता है, तब ईश्वर को कर्मफलदाता कहने का क्या प्रयोजन?

फललाभ की प्रबल इच्छा होने पर भी कर्म यथायथरूपेण अनुष्ठित क्यों नहीं होता? इसका उत्तर है कि ज्ञान तथा क्रियाशक्ति की हीनता तथा प्रतिबन्धक शक्ति

---

1. 'एवमनुमाने निरूपिते तस्माब्जगन्निर्मातृपुरुष .... घटवत् सकर्तृकत्वानुमानात्' —तत्वचिन्तामणि
2. 'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मफल्यदर्शनात्' —न्यायदर्शन, 4 । 1 । 19
3. 'न पुरुषकर्माभावे फलनिष्पत्ते।' —न्यायदर्शन, 4 । 1 । 24 ॥ तथा 'तत्कारितत्वादहेतुः'—न्यायदर्शन, 4 । 1 । 21

की प्रतिबन्धकता इसका कारण है। अतः सिद्धान्त है कि ज्ञान तथा क्रियाशक्ति की अविकलता ही कर्मफल प्राप्ति का साधन है। यहाँ अब देखना होगा कि ईश्वर कौन-सा पदार्थ है?

न्यायमत से गुणविशिष्ट आत्मान्तर ही ईश्वर है। साधारण पुरुष का अथवा आत्मा का ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा इत्यादि अनित्य है। ईश्वर का ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा आदि नित्य है, अपरिच्छिन्न है। साधारण आत्मा अथवा पुरुष की तरह ईश्वर में अधर्म, मिथ्याज्ञान, प्रमाद नहीं है। अतः जिज्ञासा होती है कि साधारण आत्मा की तुलना में जब ईश्वर विलक्षण पदार्थ है तब उसे आत्मजातीय क्यों कहा गया? साधारण आत्मा अनित्य है, बुद्धि आदिगुणयुक्त है। यह सत्य है कि ईश्वर भी नित्य बुद्धि आदि युक्त है, तथापि बुध्यादिगुणयोगित्व धर्म की समानता के कारण ईश्वर को विशिष्ट आत्मा कहते हैं। ईश्वर प्रत्येक जीवात्मा में संस्काररूपेण विद्यमान धर्माधर्मसमूह का तथा पार्थिवादि परमाणुपुंज का प्रवर्तक है।[1]

बिना प्रयोजन कोई भी प्रेक्षावान् कर्मप्रवृत्त नहीं होता। जो आप्तकाम हैं, उन्हें तो सब प्राप्त है। कुछ भी पाने का उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता। अब आप्तकाम ईश्वर की जगत् सृष्टि की प्रवृत्ति क्यों? जो आप्तकाम हैं, उन्हें स्वार्थसिद्धि के लिए जगत्-सृष्टि करने का क्या तात्पर्य? ईश्वर की जगत्-सृष्टि की प्रवृत्ति स्वार्थसिद्धि हेतु नहीं है, वे परानुग्रहार्थ इस जगत् की सृष्टि करते हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि ईश्वर ने करुणा के कारण जगत् की सृष्टि की होती, तब जगत् सुखमय रहता, किसी को भी यातना-भोग नहीं करना पड़ता। ईश्वर ने करुणापूर्वक इस जगत् का निर्माण किया है, यदि यह सत्य होता तब इस संसार में जिसका हृदयरत्न अकाल में काल द्वारा अपहृत कर लिया गया है ऐसे व्यक्ति क्या इस बात पर विश्वास करेंगे? जो चिरकाल से व्याधि की यातना भुगत रहा है, क्या वह इस बात को मान सकेगा? दारिद्र्य से दह्यमान व्यक्ति क्या इस सिद्धान्त को मनोगत कर सकेगा?

ईश्वर का जगत्-सर्जन-कार्य करुणामूलक है, जीवानुग्रह के ही लिए वे जगत्-निर्माण में प्रवृत्त हुए हैं, इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं है। प्रत्येक ऐशनियम यही प्रतिपादित करते हैं कि वह परम दयालु है। वह हमारा परमपिता है। दुष्ट सन्तान पर पिता शासन करते हैं, विपथगामी सन्तान को सत्पथ पर लाने के लिए उसका तिरस्कार करते हैं, उस पर प्रहार भी करते हैं। अल्पबोध सन्तान इसी कारण पिता को निर्दयी मानता है। वस्तुतः पिता परमदयालु हैं, दुष्ट सन्तान के भी हितैषी हैं। रोगी की इच्छा होने पर भी चिकित्सक उसे अपथ्य खाने से रोकता है। तब क्या

---

1. 'गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः ..... प्रत्यङ्वृत्तीन धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति' —वात्सायनभाष्य

चिकित्सक निर्दयी है? एक पत्थर किसी नदी-तट पर पड़ा है। लोग उस पर मल-मूत्रादि त्याग करते हैं। एक प्रतिमाकार उस पत्थर को घर लाकर उससे देव-प्रतिमा का निर्माण करने में प्रवृत्त होकर उस पत्थर पर औजार का उपयोग करता है। आघात से पीड़ित पत्थर प्रतिमाकार से कहता है कि "तुम्हारा हृदय इतना निर्दयी क्यों है? मैं नदी किनारे पड़ा था, तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट नहीं किया, तुम मुझ निरपराध को किस अपराध की सजा दे रहे हो?" प्रतिमाकार उत्तर देता है कि "मैं निष्ठुर नहीं हूँ। मैं तुम्हारा जो उपकार कर रहा हूँ, उसे तुम नहीं समझ सकते। यन्त्राघात से तुमको कष्ट हो रहा है, जानता हूँ, परन्तु उसे सहना ही होगा। नदी-तट पर तुम दूषित अवस्था में मलमूत्रावृत्त पड़े थे। कुछ समय पश्चात् लोग तुम पर चन्दन, फल-फूल, सुगन्ध द्रव्य छोड़कर पूजन करेंगे। तुम्हारे चरणों में प्रणाम करेंगे। तुम देवमन्दिर में प्रतिष्ठित हो जाओगे। इसलिए तुमको कष्ट देकर भी मैं तुम्हारा परम बन्धु हूँ। निष्ठुर शत्रु नहीं हूँ।"

पुण्य का फल है सुख, पाप का फल है दुःख। शुभाशुभ कर्मानुरूप ईश्वर सुख तथा दुःख की व्यवस्था करते हैं। उनका अभिप्रेत नहीं है जीव को दुःख देना। पाप के कारण वह दुःख पाता है और पुण्य के कारण सुखी होता है। कर्मानुरूप फल देना ही विश्व सम्राट् का मन है। पिता, चिकित्सक तथा प्रतिमाकार की तरह हमारे मंगल के ही लिए मंगलमय परमपिता सुख-दुःख की व्यवस्था करते हैं। जीव का कर्मवैचित्र्य ही सृष्टि की विचित्रता का कारण है। जीव के कर्म के अनुसार जगत् को वैचित्र्यमय करने से ईश्वर की स्वतंत्रता नहीं घट जाती। राजागण साधु का अनुग्रह तथा दुष्ट का निग्रह करते हैं। वे अपने बनाये नियमों का अनुवर्तन करते हैं। क्या इससे उनकी स्वतंत्रता बाधित हो जाती है?

धर्माधर्मरूप सिक्कड़ से बँधा जीव अविराम इससे छुटकारा पाने के लिए अपवर्ग अथवा मुक्ति के पुरद्वार में प्रवेश करने हेतु चेष्टारत रहता है, किन्तु उस सिक्कड़ को काटकर अपवर्ग के पुरद्वार में प्रवेश नहीं कर पाता। क्या परम करुणामय परमपिता इसे देखकर निश्चिन्त बैठ सकते हैं? इस प्रकार का दुर्गत् सन्तान निश्चय ही उनकी दया का पात्र है। फलभोग के बिना कर्मफल क्षयीभूत नहीं हो सकता। स्वर्ग-नरकादि की सृष्टि के अभाव में कर्मफल भोग असम्भव है। दयालु भगवान् ने इसीलिए वैषम्यमय जगत् की सृष्टि की है।

भगवान् ने करुणा के कारण जगत् की सृष्टि तथा संहार का उपक्रम किया है, इसे समझाने के लिए नैयायिकगण के मत का किंचित् आभास दिया है।[1] चेतन के अधिष्ठान के अभाव में अचेतन कार्यप्रवृत्त नहीं हो सकता। कार्यप्रवृत्त होने के लिए

---

1. न्यायसूत्र, न्यायवार्तिक, उसकी तात्पर्य टीका, न्यायमंजरी, न्यायकुसुमांजलि, तत्वचिन्तामणि, वैशेषिक दर्शन का प्रशस्तपाद कृतभाष्य—देखें।

चेतन द्वारा प्रेरित होना आवश्यक है। ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न विशिष्ट पदार्थ का ही कर्तृत्व सम्भवपर हो सकता है। अतएव नित्य ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्नयुक्त ईश्वर नामक पदार्थ का अस्तित्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध हो जाता है। चेतन अधिष्ठान के बिना अचेतन स्वयं प्रेरित होकर कोई कर्म नहीं कर सकता। ईश्वर नामक पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार करने की पृष्ठभूमि में यदि यही युक्ति हो, तब चेतन जीवात्मा समूह के अधिष्ठानत्व को अंगीकार करने पर तो इष्टसिद्धि हो जायेगी, तब एक अन्य ईश्वर नामक पदार्थ को मानने का क्या कारण?

परिच्छिन्न ज्ञान वाले, विरुद्ध संस्कारयुक्त बहु जीवात्मा का विश्व में अधिष्ठा-तृत्व संभवपर नहीं होता। जहाँ अनेक व्यक्ति एक कार्य कर रहे हैं, वहाँ उनके कार्य की पर्यालोचना से विदित होता है कि वे कर्मकारीगण एक नेता के आदेशानुसार कार्य का अनुवर्तन कर रहे हैं। चींटी आदि आसन्न चेतन जीववृन्द भी इस नियम का पालन कर रहे हैं। वे भी एक प्रवर्तक के आदेशानुसार कार्य करते हैं। जो गुणसमूह अधिष्ठाता में होना आवश्यक है, वे गुण जीवात्मा में नहीं हो सकते। अधिष्ठेय का स्वरूप, अधिष्ठेय का साध्य प्रयोजन इत्यादि पहले से जाने बिना कोई भी अधिष्ठाता नहीं हो सकता। सारथी रथ का अधिष्ठाता है, रथ है अधिष्ठेय। रथ पर अधिष्ठित होने के पहले से ही सारथी को रथ का स्वरूप तथा उससे साध्य होने वाले प्रयोजन का ज्ञान आवश्यक है। यह निःसन्दिग्ध तत्व है। जीवात्मा के लिए विश्वजगत् का स्वरूप, विश्वजगत् के साध्य प्रयोजन को जान सकना नितान्त असम्भव है। इसलिए जीवात्मा इस विश्वजगत् का अधिष्ठाता नहीं हो सका। अब यह जानने की चेष्टा की जायेगी कि 'कर्मफलप्राप्ति ईश्वराधीन है, कर्म ही कर्म का फलदाता नहीं है' इस कथन का अभिप्राय क्या है?

यह ज्ञात हो चुका है कि कर्म करने पर भी इच्छानुरूप फल न मिलने का कारण है ज्ञान तथा क्रियाशक्ति की हीनता। इस शक्तिहीनता को पूर्णता में कैसे बदला जाये? जो हमारा है ही नहीं, उसे कैसे प्राप्त किया जा सकेगा? जिनका वह है, वे दया करके, दान करके क्या मुझे देंगे? कर्म से हीनशक्ति की शक्तिवृद्धि हो जाती है, मूढ़ का चैतन्योदय हो जाता है। असत् कभी भी सत् नहीं हो सकता। इसलिए स्वीकार करना होगा कि अल्प में भी भूमा ही है। जो परिच्छिन्न है, उसमें भी अपरिच्छिन्न भाव है। अपिच, अल्प तथा भूमा परस्पर सम्बद्ध हैं। परिच्छिन्न भी अपरिच्छिन्न से अलग नहीं है। ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों का पूर्णभाव ही ईश्वर कहा गया है। अतएव सर्वत्र सर्वशक्तिमान ईश्वर ही कर्मफलप्रदाता है। कर्म कदापि कर्मफलदाता नहीं है। तभी भगवान् गौतम ने कहा है कि पुरुष के कर्मफल की निष्पत्ति ईश्वराधीन है। तब ईश्वर की इच्छा को ही सर्वेसर्वा क्यों न कहें? कर्म को मानने का क्या प्रयोजन?

यदि कर्म को नहीं माना जाता है, तब जगत् का वैचित्र्य कैसे उत्पन्न होगा? कर्म को न मानने से ईश्वर की निर्दयता, जगत्-सर्जन तथा कर्मप्रवर्तन की निरर्थकता तथा मोक्ष की असम्भाव्यता, ये तीन दोष अपरिहार्य हो जाते हैं। इसीलिए मैं कहता हूँ कि जो परलोक का अस्तित्व नहीं मानते, उनका ईश्वर सम्बन्धित ज्ञान अति संकीर्ण है। ईश्वर का वास्तविक रूप उनके नेत्रों के समक्ष नहीं आ सका है। पुनर्जन्म, अदृष्ट अथवा पूर्वकर्म, जीवात्मा, स्वर्ग-नरक—इनमें जो विश्वास करते हैं, इन सबका तत्व जिन्हें यथाप्रयोजन विनिश्चित हो गया है, वे ही ईश्वर के प्रकृतरूप का दर्शन करने के योग्य हैं। इसी कारण पूर्वमीमांसा तथा सांख्यदर्शन ने विविध युक्तियों से ईश्वर के प्रकृत रूप को दिखलाने के लिए प्रकृति-पुरुष तथा ईश्वर को प्रधानतः लक्ष्य किया है। ईश्वर नामक पदार्थ सम्बन्धित अपूर्ण तथा भ्रान्त ज्ञान के प्रोत्सारणार्थ ईश्वरसिद्धि के प्रतिकूल भी वहाँ अनेक तर्क-वितर्क किये गये हैं। मैं जीवात्मा-परमात्मा तथा कर्मशीर्षक प्रस्ताव में सांख्य एवं मीमांसादर्शन के तर्क-वितर्क का किंचित् संवाद अंकित करूँगा।

कपिल दर्शन तथा पूर्वमीमांसा दर्शन में ईश्वर की अस्तित्व सिद्धि के प्रतिकूल अनेक तर्क-वितर्क रहने पर भी ये नास्तिक दर्शन के श्रेणीभूत क्यों नहीं होते? कपिल तथा पूर्वमीमांसा में परलोक को माना गया है, अदृष्ट तथा पूर्वकर्म को माना गया है, देह के अतिरिक्त पुरुष या जीवात्मा का स्वतंत्र अस्तित्व माना गया है, वेद का अभ्रान्तत्व तथा नित्यत्व स्वीकार किया गया है, इसलिए इनको आस्तिक दर्शन की श्रेणी में रखते हैं। यहाँ यह कहना है कि यह सत्य नहीं है कि कपिल तथा जैमिनी ईश्वर को नहीं मानते। वेद में प्रदर्शित ईश्वर के स्वरूप का यथायथ भाव से दर्शन करने के लिए कपिल तथा पूर्वमीमांसा दर्शन के उपदेश द्रष्टव्य हैं।

सत्वः, रजः तथा तमःरूपी गुण अथवा शक्तित्रय से ही विश्वजगत् के समस्त परिणाम साधित होते हैं तथा हो रहे हैं। जो वैज्ञानिकगण ईश्वर नामक स्वतंत्रकर्ता का अस्तित्व नहीं मानते, वे अस्पष्ट तथा स्पष्ट रूप से इस बात को कहीं न कहीं मानने भी लगते हैं। नास्तिकगण अधिकांशतः विकृत कपिल मतावलम्बी हैं। विकृत कपिल मतावलम्बी से क्या तात्पर्य है? नास्तिक वैज्ञानिकगण कर्म के प्रकृतरूप को नहीं देख सके, वे कर्म के अनादित्व को नहीं मानते, चैतन्य के स्वतंत्र अस्तित्व को नहीं मानते। पूर्वजन्म को नहीं मानते। इसीलिए हमने इनको विकृत कपिल मतावलम्बी कहा है।

यह तो मानना पड़ेगा कि जड़शक्ति कालाधीन कार्य करती है। यदि इसे नहीं मानें, तब विश्वजगत् में सर्वदा सृष्टि ही होना था। कभी भी विनाश अथवा प्रलय न होता। अथवा यह सर्वदा प्रलयावस्था में ही रहता। कभी भी सृष्टि होना सम्भव नहीं था। ज्ञानशक्तिरहित जड़ को कालज्ञान नहीं रहता। किस काल में यह कर्तव्य है,

किस काल में यह अकर्तव्य है, इसकी अवधारणा ज्ञानशक्ति के अभाव में नहीं हो सकती। इस कारण स्वीकार करना ही होगा कि जड़शक्ति से परे एक ईश्वर नामक पदार्थ है। जब समस्त जड़शक्ति आपेक्षिक है, तब यह स्वीकार करना होगा कि कोई स्वतन्त्र, पूर्ण सत्य इनके मूल में विद्यमान है। स्वाधीन का सहारा लिये बिना पराधीन रह ही नहीं सकता। नास्तिक वैज्ञानिकगण किसी पदार्थ के आदि-अन्त के तत्वानुसन्धान में उतना मनोयोग नहीं देते, तभी उनके द्वारा ईश्वर को छोड़ दिया गया, अदृष्ट का प्रत्याख्यान किया गया, पूर्वजन्म को अविश्वसनीय माना गया। उनके मतानुसार इससे कोई हानि नहीं है। यदि इसे स्वीकार करें कि जड़ प्रकृति स्वतन्त्र रूप से विश्व-परिणाम साधन कर सकती है, तब भोग-मोक्षादि प्रयोजन के अभाव के कारण इनका विश्वप्रपंच का जनकत्व सिद्ध ही नहीं होता।

आधुनिक वैज्ञानिकों में अनेक यह स्वीकार करते हैं कि इस व्यक्त जगत् का परिणाम चैतन्याधिष्ठित अव्यक्त द्वारा होता है, ईश्वरेच्छा ही निखिल कार्य का मूल कारण है। जो परमाणु हैं, वे किसी नियामक शक्ति द्वारा प्रवर्तित हैं, यथा प्रयोजन (उस शक्ति से प्रेरित होकर) सन्निवेशित तथा नियामित होते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर, डार्विन प्रभृति चिन्तनशील वैज्ञानिकगण, बुकनर, हक्सले प्रभृति विद्वान् जो भूत एवं भौतिक शक्ति को सर्वकार्य के कारणरूप अवधारित करने के इच्छुक हैं, वे भी जड़वाद के ऊपर अचल भाव से खड़े रहने में समर्थ नहीं हो सके। इन लोगों ने एक बार यहाँ तक कहा कि ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास, परोक्ष अथवा आध्यात्मिक कर्तृत्व सम्प्रत्यय मानव जाति की उसकी आदिम अवस्था में नहीं था। किंचित् तर्क अथवा विचारशक्ति के साथ जब कल्पना एवं कौतूहल वृत्ति का अंशतः विकास होने लगा, तभी स्वाभाविक नियमानुसार मानव की दृष्टि उसके चारों ओर हो रही घटनाओं पर पड़ने से, क्रमशः तत्वनिर्णय प्रवृत्ति के जन्म का उदय होने से, ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास परोक्ष तथा आध्यात्मिक कर्तृत्व में सम्प्रत्यय, इस स्थिति में होने लगा। स्वप्नदर्शन, छायावलोकन तथा अन्य कारणों से अर्ध्य सभ्य मानव ने शरीरात्मा तथा अन्तरात्मा, इन दो में विश्वास करना आरम्भ कर दिया। इन लोगों ने पुनः कहा कि 'क्रम विकासवाद (Evolution Theory) का विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि प्रतिभात रूप जड़वादात्मक नहीं है। हम जड़वादी नहीं हैं। जड़शक्ति से सजीव अथवा चेतन की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। जड़ में स्वातन्त्र्य नहीं है। कार्बन-हाईड्रोजन-ऑक्सीजन आदि के समवाय से कैसे चैतन्य का आविर्भाव होगा, वह हमें बोधगम्य नहीं है।

तभी मैंने कहा कि स्पेन्सर तथा डार्विन जड़वाद पर स्थिर रूप से दण्डायमान नहीं रह सके। इनका यह अनुमान कि "ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास अर्धसभ्यावस्था में हुआ था", क्या पूरी तरह से प्रत्यक्षभूमिक है, अव्यभिचारी है? बील, ग्रैम, टेट, स्टुअर्ड कुक, जेवन्स, वेल्स प्रभृति आधुनिक वैज्ञानिक विद्वान् जब

ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास स्थापन करते हैं, तब कैसे डार्विन, स्पेन्सर आदि के ऊपर लिखे अनुमान को प्रत्यक्षभूमिक अथवा अव्यभिचारी कहा जाये? कैसे वील, ग्रैम, टेट आदि विद्वानों को अर्द्धसभ्य कहा जाये?

शास्त्र ने आस्तिक तथा नास्तिक शब्द का प्रधानतः जिन-जिन अर्थों में प्रयोग किया है, उसे पाठकों को विदित कराना ही इस प्रथम प्रस्ताव का उद्देश्य है। जो परलोक को मानते हैं, वे ही शास्त्रानुमोदित आस्तिक हैं। एतद्विपरीत नास्तिक हैं। यह इस विवेचना से स्पष्ट हुआ।

अब यह जानना आवश्यक है कि 'परलोक' किस पदार्थ को कहा गया है? इसे द्वितीय प्रस्ताव में कहा जायेगा।

[प्रथम प्रस्ताव समाप्त]

द्वितीय प्रस्ताव

परलोक कौन पदार्थ है?

'परलोक' पर तथा लोक, इस पदद्वय के मिलने से उत्पन्न हुआ है। 'पर' शब्द श्रेष्ठ, अरि, दूर, अन्य, उत्तर इत्यादि अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'लोक' शब्द भुवन-जन इन दो अर्थों का बोधक है। दर्शनार्थक 'लोक' धातु के उत्तर में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से होता है 'लोक'। जो लोकित होता है, दिखलाई देता है, वह है लोक। जो लोकित (दृष्ट) नहीं होता, लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, वह है परलोक। बहि:स्थित दूरवर्ती अतएव परलोक (बहि:स्थिति=दृष्टि से परे)।

परलोक की व्युत्पत्ति से क्या प्रकट होता है? जो लोकित नहीं है, लौकिक प्रत्यक्ष का अविषय है, वह है परलोक। इससे क्या समझ में आया, इस पर विचार करना होगा।

जो स्थूल है, उसकी सूक्ष्मावस्था अवश्य होती है। स्थूल तो सूक्ष्म द्वारा व्याप्त जो है। इस बात का अभिप्राय क्या है? कार्य का कारण है, इस बात का जो अभिप्राय है, वही अभिप्राय यहाँ भी है कि जो स्थूल है—उसकी सूक्ष्मावस्था है। स्थूल सूक्ष्म द्वारा व्याप्त है। जो स्थूल है, वह है कार्यकारणात्मक। जिसकी अन्त: एवं बहि: ये दो अवस्थाएँ हैं, वही है कार्य पदार्थ। अतएव जो स्थूल है, वह है कार्यकारणात्मक। इस वक्तव्य का यह अर्थ है कि जो स्थूल है, वह कारण गर्भ में विद्यमान है और अन्त: एवं बहि: (Inner and Outer) रूपी अवस्थाद्वय युक्त है। अन्त: तथा बहि: यथाक्रमेण अव्यक्त एवं व्यक्त अथवा सूक्ष्म एवं स्थूल, इस अर्थ के वाचक हैं। व्यक्तता तथा अव्यक्तता के अतिरिक्त आन्तर तथा बाह्य में कोई भेद नहीं है। जो आन्तर है, वही अव्यक्त है। जो बाह्य है, वही व्यक्त है, जो लोकित होता है, वही लोक है। जो लोकित अथवा दृष्ट नहीं होता, वह है परलोक। लोकित होने वाला स्थूल, व्यक्त बाह्य तथा कार्य है। जो लोकित नहीं होता, वह स्थूल प्रत्यक्ष का अविषय, सूक्ष्म, अव्यक्त तथा कारण है। अतएव कहा जा सकता है कि लोक है—स्थूल, व्यक्त तथा कार्य (Seen)। परलोक है—सूक्ष्म, अव्यक्त एवं कारण (Unseen)।

जो जिसका कारण है, जो जिस स्थूल का सूक्ष्म है, जो जिसका व्यापक है, वही है उसका आत्मा, उसका ब्रह्म। जो अकार्य है, जो किसी का विकार नहीं है, जिसकी अन्त: एवं बाह्य अवस्थाएँ नहीं हैं, अतएव जो परमकारण है, उसे ही

परमात्मा—परब्रह्म कहते हैं।[1] जो सूक्ष्म, अव्यक्त अथवा कारण, व्यापक तथा लौकिक प्रत्यक्ष का अविषय है, वह है परलोक। परलोक की इस व्युत्पत्ति का स्वरूप चिन्तन करने से यह ज्ञात होता है कि 'परलोक' ही आत्मा, अदृष्ट (पूर्वकर्म) पुनर्जन्म, मृत्यु, स्वप्न, सुषुप्ति, स्वर्गादिलोक, अतीत तथा अनागत इत्यादि का वाचक भी है।

परलोक क्या सर्वत्र इसी व्यापक अर्थ में व्यवहृत होता है? परलोक को लोग साधारणतः पर अथवा भविष्यत् जगत् (Next or future world) कहते हैं। परलोक का यथोक्त व्युत्पत्ति वाला अर्थ जगत् में प्रसिद्ध नहीं है। परलोक शब्द सामान्यतः प्रत्यक्ष प्रमाण के अविषय पदार्थ मात्र के वाचक रूप में व्यवहृत होता है। आत्मा, स्वर्गादिलोक, पुनर्जन्म इत्यादि परलोक के व्यापक अर्थ में ही अन्तर्भूत हैं। आत्मा, स्वर्गादिलोक, पुनर्जन्म, अदृष्ट अथवा पूर्वकर्म इत्यादि लौकिक प्रत्यक्ष के अविषय पदार्थ हैं। अतएव परलोक की व्युत्पत्ति के अनुसार इन सबको परलोक ही कहना होगा।

पर अथवा भविष्यत् जगत् कहने से क्या विदित होता है? जो अप्रत्यक्ष पदार्थ के अस्तित्व में विश्वास-स्थापन नहीं कर पा रहे हैं, अतीत तथा अनागत को जो स्वरूपतः विद्यमान नहीं मानते, पर अथवा भविष्यत् जगत् उनके लिए आकाशकुसुम के समान वस्तुशून्य अथवा असत् पदार्थरूप में गृहीत होता है। जो वास्तव में अतीत तथा अनागत के स्वरूप को सत् रूप में मानने से सहमत नहीं हैं, अपारग हैं, जिनकी दृष्टि में जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, ऐसा पदार्थसमूह आकाशकुसुम के समान असत् है, क्या वे ईश्वर में विश्वास कर सकते हैं? वे क्या कार्य की सूक्ष्मावस्था देख पाते हैं? बिना कारण कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। सत् का नाश तथा असत् की उत्पत्ति असम्भव है, जो यह मानते हैं, उनके लिए अतीत तथा भविष्यत् जगत् को माने बिना कोई अन्य विकल्प नहीं है। जो अतीत तथा भविष्यत् जगत् (पुनर्जन्म) पर विश्वास नहीं करते—भले ही वे 'यदि यह कहें कि सत् का नाश तथा असत् की उत्पत्ति असम्भव है' उनकी बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यह निःसन्दिग्ध है कि उनके अन्तर में इस तथ्य का प्रकृतरूप प्रतिच्छवित ही नहीं हो सका है।

जो कार्य का कारणानुसन्धान करते हैं, वे अतीत तथा अनागत के अस्तित्व पर विश्वास करके ही आगे बढ़ सकते हैं। तब भी कार्यमात्र के परमकारण को जानने की चेष्टा न होने पर परलोक का व्यापक तथा पूर्णरूप अनुमान नेत्रों में पतित नहीं

---

1. द्रष्टव्य—न्यायदर्शन, 4। 2। 20 तथा निरुक्त टीका—'न स्थूलेन सूक्ष्मम् स्थूलञ्च कार्यकारणम् सूक्ष्म आत्मा।'
तथा सांख्यसार—'व्यक्तताव्यक्ततामात्रभेदो ह्यान्तरवाह्ययोः।'
तथा पुनः सांख्यसार—'यस्य मद्व्यापकं तस्य तद्ब्रह्माऽतोधरादिकम्।'

होता। कार्य का कारणानुसन्धान करते-करते जब इस प्रकार के उस कारण प्रकोष्ठ में उपनीत होना पड़ता है, जो कारण प्रकोष्ठ अन्य कारणगर्भ में विद्यमान नहीं है, (अर्थात् जो अविकार—अकार्य है जो परमकारण है) उसी क्षण कारणानुसन्धान समाप्त हो जाता है। प्रत्यक्ष कार्य के परमकारण पर्यन्त अनुसन्धान न करने से कारणानुत्सन्धित्सा चरितार्थ नहीं होती। यथार्थ तत्वजिज्ञासा निवृत्त नहीं होती। "प्रत्यक्ष प्रमाण से जो सिद्ध होगा, उसे ही मानना है, उससे इतर कुछ भी नहीं मानना है।" वैज्ञानिकों में से जो इस मत को मानते हैं, वे भी परमाणु (Atom), ईथर (Ether), शक्ति (Force) जैसे पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। परमाणु, ईथर, शक्ति आदि इन्द्रियगम्य पदार्थ नहीं हैं। पण्डित ग्रोभ कहते हैं कि शक्ति को (Force को) हम देख नहीं पाते। कर्म ही हमारा प्रत्यक्षीभूत विषय होता है। अतएव वैज्ञानिकों को अपनी हठधर्मी 'प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध को ही मानूँगा, अन्य नहीं मानूँगा' को छोड़कर कार्य करना पड़ेगा। परलोक के सम्बन्ध में कुछ न कुछ विश्वास मानवमात्र में है। जो स्थूल प्रत्यक्ष के अविषय पदार्थ के अस्तित्व को मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं, वे भी एकबारगी परलोक का प्रत्याख्यान नहीं कर पाते।

प्रतिभा यदि विमल नहीं है, तब किसी भी पदार्थ के वास्तविक अर्थ को नहीं जाना जा सकता। अतः परलोक शब्द का प्रकृत अर्थ सब जान लेंगे, यह असम्भव है। जिनकी परलोक के सम्बन्ध में जितनी प्रतिभा है, वे उसी मात्रा में इस विषय को जान पाते हैं। 'यह इस प्रकार का है' अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुरूप लोग अलग-अलग सिद्धान्त बनाते हैं। प्रतिभा ही ज्ञान, विश्वास, धर्माधर्मप्रवृत्ति की नियन्त्री है, प्रतिभा द्वारा ही जाति एवं व्यक्तिगत ज्ञान विश्वासादि व्यवस्थापित होता है। भिन्न-भिन्न द्रव्यों में सूक्ष्मरूप से अवस्थित शक्ति जिस प्रकार से निमित्त कारण योग से आविर्भूत होती है, उसी प्रकार जन्मान्तर अभ्यासजनित प्रत्येक व्यक्तिगत प्रतिभा निमित्तकारणयोग से प्रकटित होती है।

श्रुति आदि शास्त्र में परलोक शब्द विशेषतः जिस अर्थ में व्यवहृत होता है—वह कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषत् कहता है कि मृत्यु के उपरान्त जीव जिस लोक में जाता है, उसे परलोक शब्द से लक्ष्य किया गया है। पुरुष के इहलोक तथा परलोक, ये दो स्थान हैं। प्रत्यक्षतः अनभूयमान (जिसका प्रत्यक्षतः अनुभाव होता है), शरीर, इन्द्रिय तथा विषय का संवेदन (Sensation), विशिष्ट स्थान, वर्तमान जन्म ही इहलोक है। शरीरादि से वियोग होने के पश्चात् मृत्यु हो जाने पर अनुभवनीय स्थान है परलोक।[1] जब तक मुक्ति नहीं हो जाती, तब तक पुरुष जन्म

---

1. 'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोक स्थानं च.....'

—बृहदारण्यक उपनिषत्

एवं मरण द्वारा (जन्म से इहलोक, मरण पर परलोक) इन दोनों लोकों में घूमता रहता है। बृहदारण्यक ने जिस अर्थ में परलोक शब्द का प्रयोग किया है, उसका स्वरूप जानने के लिए, स्वर्गादि लोक में आत्मा का, पुनर्जन्म का, लिंग अथवा सूक्ष्मदेह का तथा शुभाशुभ कर्म का तत्वदर्शन आवश्यक है।

आचार्य चरक कहते हैं कि जिसका मन, बुद्धि, शरीर, मानसबल रोगादि से उपहत नहीं है, जो इहलोक तथा परलोक में हित की आकांक्षा रखते हैं, उनको प्राणैषणा, धनैषणा एवं परलोकैषणा इन त्रिविध ऐषणा (साधना) को करना चाहिए। (प्राणैषणा=दीर्घ जीवन, निरोग जीवन की चेष्टा। धनैषणा=न्यायपूर्वक धनोपार्जन चेष्टा। परलोकैषणा=सद्गतिलाभ की चेष्टा)। यहाँ पर परलोक का अर्थ है जन्मान्तर तथा स्वर्गादिलोक। जो पुनर्जन्म स्वीकार नहीं करते, कर्म तथा कर्मफल नहीं मानते, इस लोक के अतिरिक्त किसी लोक के अस्तित्व को नकारते हैं, वे नास्तिक हैं।[1]

वर्तमान देह का पतन होने पर अन्य जन्म नहीं होता, आत्मा देहातिरिक्त स्वतंत्र पदार्थ है, पुनर्जन्म असम्भव है, ऐसा मानने वाले नास्तिक पदवाच्य हैं। पृथ्वी में ऐसे व्यक्ति हैं जो पुनर्जन्म नहीं मानते, पूर्वकर्म (अदृष्ट) का अस्तित्व नकारते हैं, मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग अथवा नरकवास की उक्ति को मान्यता नहीं देते, अथच कहते हैं कि ईश्वर है। शास्त्र के अनुसार ऐसे लोग ईश्वर का अस्तित्व मानने पर भी नास्तिक ही हैं। उनको ईश्वर शब्द के प्रकृत अर्थ का ज्ञान ही नहीं है।

परलोक नामक इस ग्रन्थ में किस-किस पदार्थ के तत्वान्वेषण को करना कर्तव्य माना गया है, यह कहा जा रहा है। प्रत्यक्ष का अविषय है परलोक। (इसी की उत्पत्ति की ऊपर विवेचना करके यह उपलब्धि की गयी है)। जो प्रत्यक्ष है, वर्तमान है वही प्रत्यक्षीभूत विषय है। जो अतीत एवं अनागत है, जो सूक्ष्म है, वह परोक्ष है। यह प्रत्यक्ष का अविषय है। अतएव जो सब पदार्थ इन्द्रियों द्वारा अनुभूत होते हैं, उनकी अतीत तथा अनागत अवस्था और जो पदार्थ इन्द्रियों से अनुभूत नहीं होते—अतः अनुमान एवं आप्तोपदेश से उनकी सत्ता प्रमाणित होती है, इन सबके स्वरूप का तत्वानुसन्धान इस ग्रन्थ में करना लेखक का कर्तव्य है।

जो सत् है—वास्तव में विद्यमान है, उसी की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति होती है। असत्—जो वास्तव में नहीं है, उसकी उपलब्धि अथवा उत्पत्ति कदापि नहीं होती। दशरथ को पुत्र नहीं था। पुत्र-जन्म के उपरान्त माता-पिता अन्तर्हित हो गये। सत् का नाश एवं असत् की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि जन्म के पहले राम सूक्ष्म में विद्यमान थे। माता-पिता मृत्यु को प्राप्त होकर सूक्ष्म अवस्थाविशेष में चले गये। जन्म तथा मृत्यु केवल परिवर्तन मात्र है। जो जन्म लेता है, वह जन्म से पूर्व सूक्ष्म में विद्यमान था। जो मर जाता है, विनष्ट हो जाता है, वह

1. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, देखें एकादश अध्याय।

भी सूक्ष्म अवस्था में चला जाता है। इसका तत्व-चिन्तन करने से ज्ञात होगा कि परिदृश्यमान पृथ्वीलोक के अतिरिक्त भी अन्य लोक अथवा स्थान की सत्ता अनुमान से स्पष्ट हो जाती है। कोई भी वस्तु (अर्थात् परिच्छिन्न अथवा विकारात्मक वस्तु) आधारशून्य होकर अवस्थान नहीं कर सकती। अत: जन्मपूर्व तथा मरणोपरान्त जीव के अवस्थानार्थ स्थान अथवा लोकसमूह है, ऐसा अनुमान नि:सन्देह न्यायसंगत है। कर्मभेद से अवस्था में (स्थान तथा लोक में) भिन्नता हो सकती है। दृश्यमान जगत् में भी जीव की ऊँची-नीची अवस्था दृष्टिगोचर होती है। बिना कारण कोई भी कार्य नहीं होता। अत: जीव की उच्चावच अवस्था में जो कारण है, उसे मानना ही होगा।

शुभ-अशुभ कर्म ही (धर्माधर्म ही) जीव की उच्चावच (ऊँची-नीची) अवस्थाप्राप्ति के मुख्य कारण हैं। दृष्ट अथवा स्थूल द्वारा अदृष्ट अथवा सूक्ष्म की सिद्धि होती है। अतएव अदृष्ट तथा पूर्वकर्म को मानना ही होगा। जब कर्मानुसार जीव की अवस्था में भेद होता है तब मरणोपरान्त सभी जीव एक ही स्थान में नहीं जा सकते। इसी कारण से परलोक भी एक प्रकार का नहीं है। वेदादिशास्त्र पढ़ने से भूर्लोक, अन्तरिक्षलोक तथा स्वर्लोक का संवाद मिलता है। भौतिक राज्य, उद्भिदराज्य, संकीर्ण चेतनराज्य तथा विशिष्ट चेतनराज्य के रूप में हम ये चतुर्विधराज्य अथवा प्रकृति के चतुर्विध धर्मपर्व को देखते हैं। इस लोक में मनुष्य ही सर्वोत्तम जीवसर्ग है। मर्त्यधाम में मनुष्य है उच्चतम जीव। परन्तु मनुष्यत्व भी जीवत्व का चरम पर्व नहीं है। मनुष्य से भी उच्चतम जीव हैं। 'लोक' शब्द से भुवन तथा जन, इन दो अर्थों का द्योतन होता है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग शब्द से यथाक्रमेण जो स्वर्गलोक-निवासी हैं उनके साथ-साथ पृथिव्यादि लोकत्रय का तात्पर्य प्राप्त होता है। पृथिव्यादि लोकत्रय में (पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग में) परस्पर एक-दूसरे के प्रति क्रिया (Mutual Action) होती है। ये परस्परत: सम्बद्ध भी हैं।

जो पदार्थ इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्षीभूत हो रहे हैं, वे परिच्छिन्न हैं, सातिशय (Finite) हैं। ज्ञान का न्यूनाधिक तारतम्य हम देख पाते हैं। जो पदार्थ सातिशय है, जिसका तारतम्य लक्षित होता है, वह निश्चय ही एक जगह पर निरतिशय (Infinite) होगा। संसार में ज्ञान का जो तारतम्य लक्षित हो रहा है, उसमें एक व्यक्ति की तुलना में जब एक अन्य को सूक्ष्मदर्शी पाते हैं, तब अनुमान किया जा सकता है कि ऐसा भी एक पुरुष है जिसका ज्ञान निरतिशय है तथा जिसमें ज्ञान के इस तारतम्य की परिसमाप्ति हो जाती है। जहाँ ज्ञान निरतिशय है, शास्त्र में उन्हें 'ईश्वर' नाम से अभिहित किया गया है।

प्रत्यक्षगम्य पदार्थमात्र प्रतिक्षण परिणामी है। परिवर्तनशील संसार का कोई भी पदार्थ क्षणमात्र के लिए भी एक अवस्था में नहीं रहता। प्रत्यक्षगम्य पदार्थ ही

प्रतिक्षण परिणामी है, जब हम यह जान लेते हैं, तब यह स्वीकार करना पड़ता है कि अपरिणामी पदार्थ भी है। यदि जगत् केवल परिणामी पदार्थ की समष्टि होता, तब इसके अस्तित्व को कोई भी समझ नहीं सकता था। किसी की भी बुद्धि का यह विषय ही न होता। अपरिणामी पदार्थ के बिना परिणामी को जान सकेगा? जो ज्ञाता हैं, यदि वे भी प्रतिक्षण परिणामी (परिवर्तनशील) हो जायें, तब किसे कैसे ज्ञान होगा? अतएव परिणामी भावसमूह के पश्चाद्वर्त्ती (पीछे) अप्रत्यक्ष सत्ता वाला कोई अपरिणामी अथवा स्थिर पदार्थ है, यह बात अनुमान द्वारा सिद्ध हो जाती है। यही 'आत्मा' रूप अपरिणामी पदार्थ है।

जब तक मुक्ति नहीं हो जाती तब तक जीव परलोक से इहलोक में तथा इहलोक से परलोक में आवागमन करने के लिए विवश है। स्थूल शरीर लेकर स्वर्गादि लोक में नहीं जाया जा सकता। इससे वहाँ का भोग नहीं हो सकता। अत: स्वीकार करना होगा कि प्रत्यक्ष शरीर के अतिरिक्त भी सूक्ष्म शरीर की सत्ता है।

परलोक का तत्वान्वेषण करने में पुनर्जन्म, अदृष्ट अथवा पूर्वकर्म, स्वर्गादिलोक, आत्मा, लिंग अथवा सूक्ष्मदेह, ईश्वरप्रभृति पदार्थ का स्वरूपावलोकन आवश्यक है, इस विवेचना से यह ज्ञात हो सका। मैं इस क्षुद्र ग्रन्थ में यथाशक्ति इन सभी विषय की तत्वचिन्ता करूँगा।

[द्वितीय प्रस्ताव समाप्त]

तृतीय प्रस्ताव

जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शास्त्रोपदेश

पुनर्जन्म परोक्ष है। यह स्थूल प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। जो प्रत्यक्षपर हैं, जिनके पास प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई भी प्रमाण मान्य नहीं होता, जो यह नहीं मानते कि मरने के पश्चात् जन्म होता है, यह उन्हें समझा सकना सम्भव नहीं होता। यह ग्रन्थ-लेखन नास्तिक को आस्तिक बनाने के लिए नहीं किया गया है। जिन्होंने आस्तिक्य बीज लेकर जन्म ग्रहण किया है, शास्त्र तथा युक्ति द्वारा मैंने यथाशक्ति यह प्रयत्न किया है कि उनके समक्ष नास्तिक मत का खण्डन हो। अत: यह ग्रन्थ ऐसे लोगों के लिए है, जो यह समझने योग्य हैं कि मरण के पश्चात् पुन: जन्म होता है। चैतन्य भूत अथवा भौतिक शक्ति का धर्म नहीं है। पूर्वजन्म का कर्म ही वर्तमान जन्म का कारण है, इत्यादि विषय समझाने की चेष्टा करूँगा।

पूर्वजन्म होता है, इसे प्रमाणित करने के लिए पहले के उन मतों का श्रवण-मनन आवश्यक है जो पहले से ही जीव के जन्म तथा उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपना पक्ष प्रस्तुत कर गये हैं। जब तक जन्म का स्वरूपदर्शन नहीं होगा, तब तक पुनर्जन्म का तत्व निर्णीत नहीं होगा। किसी पदार्थ की उत्पत्ति के तत्व का चिन्तन करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि क्या वह उत्पत्ति पूर्व सूक्ष्मरूप से विद्यमान था अथवा नहीं। इस प्रकार की जिज्ञासा का क्या कारण है? नास्तिकों के मन में भी ऐसा सन्देह जाग्रत् हो सकता है।

पहले जाना जा चुका है कि असत् (जो नहीं है) का जन्म अथवा उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो सत् है (जो है) उसका एकबारगी नाश नहीं हो सकता, ध्वंस नहीं हो सकता। इसी विश्वास से यह सिद्धान्त बना है कि ''कार्यमात्र का कारण है। कारण के बिना कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती''। नास्तिक भी कार्य का कारणानुसन्धान करते हैं। पूर्व तथा अपरभाव का बोध उनको भी है। नास्तिकगण भूत तथा भौतिक शक्ति को ही सत् मानते हैं। इन्द्रियों से जिनकी सत्ता प्रतिपन्न होती है उसके अव्यवहित पूर्वभाव अथवा किंचित् सूक्ष्म अवस्था मात्र को ही नास्तिकगण मानते हैं। उसके अतिरिक्त वे किसी सूक्ष्मतम इन्द्रियगम्य पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते। वे कर्म मानते हैं, तथापि पूर्वजन्म के कर्म को मानने में वे विपत्ति में पड़ जाते हैं। इनके मत से परमाणु तथा परमाणुनिष्ठ शक्ति ही चेतन, अचेतन, अप्राण, सप्राण आदि सभी पदार्थ का कारण है। पूर्वभाव, चैतन्य, प्राण, मन: इत्यादि भूत के ही

भिन्न-भिन्न रूप के कार्य हैं। नित्य एवं अनित्य भाव का ज्ञान तो कुछ न कुछ सभी चेतन पुरुषमात्र को है। नास्तिकगण परमाणु अथवा भूत तथा भौतिक शक्ति को नित्य तथा उसके कार्यजात को अनित्य मानने के लिए बाध्य हैं। वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, मनुष्य, विविध रासायनिक तथा भौतिक परिणाम को मानना पड़ता है। इसे सबको मानना पड़ता है कि ये होते हैं। यद्यपि कार्य अनित्य अवश्य है, किन्तु कारण अनित्य नहीं है। यदि कारण ही अनित्य होता, तब जगत् ही न रहता। होता भी नहीं। माता-पिता मर जाते हैं, कन्या-पुत्र का जन्म होता है। कुछ समय व्यतीत हो जाने पर ये भी माता-पिता बन जाते हैं। बीज से अंकुर, अंकुर से शाखा प्रशाखायुक्त वृक्ष का जन्म। वृक्ष से फल, फल से पुनः बीज। अतः कारण का ध्वंस नहीं होता। कारण अनित्य नहीं है। यह स्पष्ट हो गया कि कार्य अनित्य है—कारण नित्य है, अब यह जानना है कि कारण को कार्य से पृथक् करके देखने के लिए उद्यत होने पर हम क्या प्राप्त करते हैं? 'घट' एक कार्य पदार्थ है। मृत्तिका घट का पूर्वभाव अर्थात् कारण है। घट से मृत्तिका को अलग करने पर क्या बचता है? 'घट' यह नाम रह जाता है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहता। यह स्थिर तथ्य है कि मृत्तिका घट नहीं है। मृत्तिका में और क्या संयुक्त किया जाता है कि वह घटरूप हो जाती है? संयुक्त किया जाता है कुम्हार का प्रयत्न, दण्डचक्र क्रिया तथा जल। ये घट की उत्पत्ति में किस प्रकार का सहयोग देते हैं? मृत्तिका में जो सब धर्म अथवा शक्ति स्थित थी (सूक्ष्म रूप से स्थित थी), उसे ये सब (कुम्हार का प्रयत्न आदि) अभिव्यक्त करते हैं। मृत्कण (Particles) के जिस प्रकार से सन्निवेशित होने से घट होता है, उस रूप से सन्निवेशित होने की योग्यता उसमें है किन्तु जड़ होने के कारण मृत्तिका के कण अपने आप घटाकार नहीं हो सकते। कुम्भकार दण्डचक्रादि के द्वारा मृत्तिका कणों में सूक्ष्मभाव से विद्यमान योग्यता को प्रकटित करता है। मृत्तिका है घटकार्य का उपादान कारण तथा कुम्भकार एवं दण्डचक्रादि हैं निमित्त कारण। अतः देखा जाता है कि कार्यमात्र का ही उपादानकारण से युक्त निमित्तकारण है। उपादान तथा निमित्तकारण में से उपादानकारण कभी भी कार्य से पृथक् होकर अवस्थान नहीं करता। अनित्य कौन है? उपादानकारण के साथ निमित्तकारण का संयोग ही अनित्य है। समस्त कार्य निमित्त तथा उपादानकारण से उत्पन्न होते हैं। इस कारण किसी कार्य का कारणानुसन्धान करने के लिए उसके उपादान तथा निमित्तकारण के स्वरूप का निरूपण आवश्यक होता है।

बीज से अंकुर जन्म लेता है। जब बीज से अंकुर जन्म लेता है, तब क्या बीज नष्ट हो जाता है? यदि कहें कि बीज नष्ट होता है, तब जिज्ञासा होगी कि पुनः कैसे बीज की उत्पत्ति होगी? अणुसमूह के एकरूप सन्निवेश का नाम है बीज। अन्यरूप सन्निवेश का नाम है अंकुर। अतः जब बीज अंकुर होता है, तब उसके अणुओं का सन्निवेश (Arrangement) अन्यथा हो जाता है। ये नष्ट नहीं होते,

तथापि अणुसमूह की पुनः अन्य रूप में सन्निवेशित होने की योग्यता भी अव्याहत रहती है। जैसे मृत्तिका घट का उपादानकारण है तथा कुम्भकार और दण्डचक्रादि निमित्तकारण हैं, उसी प्रकार अंकुर का निमित्त एवं उपादानकारण क्या है?

बीज अंकुर का उपादानकारण है। ईश्वरेच्छा, काल, पूर्वकर्म इत्यादि हैं उसके निमित्तकारण। ईश्वरेच्छा, काल, पूर्वकर्म को अंकुररूपी कार्य का कारण स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है? कोई भी अचेतन बिना चेतन अधिष्ठान का आश्रय लिये कर्मप्रवृत्त नहीं हो सकता। जैसे घट की उत्पत्ति में कुम्भकार का प्रयोजन है, उसी प्रकार अंकुर की उत्पत्ति में ईश्वरेच्छा आवश्यक है। जैसे कुम्भकार का प्रयत्न, चिकीर्षा तथा घट की उपादानाभिज्ञता के बिना घटोत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही ईश्वर के प्रयत्नादि के बिना अंकुर की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। बीज में अंकुरोत्पादिका-शक्ति सन्निहित रहने पर भी वह काल के अधीन कार्य करता है, यह मानना होगा। अंकुर कार्य के लिए ईश्वरेच्छा तथा काल ही निमित्तकारण है, यह समझ में आया। अब यह चिन्तनीय है कि पूर्वकर्म को निमित्त कहने का क्या प्रयोजन है। आम, कटहल, अमरूद आदि अनेक वृक्ष हैं। ये सभी बीजोत्पन्न हैं। आम-बीज से आम-वृक्ष होगा। कटहल के बीज से कटहल की उत्पत्ति होगी। कटहल के बीज से आम तथा आम के बीज से कभी कटहल नहीं होता। सजीव देह आन्तर तथा बाह्यरूपी द्विविध प्रकृति द्वारा जात, स्थित, बर्द्धित तथा विपरिणाम प्राप्त (क्षीण एवं विनष्ट) होकर नष्ट हो जाते हैं। वृक्ष की आन्तर प्रकृति है बीज तथा मृत्तिका, जल, वायु, तेज तथा आकाश उसकी बाह्य प्रकृति है। बीज में अंकुरित होने की, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प-पल्लव तथा फल विशिष्ट होने की शक्ति बीज में विद्यमान रहती है। मृत्तिका आदि बाह्य प्रकृति बीजगर्भ में सूक्ष्मरूपेण अवस्थित उक्त शक्ति को उदितावस्था में लाने में सहायक होती है। बाह्य प्रकृति वृक्ष-मात्र का साधारण कारण है। बाह्य प्रकृति आम्रबीज में जिस प्रकार की है उसी प्रकार से अन्य बीजों में भी है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आन्तर प्रकृति भेद का कारण क्या है? "अणुसमूह के सन्निवेशादि भेद के कारण आन्तर प्रकृति में भी भेद होता है"—यदि ऐसा मत निर्धारित किया जाये तब इस प्रश्न को हल करना पड़ेगा कि सन्निवेशादि भेद का कारण क्या है? "पूर्वकर्म तथा संस्कार ही अणुसमूह के सन्निवेशादि भेद का कारण है", इसके अतिरिक्त कोई भी कारण अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। एक जातीय वृक्षों में जो परस्पर भेद दृष्टिगोचर होता है, वह भी पूर्वकर्म भेद के ही कारण है। जितने प्रकार के वनस्पति हैं, उन सबमें एक आदि उद्भिद् की सन्तान-शृंखला चली आ रही है। "विशेष-विशेष वृक्षोत्पादिका शक्ति एक जातीय मूल वृक्षोत्पादिका शक्ति का ही विशेष-विशेष परिणाम है" जो ऐसे मत का अवलम्बन लेने वाले हैं, उनको पूर्वकर्म स्वीकार करना ही होगा। इसके अनन्तर अब यह बतलाया जा रहा है कि जीव की उत्पत्ति कैसे होती है?

जीवोत्पत्ति का अर्थ—उपादान शक्ति की निमित्तशक्ति द्वारा व्यक्त अवस्था-प्राप्ति का नाम है उत्पत्ति। जीव कौन-सा पदार्थ है? लिंग अथवा सूक्ष्म आत्मावच्छिन्न आत्मा (पुरुष) ही जीव है। 'जीवोत्पत्ति' का अर्थ है लिंग अथवा सूक्ष्मदेहावच्छिन्न पुरुष का—चैतन्य का लिंग शरीरग्रहण। इसलिए सजीव शरीरतत्व की उपलब्धि होने से ही जीव की उत्पत्ति के रहस्य का उद्भेद होगा।

जीव तथा जीवोत्पत्ति का ऋग्वेद में उपदेश—आत्मा है अमर्त्य, मरणरहित नित्य पदार्थ Immortal। अमर्त्य आत्मा जब शरीर ग्रहण करता है, तब उसे जीव कहते हैं। शरीर भी त्रिविध है—स्थूल सूक्ष्म तथा कारण। आत्मा इन तीनों के साथ सम्बद्ध होकर शुभाशुभ कर्म के फलभोगार्थ ऊर्ध्व-अधः नानाविध लोक का परिभ्रमण करता है। जीवात्मा के साथ सूक्ष्म देह का नित्य सम्बन्ध है। जो अविवेकी हैं—स्थूलदर्शी हैं, वे भूतात्मा अथवा देह को ही विशेषतः जानते हैं। देहातिरिक्त आत्मा को नहीं जान पाते। आत्मज्ञान दुर्लभ है।[1] ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त विश्वजगत् में द्युलोक तथा भूलोक में जितने देह हैं उनमें चक्षु, श्रोत्र (ज्ञानेन्द्रिय), मनः, वाक् (कर्मेन्द्रिय) तथा प्राण ये पंच पदार्थ तथा इनके आधारस्वरूप दशभूत (माता से प्राप्त 5 तथा पिता से प्राप्त 5) मिलित यह पंचदश उत्कृष्ट अंग हैं। चक्षुरादि पंच पदार्थ, माता-पिता से प्राप्त भूतदशक (माता-पिता का रक्त, मांस, भेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्ररूपी षट्कोषात्मक षट् कौषिक शरीर) के संयोग से सर्वांग सम्पूर्ण देहरूप निष्पन्न होता है। [यहाँ चक्षु तथा श्रोत्र से पंचज्ञानेन्द्रिय, वाक् शब्द द्वारा पंचकर्मेन्द्रियाँ प्राण से पंचप्राण तथा मनः शब्द से बुद्धि आदि अन्तःकरण लक्षित होता है। अतएव ऋग्वेद में चक्षुरादि पंच पदार्थ शब्द से लिंगदेह को ही लक्ष्य किया गया है]। द्युलोक तथा भूलोक के बीच में कोई ऐसा स्थान नहीं है जो जीव देह से रहित हो। ऋग्वेद संहिता 10।114।8 में कहा है—"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्यावापृथिवी तादिन्तत्"

शरीरोत्पत्ति विचार—न्यायदर्शन के अनुसार पूर्व शरीर द्वारा कृत् कायिक-वाचिक-मानसिक शुभाशुभ कर्मफल के कारण शरीर की उत्पत्ति होती है। वहाँ आत्मा समवेत सम्बद्ध होकर अवस्थान करता है। पूर्वजन्म में किये कर्म के संस्कार द्वारा प्रेरित भूतसमूह वर्तमान शरीर को निष्पन्न करते हैं। भूतसमूह स्वतंत्र होकर शरीर का निर्माण अकेले नहीं कर सकते। न्यायदर्शन में कहा है—

---

1. 'आपङ् प्राङेति स्वधया गृभीतो मर्त्या मर्त्येना सयोनिः। ता शश्वस्ता विषूचीना वियन्तानान्यं चिक्यूर्न निचिक्युरण्यम्'—ऋग्वेद संहिता, 2।164।38
'अमर्त्यः अमरणधर्मायमात्मा मर्त्येन मरणधर्मणा भूतात्मना देहेन सयोनिः समानस्थानत्रय-परिच्छेद कोदेहोऽस्ति तत्र सर्वत्र सोयमपि तिष्ठन्नित्यर्थः यद्वा ससमानोत्पत्तिः सह वासेन स्वस्मिन्नुत्पत्तिरूपर्चयते.........। परमात्मैव सूक्ष्मशरीरोपाधिकः सन् नानाविधं कर्म कृत्वा तद्भोगाय जीवसंज्ञां लब्ध्वा। शरीरत्रयेण सम्बन्धो लोकान्तरेषु सञ्चरति। स्थूलसूक्ष्मोभय शरीरपरिग्रहणे लोके गुणत्रयान्वितः सन् परिभ्रमति' —सायणभाष्य

"पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्ति"। "भूतेभ्योमूर्त्यपादानवत्तदुपादनम्"। "न साध्य-समत्वात्" "नोत्पत्तिनिमित्तत्वान् माता पित्रो" "तथाहारस्य"। नास्तिकगण कहते हैं कि कर्मनिरपेक्ष परमाणुसमूह से जैसे पाषाण, स्फटिक प्रभृति निर्मित होता है, वैसे ही जीव समुदाय के शरीर कर्मनिरपेक्ष भूतसमूह से उत्पन्न होते हैं, इसमें पूर्वकर्म अथवा अदृष्ट का कोई प्रयोजन नहीं है।

महर्षि गौतम इसके उत्तर में कहते हैं कि यह प्रतिपाद्य (To be proved) विषय है कि शरीर की उत्पत्ति अकर्म निमित्त है अर्थात् बिना कर्म शरीर उत्पन्न हुआ है। यह उक्ति अब तक सिद्ध अथवा प्रतिपन्न नहीं है। पाषाणादि की उत्पत्ति बिना कर्म हुई है, यह भी प्रतिपाद्य विषय है, इसे भी नास्तिकों ने सप्रमाण नहीं कहा है। अतः नियम है कि एक साध्य अथवा प्रतिपाद्य विषय अन्य का साधन नहीं हो सकता। यदि यह सिद्ध हो जाये कि पाषाणादि के समान ही शरीर की उत्पत्ति भी बिना कर्म के भूतों द्वारा हुई है तब इस बात को माना जा सकता था। यदि नास्तिकों के कथनानुसार यह अंगीकृत कर भी लिया जाये कि पाषाणादि की आकृति बिना कर्म के हुई है, परमाणु-समूह द्वारा की गई है, तब भी इस दृष्टान्त से यह प्रमाणित नहीं होता कि शरीर की उत्पत्ति केवल भूतसमूह से हो सकी है। क्योंकि एक निर्जीव है, जबकि दूसरा सजीव है। दोनों की उत्पत्ति में कोई समता नहीं है। सजीव देह की उत्पत्ति होती है बीज द्वारा। शुक्र तथा शोणित (रजः) के संयोग से गर्भ होता है। जनिष्यमाण जीव गर्भयातना भोगता है और माता-पिता के अपत्य सुभोगपूर्ण पूर्वकर्म के द्वारा भूतसमूह प्रेरित होकर बच्चे के शरीर को गठित करते हैं। जैसे माता-पिता का पूर्वकर्म जीव की शरीरोत्पत्ति का कारण है, उसी प्रकार आहार भी (भुक्त तथा पिया हुआ) शरीरोत्पत्ति का कारण है। माता-पिता जो भोजन तथा पान करते हैं, उसी से शोणित तथा वीर्य की उत्पत्ति होती है। गर्भाशयस्थ बीज माता के रस रक्तादि से वृद्धि प्राप्त करता है, उपचित होता है। सजीव देहोत्पत्ति में अणुसमूह नियमानुसार सन्निवेशित होते हैं, सजीव देह की वृद्धि भी नियमानुवर्त्तिता से ही होती है। नियमोल्लंघन से वृद्धि नहीं होती। अतः निर्जीव पाषाणादि का दृष्टान्त देकर सजीव देह की उत्पत्ति में कर्म की आवश्यकता न मानना कदापि युक्तिसंगत नहीं है।

दम्पति के संयोग को ही गर्भधारण का एकमात्र कारण नहीं कहा जा सकता। स्त्री-पुरुष का संयोग ही यदि गर्भोत्पत्ति का एकमात्र हेतु होता, तब संसार का कोई भी दम्पत्ति सन्तानविहीन (अपत्यविहीन) न होता। अनेक की इच्छा रहती है कि सन्तान का मुखावलोकन करके कृतार्थ हो जायें, किन्तु व्यक्तिमात्र की यह साध पूर्ण क्यों नहीं होती? यदि स्त्री-पुरुष के संयोग से कदाचित् गर्भ उत्पन्न हो जाता है, कभी नहीं होता, तब मानना ही होगा कि दम्पति संयोग ही गर्भोत्पत्ति का अकेला कारण नहीं है। जिनका अदृष्ट है सन्तानहीन रहना, वे ही सन्तानहीन रहते हैं।

जिनका ऐसा अदृष्ट नहीं है, वे सन्तानहीन नहीं रहते। अतः यह सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है कि बिना कर्म के भूतसमूह से शरीर की उत्पत्ति होती है।

जैसे पूर्वकर्म शरीरोत्पत्ति का निमित्त कारण है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न अवयवों की रचना में जिन अणुओं का विशेषभाव से संयोग होता है, उनका भी पूर्वकर्म अथवा अदृष्ट ही निमित्त कारण है। यदि केवल कर्मनिरपेक्ष भूतसमूह ही स्नायु, त्वक, अस्थि, शिरा, पेशी, शिरः, बाहु, उदर, हृदय, आमाशय, पक्वाशय आदि के एकमात्र कारण होते, तब समान कारण से विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति कैसे होती? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है।[1]

पशु-पक्षी-कीट-पतंग-मनुष्य इत्यादि अनगिनत जीव हैं। जीवों में से कोई अविकलांग है, तो कोई विकलांग है। कोई रोगबहुल है, कोई स्वस्थ है। पूर्वकर्म की विचित्रता के अभाव में इस वैषम्य का क्या कारण हो सकता है? शास्त्र का उपदेश है कि जीवात्मा अदृष्ट अथवा पूर्वकृत कर्मभेद के कारण विविध विचित्र शरीर ग्रहण करता है।

गर्भ की उत्पत्ति—'गृ' धातु के उत्तर में प्रत्यय 'मन्' करने से 'गर्भ' पद निष्पन्न होता है। जीव के संचित कर्म के फलदाता ईश्वर की प्रकृति द्वारा शुक्रयोग से गर्भाशय में स्थापित पुरुष अथवा जीवात्मा को गर्भ कहा गया है। भगवान् यास्क कहते हैं कि स्त्रीशक्ति पुरुष से शुक्रावस्थित गुण अथवा शक्ति को जब ग्रहण करती है, स्त्रीशक्ति तथा पुरुषशक्ति जब परस्पर मिलित हो जाती है, तब गर्भ की उत्पत्ति होती है। मातृशक्ति, पितृशक्ति, आत्मा, स्वात्मा, रस एवं सत्वः, मन—इन सबके मिलित रूप से गर्भ होता है। सत्व—अन्तःकरण सीढ़ी के समान जीव को स्थूल शरीर से संयुक्त करता है। उसी के द्वारा स्थूल शरीर में जीवात्मा का संचरण होता है। सत्व अथवा अन्तःकरण के स्वास्थ्य तथा अस्वास्थ्य पर ही देह का स्वास्थ्य अथवा अस्वास्थ्य निर्भर रहता है। सत्व के शरीर-त्याग करते ही प्राणत्याग हो जाता है। प्राण तो सत्व की ही एक विशेष वृत्ति है। वही है इन्द्रियों का चालक। सत्व भी शुद्ध सत्व, राजस सत्व तथा तामस भेद से त्रिविध है। जिस गुण को लेकर जिसकी मृत्यु होती है, पूर्वजन्म में उसका मन उसी गुण से प्रधान रूप से व्याप्त होता है।[2] सांख्य-पातंजल-वेदान्त-पुराण तथा श्रुति में लिंग तथा सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल पाँचभौतिक शरीर के सम्बन्ध तथा विच्छेद को यथाक्रम से जन्म तथा मरण विकार कहा गया है।

ऐतरेय आरण्यक में कहते हैं कि शरीरग्रहण की इच्छा वाला जीवात्मा प्रथमतः पितृशरीरस्थ सप्तम धातुरूप रेतो नामक पदार्थ में प्रवेश करता है। जीव प्रविष्ट सर्वांग सारभूत रेतः, अग्नि-सम्पर्क के कारण घृत की तरह (जैसे अग्नि में घृत विलीन होता

---

1. 'प्राप्तो चानियमात' तथा 'शरीरोत्पत्ति निमित्तव संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म'—
2. 'मातृतः पितृतः सात्म्यतो रसतः सत्वत इत्ये तेभ्यो भावे समुदितेभ्यो गर्भः सम्भवति।'

—चरक संहिता

है) विलीन होकर ऋतुकालीन स्त्रीसंगम द्वारा जब गर्भाशय में निषिक्त होता है, तभी से शरीर निर्माण प्रारम्भ होने लगता है। रेतः प्रवेश ही जीव का प्रथम जन्म है। जीवात्मा के पितृशरीर, मातृशरीर एवं अपना शरीर ये तीनों आवास-स्थान है। गर्भधारिणी माँ स्वशरीर में प्रविष्ट पुरुष की आत्मा रूप सन्तान का परिपालन करती है। उसकी रक्षा के लिए विरुद्ध आहार-विहार का त्याग कर देती है। पिता की दो आत्मा तथा देह है। पुत्ररूप आत्मा अथवा देह को वे शास्त्रोक्त कर्म-निष्पादन के लिए अपने प्रतिनिधि रूप में गृह में अवस्थापित करते हैं तथा उनका अपना आत्मा एवं देह कृतकृत्य होकर लौकिक कुटुम्ब पोषणादि तथा शास्त्रीय अग्निहोत्रादि कर्म करते-करते आयु अधिक हो जाने पर परलोकगमन करता है। पिता स्थूल देह से बाहर होकर अपने कर्मानुसार नरक अथवा स्वर्ग किंवा मनुष्यलोक में पुनः जन्म लेते हैं। यह है आत्मा का तीसरा जन्म। यद्यपि पूर्वोक्त जन्मद्वय पुत्रदेह का है तथा यह तृतीय जन्म देहान्तर का है तथापि पिता एवं पुत्र की उपाधि भिन्न होने पर भी आत्मा के एकत्व को विचार में रखकर जन्मत्रय कहा गया है।[1]

सुश्रुतसंहिता में भी उक्त है कि शुक्र-शोणित तथा जीव एवं लिंग शरीराधिष्ठित पुरुष परस्परतः संयुक्त होकर गर्भाशयस्थ होते हैं। अब इन्हें गर्भ कहा जाता है। पुरुष द्वारा अधीष्ठित गर्भ वायु से विभक्त होकर, तेजः से परिपक्व होकर, जल से क्लिन्न होकर, पृथ्वी से संहत होकर तथा आकाश द्वारा वर्द्धित होकर स्वरूप ग्रहण करता जाता है। जब ऐसे विवर्द्धित होकर वह हाथ-पैर इत्यादि प्रत्यगयुक्त होता है, तब उसे शरीर कहते हैं।[2]

ऋतुकाल में गर्भाशय में निषिक्त पुंबीज (Spermatozon) स्त्रीबीज (Ovam) के साथ मिलकर एक बार कलल (तनिक घना) होता है। पंचरात्र (यास्क के मत से) अथवा सप्तरात्र (गर्भोपनिषत् के मत से) में यह बुद्बुद का आकार धारण कर लेता है। 15 दिनों में पिंडाकार हो जाता है। एक मास होने पर कठिन होने लगता है। भगवान् यास्क का कथन है कि 7 दिनों में पेशीवत्, 14 दिनों में अयुदाकार, 25 दिनों में घन तथा एक महीने में कठिन हो जाता है। दो मास में शिरः, तीन मास में पाददेश, चतुर्थ मास में उँगली, जठर तथा कटिदेश, पंचम मास में पृष्ठवंश, छठे मास में नासिका-चक्षु-श्रोत्र, सप्तम में जीव संयुक्त (चेतनादि क्रियायुक्त) तथा आठवें मास में पूर्णांग हो जाता है। भगवान् यास्क कहते हैं कि तृतीय मास में ग्रीवा की, चतुर्थ मास में त्वक् की, पंचम में नख तथा रोम की, छठे में मुख-नासिका-श्रोत्र-चक्षुः की उत्पत्ति होती है। सप्तम मास में भ्रूण चलन समर्थ,

---

1. 'पुरुषेऽवा अयमादितो गर्भो भवति यतेदद्रतः तदेतत् सर्वेभ्यऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मनं विभर्त्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनञ्जयति तदस्य प्रथमं जन्म...' —ऐतरेय आरण्यक
2. 'शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसम्मूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते। तञ्च चेतनावस्थितं वायुर्विभजति। तेज एनं पचति आपः क्लेदयन्ति। पृथिवी संहन्त्याकाशं विवर्द्धयति' —सुश्रुतसंहिता

अष्टम मास में बुद्धि द्वारा अध्यवसाय करने में पारग हो जाता है। नवम मास में वह पूर्ण हो जाता है।[1]

नवम मास में गर्भस्थ जीव को पूर्व-पूर्व जन्मों का ज्ञान हो जाता है। उसने पूर्व-पूर्व जन्म में जो-जो किया है, वह सब उसके स्मृतिपथ में आने लगता है। "मैंने नाना योनि में भ्रमण किया, विविध आहार तथा विविध स्तनपान किया, न जाने कितने माता-पिता हो चुके, कितने सुहृद्पाय। आहा! मैं पुनः-पुनः भवसागर में डूबता-उतराता रहा हूँ। न जाने कितनी बार, कितनी देह में अवशभाव से प्रवेश किया, वहाँ से (मृत्यु से) निष्क्रान्त हुआ। उस दुःख-सागर से पार पाने का कोई उपाय नहीं है। पुत्रादि के लिए न जाने कितने शुभाशुभ कर्म किये, उनकी माया से मुग्ध होकर आत्मोद्धार का पथ ग्रहण नहीं कर सका। इस बार गर्भ से मुक्त होकर मुक्तिदाता, अशुभ कर्मों के क्षयकर्त्ता, कर्मफलदाता श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करूँगा। यह यत्न करूँगा कि इस संसार-सागर में पुनः आना न पड़े"। नवम मास का जीव यह प्रतिज्ञा करता है। किन्तु भूमिष्ठ होते ही उसे कुछ भी याद नहीं रहता। वह अगाध विस्मृति के सागर में डूब जाता है।[2]

सुश्रुत संहिता में भी कहा गया है कि प्रथम मास में कलल तथा दूसरे मास में शीत (श्लेष्मा), उष्ण (पित्त) तथा अनिल से अभिपच्यमान पञ्च महाभूत के संघात से घन कठिन हो जाता है। यह घन पदार्थ यदि पिण्डवत् वर्तुला कृति है तब नर, पेशीवत् दीर्घाकृति हो तब स्त्री एवं यदि अर्वुदाकार (वत्तुर्लफलार्द्धवत्) हो, तब नपुंसक जन्म लेता है। तृतीय मास में दो हाथ, पैर तथा शिरः, इन पंच अंग की पिण्डाकार उत्पत्ति तथा सूक्ष्मभाव से अंग-प्रत्यंग का विभाग प्रारम्भ होता है। चौथे महीने में सभी अंग-प्रत्यंग का विकास प्रव्यक्त होने लगता है। गर्भ के शेष विकास में केश, लोम, अस्थि, नख, दन्त, शिरा, स्नायु, धमनी, रेतः प्रभृति स्थिर उपादान समूह पितृज हैं। मांस, शोणित, मेद, मज्जा, हृदय, यकृत, नाभि, प्लीहा, आन्त्र इत्यादि मृदु उपादान समूह मातृज होते हैं। शरीर का उपचय, बल, वर्ण प्रभृति रसज होते हैं, इन्द्रिय, ज्ञान, विज्ञान, आयुः, दुःख, सुख इत्यादि आत्मज होते हैं। मानस प्रकृति की विचित्रता के कारण वीर्य, आरोग्य, बल, वर्ण, मेघा, ये है सात्म्यज।

यकृत, फुफ्फुस, मस्तिष्क, हृदय, वृक्क, आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय, गर्भाशय, त्वक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, स्नायु, धमनी, शिरा, लसीका इत्यादि अग्नि तथा सोम के भिन्न-भिन्न भाव के स्पन्दन से उत्पन्न होते हैं। ये हैं अग्नि तथा सोम के भिन्न-भिन्न छन्दः। भगवान् धन्वन्तरी कहते हैं कि अंग-प्रत्यंग की उत्पत्ति में जो गुणागुण समूह विद्यमान हैं, वे है गर्भ के धर्माधर्म निमित्तज।

---

1. ऋतुकाले प्रयोगादेकरात्रोषितं कलिलं भवति सप्तरात्रेण कठिनो भवति मासद्वयेन शिरः कुरुते मासत्रयेण पादप्रदेशो भवत्यथ॥ —गर्भोपनिषत्
2. निरुक्त परिशिष्ट द्रष्टव्य—'मृतश्चाहं पुनर्जातो...... पितर सुहृदस्तथा'।

गर्भ का कौन अंग सर्वाग्र में सम्भूत होता है? इस सम्बन्ध में नानाविध मत प्रचलित हैं। किसी के मत से शिरः देहेन्द्रिय का मूल है, अतः शिर ही पहले सम्भूत होता है। किसी के अनुसार हृदय सर्वाग्र में विकसित होता है, किसी के मत से नाभि प्रथम अंग है। धन्वन्तरी का मत है कि गर्भ के सभी अंग-प्रत्यंग बाँस के अंकुर तथा आम्रफल के समान एक साथ, युगपत् आविर्भूत होते हैं।

जैव शरीर भेद की कथा—बीज से जिस शरीर की उत्पत्ति होती है, उसे पहले कहा गया। अनेक जीवशरीर हम देखते हैं। अतः जिज्ञासा है कि जीवशरीर क्या एक जातीय बीज से उत्पन्न होता है? अथवा पृथक्-पृथक् जीवशरीर के पृथक्-पृथक् बीज हैं?

छान्दोग्य श्रुति में अण्डज, जीवज तथा उद्भिज्ज, इन त्रिविध बीज का वर्णन है। अण्ड से उत्पन्न अण्डज, पक्षी आदि अण्डज बीजोत्पन्न हैं। जीव से जात है जीवज। जरायुज को श्रुति ने जीवज कहा है। मनुष्य, पशु आदि जीवज हैं। उद्भिज्ज से उत्पन्न उद्भिज्ज।[1] शास्त्रान्तर में जरायुज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज, अण्डज, इन चतुर्विध बीज का अथवा कहीं पर ऊष्मज, अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज, सांकल्पिक तथा सांसिद्धिक रूप से षड्बीज शरीर का वर्णन है।

सुश्रुत तथा चरक संहिता में चतुर्विध सप्राण पदार्थ कहे गये हैं। भगवान् कपिल ने ऊष्मजादि छः प्रकार के शरीर को कहा है। दन्दशूकादि उष्मज, पक्षिसर्पादि अण्डज, मनुष्यादि जरायुज, वृक्षादि उद्भिज्ज, सनकादि ऋषिगण संकल्पज एवं मन्त्र तपः प्रभृति से सिद्धिज, रक्तबीजादि के रक्त विन्दु आदि से जात शरीरादि सांसिद्धिक कहे गये हैं।[2] सांकल्पित तथा सांसिद्धिक के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने का कोई प्रयोजन नहीं है। आचार्य शंकरस्वामी कहते हैं कि स्वेदज तथा उष्मज, ये उद्भिज्ज के ही अन्तर्भूत हैं। विज्ञानभिक्षु का कथन है कि श्रुति ने प्रायिक अभिप्राय से अण्डज, जीवज तथा उद्भिज्ज का उपदेश किया है। श्रुति का यह आशय कदापि नहीं है कि इन तीन प्रकार के अतिरिक्त अन्य शरीर होते ही नहीं।

जीव नित्य है, उसका जन्म-मरण नहीं है—जीव की वास्तव में उत्पत्ति ही नहीं होती, विनाश भी नहीं होता। वेदादि के मत से जीव नित्य है। स्थूल शरीर के साथ जीव के सम्बन्ध तथा वियोग को संसार में सामान्यतः इनका जन्म तथा मृत्यु कहा जाता है। छान्दोग्य श्रुति का मत है कि जीव वियुक्त शरीर से मृत्यु होती है, जीव का मरण है ही नहीं।[3] यदि जीव जन्म नहीं लेता तब 'किशन ने जन्म लिया',

---

1. 'तेषां खल्वयो भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवमुद्भिज्जमिति' —छान्दोग्योपनिषत्
2. 'जङ्गमा खल्वपि चतुर्विधा जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाः' —सुश्रुतसंहिता
   'येषाञ्चैषा मतिस्तेषां योनिर्नास्ति चतुर्विधा' —चरकसंहिता
   'ऊष्मजाण्डज जरायुजोद्भिज्जसांकल्पिक सांसिद्धिक चेति च नियमः'—सांख्यदर्शन 5।111
3. 'जीवोपेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवोम्रियते' —छान्दोग्योपनिषत्

'किशन मर गया' जगत् में इस प्रकार का व्यवहार क्यों कहा जाता है? जीव जन्मता-मरता है, इस विश्वास का हेतु क्या है?

भगवान बादरायण कहते हैं कि किशन ने जन्म लिया, किशन मर गया, इस प्रकार का व्यवहार गौण है। यह सब स्थावर, जंगम शरीर विषयक उक्ति है। शरीर का ही जन्म-मरण होता है। शरीर तथा जीव, दोनों की एकता का आभास होने के कारण, शरीर के धर्म का आरोप जीव पर करने के कारण, जीव का जन्म-मरण प्रतीत होता है। लोग इस प्रकार का व्यवहार करते हैं। श्रुति ने जीवात्मा को नित्य माना है। उसकी उत्पत्ति तथा विनाश सम्भव नहीं है।[1]

जीव तथा जैवशरीर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शास्त्रमत को संक्षेप में कहा गया। स्थूल शरीर के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध ही है जीव का जन्म। शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध अविद्या, काम, पूर्व कर्म के कारण होता है। पूर्व कर्म संस्कारवशात् जीव शरीर ग्रहण करता है। शास्त्रमत से शरीर त्रिविध है—सूक्ष्म, सूक्ष्म तथा कारण। न्याय वैशेषिक दर्शनों में सूक्ष्म तथा कारणशरीर का स्पष्टतः उल्लेख नहीं है। स्थूल शरीर है पाँचभौतिक। भूतसमूह जीव के पूर्वकर्म संस्कार द्वारा प्रेरित होकर शरीर का निर्माण करते हैं। वे स्वतंत्रभाव से (बिना संस्कार प्रेरित) शरीर-निर्माण नहीं कर सकते। शरीर के पृथक्-पृथक् अंग-प्रत्यंग की उत्पत्ति में भी पूर्वकर्म की निमित्तता है। अणुसमूह के भिन्न-भिन्न रूप से सन्निवेशित होने में भी पूर्वकर्म ही हेतु है। शास्त्र जैवशरीर को अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज, प्रधानतः इन तीन श्रेणी विभाग में ही विभाजित करता है। जीवगण शुभाशुभ अदृष्ट के अनुसार अण्डजादि बीज में प्रवेश करते हैं। जीव नित्य है। जो नित्य है, उसका विनाश नहीं होता। जन्म भी नहीं होता। शरीर की ही उत्पत्ति होती है और नाश होता है। जीव की उत्पत्ति तथा जन्म के सम्बन्ध में शास्त्र ने क्या कहा है, यही पता लगाने के लिए ये सब उपदेश उद्धृत किये गये हैं। जीव जन्म विषयक यथोक्त शास्त्रीय उपदेश को हृदयंगम करने के लिए कर्मतत्व, जीवतत्व, त्रिविध शरीरतत्व, ईश्वर तथा सृष्टितत्व का अनुसन्धान कर्त्तव्य है। इन सबके समीचीन ज्ञान के अभाव में जीव के जन्मविषयक शास्त्रीय उपदेशों की मर्मोपलब्धि होना सम्भव नहीं है। हम बाद में संक्षेप में इन सब तत्वों का अनुसन्धान करने में प्रवृत्त होंगे। आपाततः जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिकों ने किस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसे जानना होगा।

[तृतीय प्रस्ताव समाप्त]

1. 'चराचर व्यापाश्रयस्तु स्यात्तद्वापदेशोभाक्तस्तद्भावभावित्वात्' —वेदान्तदर्शन, 2।2।15
'नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' —वेदान्तदर्शन, 2।2।17

चतुर्थ प्रस्ताव

जीव के जन्म-सम्बन्ध में पाश्चात्य मत का संग्रह

जीव के जन्म के सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिक तथा दार्शनिकों ने जो अनुमान किया है, उन सबके विशेष विवरण देने का यह उपयुक्त स्थान नहीं है। तब भी इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या का बंगदेश में समय नहीं आया है। सम्भवतः कभी नहीं आयेगा। वर्तमान समय के शिक्षित बंगाल वालों में अनेक बंगभाषा में लिखे ग्रन्थों को पढ़ने के अनिच्छुक हैं। अनेक बंगवासियों का बंगभाषा-ज्ञान अत्यन्त संकीर्ण हो गया है। अनेक व्यक्ति मातृभाषा की उन्नति का प्रयोजन नहीं समझते। अतएव स्वदेशी भाषा इस प्रकार से दीन हो जायेगी, दीर्घकाल के लिए दीन हो जायेगी, यह अनुमान होता है। जो होना है, वही आगे होगा। इसलिए इस सम्बन्ध में अधिक वक्तव्य निरर्थक है।

सृष्टिवाद, क्रमविकासवाद तथा परिणामवाद—जीव के जन्मस्कन्ध में आधुनिक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक जैसा अनुमान करते हैं, उसे जानने के लिए प्रथमतः सृष्टिवाद, क्रमविकासवाद तथा परिणामवाद का कुछ संवाद देना आवश्यक है। सृष्टि, क्रमविकास तथा परिणाम (Creation, Evolution and Emanation), इन त्रिविध वाद में से प्रत्येक में रूप भेद है। 'जगत् अनादिकाल से विद्यमान है; जगत् स्वयं सृष्ट है; यह (घटकार्य को जैसे कुम्हार करता है, उस प्रकार) किसी पुरुष-विशेष द्वारा सृष्ट है। विद्वान् हर्बर्ट स्पेन्सर ने विश्व की उत्पत्ति तत्व की व्याख्या करने में प्रवृत्त होकर इस त्रिविध मत का उल्लेख किया है। "(क) जगत् का वर्तमान प्रवाह, वर्तमान क्रम तथा प्रकृति के जो-जो भावविकार यहाँ इस समय हमारे ज्ञान के विषयीभूत हो रहे हैं, वे अनादिकाल से विद्यमान थे। (ख) प्रकृति की वर्तमान अवस्था दीर्घकाल से नहीं है, प्रत्युत् यह किसी पूर्ववर्ती भाव अथवा कारण से उद्भूत नहीं है। (ग) जगत् की वर्तमान अवस्था निर्दिष्ट कालावच्छिन्न अवश्य है। यह अनादिकाल से विद्यमान नहीं है, यह सत्य है। किन्तु यह प्राकृतिक नियमानुसार किसी पूर्ववर्ती पर्व अथवा अवस्था से प्रसृत है, अपिच इस पूर्वगत पर्व अथवा अवस्था ने भी किसी पूर्वगत पर्व अथवा अवस्था से जन्मलाभ किया है। जगत् ऐसी क्रम परम्परा से अभिव्यक्त होकर वर्तमान अवस्था में उपनीत है। यह अकस्मात् उत्पन्न पदार्थ नहीं है।" विद्वान् हक्सले ने भी जगत् की उत्पत्ति विषयक इस त्रिविध वाद का संवाद दिया है। तृतीय वाद ही क्रमविकासवाद (Evolution Theory) है।[1]

---

1. The Theory of Evolution, Pg. 4.

"भूत (Matter) एवं आकृति (Form) ये दोनों ही ईश्वर की इच्छा से प्रसूत हैं। भूतसमूह सृष्टिपदार्थ नहीं है। ईश्वर पूर्व से ही सत् विद्यमान भूतसमूह द्वारा जगत् की रचना करते हैं।... प्राकृतिक नियमसमूह अथवा प्राकृतिक पदार्थ की आकृति ईश्वर के साथ नित्यभाव से विद्यमान है।" पाश्चात्य सृष्टिवाद के इस त्रिविध रूप का निर्वाचन किया जा सकता है। हक्सले तथा साली कहते हैं सृष्टिवाद क्रमशः परिवर्तित हो रहा है। "शुद्ध ईश्वरेच्छा ही विश्वजगत् का स्वतन्त्र कारण नहीं है।" आधुनिक सृष्टिवादीगण में अनेक क्रमशः इस प्रकार के सिद्धान्त में उपनीत हो रहे हैं। जगत् की उत्पत्ति में ईश्वर की इच्छा के अतिरिक्त अन्य कारणों की भी कार्यकारिता है, आधुनिक सृष्टिवादियों में से अनेक इसे स्वीकार कर रहे हैं। दो-एक विषयों में क्रमविकासवाद के साथ इस परिवर्तित नवीन सृष्टिवाद का अनैक्य रहने पर भी अनेक विषय में ये लोग एक मत भी हैं। विवाद समाप्त होना ही उचित है। सजीव पदार्थ की उत्पत्ति, मनुष्य के मन के मूल कारण, विश्व का इतिहास, इन सभी विषय में नवीन सृष्टिवाद के साथ अभी भी क्रमविकासवाद का मिलन नहीं हुआ है। नवीन सृष्टिवादी आज भी यह मत नहीं त्याग पा रहे हैं कि सजीव पदार्थ की उत्पत्ति तथा मन की प्रथमाभिव्यक्ति ईश्वर-कृत है, यह जड़ प्रकृति का कार्य नहीं है। परिणामवाद (Emanation Theory) का कथन है कि जगत् चेतन प्रकृति या कारण का कार्य है। परिणामवाद के इस विषय में सृष्टिवाद के साथ एकता है, यह कहना ही होगा। परिणामवाद ने यह स्वीकार किया है कि विश्व की उत्पत्ति प्रयोजनाधीन है। भावविकारसमूह का पारम्पर्य इन लोगों ने पर्वभेद से अंगीकार किया है। इसलिए क्रमविकासवाद के साथ इनकी सभी विषयों में एकता है। परिणामवाद ने विश्व की आदिमावस्था को पूर्णावस्था और क्रमाभिव्यक्त अथवा विशेषभावापन्न अवस्थासमूह को क्रमावनत कहा है। क्रमविकासवाद के साथ इनका इस विषय में विशेष मतविरोध है। अविशेष से विशेष का आरम्भ होता है, परिणामवाद का यह सिद्धान्त क्रमविकासवाद का संवादी है।

इन्द्रियसमूह द्वारा जिन सब पदार्थ का अस्तित्व उपलब्ध होता है, उन्हें बाह्यसत् (बाह्यजगत् —Objective Reality)कहा है। इसका स्वरूप क्या है? इनमें कितना सत्य है? जिस अविशेष भाव से इस जगत् के विशेष-विशेष भाव का उदय हुआ है, उस अविशेष का तत्व क्या है? किस रूप में, किस रीति के अनुसार अविशेष भाव विशेष भाव को प्राप्त होता है? विश्वजगत् के सम्बन्ध में चिन्तन करनेवालों के मन में इन सब प्रश्नों का उदय होता है। इनका समाधान करने के लिए भिन्न-भिन्न वादों का उदय हुआ। "परिवर्तन (Change) अथवा पृथगात्मक पदार्थ (Individual object) वास्तव में सत् नहीं है। एक अपरिणामी पदार्थ ही वस्तुतः सत् है। उत्पत्ति तथा लय तो भ्रान्ति का विजृम्भण है।" विश्वजगत् के

सम्बन्ध में परस्परविरुद्ध जितने भी वाद हैं, यह उनकी एक ओर की चरम सीमा है। पराकोटि (Extreme view) है। "क्रमाभिव्यक्त दृश्यमान पदार्थसमूह तथा क्रमाभिव्यक्ति नियम ही वास्तव में सत् हैं। इससे भिन्न कुछ भी सत् नहीं है।" यह है उनकी अन्य दिशा की चरम सीमा। पराकोटि है। उक्त सीमा के मध्यवर्ती अनेक अवान्तरवाद भी विद्यमान हैं। दार्शनिकों को प्रधानतः दो श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है—जैसे एकत्ववादी तथा द्वैतवादी। एकत्ववादी के भी दो रूप हैं—विज्ञानैकत्ववाद तथा जड़ैकत्ववाद। विज्ञानैकत्ववाद (Idealistic monism) का सिद्धान्त है कि विज्ञान ही एकमात्र सत् है। भूत (Matter) विज्ञान तथा मन का विजृम्भण है> जड़ैकत्ववाद का सिद्धान्त है कि (Materialistic monism) भूत (Matter) ही सत् पदार्थ है। मनः (Mind) भूतों का ही विपरिणाम विशेष है। भूत से अलग कोई चैतन्य पदार्थ नहीं है। द्वैतवाद में मनः (Mind) तथा भूत (Matter) दोनों ही पृथक् सत् पदार्थ (Perfectly distinct kinds of reality) हैं। पाश्चात्य द्वैतवाद का सिद्धान्त, भौतिक परिणाम तथा मानस परिणाम पद्धति स्वतन्त्र हैं। दोनों परिणाम पद्धति परस्परतः असम्बद्ध (Unconnected process) हैं। जड़ैकत्ववादीगण के मत से भौतिक तथा मानसिक परिणाम विभिन्न कारण का कार्य नहीं है। ये एक ही पदार्थ के द्विविध परिणाम हैं। क्रमाभिव्यक्तिवादीगण में उनके एक सम्प्रदाय को जड़ैकत्ववादी कहा जा सकता है। जो अभिव्यक्त है, उसका स्वरूप क्या है और किस प्रकार से जगत् की अभिव्यक्ति होती है, ये दोनों प्रतिपाद्य विषय हैं क्रमाभिव्यक्तिवाद के। यद्यपि इस वाद में ये ही दो प्रतिपाद्य विषय हैं, तथापि इस वाद का मुख्य लक्ष्य है यह जानना कि किस रीति अथवा क्रम के अनुसार जगत् की अभिव्यक्ति हो सकी है?

क्रमाभिव्यक्तिवाद के द्विविध रूप की कथा—क्रमाभिव्यक्तिवादी लोगों में दो सम्प्रदाय हैं। एक सम्प्रदाय का सिद्धान्त है कि प्राकृतिक परिणामसमूह ईश्वर के संकल्प अथवा चैतन्य के कर्तृत्व की अपेक्षा नहीं करता। यह अचेतन प्रकृति के उद्देश्यविहीन अथवा अन्ध नियमानुसार होता है। अन्य सम्प्रदाय (दूसरे सम्प्रदाय) का सिद्धान्त है कि जब प्रत्येक प्राकृत परिणाम में रचना कौशल के नियम, उद्देश्य अथवा संकल्प का स्पष्ट लक्षण मिलता है, तब चेतन के अनधिष्ठित अचेतन द्वारा कोई परिणाम संघटित नहीं होता। डारविन के मतानुसार उद्देश्यरहित अचेतन प्रकृति का निर्वाचन ही विविध उच्चावच परिणाम का कारण है। प्रकृति के आपूरण के द्वारा यथोपयुक्त उपादान समूह के संहत होने से शरीर, इन्द्रिय इत्यादि का परिणाम होता है। वेल्स आदि क्रमाभिव्यक्ति वादीगण चेतन के कारणत्व को स्वीकार करते हैं। अतः क्रमाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में यान्त्रिक व्यापार के समान अबुद्धिपूर्वक (Mechanical) तथा बुद्धि एवं संकल्पपूर्वक (Teleological), ये दो मत

प्रतिष्ठापित परिलक्षित होते हैं। वेल्स कहते हैं कि मनुष्य जाति की अभिव्यक्ति में जड़ प्रकृति के अवयवों का अनुप्रवेश ही एकमात्र कारण नहीं है। मनुष्य जाति की अभिव्यक्ति में बाह्य इच्छा अथवा संकल्पशक्ति की मध्यस्थता (Intervention of an external will) प्रयोजन है। असभ्य अथवा बर्बर मनुष्य में भी यह देखा जाता है कि इस प्रकार की शक्ति अनभिव्यक्त भाव से उनमें विद्यमान रहती है, जिसका वे वर्तमान अवस्था में कोई व्यवहार नहीं कर सकते। जड़ प्रकृति का आपूरण ही यदि सूक्ष्मभावेन अवस्थित मानवीय शक्ति की अभिव्यक्ति का एकमात्र कारण है, तब इन असभ्य लोगों में सूक्ष्म किंवा अव्यपदेश्य रूप से विद्यमान शक्तिसमूह उनकी इस अवस्था में विद्यमान न रहता। इससे उनका विकास होता। असभ्य मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति और अवस्था में भी उनका व्यवहार कर सकते! क्रमाभिव्यक्तिवाद की इस द्विविध दृष्टि को एकीभूत करने के लिए अनेक चेष्टा की गई है और की जा रही है।

क्रमविकासवादीगण में जो जड़ प्रकृति के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ कें अस्तित्व को नहीं मानते, इस कारण जिनके लिए जड़ प्रकृति ही सभी प्राकृतिक परिणाम का एकमात्र कारण है, वे विश्वजगत् की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय तथा नाश अथवा लय की, जीव जाति की अभिव्यक्ति तथा उसके विविध परिणाम की उपलब्धि कैसे कर सकेंगे?

क्रमाभिव्यक्ति नियम—विद्वान् पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर ने क्रमाभिव्यक्ति के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा है कि अविशेष, असम्बद्ध तथा समान जातीय भाव के (Homogeneity) अविच्छिन्न भेद तथा संसर्ग द्वारा विशेष, सम्बद्ध तथा विजातीय भाव में परिणत होने का नाम है क्रमाभिव्यक्ति (Evolution)[1]। क्रमाभिव्यक्ति का कारण है क्या? भूत (Matter), भौतिक शक्ति (Force) एवं गति (Motion) का धर्म ही इसका कारण है। शक्तिसातत्य (Persistence of Force) को विद्वान् स्पेन्सर ने क्रमाभिव्यक्ति के प्रधान कारण के रूप में मान्यता प्रदान की है। इनके मत से क्रमाभिव्यक्ति बिना बुद्धि के किये गये यान्त्रिक व्यापार से अलग कुछ भी नहीं है। दृष्टान्तस्वरूप विद्वान् स्पेन्सर ने किसी निर्दिष्ट एक जातीय जड़ संघात में आगन्तुक अथवा नैमित्तिक शक्तिसमूह (Incident force) को लेकर क्रमाभिव्यक्ति के स्वरूप का प्रदर्शन किया है। साम्यभाव का अस्थायित्व (Instability of homogeneous) तथा आगन्तुक अथवा नैमित्तिक क्रियाओं का गुणन एवं तथा अभ्यासन (Multiplication of the effects) इन दो नियमों द्वारा

---

1. "Evolution is an integration of matter and concomitant dissipation of motion, during which the matter passes from an indefinite incoherent homogeneity to a difinite coherent hetrogenity..."

—First Principles, Page 396

क्रमविकास संघटित है। अन्योन्यमिथुन वृत्तिक (Universally co-existent), आकर्षण तथा विप्रकर्षण शक्तिवशात् क्षुद्र, बृहत् सर्व प्रकार जागतिक परिणाम ही निर्दिष्ट ताल में सम्पन्न होता है। जब आकर्षण शक्ति का प्रादुर्भाव तथा विप्रकर्षण शक्ति का अभिभव होता है, तब जगत् अव्यक्तावस्था से व्यक्तता की स्थिति में आने लगता है। अगण्य कालपर्यन्त आकर्षण शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, तदनन्तर विप्रकर्षण शक्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है। सृष्टि तथा प्रलय इसी प्रकार पर्यायक्रमेण आवर्त्तित होते रहते हैं।[1] जड़ जगत् उद्भिज् जगत्, जीवजगत् का विकास जिस नियम से होता है उसे विद्वान् पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर ने समझाया है।

अविशेष अथवा सामान्यभाव से क्रमशः विशेष-विशेष भाव की प्राप्ति ही क्रमाभिव्यक्ति का स्वरूप है। जो क्रमाभिव्यक्ति होती है वह शुद्ध जड़ शक्ति से होती है, यह ज्ञात हुआ। अब यह ज्ञात होगा कि जीवन (जीव का जन्म), स्थिति, वृद्धि तथा विपरिणामप्राप्ति, अपक्षय एवं नाश—इन षड्भाव विकार का नियम क्या है? एकजातीय जीव से किस नियम से नानाजातीय जीव का आविर्भाव हुआ है, यह भी ज्ञात होगा।

स्थावर तथा जंगम में जितने प्रकार का साजात्य तथा वैजात्य लक्षित होता है, वह सब क्रमाभिव्यक्ति का फल है। फ्रांस के प्रसिद्ध प्राणीविज्ञान तत्ववेत्ता लामार्क (J.B. Lamark) ने प्रथमतः जीवावतरणवाद (Doctrine of Descent or Organic Evolution) का सूत्रपात किया। उनके पश्चात यही वाद नूतन तथा पूर्णभाव में गठित हो सका। किसी अज्ञेय नियमानुसार जड़ शक्ति से आदिम जीव की अभिव्यक्ति हुई है, तदनन्तर उससे क्रमशः भिन्न-भिन्न जातीय जीव का विकास हो सका है। सन्तान को उत्तराधिकार से पितृधर्म प्राप्त होता है। वह स्वयं भी कुछ अपूर्व धर्म का अर्जन करता है, जो पहले पिता में नहीं था। देशादि निमित्तकारण-वशात् सन्तान की प्रकृति अपेक्षाकृत नूतन भाव से भावित परिलक्षित होती है। जैसा वह जन्म के समय था, वैसा बाद में नहीं रहता। वह माता-पिता से अनेकांश में भिन्न प्रकृति का हो जाता है।

एक व्यक्ति पिता से जो धर्म प्राप्त करता है, स्वयं जिस धर्म का अर्जन करता है, वे दोनों उसके सन्तान में संक्रमित हो जाते हैं। अतः यह कह सकते हैं कि

1. Apparently the universally co-existent force of attraction and repulsion, which, as we have seen, necessitate rhythm in all minor changes throughout the universe, also necessiates rhythm in the totality of its changes-produce now an immeasarable period during which the attractive forces predominating cause universal conentration, and then an immesurable period during which the repulsive forces predominating, cause universal diffusion alternative eras of evolution and dissolution." —First Principles, Page 537

उसकी सन्तान सर्वांश में पितृ-मातृ के समान नहीं होती। इस प्रकार अल्प-अल्प मात्रा में विसदृश अथवा भिन्न धर्माक्रान्त होते ही अनेक पुरुष अपने पूर्व पुरुषों से पृथक् धर्म (गुण) वाले हो जाते हैं कि उन्हें पूर्व पुरुष के समान जातीय अथवा धर्म वाला नहीं अवधारित किया जा सकता। पण्डित लामार्क इस पैतृक धर्म के सन्तान में संक्रमण एवं संगति (Heridity and Adaptation) रूप जीव के दो नियम से अवगत थे। सन्तान का पैतृक धर्म संचारण नियम (Law of Heredity) साजात्य का तथा संतति नियम संगति नियम (Law of Adaptation) वैजात्य का मूल प्रवर्तक है।[1] पण्डित लामार्क क्रमविकास के ये दो नियम जान सके थे। प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) के विशेष तत्व को नहीं पा सके। इन्होंने जीवगण के इतरेतर प्रतिद्वन्द्विभाव की विवेचना तो अवश्य की है, किन्तु प्राकृतिक निर्वाचन का ये आविष्कार नहीं कर सके।[2] प्राकृतिक निर्वाचन किसे कहते हैं?

प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection)—यह सुविदित है कि जीव का वंशविस्तार अतिमात्र त्वरित तथा व्यापक भाव से होता है। किम्बहुना, यदि इस वंशविस्तार का वेग नियमित अथवा प्रतिबद्ध न हो, तब समग्र पृथ्वी एक युग्म जीव की सन्तति से ही व्याप्त हो जायेगी। जीवन धारणार्थ आहार प्रयोजनीय है। विडम्बना यह है कि पृथ्वी पर जितनी जीव संख्या है उतने आहार का परिमाण नहीं है। अतः आहार संग्रहार्थ जीवों में एक-दूसरे के साथ संग्राम अवश्यम्भावी हो जाता है। जिसका बल, बुद्धि अधिक है, जीवन-संग्राम में वह जयी होगा। बलहीन तथा अल्पबुद्धि की पराजय होगी। अन्य का पराभव करने के लिए उपयुक्त साधनयुक्त होना आवश्यक है। इसलिए जीवसमूह को जीवन-संग्राम में अनुकूल साधनसम्पन्न होने के लिए प्रयत्न करना पड़ेगा। जो जीव जितनी मात्रा में जीवन-संग्राम के अनुकूल साधनों से युक्त है, वह जीव उस परिमाण में विजय-लाभ कर सकेगा। पृथ्वी में जितने जीव जन्म लेते हैं, वे सभी जीवित नहीं रहते। जो जीवित रहते हैं, वे ध्वंस जीवों से अधिक साधनसम्पन्न हैं। प्रकृति देवी ने योग्यतानुरूप इन सन्तानों का स्वयं निर्वाचन किया है, चुना है। जीवन-संग्राम में वे ही जीवित रहते हैं, वे ही पृथ्वी पर अपने वंश का विस्तार कर पाते हैं। जीवन-संग्राम में अनुकूल जीवों का

---

1. "Darvin starts from the principle of heridity, according to which the characteristics of parents are transmitted to their off-spring. But side by side with this, there is an adaptation determined by the peculier conditions of nourishment, a limited variability of form, without which individuals of like descent would be indentical." —Elementary Text Book of Zoology, Dr. C. Claus, Vol-1, P.145.
2. "Lamarck touches upon the struggle of each against all but does not discover the term Natural Selection." —The Doctrine of Desent By Oscar Schnidt, Page 168.

संरक्षण तथा प्रतिकूल साधनयुक्त जीव के संहार का नाम है प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Collection) अथवा इसे योग्यतम का परित्राण (Survival of the fittest) कहते हैं।

यथोक्त प्राकृतिक निर्वाचन का स्वरूप-चिन्तन करने से क्या बोध होता है? संसार के नाना जातीय पदार्थ को हम प्रत्यक्ष देख पाते हैं। अप्राण—जड़, सप्राण, आसन्नचेतन (पक्षी-कीट) एवं विशिष्ट चेतन (मनुष्यादि), सामान्यतः ये चतुर्विध ही हमारे ज्ञान के विषयीभूत हो पाते हैं। अप्राणादि चतुर्विध का तथा प्रत्येक में अगण्य अवान्तर जातिभेद हमें बुद्धिगोचर भी होता है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि अप्राणादि पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि तथा विपरिणाम प्रभृति विकार का, इनकी जाति का तथा व्यक्तिगतभाव का कारण क्या है? जीव के जन्मादि विकार का, इनके जातिभेद का व्यक्तिगत भेद का कारण क्या है? जीव के जन्मादि विकार का तत्वचिन्तन करने में प्रवृत्त हुआ हूँ, अतएव अन्यान्य पदार्थ की ओर दृष्टि प्रेरण की कोई इच्छा अथवा प्रयोजन नहीं है। जीव की उत्पत्ति तथा जातिभेद के सम्बन्ध में पाश्चात्य पण्डितों में 'वैशेषिक सृष्टि (Special creation) तथा क्रमविकास (Evolution)' के दो वाद विद्यमान हैं। वैशेषिक सृष्टिवाद वालों का कथन है कि पृथ्वी में विद्यमान प्रत्येक जीव जाति पृथक्-पृथक् अथवा विशेष-विशेष जीवजाति से ही प्राकृतिक रीति से जन्म लेती है, कुत्ते से कुत्ते का जन्म, मेढक से मेढक का जन्म, घोड़े से घोड़े का जन्म तथा मनुष्य से मनुष्य का आविर्भाव (जन्म) होता है। इनकी वैज्ञानिक दृष्टि यह स्वीकार नहीं करती कि पृथ्वी पर जितने जीव परिलक्षित होते हैं, वे सभी एक जातीय जीव की सन्तान सन्तति हैं, यह वैशेषिक सृष्टिवाद का सार है।

अब क्रमविकास वादीगण का सिद्धान्त है कि एकजातीय जीव ही क्रमविकासानुसार नाना जाति में परिणत हुआ है तथा हो रहा है। एकजातीय जीव से किस प्रकार से, किस नियम से पृथ्वी के नानाजातीय जीवों का विकास हुआ है, यह समझाने के लिए क्रमविकास वादीगण प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) को ही प्रधान कारण अवधारित करते हैं। बिना प्रयोजन कोई कर्म नहीं होता, अतएव एकजातीय जीव अन्य जाति में परिणत होता है, यह बात निष्प्रयोजन—निरर्थक कदापि नहीं है। सुखप्राप्ति तथा दुःख विहाररूपी प्रयोजनद्वय से प्रेरित होकर जीवमात्र कर्म करते हैं। अपनी सत्ता संरक्षणार्थ अर्थात अपने स्वयं बचे रहने की चेष्टा करना जीवमात्र का स्वाभाविक धर्म है। जीवन यदि रक्षित नहीं है, तब सुखभोग कौन करेगा? इसलिए अपनी सत्ता का संरक्षण ही जीव का मुख्य प्रयोजन है। बचने के लिए आहार का प्रयोजन है। भोजन बिना जीवन समाप्त! जीव की वंशविस्तार-शक्ति अति प्रबल है। यदि यह नियमित न हो, तब पृथ्वी एक ही जाति की जीवन सन्तति से भर जायेगी, अन्य के लिए स्थान नहीं रह जायेगा। जैसे वर्तमान

में मनुष्य सर्वजाति जीवों के विनाश का कारण बन रहा है। प्रकृति ने इसीलिए विविध उपाय से जीव के वंश-विस्तार स्रोत को बाधित किया है। जो योग्य हैं, वे ही बचें, यह प्रकृति की इच्छा है। यदि बचना चाहते हो, तब बचने के लिए सामर्थ्ययुक्त होना चाहिए। सामर्थ्यवान बनने के लिए सचेष्ट हो जाओ। प्रकृति ने योग्यता की मात्रा के अनुसार पृथ्वी पर रहने का जीवों को अधिकार प्रदान किया है। योग्य जीवसमूह को अलग करके, अयोग्य जीवों को यहाँ से भगाना प्रकृति का नियम है। इसी हेतु प्रकृति आहार का आयोजन जीव-संख्या के अनुसार उसी मात्रा में नहीं करती। इसीलिए आहार-संग्रहार्थ जीवों में आपस में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता, मारामारी, काटाकाटी अवश्यम्भावी है। जिनका बल अधिक है, वे दुर्बल के मुख से आहार छीन लेते हैं। अनुकूल साधनसम्पन्नता के अभाव में बचे रहने का कोई उपाय नहीं है। इसीलिए जीवगण अनुकूल साधनसम्पन्न होने का प्रयत्न करते हैं। प्रकृति से जीवन-संग्राम में विजय पाने के लिए उपयुक्त उपकरणों के संग्रह का यत्न करते हैं। जीव द्वारा जात्यन्तर परिणाम की ओर, क्रमोन्नति के अभिमुख दौड़ने का यही प्रवर्तक हेतु कारण कहा गया है।

प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) प्रत्येक जीव को अपने जीवन-रक्षा हेतु उपयोगी शरीर देकर क्रमशः उन्नमित करता है। इस वाद की तत्वचिन्ता से हमें यह ज्ञात होता है कि यह सत्ता संरक्षण की चेष्टा (Struggle for Existence) तथा पैतृक धर्म के सन्तान में संक्रमण तथा संगति (Heredity and Adaption) की मिलित क्रिया है। यह इन्हीं द्विविध तत्व पर प्रतिष्ठित है।

क्रमाभिव्यक्तिवादीगण के मतभेद की कथा—लामार्क पैतृक धर्म का सन्तान में संक्रमण एवं संगति-संयोजन (Heredity and Adaptation) इन दोनों को क्रमाभिव्यक्तिवाद का प्रधान कारण कह गये हैं। डारविन के मत से पूर्व पुरुषों के अभ्यास तथा अनभ्यास (The effects of use and disuse) के फलस्वरूप वह परपुरुष में संचारित होकर जीव के क्रमाभिव्यक्ति के व्यापार की किंचित् सहायता अवश्य करता है, तथापि यह इस वाद का प्रधान कारण नहीं है। प्राकृतिक निर्वाचन ही इसका मुख्य कारण प्रतीत होता है। लोमार्क ने पिता से पुत्र में उसके द्वारा अर्जित तथा सहज, इन दो धर्मों का संक्रमित होना स्वीकार किया है। लेकिन आधुनिक क्रमाभिव्यक्तिवादीगण में से कई इस प्रकार के मत का अनुवर्तन नहीं करते। पिता के अभ्यास-अनभ्यास का फल, पिता द्वारा अर्जित धर्म सन्तान में संचरित होता है अथवा नहीं होता, इस तथ्य का समाधान करने के लिए आज भी वैज्ञानिकगण विशेष चेष्टारत हैं। डारविन इस मत को एकबारगी अस्वीकार नहीं करते कि पिता का अर्जित धर्म पुत्र में संक्रमित होता है, किन्तु नवीन सम्प्रदाय वाले इसे अस्वीकार करने हेतु प्रस्तुत हैं। नवीन सम्प्रदाय का कथन है कि माता-पिता

केवल न्यासधारी हैं। केवल प्रतिभूस्वरूप (Trustee) पिता का अर्जित धर्म पुत्र में संक्रमित नहीं होता। जिस मूल बीजभूत शक्ति के पिता फल तथा न्यासी हैं, केवल प्रतिभूस्वरूप पिता का अपना अर्जित धर्म उत्तराधिकारी में संक्रमित नहीं होता। जिस मूल बीजभूत शक्ति के पिता फल एवं न्यासधारी हैं, उस मूलभूत अथवा बीजभूत शक्ति के ही वे संक्रामक अथवा वाहक हैं, अन्य कुछ नहीं। गर्भधारिणी का जो प्रभुत्व अपने भ्रूण पर है, जो प्रभुत्व जहाज में रखे सामान (Cargo) पर जहाजी का है, पिता का आत्मन्यस्त जनिष्यमाण बीज के ऊपर कोई भी प्रभुत्व अथवा अधिकार नहीं है। विद्वान् स्पेन्सर के मत से पिता के अभ्यास तथा अनभ्यास का फल सन्तान में संक्रमण करता है और पैतृक धर्म के सन्तान में संक्रमण को ही मनुष्य की अभिव्यक्ति का प्रधान कारण माना जाता है। प्राकृतिक निर्वाचन उन्नतिप्रवण परिणाम साधन में पर्याप्त नहीं है। नवीन सम्प्रदाय विशेष के प्रधान नेता जर्मनदेशीय विद्वान् वाईसमैन कहते हैं कि पिता के अभ्यास तथा अनभ्यास का फल सन्तान में संक्रमण नहीं करता। प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) ही क्रमविकास का प्रधान तथा एकमात्र कारण है।

पिता का अर्जित धर्म, पिता के अभ्यास और अनभ्यास का फल, सन्तान में संक्रमण करता है कि नहीं, यह क्रमाभिव्यक्तिवादीगण का अतीव प्रयोजनीय प्रश्न है। केवल क्रमाभिव्यक्तिवादीगण ही क्यों, जो मनुष्य जाति की सुखमयी अवस्था की चिरस्थिति की कामना करते हैं, उन सब पुरुषों के लिए यह अवश्य मीमांसितव्य प्रश्न है। इस प्रश्न के यथायथ समाधान के ऊपर सदाचार विषयक, राजनीतिक विषयक, धर्म, नीति तथा पुनर्जन्म विषयक सिद्धान्त निर्भर है। पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं—"वैज्ञानिकगण का इस प्रश्न के समाधानार्थ मनोनिवेश अत्यन्त आवश्यक है।" बात पूर्णतः सत्य है, किन्तु हमारे क्षुद्र हृदय में यह विश्वास है कि पाश्चात्य पण्डितगण जब तक वेदादिशास्त्रोपदेश को शिरोधार्य नहीं कर सकेंगे, तब तक इन प्रयोजनीय प्रश्न का यथायथरूपेण समाधान होना असम्भव है। वेदादिशास्त्र गहन है। आधुनिक वैज्ञानिकगण द्वारा आज भी निःसन्दिग्ध रूप से अमीमांसित इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया गया है। वेदादिशास्त्र में इन विवादास्पद प्रश्नों की जो मीमांसा है, पण्डित वाईसमैन (Weismann) ने उसे अबाधरूपेण माना है। पण्डित डारविन ने भी उसे अबाध रूप से स्वीकार किया है। पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी उसे अबाध ग्रहण किया है। वेदादिशास्त्र ने इन प्रश्नों का जैसा समाधान किया है, उसका तात्पर्य ग्रहण करने के लिए मानो नैहारिकी आकाश की अवस्था को अमावस्या कहने से इष्टसिद्धि कदापि नहीं होगी। स्नायु केन्द्रों को आत्मा अथवा मनः कहने से भी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती। शुद्ध आकर्षण-विकर्षण शक्ति की चिरस्थायी प्रजा होकर रहने से भी उद्देश्य सफल नहीं होगा। वेदादिशास्त्र ने जिस प्रकार इन प्रश्नों का

समाधान किया है, उसे आगे कहा जायेगा। आपाततः वाईसमेन का मत क्या है तथा उभयपक्ष स्व-स्व मत-स्थापनार्थ क्या प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, यह देखा जा रहा है।

वाईसमैन (Weismann) का मत—"पिता का अर्जित धर्म, पिता के अभ्यास तथा अनभ्यास का फल, सन्तान (अपत्य) में संचरण करता है," जो इस मत को मानते हैं उनका कथन है कि बीज पिता के समग्र मानसिक तथा दैहिक प्रकृति की प्रतिकृति अथवा आदर्श है। पिता की मानसिक तथा दैहिक प्रकृति की प्रतिकृति सूक्ष्मभाव से बीज में निहित रहती है। इनके मतानुसार बीज के साथ पुरुष की समग्र मानसिक तथा दैहिक प्रकृति का सम्बन्ध नहीं है। ये कहते हैं कि जीव का 'बीज' तथा 'तदावरण' दो भाग है। बीजभाग जो है, वही है वास्तव में जीव। आवरणभाग इसका भोगायतन है। इसका शरीर है। बीजभाग की बाह्य प्रकृति से रक्षा करना ही आवरण भाग का प्रयोजन है। बीज से ही आवरणभाग की उत्पत्ति होती है। बीज स्वयं ही अपनी रक्षा के लिए आवरण अथवा उपाधि का निर्माण कर सकता है। जिससे जो उत्पन्न होता है, उसका धर्म उसमें विद्यमान रहता है। अतएव बीज से उत्पन्न आवरण में बीज का ही धर्म रहेगा, यह सुखबोध्य है। बीज जैसा है, उसका आवरण (देह) भी तदनुरूप होता है। वृक्षबीज से वृक्षदेह, अश्वबीज से अश्वदेह, मनुष्यबीज से मनुष्य-देह उत्पन्न होता है। आवरणभाग के साथ बाह्य प्रकृति का सम्बन्ध है। बाह्य प्रकृति के साथ आवरणभाग ही प्राप्त होता है। बाह्य प्रकृति के साथ आवरणभाग की प्रतिद्वन्द्विता है। इसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण आवरण-भाग बाधित होता है, परिवर्तित होता है अथवा विकार प्राप्त होता है। इसके विकार से बीज में विकार नहीं आता। आवरण की उन्नति से बीजोन्नति नहीं होती। बीज स्वयमेव आवरण का निर्माण करता है, किन्तु आवरण से बीजोत्पत्ति नहीं होती। यौवन दशा आने पर बीज स्वयं ही अपना विभाग करने लगता है, आत्मा का एकांश आत्मा से विसृष्ट कर देता है। यह विसृष्ट अंश स्वतंत्र जीवन-लाभ करता है। वह अपनी प्रकृति के अनुरूप आवरण का निर्माण करते हुए स्वतंत्रता से कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। जो समस्त धर्म बीज में विद्यमान रहते हैं, तथा जीव के सहज धर्म तथा आवरणभाग में बाह्य प्रकृति से प्रतिद्वन्द्विता होने के कारण जो समस्त धर्म उत्पन्न होते हैं, वे हैं जीव के अर्जित धर्म। बीज जब विभक्त होकर स्वतन्त्र आवरण का उत्पादन करते हुए व्यापार प्रारम्भ करता है, तब बीज का जो सहज धर्म है, वही उसमें अनुवर्तन करता है। अर्जित अथवा आवरण-भाग के धर्म का अनुवर्तन नहीं करता। अपत्य (सन्तान) पिता से ही बीज-धर्म प्राप्त करता है। पिता ने भी अपने पिता से बीजधर्म पाया था। आवरणभाग का धर्म किसी ने भी नहीं पाया था। जीव के आवरणभाग में ही परिवर्तन होता है, बीजभाग में परिवर्तन की सम्भावना अत्यल्प है। क्या बीज में कभी परिवर्तन नहीं होता? यदि परिवर्तन न होता, तब अभिव्यक्ति

कैसे होती? अतः बीज में भी परिवर्तन योग्यता है, इसे मानना पड़ेगा। बीजोन्नति ही जीवोन्नति है। प्राकृतिक निर्वाचन ही जीवोन्नति का कारण है।

पिता का अर्जित धर्म ही अपत्य (सन्तान) में संक्रमण करता है, इस मत के मानने वालों के स्वमत का समर्थक प्रमाण—विद्वान् पण्डित डब्ल्यू.बी. कार्पेन्टर ने अपने ग्रन्थ 'प्रिंसिपल ऑफ ह्यूमन फिशियोलॉजी' में कहा है—"प्रजनन प्रक्रिया का प्रकृत स्वरूप चाहे जो हो, इतिहास भी चाहे जो हो, माता-पिता की प्रकृति ही बीज में संक्रमण करती है, यह स्थिर है। घोड़ा तथा गर्दभी, सिंहनी तथा व्याघ्र इत्यादि विजातीय एवं परस्पर विलक्षण इतर जीवसमूह के बीच तथा यूरोपीय से निग्रो का, संकर प्रजनन व्यापार होने से परस्परतः स्त्री तथा पुरुष धर्म का सम्मिश्रण हो जाता है। भिन्न जातीय, भिन्न प्रकृति वाले स्त्री-पुरुष संगम से उत्पन्न सन्तान में कहीं न कहीं माता-पिता के विमिश्र लक्षणयुक्त हो जाते हैं। इसके द्वारा बीज का जो धर्म अथवा गुण होता है, वह माता-पिता की प्रकृति के अधीन है। गर्दभ तथा घोड़ी के संयोग से उत्पन्न खच्चर (अश्वतर) एक प्रकार से रूपान्तरित गर्दभ ही है। खच्चर में प्रधानतः गर्दभ का और अंशतः घोड़ी का ही लक्षण व्यक्त होता है। मनुष्यों में भी सन्तान में माता-पिता का सादृश्य, माता-पिता की दैहिक तथा मानसिक प्रकृति का साम्य परिलक्षित होता है। किसी सन्तान में पिता के लक्षण अधिक रहते हैं, किसी सन्तान में मातृलक्षण की अधिकता होती है। अतः अपत्य (सन्तान) माता-पिता के समान रहता है, यह निश्चित है। यह भी देखा जाता है कि किसी कारण से पुत्र माता-पिता से विलक्षण है, किन्तु पौत्र तथा प्रपौत्र तो पितामह-पितामही, किंवा प्रपितामह-प्रपितामही के समान लक्षण वाले होकर जन्म लेते हैं। माता-पिता का सत्-असत् अभ्यास का फल भी अपत्य में संक्रमण करता है। पुत्र को माता-पिता का अर्जित धर्म भी मिलता है। गण्डमाला, वात, उपदंश, यक्ष्मा प्रभृति रोगसमूह वंश-परम्परा से संक्रमित होते हैं। माता-पिता के अतिरिक्त सुरापान के कारण सन्ततिवर्ग प्रायः जड़-बुद्धि होते हैं। उनमें उन्मादप्रवणता प्रकट होने लगती है अथवा उनका मन अत्यन्त दुर्बल तथा धैर्यहीन होता है। जहाँ माता-पिता अत्याचारी हैं, वहाँ बालक की यही स्थिति होती है। 359 जड़ मस्तिष्क (Idiots) के अनुसन्धान से यह ज्ञात हो सका है कि इनमें से 99 मद्यपों की सन्तान थे। जो निःसन्तान विधवा पुनर्विवाह करती हैं, उनके द्वितीय पति से उत्पन्न सन्तान उस स्त्री के पूर्व पति से मिलती-जुलती देखी गयी है। इसका दो कारण माना गया है। प्रथमतः उस स्त्री के चित्त में पूर्व पति की स्मृति छवि दृढ़तर रूप से संलग्न थी, द्वितीयतः गर्भधारिणी के रक्त तथा भ्रूणावलि में उस पूर्व पति के संस्कारसमूह ग्रहीत हो गये थे, जो अन्य पुरुष से संसर्ग होने पर गर्भ में संचरण कर गये। इसीलिए अन्य पुरुष-संसर्ग से उत्पन्न सन्तान पूर्व पति के सदृश प्रतीत होती है।

गर्भाधान काल में माता-पिता की जैसी शारीरिक तथा मानसिक प्रकृति रहती है, बीज भी बहुलता से वैसी ही प्रकृति का हो जाता है। इस तथ्य पर विश्वास के अनेक कारण हैं। मैथुनकाल में स्त्री यदि अन्य पुरुष के रूप की भावना करती है, तब सन्तान में उसकी सदृशता संक्रान्त हो जाती है। हमने पाया है कि ग्रहण के समय एक गर्भवती स्त्री मछली काट रही थी। प्रसव के पश्चात् देखा गया कि उसकी प्रसूता कन्या के ओष्ठ कटे हुए थे।

पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर अपने ग्रन्थ 'प्रिंसिपल्स ऑफ बाईलॉजी' में पूर्व पुरुष के अभ्यास तथा अनभ्यास के फल को जो सन्तान में संक्रमण करता है, उसके प्रतिपादनार्थ कहते हैं कि अंग्रेज के जबड़े (Jaws) आस्ट्रेलिया वालों अथवा निग्रो के हनु (Jaws) से छोटे होते हैं। सभ्य जाति के हनु छोटे होते हैं। असभ्य जाति के हनु बड़े होते हैं। यह इनके पूर्व पुरुषों द्वारा इन यन्त्र के व्यवहार के कारण होता है। इसी प्रकार से अन्यान्य शरीर-यन्त्र भी पूर्व पुरुषादि के अभ्यास तथा अनाभ्यास के कारण ह्रास वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

प्रतिवादियों का प्रतिवाद—उक्त वादी ने जो सब प्रमाण प्रस्तुत किया है, उसका तात्पर्य यह है कि अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति दोषयुक्त है, यह सिद्ध करना प्रतिवादी का प्रधान कर्तव्य है। ''माता-पिता के अभ्यास तथा अनभ्यास का फल सन्तान में संक्रमण करता है'' इस प्रतिज्ञा की स्थापना के लिए वादी ने दिखाया है कि सन्तार्न माता-पिता की शारीरिक तथा मानसिक प्रवृत्ति को प्राप्त करता है। विभिन्न जातीय अथवा विसदृश प्रकृतिक स्त्री-पुरुष के संसर्ग से उत्पन्न सन्तान में माता-पिता का सम्मिश्रित लक्षण रहता है। सन्तान में माता-पिता के आनुवंशिक रोग का संक्रमण होने लगता है, इत्यादि वादी प्रदर्शित दृष्टान्त अमूलक है अथवा भिन्न हेतु से उत्पन्न है, यह प्रतिवादी को प्रमाणित करना होगा। यद्यपि पूर्व कथन में जो कुछ कहा गया, वह प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध है फिर भी इससे व्यभिचारी दृष्टान्त भी विरल नहीं है।

वाईसमैन कहते हैं कि आवरण धर्म बीज में संक्रान्त नहीं होता। अतः माता-पिता के रोग इनके मत से सन्तान को उत्तराधिकार सूत्र में नहीं मिलते। जहाँ सन्तान को माता-पिता के समान रोग से आक्रान्त होते देखा जाता है, वहाँ प्राकृतिक निर्वाचन को उसके कारणरूपेण अवधारित करना ही होगा। माता-पिता के अर्जित धर्मपुत्र सन्तान में संक्रमण करते हैं, जो इस मत को मानते हैं। उनका कथन है कि माता-पिता को जिस आयु में जो रोग प्रादुर्भूत होता है, सन्तान को उसी वयस में उस रोग की अभिव्यक्ति होती है। प्रतिवादी इसमें दोष निकालकर कहते हैं कि सन्तान के स्नायव दौर्बल्य (Nervousness) प्रथम वयस से ही अभिव्यक्त होने लगते हैं। किन्तु माता-पिता की स्नायव दौर्बल्यता से सन्तान ने यह रोगप्रवणता

उत्तराधिकार सूत्र में प्राप्त किया है, ऐसा अनुमान है। माता-पिता का यह स्नायव दौर्बल्य प्रायः अधिक आयु में घटित होता है। माता-पिता तथा सन्तान की रोगाभिव्यक्ति का यह कालिक पार्थक्य अर्जित धर्म के संक्रमण नियम का विरोधी है, इसमें सन्देह नहीं। पिता के प्रथम वयस की निरामय अवस्था (जब पिता सुरापान नहीं करता था) पुत्र सन्तान में क्यों संक्रमित नहीं होती? क्या तब पिता-मग्ना के अभ्यासफल से संक्रमण का नियम क्या केवल मन्द फलप्रसु है? इस नियम के कारण क्या पिता की नवअर्जित दुर्बलता ही सन्तान में संचरित होती है?

प्रतिभा की महिमा विचित्र है। हर्बर्ट स्पेन्सर, कार्पेन्टर, डारविन विद्वान् हैं, धीमान तथा विशिष्ट चिन्तनयुक्त हैं। तथापि पैतृक प्राप्ति क्रमाभिव्यक्ति का कारण नहीं है, यह वे क्यों नहीं समझ सके? कुछ समझे, कुछ नहीं समझ सके, इसका क्या कारण है? वाईसमैन, गल्टन, बौल आदि वैज्ञानिकों ने जिन युक्तियों द्वारा पैतृक प्राप्ति नियामक नियम (Law of Heredity) का प्रत्याख्यान किया है, हर्बर्ट स्पेन्सर प्रभृति धीमान विद्वानों के स्वच्छ मस्तिष्क में वे युक्तियाँ यथायथ भाव से प्रतिभात नहीं हो सकीं। वे उन सभी युक्तियों को प्रकृतयुक्ति के रूप में ग्रहण नहीं कर सके, इसका कारण क्या? पक्षान्तर से वाईसमैन, गल्टन प्रभृति मनीषासम्पन्न सुधीवर्ग विद्वान्गण हर्बर्ट स्पेन्सर आदि पण्डितों के पैतृक प्राप्ति नियम के प्रतिपादक युक्तिसमूह को प्रकृत युक्ति रूप से ग्रहण क्यों नहीं कर सके? शुद्ध प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) से विविध विचित्र, विश्वपरिणाम संघटित होता है, इस मत की स्थापना जैसे असम्भव है, इस बात को वाईसमैन का विमल मस्तिष्क क्यों नहीं समझ सका? जो प्रकृति एक को निरोग, सबल, प्रकृष्ट बुद्धिसम्पन्न धनवान् बनाती है, वह अन्य को रोगार्त्त, दुर्बल, जड़बुद्धि तथा निर्धन कर रही है, इसका क्या कारण? क्या प्रकृति पक्षपातिनी है? क्या यह सृष्टि-रचना आकस्मिक है? (Result of chance)। यदि प्राकृतिक निर्वाचन अहैतुक अथवा आकस्मिक है, यदि यह अस्थिर है, अनियमित किंवा कामचारी (मनमाना) है, तब विज्ञान की कार्यकारिता क्या होगी? वैज्ञानिक तथ्य समुदाय प्राकृतिक नियम के अपर पर्याय हैं। संज्ञान्तर हैं। विज्ञान चेष्टा करता है सभी प्राकृतिक नियम के आविष्कार की। यदि प्रकृति का कोई नियम ही न हो, तब विज्ञान के लिए क्या कर्तव्य बाकी रहेगा?

शास्त्र का कथन है—"प्रतिभा ही ज्ञान, विश्वास, धर्माधर्म प्रवृत्ति की नियन्त्री है। प्रतिभा से ही जाति तथा व्यक्तिगत ज्ञानविज्ञानादि व्यवस्थापित होते हैं।" मतभेद प्रतिभामूलक है, इसे स्वीकार करना होगा। मतभेद के तत्व का चिन्तन करने से अनेक विवादित विषय मीमांसित हो जाते हैं। यह प्रतिपन्न हो जाता है कि जन्मान्तर के संस्कार वर्तमान जन्म में अनुवर्तन करते हैं।

डारविन जैसे क्रमाभिव्यक्तिवादीगण के मत से यह ज्ञात होता है कि जड़ प्रकृति ही विश्वजगत् के सप्राण, अप्राण, चेतन, अचेतन सबका एकमात्र कारण है। क्रमाभिव्यक्तिवादी किसी कार्य के मूल कारण का अनुसन्धान नहीं कर सके। जीव की प्रथमाभिव्यक्ति कैसे हो सकी, जगत् की इस अभिव्यक्ति के आदि अथवा इससे पूर्व से और भी इनकी अभिव्यक्ति हो गई है, जड़ अथवा निर्जीव पदार्थ से जीव उत्पन्न हो गये, अथवा जीव से ही जीवोत्पत्ति होती है, इत्यादि प्रश्नों का ये लोग कोई समाधान दे सके हों, ऐसा नहीं लगता। पाश्चात्य विद्वानों का मत जीव के जन्म के सम्बन्ध में क्या है, इसे जानना ही हमारा वर्तमान प्रयोजन है। जीव के जन्म के सम्बन्ध में पाश्चात्य वैज्ञानिकों के जितने भी मत प्रचलित हैं, उसे जानने के लिए सृष्टिवाद, क्रमविकासवाद तथा परिणामवाद का कुछ संवाद देना उचित लगता है। इसी प्रयोजन से इस प्रबन्ध में दो-एक बातें (तत्सम्बन्धित) कही गयीं। अब जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने जो-जो सिद्धान्त कहा है, उसे समझा जायेगा।

जड़ से जीवोत्पत्ति है अथवा जीव ही जीव का उत्पत्तिकारण है—जड़ अथवा निर्जीव से जीव की उत्पत्ति होती है अथवा जीव से ही जीव उत्पन्न होता है, इस विषय को लेकर पाश्चात्य पण्डितों में प्रधानतः द्विविध मत प्रचलित हैं। एक पक्ष का कथन है कि जड़ पदार्थ स्वयं प्रेरित होकर प्राण नामक पदार्थ का उत्पादन करते हैं। प्राण जड़ वस्तु का ही विकार है। यह जड़ शक्ति के बिना जीवन नामक स्वतन्त्र शक्ति प्रसूत नहीं कर सकता। विद्वान् एच. बैस्टियन कहते हैं कि दर्शन तथा परीक्षा से अभ्रान्त रूप से प्रतिपन्न होता है कि सजीव पदार्थ (Living Matter) कर्मनिरपेक्ष अणुसमूह के रासायनिक संयोग-वियोग के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। अन्य पक्ष का कथन है कि जीवन जड़शक्ति का परिणाम नहीं है। जीव से ही जीवोत्पत्ति होती है। निर्जीव कभी भी सजीव का उत्पादक नहीं हो सकता। निर्जीव से जीवाविर्भाव नहीं होता। ऐसा अनेक जीवतत्वविदों का कथन है।

विश्वजगत् का इतिहास कहने में प्रवृत्त होने पर आधुनिक वैज्ञानिकगण नैहारिकी अवस्था (Nebulous State) को आदिरूपेण ग्रहण करते हैं। वैज्ञानिकों द्वारा गृहीत विश्व की इस आद्यावस्था को देखने से पूर्व क्रमाभिव्यक्तिवादी पाश्चात्य पण्डितों से यह जिज्ञासा की जाती है कि निहारावस्था से विश्व का क्रमविकास होने से जब पृथ्वी पर प्रथम जीव का आविर्भाव हुआ, तब निर्जीव जड़ पदार्थ से ही उसकी अभिव्यक्ति हुई थी? अथवा सजीव पदार्थ से?

पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर जीव की प्रथमाभिव्यक्ति कब, किस रूप में हुई थी, इसका कुछ भी विवरण नहीं दे सके हैं। विद्वान् पण्डित पार्कर ने इसके सम्बन्ध में प्रश्न तो उठाया है, किन्तु कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके। पार्कर ने मात्र इतना

कहा है कि निर्जीव पदार्थ से आद्य जीवन के आविर्भाव का जो यह अभिव्यक्तिवाद है, इसे एकबारगी अनर्थक अथवा युक्ति के विपरीत नहीं कहा जा सकता। जगत् के इतिहास में किस अवस्था में निर्जीव जड़ पदार्थ से जीव की अभिव्यक्ति हुई थी, क्रमाभिव्यक्तिवाद के स्थापन के पक्ष में यह अनुमान करना आवश्यक है। वृद्ध गौतम के शिष्य यह सुनकर कहेंगे इसी का नाम प्रतिज्ञा संन्यास है (Abandonment of the original proposition)[1] वादी कहता है—"जड़ से जीवोत्पत्ति नहीं होती, जीव से जीवोत्पत्ति होती है, इसीलिए कारण के विसदृश कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।" प्रतिवादी कहता है, "इसीलिए कारण के विसदृश कार्य की उत्पत्ति असम्भव है।" यह प्रतिज्ञा अतिव्याप्ति वाली है। क्योंकि जीव की प्रथमाभिव्यक्ति जड़शक्ति से ही होती है। वादी कहता है—"प्रकृति अथवा कारण का विसदृश परिणाम हो नहीं सकता। यह कौन कहता है? जड़ से जीव की उत्पत्ति असम्भव है, यह मैं नहीं कहता।" न्यायमत से यह है प्रतिज्ञासंन्यास। पण्डित पार्कर "जीव से जीवोत्पत्ति होती है" इसे सिद्ध करने में प्रवृत्त हुए हैं। किन्तु क्या वे कृतकार्य हो सके? भूत (Matter) तथा भौतिक शक्ति (Force) से भिन्न जो अन्य पदार्थ के अस्तित्व को नहीं मानते, वे कैसे इस मत की स्थापना करेंगे कि "निर्जीव पदार्थ से जीवोत्पत्ति नहीं हो सकती।"

भूत (Matter) तथा शक्ति (प्राकृतिक तथा रासायनिक—Physico-chemical) द्वारा सजीव पदार्थ का निर्माण कर सकने में आज तक वैज्ञानिक सफल नहीं हो सके। इनमें से अनेक ने इसीलिए यह सिद्धान्त कहा कि सजीव पदार्थ पूर्ववर्ती सजीव पदार्थ से ही उत्पन्न होते हैं और इसे अधिक युक्तिसंगत मानते हैं। तब जीवन की प्रथमाभिव्यक्ति को परीक्षा का विषय बनाने से यह मत विचलित हो जाता है कि "जड़ से जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।"[2]

---

1. "पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः" —न्यायदर्शन 5।25
   स्वपक्ष का साधन, परपक्ष द्वारा दूषित होने पर, वादी जिसके द्वारा अपने पक्ष की स्थापना करता है, प्रतिवादी यदि उस हेतु समूह की अवाप्ति अथवा अतिव्याप्ति दोषयुक्त प्रमाण करे, उसके उद्धरण की विवेचना में असमर्थ जो वादी है वह जब प्रतिज्ञात अर्थ का त्याग करता है, उसका नाम है प्रतिज्ञासंन्यास।
2. We have therefore two theories of the lower organism the theory of Biogenesis, according to which each living thing however simple, arises by a natural process of budding, fission, spare-formation, or what not, from a parent organism and the theory of Abiogenesis or as it is sometimes called spontaneous or equivocal generation, according to which fully formed living organisms sometimes arises from not-living matter. In former times the occurrence of a Biogenesis was universally believed in.... It must not be thought that this question is in any way a

शरीरोपादान तथा उत्पत्ति-तत्व—सजीव पदार्थ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आधुनिक विज्ञान में जो द्विविध मत प्रचलित है, उन्हें सुना। अब सजीव देह के उपादान तथा उत्पत्ति विषयक उपदेश को सुना जाये। सजीव देह को पाश्चात्य विद्वान् एककोषीय तथा अनेककोषीय (Protozoa or Unicellular and Metazoa or animals composed by many cells) इन दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है। अनेक कोषात्मक शरीर विविध, विचित्र यन्त्र समष्टि है। वृक्ष के मूल में काण्ड, पत्र। जीव में हृदय, मस्तिष्क, पक्वाशय, अस्थि, स्नायु इत्यादि भिन्न-भिन्न शरीर-यन्त्र हैं। ये सभी क्षुद्र-क्षुद्र अवयवों से निर्मित हैं। यथोक्त Tissue टीशू, जो सबका घटकावयव (Constituent parts) है, उसे Cells कहते हैं। सेल (Cell) ही जीवशरीर का मूल उपादान है, एकक है (ultimate unit है)। Cell शब्द जीवशरीर में एकक तो है यही मूल उपादान कहा गया है। संस्कृत का 'कोष' इसी का समानार्थक-सा है। विद्वान् मोल (Mohl), रेमाक् (Remak), विर्शो (Virchow) आदि के मत से सेल अकस्मात् उत्पन्न पदार्थ नहीं है। प्रत्येक Cell पूर्ववर्ती Cell से आविर्भूत होता है।

प्रतिस्पन्दन शक्ति (Power of Movement) द्वारा ही निर्जीव पदार्थ का अशोषण तथा रासायनिक प्रक्रिया से उसे सजीव पदार्थ (Protoplasm) में परिणत करने की शक्ति, बढ़ने की शक्ति, निःस्रवण शक्ति (Power of Secretion) तथा प्रजनन शक्ति (Power of reproduction), ये सभी शक्तियाँ Cell में विद्यमान हैं। सेल में जो सजीव है उसे प्रोटोप्लाज़्म कहा जाता है। प्रोटोप्लाज़्म में नाना जातीय कणिका अथवा अंकुर (Minute granules) अवस्थित रहते हैं। इन्हें बीजांकुर (Nucleus) कहा जाता है। पुरुष बीज अथवा कोष (Spermatozoon) स्त्रीबीज अथवा कोष (Ovum) के साथ मिलित होकर गर्भोत्पादन करता है। कोष के संविभाग (Division) से शरीर-गठन होता है।

कोष प्रथमतः द्विधा विभक्त होता है। इस द्विधा विभक्त कोष में से प्रत्येक पुनः दो भाग में विभक्त होते हैं। सभी कोषों का ऐसे ही संविभाग होता है। ये विभक्त होकर भी परस्पर जुड़े रहते हैं। सविभक्त कोष समूह गोलाकृति में सन्निवेशित होते हैं। इनके सम्मिलन से एक स्तर अथवा सन्तानिका

---

vain or absured one. That living protoplasm has at some period of the world's history originated from not living matter seems necessary corollury of the doctrine of evolution, and is obviously the very essence of the doctrine of special creation; and there is no a priori reason why it should be impossible to imitate the unknown conditions under which the process took place"

—An Elementary Course of Practical Zoology,
By Parker, Page 282-283.

(Membaranous layer) बनती है। इस सूक्ष्म स्तर (सन्तानिका) को बीजत्वक् (Blastoderm germinal membarane) भी कहते हैं। बाह्य त्वक्स्तर (Epiblast or Ectoderm) मध्य त्वक्स्तर (Mesoblast or Mesoderm) एवं अन्त्यत्वकस्तर (Hypoblast or Entoderm) पुनः इन तीन त्वक्स्तर में संविभक्त हो जाते हैं। इन तीन से समस्त शरीरयन्त्र अभिव्यक्त होता है।

प्रोटोप्लाज़्म कौन पदार्थ है—पाश्चात्य जीवविज्ञान के अध्ययन से विदित होता है कि प्रोटोप्लाज़्म अखिल जैव शरीर का उपादान है। प्रोटोप्लाज़्म कीट प्रसव करता है, पतंग प्रसव करता है, तरुलता प्रसव करता है। यह विविध-विचित्र प्रकृतियुक्त है। यही हिताहित विवेक शक्तिमान मनुष्य का निर्माण करता है। यहाँ ज्ञातव्य है कि यह प्रोटोप्लाज़्म क्या है?

प्रोटोप्लाज़्म का स्वरूप क्या है, अभी तक जीवतत्त्ववित् इसका निर्धारण नहीं कर सके। इसके सम्बन्ध में विविध मत परिलक्षित होते हैं। विद्वान् कुन्हे (Kuhne) प्रभृति कतिपय पण्डित संकोचन धर्मयुक्त विशिष्ट पदार्थमात्र को प्रोटोप्लाज़्म कहते हैं। डॉक्टर वील् इस मत का अनुमोदन नहीं करते। आकुंचनशीलता (Contractility) को जो प्रोटोप्लाज़्म का इतर व्यावर्तक धर्म मानते हैं, डॉक्टर वील् उनसे अमीबा (Amoeba) तथा पैशिक विधान इन दो आकुंचनात्मक स्पन्दन की परीक्षा करने का अनुरोध करते हैं। डॉ. वील् का सिद्धान्त है कि अखिल पदार्थ का अस्तित्व जिस पर आश्रित है, वह जीवांकुर पदार्थ विशेष (Bioplasm) है। प्रोटोप्लाज़्म को अनेक अर्धतरल अण्डलालवत् (Albuminous) पदार्थ कहते हैं।

जीव के जन्म सम्बन्ध में पाश्चात्य पण्डितगण का मत क्या है, इसे इस प्रकार से श्रवण किया गया। अब जीव के जन्म सम्बन्ध में पाश्चात्य पण्डितों का उपदेश सुनकर क्या निष्कर्ष आता है, यह निवेदन किया जायेगा।

[चतुर्थ प्रस्ताव समाप्त]

पञ्चम प्रस्ताव

जीव के जन्म-सम्बन्ध में मेरा मन्तव्य

जीव की उत्पत्ति के बारे में उपदेश का प्रतिचिन्तन—शास्त्रमत से जीव नित्य है। जो नित्य है उसकी उत्पत्ति तथा विनाश नहीं होता। स्थूल शरीर के साथ जीव के संयोग को ही लोग साधारणतः जीव का जन्म तथा शरीर-विच्छेद को मृत्यु कहते हैं। जीव के स्थूल शरीर के साथ संयोग होने का क्या कारण है? शरीरोत्पत्ति क्यों? अविद्या, काम तथा पूर्वकर्म अथवा अदृष्ट के कारण स्थूल शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध होता है। पूर्व शरीरकृत कायिक, वाचिक तथा मानसिक शुभाशुभकर्म के संस्कार से प्रेरित भूतसमूह (Matter) से वर्तमान शरीर निष्पन्न होता है। पूर्वकर्मभेद से शरीरभेद होता है। जैसे पूर्वकर्म शरीरोत्पत्ति के निमित्त कारण हैं, उसी प्रकार से भिन्न-भिन्न अवयव की रचना में अणुसमूह का विशेष-विशेष भाव से सन्निवेश होता है। उनमें भी पूर्वकर्म तथा अदृष्ट ही निमित्त कारण है, कार्यमात्र के द्विविध कारण है—उपादान तथा निमित्त (वेदों में उपादान कारण को समझाने के लिए 'आरम्भण' शब्द का प्रयोग किया गया है)। वेद कहते हैं विश्वतश्चक्षुः (सर्वतोदृष्टि, विश्वस्थ चक्षुमान प्राणिवर्ग के चक्षुः की समष्टि ही जिनके नेत्र हैं, अथवा अतीत, अनागत तथा वर्तमान के जो युगपत् द्रष्टा हैं), विश्वतोमुख, विश्वतोबाहु तथा विश्वतस्पात् विश्वकर्मा परमेश्वर एकाकी अनन्यसहाय होकर धर्माधर्मरूप बाहु (धर्माधर्म ही लोकत्रययात्रा निर्वाहक, सृष्टि वैचित्र्य का हेतु है, इसीलिए इन्हें विश्वकर्मा का बाहु कहा है) तथा पतनशील (अनित्य) पञ्चभूतरूप उपादान कारण द्वारा (उदयनाचार्य के मत से गतिशील परमाणु पुंज द्वारा) जगत्सृष्टि करते हैं। जगत् कार्य का उपादान कारण है पंचभूत तथा निमित्तकारण है सृज्यमान पदार्थ समूह का धर्माधर्म।[1] कर्म की विचित्रता ही सृष्टि है। वैचित्र्य का निमित्त कारण इसके द्वारा प्रमाणित होता है। संसार अनादि है। कारण में लीन होना लय है। ध्वंस कदापि लय का अर्थ नहीं है। ध्वंसार्थ है—एक साथ विनष्ट होना। जीव जो कर्म करता है, वह शुभ हो अथवा अशुभ, उसका संस्कार जीवान्तःकरण में लग्न रह जाता है। यह संस्कारसमूह भविष्यत् प्रपंच का, भावी सृष्टि का बीज है। वेद इसे पुनः सृष्टि अथवा पुनः जन्म का हेतु कहते हैं।

---

1. "किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्। यतोभूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन् महिना विश्वचक्षाः। ....संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमि जनयन् देव एकः॥" —ऋग्वेद संहिता, 8। 10। 81 तथा शुक्लयजुर्वेद संहिता, 17। 18 तथा 19

न्यायदर्शन उद्धृत मंत्रों की ही व्याख्या करता है। जीवोत्पत्ति के सम्बन्ध में हमने शास्त्र से जो उपदेश पाया है, उन सबके सारगर्भित उपदेश के तात्पर्य को परिग्रह करने के लिए जगत् के सम्बन्ध में वेद तथा वेदाश्रित—वेदमूलक शास्त्रों ने क्या कहा है, यह पहले सुनना उचित है। मेरा विश्वास है कि पाश्चात्य पण्डितगण का जो सृष्टिवाद, क्रमविकासवाद तथा परिणाम एवं विवर्त्तवाद है, वह शास्त्रों में व्याख्यात् आरम्भवाद, परिणामवाद एवं विवर्त्तवाद का ही विकृत रूप है। यह कथन सत्यभूमिक है अथवा नहीं, परीक्षा किया जाये।

आरम्भवाद, परिणामवाद तथा विवर्तवाद का संक्षिप्तरूप—भारत में प्रचारित दार्शनिक मतसमूह को आस्तिक तथा नास्तिक रूप दो प्रधान भागों में बाँटा गया है। आस्तिक तथा नास्तिक दार्शनिक सम्प्रदाय में से प्रत्येक में भी पारस्परिक अन्तर्मतभेद भी है। न्यायवैशेषिक, सांख्यपातंजल, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा इन छः दर्शनों को आस्तिक दर्शन तथा चार्वाक्, चतुर्विध बौद्ध, तथा जैन—इनको नास्तिक दर्शन कहा है। अद्वैत ब्रह्मसिद्धि में आस्तिक-नास्तिक भेद से द्वादश प्रकार के दार्शनिक मत को 'असत् कार्यवाद', सत्कार्यवाद तथा सत्कारणवादरूपी भागत्रय में विभक्त किया गया है। संक्षेपशारीरिक प्रणेता श्रीसर्वज्ञमुनि कहते हैं कणाद आरम्भवाद के, भदन्त (एक बौद्ध ऋषि) संघातवाद के, कपिल तथा पतंजलि परिणामवाद के तथा वेदान्त विवर्त्तवाद के उपदेष्टा हैं। कहते हैं—

"आरम्भवादः कणभक्षपक्षः सङ्घातवादस्तु भदन्तपक्षः। सांख्यादिपक्षः परिणामवादो वेदान्तपक्षस्तु विवर्त्तवादः" (संक्षेपशारीरक शास्त्र)

आरम्भ शब्द का अर्थ है उत्पत्ति, उपक्रम (Beginning)। आरम्भ का वाद आरम्भवाद। आरम्भ शब्द का हम किस सचराचर अर्थ में व्यवहार करते हैं? पूर्व में जिस भाव का अस्तित्व प्रत्यक्ष का विषय नहीं था, ऐसे भाव का अस्तित्व जब प्रथमतः प्रत्यक्षगोचर होता है, तब हम उसे आरम्भ कहते हैं। 'नहीं था अब हुआ' यही है, आरम्भ। 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'नम' धातु में 'घञ' प्रत्यय करने से परिणाम शब्द निष्पन्न होता है। नम धातु का अर्थ है नमन—नति, अवतरण। सूक्ष्म अथवा अदृश्य अवस्था से स्थूल अथवा दृश्यमान अवस्था में आगमन को अथवा पूर्वधर्म की निवृत्ति के अनन्तर धर्मान्तर की अभिव्यक्ति का नाम है परिणाम। विवर्त्त शब्द का अर्थ है विशेष अथवा विरुद्धरूप से स्थिति। सायणाचार्य अथर्ववेद की भाष्य भूमिका में कहते हैं पूर्वरूप का त्याग किये बिना जो असत्य नाना आकार में प्रतिभास होता है, वह है विवर्त्त। शुक्ति में रजत अथवा रस्सी में सर्प प्रतीति विवर्त्त का उदाहरण है। पूर्वरूप का त्याग करके जो नानारूप में प्रतिभास है, वह है परिणाम। दुग्ध का दधिरूप परिणाम का दृष्टान्त है। योगवाशिष्ठ तथा उसकी टीका का पाठ करने से उसमें विवर्त्त तथा परिणाम का सुन्दर लक्षण प्राप्त होता है। योगवाशिष्ठ रामायण के

टीकाकार कहते हैं कि कारण से पाँच प्रकार के कार्य की उत्पत्ति होती है—यथा अतिवाहित प्राग्वस्थ, प्रतिबद्ध प्राग्वस्थ, प्रच्छन्न प्राग्वस्थ, अप्रच्छन्न प्राग्वस्थ, विनष्ट प्राग्वस्थ। मृत्तिका घट की पूर्वावस्था है। मृत्तिका जब घटरूपेण परिणत होती है, तब भी उसका मृत्तिका-रूप तिरोहित नहीं होता। जिसकी पूर्वावस्था प्रतिबद्ध है वह है प्रतिबद्ध प्राग्वस्थ और जिसकी पूर्वावस्था (जैसे घट का मृत्तिकारूप) तिरोहित नहीं होती, वह है अतिवाहित प्राग्वस्थ। प्रतिबद्ध प्राग्वस्थ का उदाहरण है जल हिमखण्ड की पूर्वावस्था है। शीतलतम जल हिमखण्डरूप में जम जाता है। जल जब बरफ (हिम) से गलकर पुनः जल हो जाता है तब भी उसकी जलीय स्थिति नष्ट नहीं होती। बरफ बनकर वह प्रतिबद्ध हो जाता है। विनष्ट नहीं होता। प्रच्छन्न, आवृत तथा लुक्कायित हो गई है जिसकी पूर्वावस्था वह है प्रच्छन्न प्राग्वस्थ। जब रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, जब रस्सी भ्रमवशात् सर्परूप प्रतीत होती है, तब रस्सी का रस्सीत्व भ्रान्त व्यक्ति के सामने से प्रच्छन्न हो जाता है। न+प्रच्छन्न=अप्रच्छन्न। जिसकी पूर्वावस्था अप्रच्छन्न है, वह है अप्रच्छन्न प्राग्वस्थ। जल से तरंगोत्पत्ति अप्रच्छन्न प्राग्वस्थ का दृष्टान्त है। तरंग की पूर्वावस्था है जल। जल से जब तरंग उत्पन्न है तब भी जल प्रच्छन्न नहीं है। अदृश्य नहीं है। जिसकी पूर्वावस्था नष्ट हो गयी है, वह है विनष्ट प्राग्वस्थ। दुग्ध से दधि बनना यह इसका उदाहरण है।[1] विनष्ट प्राग्वस्थ रूप कार्य है विकार अथवा परिणाम। वशिष्ठ देव के अनुसार कारण से तादृश कार्य की उत्पत्ति से कारण के स्वरूप का विपर्यय हो जाता है। वैसे कार्य की उत्पत्ति को ही परिणाम कहा गया है। आद्यन्त समान वस्तु के स्वरूप को असंस्पर्शी (जो स्वरूप का स्पर्श न करे, स्वर के किसी भी रूप का परिवर्तन न करे) कहा है। वैषम्य के प्रतिभास को विवर्त्त कहते हैं। विवर्त्त के कारण के स्वरूप की च्युति नहीं होती। कार्यरूपेण विवर्तित कारण को पुनः स्वभाव में लाने को दुःसाध्य व्यापार नहीं कह सकते। वशिष्ठदेव अतिवाहित प्रागवस्थादि चतुर्विध कार्योत्पत्ति को विवर्त्त तथा विनष्ट प्राग्वस्थ कार्य को विकार अथवा परिणाम कहते हैं। जो विज्ञान के प्राकृतिक तथा रासायनिक (Physical and Chemical) इन द्विविध परिवर्तन के तत्व को जानते हैं, वे अनायास ही समझ सकते हैं कि वशिष्ठदेव के अतिरोहित प्रागवस्थ, प्रतिबद्ध प्रागवस्थ तथा अप्रच्छन्न प्रागवस्थ इन तीन विवर्त्तवाद के साथ विज्ञान वर्णित प्राकृतिक परिवर्तन के साथ रासायनिक परिवर्तन (Chemical Change) से कुछ सादृश्य है।

जैसे मृत्तिका से घटोत्पत्ति होती है, तन्तु से जैसे वस्त्र आरम्भ होता है, नैयायिक गण के मतानुसार उसी प्रकार से परमाणुसमूह से पृथिव्यादि जगत् का

---

1. "पूर्वरूपापरित्यागेन असत्य नानाकार प्रतिभासोविवर्त्तः। पूर्वरूपपरित्यागे सति नानाकार प्रतिभासः परिणामः"—अथर्ववेदभाष्य।
"तत्र कारणे कार्योद्भवः पञ्चधा"—योगवाशिष्ठ टीका

प्रारम्भ होता है। मृत्तिका है घट का उपादान तथा कारण। कुम्भकार तथा दण्डचक्रादि है इसका निमित्त-कारण। परमाणु समूह विश्वजगत् के उपादान कारण हैं और ईश्वर, काल, दिक्, अदृष्ट आदि हैं इसके निमित्तकारण। मृत्तिका में जैसे घट विद्यमान नहीं रहता, उसी प्रकार से परमाणु में व्यक्त जगत् विद्यमान नहीं रहता। सांख्य का सिद्धान्त है कि जैसे खीर (दूध) दधिरूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही सत्व, रजः तथा तमःरूपी गुणत्रयात्मक प्रधान (प्रकृति), महतत्व, अहंकारतत्व इत्यादि रूप में परिणत होकर विचित्र विश्वरूप धारण करता है। अविद्यमान जो है, उसका जन्म नहीं होता और जो विद्यमान है उसका ध्वंस नहीं होता। इसलिए असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सांख्यदर्शन ने कार्य को सत् कहा है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि अखण्डैकरस परमात्मा अपनी माया से आकाशादि जगदाकृति में विवर्त्तित होते हैं। वेदान्तदर्शन विवर्त्तवादी तथा सत्कार्यवादी है। कारण सत् है, नित्य है। कार्य मिथ्या है, असत् है। जो ऐसा मानते हैं वे हैं सत्कारणवादी।

सत्कार्यवाद-स्थापन की युक्ति—सांख्यदर्शन ने सत्कार्यवाद की स्थापना हेतु जिन युक्ति का प्रदर्शन किया है, उन्हें श्रवण करना होगा। असत् (जो वास्तव में विद्यमान नहीं है) की अभिव्यक्ति नहीं होती। असत् को कोई सत् नहीं कर सकता। जिससे जो उत्पन्न होता है, उसे उसका उपादान कारण कहते हैं। मृत्तिका घट का तथा तन्तु वस्त्र का उपादान कारण है। मृत्तिका से पट की तथा तन्तु से घट की उत्पत्ति नहीं होती। अतः प्रत्येक कार्य के उपादान कारण का जो नियम है, उसे मानना ही होगा। कार्य तो अपने उपादानकारण के साथ अपने अभिव्यक्त होने के पहले से ही सम्बद्ध था। यदि यह स्वीकार किया जाये कि कार्य अपने उपादानकारण के साथ अपनी अभिव्यक्ति के पूर्व से ही सम्बद्ध था, तब कार्य की अभिव्यक्ति के पूर्व भी सत् को सूक्ष्मरूप से विद्यमान मानना ही होगा। क्योंकि असत् अथवा अविद्यमान के विद्यमान होने का सम्बन्ध उत्पन्न ही नहीं होता।

यदि यह कहें कि कार्य अपनी अभिव्यक्ति के पहले से कारण के साथ सम्बद्ध नहीं था, ऐसी स्थिति में 'यह इसका कार्य है', 'यह इसका कारण है', इस प्रकार के नियम की अनुपपत्ति होती। ऐसी स्थिति में सर्वत्र सर्वकार्य की उत्पत्ति होना असम्भव न होता। जहाँ जब उपादान का नियम है, तब वहाँ कार्य के साथ उसके कारण का जो सम्बन्ध है उसे मानना ही होगा। कार्य को देखकर हम शक्ति का अनुमान करते हैं। सकल वस्तु से जब कार्य निष्पन्न नहीं होता, तब कहा जा सकता है कि जिसमें जिस कार्य-निष्पादन की शक्ति है, योग्यता है, वही उस कार्य का सम्पादन कर सकता है तथा जिस-जिस कार्य के सम्पादन की शक्ति नहीं है, वह उस कार्य का सम्पादन नहीं कर सकता। शक्ति की व्यक्त अवस्था ही कार्य है। अतएव कार्य को शक्ति का आत्मभूत तथा शक्ति को कारण की आत्मभूत कह सकते

हैं। कार्यशक्तिमत्ता ही उपादान कारणत्व है। कार्य की अनागत अवस्था ही शक्ति पदार्थ है। अतः कार्य वास्तव में उपादानकारण से स्वरूपतः भिन्न नहीं है। जब कार्य कारण से भिन्न पदार्थ नहीं है, जब कार्य कारणात्मक है, तब कारण को सत् स्वीकार कर लेने से, कार्य को भी सत् स्वीकार करना होगा। क्योंकि जब कारण सत् है, तब कारण से कार्य अभिन्न होने से सत् ही है। कार्य कदापि कारण से भिन्न नहीं है, इसका प्रमाण क्या है? जो जिससे भिन्न है, वह उसका धर्म नहीं हो सकता। कार्य कारण का धर्म है। अतएव कार्य कारण से कभी भी भिन्न नहीं है।[1]

सत्कार्यवादीगण जिस प्रकार की उक्ति द्वारा सत्कार्यवाद स्थापित करते हैं, उसे संक्षेप में बताया गया। अब असत्कार्यवादी असत्कार्यवाद की स्थापना के लिए जिन युक्तियों का प्रदर्शन करते हैं, उसे श्रवण किया जाये।

असत्कार्यवाद स्थापनार्थ युक्ति—आस्तिक दर्शन में न्याय-वैशेषिक असत्कार्यवादी है। उत्पत्ति के पूर्व उत्पत्तिधर्मक पदार्थ अथवा कार्य विद्यमान नहीं रहता। यही असत्कार्यवाद का आशय प्रतीत हो रहा है। उत्पत्ति के पहले उत्पत्तिधर्मक पदार्थ अथवा कार्य विद्यमान नहीं रहता, इस मत के विरुद्ध जो सब तर्क उत्थापित हो सकते हैं, महर्षि गौतम स्वयं उन तर्कों को स्वयं उठा रहे हैं।

जब कार्यमात्र का उपादान कारण नियत है, जब सकल पदार्थ ही सकल के कारण नहीं हैं, प्रत्येक कार्य के साथ जब उसके उपादानकारण का नित्य सम्बन्ध है, तथापि अविद्यमान वस्तु के साथ विद्यमान वस्तु का सम्बन्ध नहीं हो सकता, जब यही सभी का विश्वास है, तब उत्पत्ति के पूर्व उत्पत्स्यमान (जो उत्पन्न होगा) पदार्थ था ही नहीं, ऐसे सिद्धान्त को सत् सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। उत्पत्ति के पहले उत्पत्तिधर्मक पदार्थ था, तब क्या यह सिद्धान्त न्यायसंगत है? यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घट की उत्पत्ति के पूर्व घट विद्यमान था, कोई भी इसे न्याय सिद्धान्त नहीं कहेगा। उत्पत्तिधर्मक पदार्थ उत्पत्ति के पूर्व था अथवा नहीं था, ये दोनों मत ही युक्ति से सिद्ध नहीं हैं। तब इसका सत् सिद्धान्त क्या है?

महर्षि गौतम कहते हैं कि यह सत् सिद्धान्त है कि उत्पत्ति से पूर्व उत्पत्तिधर्मक पदार्थ नहीं था। उत्पत्ति तथा विनाश का चिन्तन करने से विदित होगा कि अविद्यमान, अनभिव्यक्त अथवा अनुत्पन्न वस्तु की अभिव्यक्त अथवा इन्द्रियग्राह्य अवस्था है उत्पत्ति तथा विद्यमान अभिव्यक्त वस्तु का अदृश्यावस्था में गमन है विनाश। सत् तथा उत्पन्न की पुनरुत्पत्ति नहीं होती। जब हमें उत्पत्ति-विनाश, आविर्भाव-तिरोभाव प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, जब हम घटादि उत्पत्तिधर्मक पदार्थ समूह को उत्पन्न तथा विनष्ट

---

1. ''असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥'' (सांख्यकारिका)
तथा—''असत्वान्नास्ति सम्बन्धः कारकैः सत्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्ति इच्छतो न व्यवस्थितिः॥'' (वही)

होते देखते हैं, तब उत्पत्ति से पूर्व उत्पत्तिधर्मक वस्तु को सत् अथवा उत्पन्न नहीं कहा जा सकता। उत्पत्ति से पहले उत्पत्तिधर्मक वस्तु विद्यमान थी, यदि इसे सत् मानकर स्वीकार करें, तब उत्पत्ति तथा विनाश, इन शब्दद्वय का प्रयोगस्थल ही नहीं रहेगा कि इन्हें कहाँ प्रयोग करें। नित्यस्वरूप चितिशक्ति की जैसे न तो उत्पत्ति है, न विनाश ही है, ऐसे ही यदि कार्य तथा फल को नित्यरूप में स्वीकार करें, तब यह भी (कार्य तथा फल) उत्पत्ति विनाश रहित है, यह मानना ही होगा।

सत्कार्यवादी कहते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व उत्पत्तिधर्मक पदार्थ तथा कार्य को यदि असत् माना जाये, तब सभी वस्तुओं से सभी वस्तु की उत्पत्ति सम्भव मानी जायेगी। ऐसी स्थिति में भिन्न-भिन्न कार्योत्पादनार्थ भिन्न-भिन्न उपादान संग्रह का प्रयोजन ही नहीं रहेगा। महर्षि गौतम इन सब आपत्तियों के खण्डनार्थ कहते हैं कि "कार्यमात्र का उपादान कारण नियत है। सभी वस्तु तो सभी वस्तु का प्रसव ही नहीं कर सकतीं। असत्कार्यवाद में धागा वस्त्र का उपादान है। मृत्तिकादि वस्त्र के उपादान नहीं हैं। इस प्रकार से उपादान नियम की सिद्धि नहीं होती।" सत्कार्यवादियों की इस आपत्ति की कोई युक्ति ही नहीं है। सभी वस्तु सब वस्तु का कारण नहीं हैं। स्वभाव विशेष ही उनका कारण है। 'इस तन्तुसमूह से वस्त्र निर्मित होगा' यह जानकर जुलाहा पट-निर्माण में लग जाता है। वह इस बुद्धि से वस्त्र-निर्माण नहीं करता कि धागा में ही वस्त्र है। यदि जुलाहा को यह विश्वास होता कि धागा में पट (वस्त्र) विद्यमान है, तब उसकी वस्त्र-निर्माण की प्रवृत्ति ही न रहती! कोई भी प्रेक्षावान् सिद्ध अथवा निष्पन्न वस्तु की साधना नहीं करता। अतः यह बुद्धिसिद्ध हो जाता है कि कारण व्यापार के पहले कार्य विद्यमान नहीं रहता।[1]

'अभिव्यक्ति के पूर्व भी कार्य विद्यमान रहता है' इस वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि कार्य अभिव्यक्ति के पहले भी व्यक्तभाव से स्थित है। यह सहज बुद्धिगम्य है कि घट-उत्पत्ति के पूर्व मृत्तिका गर्भ में नहीं था। जो अभिव्यक्त है, वह अभिव्यक्त होने के पूर्व भी विद्यमान था। इसका मर्म यह है कि कार्यमात्र ही अभिव्यक्ति के पूर्व में अपने-अपने कारणगर्भ में शक्तिरूपेण विद्यमान था। अभिव्यक्ति के अभाववशात् कार्य विद्यमान रहने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती।

इसके पश्चात् प्रतिवादीगण प्रश्न करते हैं, "अभिव्यक्ति पूर्व से ही सतरूप थी—अथवा असत्? यदि अभिव्यक्ति पहले से ही सत् होती तब सभी तन्तु से बिना बुने वस्त्रादि (पट) की उपलब्धि हो जाती। जब यह नहीं होता, तब पूर्व से ही अभिव्यक्ति को सत् नहीं कहा जायेगा। सत्कार्यवादी भी अभिव्यक्ति को पूर्व से सत् नहीं कहना चाहते। जो असत् अभिव्यक्ति के पश्चात् उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, वे

---

1. "नासन्नसन्न सदसत्, सदसतोवैधर्मात्॥"—न्यायदर्शन, 4।1।48
तथा "उत्पादव्ययदर्शनात्"—न्यायदर्शन, 4।1।49
तथा "बुद्धिसिद्धस्तु तदसत्"—न्यायदर्शन, 4।1।50

क्यों नहीं असत् कार्यमात्र की उत्पत्ति को स्वीकार करते? असत्—"जो विद्यमान नहीं है, उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।" सत्कार्यवादीगण के सत्कार्यवाद-स्थापनार्थ प्रयुक्त ऐसी युक्तियाँ व्यभिचार स्थल हैं, यह प्रतिपन्न हो जाता है।

उपादाननियम सत्कार्यवाद-स्थापन की अन्यतम युक्ति है। सत्कार्यवाद के सिद्धान्त से प्रधान अथवा प्रकृति विश्वकार्य का उपादान है। 'कार्य' कारणात्मक होता है। वास्तव में कार्य कारण से भिन्न नहीं है। अत: यह कह सकते हैं कि विश्वकार्य प्रकृति से अभिन्न है। जब अखिल कार्य प्रकृति अथवा कारण से अभिन्न है, तब स्वीकार करना होगा कि सभी कार्य से सब कार्यों की उत्पत्ति हो सकती है। इस प्रकार सत्कार्यवाद में उपादन नियम सिद्ध नहीं हो पाता। 'सकल कार्य सर्वात्मक है', जिस वाद का यह सिद्धान्त है, जिस वाद में यही उसका कारण है, इससे भिन्न कारण जिस वाद में उपपन्न नहीं होता, ऐसे उपादान नियम की उपपत्ति दुर्घट है।[1]

सत्कार्यवादी कहते हैं कि कार्यमात्र का उपादान नियत है। जिस किसी उपादान से जिस किसी कार्य की उपपत्ति नहीं होती। जब जिस किसी उपादान से जिस किसी कार्य की उपपत्ति नहीं होती, तब स्वीकार करना होगा कि उपादान के साथ कार्य का सम्बन्ध है। कभी भी अविद्यमान अथवा असत् के साथ विद्यमान सत् का सम्बन्ध नहीं हो सकता। अत: मानना होगा कि कार्य विद्यमान है तथा सत् है। असत्कार्यवादी उसको प्रतिपादित करने की चेष्टा करते हैं जो उपादान नियम सत्कार्यवाद से सिद्ध नहीं होता अर्थात् सत्कार्यवाद में मान्य नहीं है।

सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है कि कार्य अपनी अभिव्यक्ति के पूर्व शक्तिरूपेण विद्यमान था। कार्य की अनागत अवस्था है शक्ति पदार्थ। जिसमें जिस प्रकार के कार्योत्पादन की शक्ति नहीं है, उससे उस प्रकार कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता।

कार्य की निष्पत्ति में अवस्थित तथा आगन्तुकरूपी द्विविध शक्ति प्रयोजनीय है। अवस्थित शक्ति तथा उपादान एक ही पदार्थ है। मृत्तिका है घट की अवस्थित शक्ति, दण्ड-चक्रादि (आलातचक्र) का संयोग उसकी आगन्तुक शक्ति है। सत्कार्य-वादियों ने इन दोनों में से किस शक्ति को कार्यस्वरूप में, कार्य की अनागत अवस्था-रूप में ग्रहण किया है? आगन्तुक शक्ति कार्य का स्वरूप है। यह कार्य से अभिन्न नहीं है। अवस्थित शक्ति को भी कार्य का स्वरूप नहीं कह सकते। यदि अवस्थित शक्ति को कार्य का स्वरूप, कार्य से अभिन्न कहें, तब यह स्वीकार करना होगा कि कार्य से कार्य की उत्पत्ति हो रही है। यह सत्य है कि घट से घट की उत्पत्ति नहीं होती। 'शक्ति से कार्य उत्पन्न होता है' इस वाक्य के तात्पर्य का चिन्तन करने से यह प्रतिपन्न होगा कि शक्ति तथा कार्य एक नहीं है। 'शक्ति से कार्य उत्पन्न

---

1. "अपि च सत्कार्यपक्षे प्रधानोपादानत्वाद्विश्वस्य तस्य चाभेदात् कारणात्मकत्वाच्च कार्यजातस्य सर्वं सर्वात्मकमितीदमिदं नेदमिदानीं नैदमिति नियमो न स्यात् कस्यचित् कुतश्चिद् विवेकहेतोरभावात्"— न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका

होता है' इस प्रकार के वाक्यप्रयोग की सार्थकता क्या है? घट तथा कुल्हड़ इन दोनों में मृत्तिका कारण है। मृत्तिका है अवस्थित शक्ति अथवा उपादान। जब शक्ति तथा कार्य एक ही पदार्थ है, तब वह-वह वस्तु इसी प्रकार से अन्य सब वस्तु के समान है। परस्परतः भी वह समान है। इस स्वतःसिद्ध नियम के अनुसार घट तथा कुल्हड़ को एक ही पदार्थ मानना होगा। यद्यपि वे दोनों एक पदार्थ नहीं हैं, तब उपादान एवं कार्य एक पदार्थ नहीं हो सकते।[1] सत्कार्यवाद तथा असत्कार्यवाद के सम्बन्ध में स्व-स्व मत स्थापक किंचित् संवाद दिया गया। अब यह सुनना है कि सत्कारणवाद का अभिप्राय.क्या है?

सत्कारणवाद का अभिप्राय—कारण सत् तथा कार्य मिथ्या है, यह इस वाद का सिद्धान्त भी है। 'कारण सत् तथा कार्य मिथ्या' इस बात का क्या अर्थ है? 'कारण सत् तथा कार्य मिथ्या' इसका अर्थ जानने के लिए कारण, कार्य, सत्य तथा मिथ्या का अर्थ जानना होगा। कारण तथा कार्यरूपी शब्दद्वय का अर्थ पहले संक्षेप में उक्त हुआ है। अब सत्य तथा मिथ्या का लक्षण जानकर 'कारण सत्' 'कार्य मिथ्या' इस बात का तात्पर्य ज्ञात होगा।

सत्य तथा मिथ्यारूपी शब्दद्वय का व्यवहार सभी करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि इनका कुछ न कुछ ज्ञान मनुष्यमात्र को है। सत्कारणवादी कार्य को मिथ्या कहते हैं, जबकि सत्कार्यवादियों की दृष्टि में कार्य सत्य है। अतः हमको यह जानना होगा कि सत्कारणवादीगण ने किस-किस अर्थ में इन शब्दद्वय को व्यवहृत किया है।

सत्तार्थक—भाववचन—विद्यमान अर्थवाची 'अस्' धातु के उत्तर में 'श' प्रत्यय लगाने से सत् पद सिद्ध हो जाता है। सत् का अर्थ है विद्यमान। जो सत् है अतएव अपरिणामी है वही सत्य भी है। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—जैसे जो निश्चित होता है, यदि वह उसका कभी त्याग न करे, उसका उस रूप का कथन यदि मिथ्या न हो, अन्यथा न हो, तब उसे सत्य कहना होगा।[2] भगवान् शंकराचार्य

---

1. "उत्पत्तौ खलु सिद्धायामुपादानं विचार्यते।
सतस्तु सैव नास्तीति किमुपादन चिन्तया॥"
"सत्कार्यवादे च सुतरानुपादान नियमो दुर्घटः।
सर्वस्य सर्वत्र भावात्"........।
"स शक्तिरेव कार्यमिति वक्तव्यम्। कार्यस्वरूपस्य ततः पृथग्भूतस्य प्रतीत्याव्यवस्थापनात्।
शक्तेश्च कार्यत्वे कार्यादेव कार्योत्पादोऽङ्गीकृतः स्यात्।"—न्यायसिद्धान्तमंजरी
2. "यद्रूपेण यन्निश्चितम् तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्"—तैत्तरीय उपनिषदोक्त 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्य का भाष्य द्रष्टव्य।
विद्वान् हर्बर्ट स्पेन्सर ने सत्य (Reality) का जो लक्षण बताया है उसे कहा जा रहा है—"By reality we mean peristence in consciousness."

सत्य का जो लक्षण कह रहे हैं, व्यक्तिमात्र ही उस लक्षण द्वारा सत्य का निर्वाचन करें। असत्य तथा मिथ्या में से इसी लक्षण द्वारा सत्य को अलग करें। जिज्ञासा होती है कि जिस रूप से जो निश्चित है, यदि उसके उस रूप का कभी अन्यथा, व्यभिचार न हो, वही सत्य है। जब सत्य का यही सार्वभौम लक्षण है, व्यक्तिमात्र ही जब इस लक्षणानुसार असत्य से सत्य को अलग कर लेगा, तब सत्यासत्य निरूपण में लोक में इतना मतभेद क्यों? एक व्यक्ति की दृष्टि में जो सत्य है, उसे अन्य व्यक्ति क्यों मिथ्या कहता है? कोई कार्य को सत्य कहते हैं, जबकि अन्य की दृष्टि में वह मिथ्या है, असत्यरूपेण प्रतीयमान है। इसका कारण क्या है?

सत्यासत्य निर्वाचन में प्रवृत्त होकर सभी सत्य के यथोक्त लक्षण का व्यवहार अवश्य करते हैं, किन्तु इन्द्रियदोष, संस्कारदोष अथवा प्रयोजनभेद के कारण सत्य के उक्त लक्षण का व्यवहार यथायथ भाव से नहीं किया जाता। सबके द्वारा एकरूप लक्षण से सत्य का निर्वाचन करने पर भी, इसके निर्वाचन में अनैक्य रह ही जाता है। यही उसका कारण है।

जो अविनाशी है, अपरिणामी है, जो कभी भी नष्ट नहीं होता, परिवर्तित भी नहीं होता उसे सत्कारणवादी विद्वान् सत् अथवा सत्य कहते हैं। कार्य का सत्यत्व इस लक्षणानुसार प्रतिष्ठित नहीं होता। क्योंकि कार्य परिणामी है। यह कभी रहता है, कभी नहीं भी रहता। कार्य जैसा निश्चित है, बुद्धि का विषयीभूत हो जाता है। इसके उस तद्रूप में व्यभिचार हो जाता है। सत्कारणवाद का कहना है कि कारण ही सत् है। कार्य तो कारण से स्वरूपतः अभिन्न है। यदि कार्य को कारण से पृथक् किया जाये, उस स्थिति में कार्य का नाममात्र ही शेष रहता है, उसकी वास्तविक सत्ता नहीं रहती। घट कार्य है, मृत्तिका कारण है। घट से मृत्तिका को पृथक् कर देने से घट की वास्तविक सत्ता का अभाव हो जाता है। यह स्पष्ट उदाहरण है।[1]

सत्कारणवादीगण सत्य शब्द का जिस अर्थ में व्यवहार करते हैं, उसका किंचित् आभास प्राप्त हो सका। अब मिथ्या शब्द के अर्थ को जानना है। मिथ्या शब्द को लेकर वैदान्तिकों ने अनेक विचार किया है। पंचपादिका में मिथ्या शब्द के 'अपन्हव' तथा 'अनिर्वचनीयता' ये दो अर्थ मिलते हैं। यथा—'मिथ्याशब्दो द्व्यर्थोऽपन्हव वचनोऽनिर्वचनीयतावचनश्च'। वैदान्तिक आचार्यगण ने मिथ्या शब्द का जो विचार किया है, उसे तत्वजिज्ञासु को अवश्य सुनना चाहिए। तथापि स्थानाभाव-वशतः तथा जनसाधारण के लिए श्रुतिकटु (सुनने में कड़वा) होने के कारण यहाँ उन विचारों को स्थान नहीं दिया जा रहा है। जिन्हें यह जानने की प्रवृत्ति

1. ''तदनन्यत्वभारम्भणशब्दादिभ्यः''—वेदान्त दर्शन, 2।1।14
अर्थात् प्रपंच तथा ब्रह्म, कार्य तथा कारण—इन दोनों का अनन्यत्व, अभिन्नत्व अंगीकार करना होगा। श्रुति ने भी इनको अभिन्न कहा है।

हो वे मधुसूदन सरस्वती विरचित अद्वैतसिद्धि नामक ग्रन्थ में 'मिथ्या निरुक्ति' अथवा चित्सुखमुनि रचित 'तत्वप्रदीपिका' के प्रथम परिच्छेद को देखें।

जो सत्य से विविक्त है, उसे ही सत्कारणवादी मिथ्या कहते हैं। इनका सिद्धान्त है कि अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म सर्वकार्य का परम कारण है। कारण ही सत्य है। कारण से व्यतिरिक्त कार्य मिथ्या है।

कार्य की अवस्थिति द्विधा है। स्वरूप में तथा कारणात्मा में कार्य रूप। सत्कारणवाद में कहा है कि कार्य के रूप में अवस्थिति का नाश होने पर भी कारणात्मा में अवस्थिति का नाश नहीं होता। मुद्गर मारने से घट का स्वरूपावस्थान नहीं रह जाता, किन्तु कारणात्मा में (मृत्तिका में) घट की अवस्थिति का अभाव नहीं होता।[1] इसी प्रकार सत्कार्यवादी भी तो यही मानते हैं कि कारणात्मा में अवस्थिति का अभाव नहीं होता, तब दोनों वाद में मतभेद कहाँ है?

कार्य कारणात्मा में सत् है, इसे भी सत्कारणवादी मान्यता देते हैं। इस सम्बन्ध में दोनों वादों में एकता है। सत्कारणवाद कार्य की कार्यरूप स्थिति को परमार्थतः सत्य नहीं कहता। इस वाद के अनुसार कार्य का व्यावहारिक रूप मिथ्या है। इस बिन्दु पर सत्कार्यवादी विरोध करते हैं। जब तक तत्वदर्शन नहीं हो जाता, तब तक कार्यरूप का उच्छेद सम्भव ही नहीं है। इसे सत्कारणवादी भी मानते हैं।[2]

मिथ्या ज्ञान भी द्विविध है। तात्विक तथा प्राधानिक। बालु में रजत ज्ञान, रस्सी में सर्पबोध, विष में अमृत प्रत्यय को प्रसिद्ध मिथ्या ज्ञान कहा है। जिस तरह से जो निश्चित है, उसका यदि किसी देश-काल में व्यभिचार न हो, तब वह सत्य है। यदि उसके उस रूप में व्यभिचार हो, तब वह मिथ्या है। इन्द्रिय दोष अथवा भ्रम के कारण बालुका में हो रहा रजताभास अत्यल्प परीक्षा से ही समाप्त हो जाता है कि यह बालुका है, रजत (चाँदी) नहीं है। इसी कारण इनको प्राधानिक मिथ्याज्ञान कहते हैं। तात्विक मिथ्या का निर्णय इस व्यावहारिक बुद्धि द्वारा नहीं हो सकता। तात्विक मिथ्याज्ञान ही हमारे लिए सत्य ज्ञान है, इसके द्वारा ही प्राधानिक मिथ्या ज्ञान को हम मिथ्याज्ञान रूप से अवधारित करते हैं। तात्विक मिथ्या ज्ञान ही संसार में वैज्ञानिक तथ्य अथवा प्रमाणसिद्ध सत्यरूप में आदृत होता है।[3] जब तक पारमार्थिक सत्य तथा ब्रह्मज्ञान का विकास नहीं हो जाता, तब तक तात्विक मिथ्याज्ञान का मिथ्याज्ञान होने पर भी भ्रम से सत्यज्ञानरूपेण विवेचित होना कोई आश्चर्य नहीं है।

---

1. "अवस्थितिश्च द्वेधा स्वरूपेण कारणात्मना च सत्कार्यवादाभ्युपगम्य"—अद्वैतसिद्धि
2. "तथाच सर्वदा व्यवहारकाले कार्यस्य तादात्म्यापन्नं किञ्चित् कार्यरूपमस्ति तत्वदर्शनं बिना तदुच्छेदासम्भवादिति सत्कार्यवादः सांख्यानामिवास्माकमपि परन्त्वस्माकं तद्रूपं मिथ्येति विशेषः।" —अद्वैतसिद्धि टीका
3. विज्ञानभिक्षु ने स्वप्रणीत 'सांख्य प्रवचन भाष्य' में आस्तिक षड्दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शन के लिए जो कहा है उसे स्मरण करना होगा।

पारमार्थिक सत्यज्ञान का विकास न होने तक ज्ञानपिपासा शान्त नहीं हो सकती। तब तक मानव भी कृतकृत्य नहीं हो सकता। इसी कारण करुणार्द्र हृदय महर्षिगण ने प्रथमतः प्राधानिक मिथ्याज्ञान के अपनोदन का उपाय निर्देशित किया है, तदनन्तर तात्विक मिथ्याज्ञान के मिथ्यात्व को समझने के पथ का प्रदर्शन भी किया है। तात्विक रूप से यह मिथ्यात्व ही महासंकट है। आस्तिक षड्दर्शन तो आत्मदर्शन का चक्षुः है। हम जिसे षड्दर्शन कहते हैं, वह वास्तव में षड्दर्शन नहीं है। ये परस्पर-विरोधी छ चक्षुः नहीं है। दर्शन एक है, तब भी आन्तर-बाह्य अथवा स्थूलसूक्ष्म अवस्थाभेद से इसके छः विभाग हैं। षड्संख्यक स्तर मात्र हैं। आरम्भवाद, परिणामवाद, तथा विवर्त्तवाद अथवा असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद और सत्कारणवाद, ये द्वारद्वारिभावेन सम्बद्ध उर्ध्वोध:क्रमेण स्थापित सत्यप्रासाद के लिए सोपान पर्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। (अर्थात् सत्यरूपी महल में जाने की सीढ़ियाँ हैं)। कोई भी सोपान बिना प्रयोजन नहीं है, सभी की कार्यकारिता है। नीचे की सीढ़ी तथा ऊपर की सीढ़ी अलग होने पर भी जैसे परस्परतः संश्लिष्ट है, नीचे के सोपान पर चढ़े बिना जैसे ऊपर के सोपान पर नहीं पहुँचा जा सकता, उसी तरह कोई भी ऊपर अंकित वाद निष्प्रयोजनीय नहीं है। इन सबकी कार्यकारिता है। आपातदृष्टि से ये परस्परतः भिन्न हैं, तथापि वस्तुतः अभिन्न हैं। आरम्भवादरूपी सोपान पर आरोहण किये बिना परिणामवाद के सोपान पर नहीं जाया जा सकता। इसी प्रकार परिणामवाद पर आरोहण किये बिना विवर्त्तवाद सोपान पर जा सकना असम्भव है। संक्षेप शारीरिक ग्रन्थ में श्रीसर्वज्ञमुनि ने ऋषियों के मतभेद का कारण बतलाते हुए ऐसा कहा है। परिणामवाद व्यवस्थित (Established) होने पर विवर्त्तवाद स्वंय आ जाता है। विवर्त्तवाद का सोपानपर्व स्वतः दृष्टिपथ का पथिक होने लगता है।[1]

द्वैतवाद तथा अद्वैतवाद की बातें बहुत सुनाई देती हैं। अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने के लिए यह सिद्ध करना पड़ता है कि द्वैतवाद मिथ्या है। द्वैतवाद के परमार्थतः मिथ्यात्व को प्रमाणित करने के लिए कार्य के मिथ्यात्व का प्रमाण उपस्थित करना होगा। यह बतलाना होगा कि दृश्य का पृथक् अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व वास्तव में सत्य नहीं है। इसीलिए सत्कारणवाद में कार्य के कार्यरूप के मिथ्यात्व का, कार्य-कारण में अनन्यत्व का, अभिन्नत्व का प्रमाण प्रदर्शित किया गया है। इन तीनों वाद का सत्कारणवाद, अद्वैतवाद तथा विवर्त्तवाद का अभिप्राय एक ही है।

द्वैतवादी आस्तिक विद्वान् अद्वैतवाद को मुख्यवाद के रूप में मान्यता देते हैं। इसी कारण लोकव्यवहार द्वैतज्ञान द्वारा ही निर्वाहित होता है। अद्वैतज्ञान स्वरूपतः सत्य है, परन्तु सांसारिक व्यक्ति उसकी उपलब्धि में अक्षम है। अविद्या से सम्यक्-

1. "यदानागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुते भागमस्याः"—ऋग्वेदसंहिता, 2।3।21।22

रूपेणबद्ध, संशयात्मक मन के वश में रहकर विचरणशील, वृत्यधीन पुरुष के लिए अद्वैतमार्ग में एकबारगी प्रवेश कर सकना सम्भव नहीं है। तभी सर्वज्ञ ऋषिगण ने द्वैतवाद का समर्थत किया है और द्वैतवाद का स्वरूप प्रदर्शित भी किया है। ऋग्वेद संहिता पाठ से विदित होगा कि इन्द्रिय ज्ञान को विस्मृति सागर में विलीन किये बिना, वृत्यधीन ज्ञान का निरोध किये बिना, ऐन्द्रिक ज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व में विद्यमान ऋत् तथा परमब्रह्म के प्रथमज, प्रथमोत्पन्न आदिभूत ज्ञान का पूर्णभाव से विकास हुए बिना अद्वैतवाद का स्वरूपदर्शन नहीं हो सकता। अतएव द्वैत प्रतिपादन में लगे दर्शन अनर्थक नहीं हैं। अद्वैतज्ञान में ज्ञानी होने के लिए प्रथमतः द्वैतभाव—द्वैतवाद का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

पूर्वरूप का त्याग किये बिना जो असत्य नाना प्रकार से प्रतिभासित है, वह है विवर्त्त तथा पूर्वरूप का परित्याग करके जो नाना आकार में प्रतिभासित है, वह है परिणाम। विवर्त्त के कारण का स्वरूपच्युत नहीं होता, परिणाम में स्वरूपच्युति हो जाती है। परिणाम में जो कारण की स्वरूपच्युति होती है, उसका प्रमाण क्या है? दूध ही दधि का कारण है। जब दधि का पूर्वरूप दुग्धरूप हो जाता है, तब उसमें दुग्धभाव की अवस्थिति का अभाव हो जाता है। दधिरूप में परिणत दुग्ध को पुनः दुग्ध नहीं किया जा सकता। अतएव यह सिद्धान्त है कि परिणाम में कारण की स्वरूपच्युति हो गई।

दुग्ध किस अवस्था में, किन कारण संयोग से दधिरूप लेता है? इस परिणति व्यापार में दुग्ध के उपादान अथवा घटकावयव समूह में कैसा परिवर्तन होता है? दुग्ध के अणुसमूह का नाश नहीं होता, इसे परिणामवादी तथा आरम्भवादी दोनों ही मानते हैं। अम्ल संयोग के कारण दुग्ध दधिरूप धारण करता है। तब दुग्ध के अणुसमूह के सन्निवेश का ही भेद होता है। उनकी आपेक्षिक साम्यावस्था की विच्युति होती है। तथापि अणुसमूह यथावत् रहते हैं। इसलिए कह सकते हैं कि कारण की स्वरूपच्युति परिणाम में नहीं होती। कार्य का ही रूपान्तरण तथा परिवर्तन होता है। दधि का पुनः दुग्धरूप में आनयन साधारण ज्ञान से असम्भव प्रतीत होने पर भी, साधारण शक्ति से साध्य न होने पर भी, विशेष ज्ञान द्वारा सम्भव हो सकता है। शक्तिविशेष पुनः दधि को दुग्धरूप में परिणत कर सकती है। ऐसे अनुमान से यह बोध होता है कि यह गप्प नहीं है। अतः ज्ञान की वृद्धि होने पर आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्त्तवाद, असत्कार्य-वाद, सत्कार्यवाद तथा सत्कारणवाद वास्तव में भिन्न नहीं हैं। इनका सम्मिलन असम्भव नहीं है। एक कार्य में यह सत्य है कि दधि को पुनः दुग्धरूप में नहीं लाया जा सकता। तथापि यह एक अर्थ में मिथ्या भी है। ''जिस रूप में जो निश्चित है, यदि उसके तद्रूप में कभी व्यभिचार न हो, तब उसे सत्य कहा जाता है'' सत्य के इस लक्षणानुसार इसे सत्य तथा मिथ्या, दोनों ही कह सकते हैं। साधारण

लोग दधि को दूध नहीं बना सकते, तभी उनकी उपलब्धि है कि दधि कदापि दूध नहीं बन सकता। साधारण लोग को यह सत्सिद्धान्त लगेगा, किन्तु जो दधि को अपनी शक्ति से दूध बना सकते हैं, वे कहेंगे कि यह असत्य है कि दधि को दूध नहीं बनाया जा सकता। गाढ़रूपेण संश्लिष्ट परमाणुओं को विश्लिष्ट करना ताप का धर्म है। शैत्य का धर्म एतद्विपरीत है। शैत्य से परमाणु परस्परतः संश्लिष्ट होते हैं।

यदि ताप तथा शैत्य, इनके उक्त धर्मद्वय सार्वभौम तथा अव्यभिचारी हैं, तब ताप एवं शैत्य सम्बन्धित एतादृश ज्ञान को सत्य ज्ञान कहा जायेगा, किन्तु प्रश्न उठता है कि ताप तथा शैत्य के उक्त धर्मद्वय क्या सार्वभौम हैं, इसका प्रमाण क्या है? उक्त धर्मद्वय में जो व्यभिचार स्थल है, उसे प्रत्यक्ष नहीं कहना है। अतः प्रसारण ताप का तथा आकुंचन शैत्य का धर्म है। यह ज्ञान सत्य है। जो प्रत्यक्ष सार्वभौम हैं, कोई देश, काल तथा वस्तु जिनके प्रत्यक्ष में बाधा नहीं दे सकती, वे ही मुक्तकण्ठ से कहने में समर्थ हैं कि प्रसारण ताप का तथा आकुंचन शैत्य का सार्वभौम अव्यभिचारी धर्म है। ताप तथा शैत्य के उक्त धर्मद्वय में कोई व्यभिचारी स्थल नहीं है, वे ही इसे निश्चयपूर्वक कह सकते हैं। किन्तु साधारण मनुष्य तो प्रत्यक्ष सार्वभौम नहीं है। अतएव वे ताप तथा शैत्य में व्यभिचार स्थल नहीं हैं, ऐसा बलपूर्वक नहीं कह सकते। हमारा प्रत्यक्ष परिच्छिन्न है। उन्मुक्त नहीं है। इसी कारण हमारे प्रत्यक्ष से सार्वभौम तत्व का रूप निर्धारित नहीं हो सकता। ह्यूम (Hume), कान्ट (Kant) पण्डितों ने अनेकतः ऐसा ही[1] मत प्रकाशन किया है। जो परिच्छिन्न प्रत्यक्ष को सत्यासत्य निर्वाचन के मानदण्ड रूप में ग्रहण करते हैं, उनके मतानुसार जो प्रत्यक्ष प्रमाण का अविरोधी है, वही सत्य है। जो इससे विपरीत है, वह मिथ्या है। वैदान्तिक विद्वान् इसीलिए कहते हैं कि परिच्छिन्न प्रत्यक्ष द्वारा कभी भी सार्वभौम सत्यासत्य निर्वाचित नहीं हो सकता। व्यावहारिक उद्देश्यसिद्धि का उपकारक होने पर भी परिच्छिन्न प्रत्यक्ष सार्वभौम सत्यासत्य के निर्णय का मानदण्ड नहीं है।

विज्ञान ने जिन सभी सत्य का आविष्कार किया है और कर रहा है, वे व्यावहारिक ज्ञान से सत्य होने पर भी पारमार्थिक रूप से सत्य नहीं हैं। वे सदा सर्वत्र अव्यभिचारी भी नहीं हैं। जैसे यह दृश्यजगत् अथवा कार्य व्यवहारतः सत्य होने पर

---

1. "Heat expands, you state a fact which will be as true tomorrow and a thousand years from now as it is today. You state a necessary proposition and a concept properly so-called."
"But what right have I to affirm that this proposition is necessary, universal, true in every instance? Does experience reveal to me all cases, and are there no possible cases, beyond our observation, in which heat does not expands the bodies which it usually expands? Hume is right on this point since. Experience always furnishes only a limited number of cases, it cannot yield necessity and universality."—Weber

भी पारमार्थिक दृष्टिकोण से मिथ्या है। सत्य से विविक्त कार्य असत्य है। सत्कारणवाद परमार्थतः सत्य है, जिसमें कहीं व्यभिचार नहीं है, जो नियत स्थिर है, उसे ही सत्य कहा गया। इसने कार्य को कारण के साथ अभिन्न माना है, अतः इस वाद की दृष्टि में कार्य का कार्यरूप, कार्य की व्यावहारिक अवस्था, कार्य का कारण विविक्त भाव मिथ्यारूप लगेगा, यह निःसन्दिग्ध है। जगत् (कार्य) पारमार्थिक दृष्टि से असत्य होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से सत्य प्रतीत होता है। अतः सत्कार्यवाद का भी प्रयोजन है। यथोक्त विज्ञान की लौकिक प्रयोजनसिद्धि में विशेष उपयोगिता है। चिकित्सा, ज्योतिष, भूततन्त्र (Matter), रसायनतन्त्र प्रभृति विज्ञानशाखा का आश्रय लिये बिना मानव अपने जागतिक जीवन में बाधारहित नहीं हो सकता। जब सत्कारणवाद ने जागतिक व्यावहारिक ज्ञान का उपदेश किया, जगत् की सृष्टि, स्थिति, लयादि परिणामतत्व की व्याख्या की, तब उसे यथाप्रयोजन सत्कार्यवाद के कतिपय सिद्धान्त का व्यवहार करना पड़ा, इसे मानना ही होगा।

पहले कहा गया है कि सत्य का सार्वभौम लक्षण है कि ''जिस रूप में जो निश्चित है, यदि उसके उस रूप में कभी व्यभिचार नहीं होता, तब वह सत्य है'' जब सब ही एक प्रकार लक्षणानुसार सत्यासत्य का निर्वाचन करते हैं, तब सत्यासत्य निर्वाचन में प्रवृत्त लोगों में इतना मतभेद क्यों? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इन्द्रियदोष, संस्कारदोष अथवा प्रयोजनभेदवशात् सत्य के उक्त लक्षण का व्यवहार यथायथभाव से नहीं करा जा सकता। सभी के द्वारा इस लक्षणानुरूप सत्य निर्वाचन करने पर भी सम्बद्ध मत में अनैक्य हो जाता है, यही है इसका कारण। इस उत्तर के तात्पर्य की उपलब्धि करने के लिए प्रथमतः इन्द्रियदोष, संस्कारदोष तथा प्रयोजनभेद के अर्थ को स्मरण करना होगा।

जो धर्मी अथवा द्रव्य ठीक जिस धर्म से युक्त है, उसे ठीक, तद्रूप जानने का नाम है सत्य—यथार्थ ज्ञान। समीचीन अनुभव। इसी को विद्या कहा जाता है। मिथ्याज्ञान तथा अविद्या इससे विपरीत है। जो-जो नहीं है, जिस धर्मी में जो धर्म वस्तुतः नहीं है, उसे उस धर्म से युक्त जानना मिथ्याज्ञान—अविद्या है। जो दुष्ट अथवा व्यभिचारी ज्ञान[1] है, महर्षि कणाद उसे ही अविद्या कहते हैं।

भगवान् प्रशस्तपाद ने बुद्धि, उपलब्धि ज्ञान अथवा प्रत्यय (Knowledge) को विद्या तथा अविद्या (प्रमा-अप्रमा) इन दो भागों में विभक्त किया है। महर्षि कणाद ने मिथ्याज्ञान का कारण बतलाते हुए कहा है कि इन्द्रियदोष तथा संस्कारदोष से मिथ्याज्ञानरूप अविद्या की उत्पत्ति होती है। चक्षुः-कर्णादि इन्द्रियाँ रोग अथवा वार्द्धक्य से दूषित होकर दृश्यमान वस्तुसमूह के प्रकृतरूप को चित्तदर्पण पर प्रतिफलित नहीं कर पाते। अतएव इन्द्रियदोष अयथार्थ ज्ञान अथवा अविद्या का कारण है, यह सिद्ध हो जाता है।

1. ''तदुष्टज्ञानम्''—वैशेषिक दर्शन, 9। 1। 11

इन्द्रियों से विषय का सन्निकर्ष होने पर चित्त में जो-जो रूप प्रतिबिम्ब पतित होता है, उस-उस रूप का प्रतिबिम्ब उसमें लग्न होता है, लग जाता है। प्रत्यक्षीभूत विषयों की अनुपस्थिति में भी हम उन्हें भावित कर पाते हैं, इसका कारण है कि चित्त में उसकी छाप लग जाती है। इन्द्रिय वैकल्य अथवा इन्द्रियों की असम्पूर्णता के दूषित अनुभव ही संस्कारदोष के हेतु हैं। जब प्रत्यक्ष संस्कार का कारण है, तब प्रत्यक्ष के दूषित होने से संस्कार भी दूषित हो जाते हैं। इन्द्रियदोष तथा संस्कारदोष मिथ्याज्ञान के कारण हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु जिज्ञासा होती है कि इंद्रिय विकलता का क्या कारण है? किसी का इन्द्रियग्राम सम्पूर्ण है, किसी का इन्द्रियग्राम अपूर्ण क्यों है? शास्त्र का उपदेश है कि पूर्वकर्म ही इन्द्रिय वैकल्य का हेतु है। इन्द्रियदोष तथा संस्कारदोष तो अपूर्ण अथवा परिच्छिन्न शक्ति का फल है, यह स्वीकार करना होगा। कर्म तथा शक्ति वास्तव में एक ही पदार्थ है। शक्ति की व्यक्तावस्था है कर्म। महर्षि कणाद इन्द्रियदोष तथा संस्कारदोष शब्द से कर्मदोष का ही संकेत देते हैं। परिच्छिन्न शक्ति ही कर्मदोष का कारण है। मित, परिच्छिन्न होते हैं पदार्थ जिसके द्वारा, वही है माया। अत: कहा जा सकता है कि शक्ति माया के द्वारा परिच्छिन्न हो जाती है। जब परिच्छिन्न शक्ति कर्मदोष का कारण है, तब जिसके द्वारा शक्ति परिच्छिन्न होती है, उसे ही कर्मदोष का कारण कहते हैं। शक्ति परिच्छिन्न होती है माया से। इसलिए माया ही कर्मदोष, संस्कारदोष का हेतु है। माया कौन पदार्थ है? अनादि कर्म ही माया है। कर्म त्रिगुणरूपी शक्तित्रय—सत्व, रज, तम: का कार्य है। इसलिए अनादिकर्म तथा सत्व आदि गुणत्रय के कर्म एक ही पदार्थ हैं। पहले दो स्थितियों की चर्चा की गयी है— प्रथम है कार्य के स्वरूप में स्थिति, द्वितीय है कारणात्मा में स्थिति। कार्य के स्वरूप में स्थिति को सामान्यत: कर्म कहा जाता है। कारणात्मा में स्थिति ही शक्ति अथवा कारण शब्द से अभिहित है। शक्ति तथा कर्म माया है। जिसके द्वारा समस्त पदार्थ परिच्छिन्न होते हैं, उसे माया कहा गया है। परिच्छिन्न होना=conditioned। निघण्टु में माया शब्द की यही निरुक्ति मिलती है। 'जिससे सभी पदार्थ परिच्छिन्न होते हैं' इसका अभिप्राय अवगत करने के लिए यह ज्ञातव्य है कि परिच्छिन्नता का स्वरूप क्या है? वैदान्तिक ग्रन्थ अद्वैतसिद्धि में देशत:, कालत: तथा वस्तुत: रूप त्रिविध परिच्छेद का वर्णन मिलता है। किसी एक देश (Space) में विद्यमानत्व को देशत: परिच्छिन्नत्व कहते हैं। किसी काल में (Time) विद्यमानत्व को कालत: परिच्छिन्नत्व कहा गया है। किसी वस्तु के साथ तादात्म्यपन्नत्व का नाम है वस्तुत: परिच्छिन्नत्व। कहा है— "परिच्छिन्नत्वमपि हेतु: तच्च देशत: कालतो वस्तुतश्चेति त्रिविध:" (अद्वैतसिद्धि)

इन तीन देशादि द्वारा ही जब पदार्थ परिच्छिन्न हो जाते हैं, अपिच जिसके द्वारा परिच्छिन्न होते हैं वह है माया। अब देशादि को माया के ही भिन्न-भिन्न रूप में जाना जायेगा। कालपरिच्छेद के अभाव को नित्यत्व, देश परिच्छेद के अभाव को (जब

देश परिच्छेद न हो) विभुत्व तथा वस्तु परिच्छेद के अभाव को पूर्णत्व कहा गया है। अद्वैत सिद्धि में कहते हैं—

"कालपरिच्छेदाभावो नित्यत्वं देशपरिच्छेदाभावो विभुत्वं वस्तु परिच्छेदाभावः पूर्णत्वम्॥"

देश-काल-वस्तु से सब परिच्छिन्न हो जाते हैं। इनकी परिच्छिन्नता के हटते ही नित्यत्व, विभुत्व तथा पूर्णत्व मिल जाता है।

सत्कार्यवाद नित्य-विभु तथा पूर्ण पदार्थ को ही 'ब्रह्म शब्द' से लक्षित करता है। यही है सर्वकार्य का परम कारण। सत्कार्यवाद के दृष्टिकोण से ब्रह्म ही परमार्थतः सत् अथवा सत्य है। जो इस ब्रह्म से विविक्त प्रतीत हो वह असत् है। ब्रह्म ही अपनी माया द्वारा नाना रूप में विवर्तित है। असत्य नाना कृति में प्रतिभासित होता है। वशिष्ठदेव कहते हैं कि आद्यन्त समान वस्तु के स्वरूप के असंस्पर्शि प्रतिभास का नाम है विवर्त्त। कारण, ब्रह्म ही विश्व के आदि हैं, वे ही अन्त हैं। यह जगत् उनसे ही उत्पन्न है, उनमें स्थित है, उनमें ही विलीन हो जायेगा। मध्यावस्था (कार्यावस्था) में जो वैषम्य प्रतिभासित हो रहा है, वह ब्रह्म के स्वरूप को, ब्रह्म के नित्यत्व, विभुत्व तथा पूर्णत्व को स्पर्श (Affect) भी नहीं कर सकता। वह मायिक विजृम्भण तो असत्य अथवा मिथ्या है। तत्वज्ञानोदय होते ही उसका उच्छेद हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे परमार्थततः सत्य, अव्यभिचारी कैसे कहा जायेगा? जब तक तत्वज्ञान का उदय नहीं होता, तब तक कार्य के मिथ्यात्व की उपलब्धि ही नहीं होती। इसीलिए सत्कार्य-वादीगण कार्य को सत् कहते हैं। इसके समर्थक ऋषिगण सर्वज्ञ तथा अभ्रान्त होने पर भी प्रयोजन की प्रेरणा से इस वाद के स्थापनार्थ चेष्टारत रहे हैं। इसीलिए यहाँ यह कथन है कि इन्द्रियदोष, संस्कारदोष अथवा प्रयोजनभेदवशात् सत्य के लक्षणों का व्यवहार व्यापक भाव में नहीं हो सका। ऋषियों ने भी व्यापक भाव से यथोक्त लक्षण का इन्हीं कारण से व्यवहार नहीं किया। अनधिकारी का प्रबोध भी इसमें कारण है।

पहले जिस भाव का अस्तित्व प्रत्यक्ष नहीं होता था, उस भाव का अस्तित्व जब प्रथमतः प्रत्यक्षगोचर होता है, तब हम साधारणतः उसे 'आरम्भ' कहते हैं। आरम्भवाद तथा असत्कार्यवाद समानार्थक हैं। नहीं था, हुआ—यह है आरम्भवाद। इस बात का क्या अर्थ है? स्थूल प्रत्यक्ष द्वारा जिसके अस्तित्व की उपलब्धि नहीं होती, उसे लोग कहते हैं 'नहीं था' अथवा 'असत्'। आरम्भवादी अथवा असत्कार्यवादी तार्किक लोग 'नहीं था' इस शब्द का व्यवहार किस अर्थ में करते हैं? महर्षि कणाद कहते हैं जिसकी क्रिया तथा गुण का व्यपदेश नहीं होता, वह असत् है।[1] उत्पत्ति से पूर्व कार्य की क्रिया तथा गुण का व्यपदेश नहीं होता। अतः

1. "क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत्"—वैशेषिक दर्शन

इसे असत् कहा है। कारणात्मक अवस्थित किसी क्रिया अथवा गुण का व्यपदेश नहीं होता। इसलिए तादृश अवस्था को असत् अर्थात् साधारणतः परिचित सत् से अलग, अन्य प्रकार का सत् कहते हैं। इसीलिए 'उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् था' कहने से प्रकट होता है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य आकाशकुसुम के समान असत् था। उसकी क्रिया तथा गुण का व्यपदेश होता ही नहीं। एक ही वस्तु अवस्था, बुद्धि तथा प्रयोजनभेद से सत् तथा असत् होती है। यह उभयरूप व्यपदिष्ट हो गये हैं। तब आस्तिक असत्कार्यवाद के साथ सत्कार्यवाद का पार्थक्य क्या? आस्तिक असत्कार्यवाद सत्कार्यवाद से वस्तुतः भिन्न पदार्थ नहीं है। आस्तिक सत्कार्यवादी लोग कार्य की अवस्थाद्वय को ही यथाक्रमेण अनागत तथा अतीत शब्द से लक्ष्य करते हैं। असत्कार्यवादीगण उसे ही प्राग्भाव एवं प्रध्वंसाभाव कहते हैं।[1] कार्य के पहले से ही 'सत्' होने पर भी अभिव्यक्ति के अभाव के कारण (Manifistation) वह उपलब्ध नहीं होता। सत्कार्यवादी इस बात को अंगीकार करेंगे। जो अभिव्यक्ति के प्राग्भाव की अभिव्यक्ति के पश्चात् उत्पत्ति मानते हैं, क्या वे एक अर्थ में असत्कार्यवादी नहीं हैं?

घट कार्य है, मृत्तिका है कारण। घट की अभिव्यक्ति के पूर्व में यह मृत्तिका में घटरूपेण विद्यमान नहीं रहता, यह सहज बुद्धिगम्य है। अभिव्यक्ति के पहले यह कारण गर्भ में घटरूपेण विद्यमान रहता है। निश्चय ही सत्कार्यवादी इस बात को नहीं कहते। सूक्ष्मावस्था में विद्यमान अव्यक्तभावेन स्थित कार्यशक्ति का उपादान कारण के निमित्त कारण के साथ संयोग से स्थूलावस्था में प्रकटीकरण को कहते हैं अभिव्यक्ति। कार्यमात्र का दो कारण है—उपादान तथा निमित्त कारण। उपादान तथा निमित्त के भेदाभेद को लेकर असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद तथा सत्कारणवादरूपी वादत्रय में विरोध है। आस्तिक असत्कार्यवाद अथवा न्याय वैशेषिक दर्शन का उपदेश है कि परमाणु विश्वजगत् का उपादान तथा समवायि कारण है तथा ईश्वर-काल-पूर्व कर्म इत्यादि इसके निमित्त कारण हैं। सत्कार्यवाद अथवा सांख्यदर्शन का उपदेश है कि प्रकृति तथा कर्म (धर्माधर्म), प्रकृति के ही कार्य हैं। विकार हैं। सांख्य मत से प्रकृति विकार अहंकार से ही विश्वजगत् की सृष्टि तथा संहार की निष्पत्ति होती है। सांख्यदर्शन कहता है कि अनहंकृत के स्रष्टित्व अथवा नित्य ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण नहीं है। श्रुतिस्मृति सिद्ध ब्रह्मा और रुद्र का सृष्टि एवं संहार कर्तृत्व सांख्य मत से अहंकारोपाधिक है। भले ही अहंकार अन्य का कर्त्ता हो किन्तु यह तो पता चले कि अहंकार का कर्त्ता कौन है? सृष्टि तथा लय के निष्पत्तिकाल में प्रकृति क्षोभक कर्म की अभिव्यक्ति कालविशेष में ही होती है। अनवस्था प्रसंग होने के कारण जैसे

1. "अयमेव हि सत्कार्यवादिनामसत्कार्यवादिभ्यो विशेषो यत् तैरुच्यमानौ प्राग्भावप्रध्वंसी सत्कार्यवादिभिः कार्यस्यानागतातीतावस्थे भाविरूपे प्रोच्यते" —विज्ञानभिक्षु

उनके उद्बोधक कर्मान्तर की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार केवल काल के निमित्त से अहंकाराभिव्यक्ति होती है, इसका भी अन्य कर्त्ता नहीं है।[1]

सांख्यशास्त्र कारणब्रह्म को—पुरुष सामान्य को निर्गुण कहता है, नित्य ईश्वर का अभ्युपगम नहीं कहता। 'कारणब्रह्म' में यहाँ कारण शब्द किस अर्थ में व्यवहृत हुआ है? कारण शब्द यहाँ पर स्वशक्ति प्रकृत्युपाधिक (स्वशक्ति प्रकृति है जिसकी उपाधि) अथवा निमित्त कारण के अर्थ में वाचकरूपेण व्यवहृत हुआ है। सांख्यमतानुसार प्रकृति ही पुरुषार्थ की प्रवर्त्तक है।[2]

अद्वैतवाद का उपदेश है कि ब्रह्म ही विश्वप्रपंच का उपादान कारण है, तथा ब्रह्म ही निमित्त कारण है।[3] अद्वैतवाद स्थापन करते समय निमित्त तथा उपादान का अभिन्नत्व प्रतिपादित करना होगा। भोक्तृ-भोग्य अथवा दृक् और दृश्य (Subject and Object) का भेद वास्तविक नहीं है, इसे प्रमाणित करना होगा, तथा अपरिच्छिन्न—परिच्छिन्न, परप्रकाशत्व (जड़)—स्वप्रकाशत्व (चैतन्य) का विरोधभंजन करना होगा। अर्थात् अद्वैतसिद्धि में भेद (Difference) की असिद्धि (भेदरहितावस्था) का प्रदर्शन आवश्यक है।

छान्दोग्यश्रुति में कहा है कि नाम, रूप, क्रियावत् विकृतरूप से उपलभ्यमान इस जगत् की उत्पत्ति के पहले केवल एक अद्वितीय सन्मात्र था।[4] ऐतरेय आरण्यक में भी कहा है कि सृष्टि के पहले यह दृश्यमान जगत् एक अखण्डैकरस आत्मभाव में विद्यमान था। तब आत्म विलक्षण अन्य कुछ भी नहीं था।[5] छान्दोग्य श्रुति ने यह बताया है कि सृष्टिपूर्व अवस्था में दृश्यमान जगत् केवल सन्मात्र था। इसे बतलाने के लिए अवधारणार्थ 'एव' एवं 'एक और अद्वितीय' इन तीन पद का प्रयोग क्यों किया? केवल अद्वितीय पद से ही इष्टसिद्धि हो जाती, अनर्थक अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग क्यों? इसका उद्देश्य क्या है? अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ-प्रणेता मधुसूदन सरस्वती तथा

---

1. "अहंकारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेईश्वराधीना प्रमाणाभावात्" —सांख्यदर्शन, 6।64
तथा "अदृष्टोद्भूतिवत्" —सांख्यदर्शन, 6।65
2. "अत्र शास्त्रे कारणब्रह्म तु पुरुषसामान्यं निर्गुणमेवेष्यते। ईश्वरानभ्युपगमात्। तत्र च कारणशब्दः स्वशक्तिप्रकृत्युपाधिको वा निमित्तकारणतापरो वा पुरुषार्थस्य प्रकृतिप्रवर्तकत्वादिति मन्तव्यम्"
—सांख्यप्रवचन भाष्य
3. "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" —वेदान्तदर्शन, 1।4।23
अर्थात् विश्वजगत् की प्रकृति तथा ब्रह्म। यहाँ प्रकृति शब्द से उपादान कारण ही लक्षित होता है। ब्रह्म को विश्वजगत् की प्रकृति अथवा उपादान कारण न कहकर श्रुति के वाक्य 'एक को जानने से सबको जान लिया जाता है' इस प्रतिज्ञा से कारण व्यतिरिक्त कार्य मिथ्या है, इस सत्य के प्रतिपादनार्थ प्रदर्शित घटादि में मृद्विकार की मृत्तिका ही सत्य है। इस दृष्टान्त का उपरोध होता है। बाधा होती है।
4. "सदेव सोमोदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" —छान्दोग्यश्रुति
5. "आत्मा वा इदमेकं एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चनमिषत्" —ऐतरेय आरण्यक

सायणाचार्य इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए कहते हैं कि स्वगत, सजातीय तथा विजातीय, लोकप्रसिद्ध इन भेदत्रय के निषेधार्थ श्रुति ने 'एव', 'एक' तथा 'अद्वितीय' इन तीन पद का प्रयोग किया है। इन त्रिविध भेद का स्वरूप क्या है?

एक ही वृक्ष की शाखा, स्कन्ध, पत्र, पुष्प, फल इत्यादि में परस्पर जो भेदज्ञान है, वह स्वगतभेद, दो वृक्षों के मध्य का भेद है। सजातीय भेद तथा वृक्ष और पाषाणादि के बीच जो भेद प्रतीति होती है, वह है विजातीय भेद। श्रुति का कथन है कि सृष्टि के पहले जगत् की अव्याकृत अवस्था में उस अद्वितीय सन्मात्र वस्तु का स्वगत, सजातीय तथा विजातीय, यह त्रिविध भेद बुद्धि का विषय हो जाता है। ईश्वर, जीव, उद्भिज्, स्थावर, जीव एवं जड़ के प्रत्यक्षादि प्रमाण से हम सामान्यतः इन विशिष्ट सत् पदार्थ की उपलब्धि करते हैं।[1] अद्वैतवाद स्थापन करने के लिए उक्त अखण्डैकरस सद्वस्तु के उपलभ्यमान स्वगत, सजातीय एवं विजातीय भेदबुद्धि के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करना होगा।

उपादान तथा निमित्त इन द्विविध कारण का अभिन्नत्व प्रतिपादन न करने से अद्वैतवाद की सिद्धि नहीं होती, यह पहले कहा जा चुका है। अद्वितीय-कूटस्थ-चैतन्यस्वरूप-नित्य तथा अपरिच्छिन्न ब्रह्म के नानारूप से उपलभ्यमान विश्वजगत् का उपादानत्व कैसे सिद्ध होगा? आरम्भवादी न्यायवैशेषिक दर्शन में जिस दृष्टि से परमाणु को विश्वजगत् का उपादान कहा है अथवा परिणामवादी सांख्यदर्शन में जिस दृष्टि से प्रकृति को विश्वकार्य के उपादानरूप से स्वीकार किया गया है, श्रुतिसिद्ध अद्वैतवाद में क्या ब्रह्म को उसी दृष्टि से विश्वजगत् का उपादान कहा गया है, क्या उस दृष्टि से ब्रह्म का उपादानत्व सिद्ध हो जाता है? नहीं, श्रुति प्रतिपादित अद्वैतवाद ने ब्रह्म को आरम्भवादी अथवा परिणामवादीगण की दृष्टि के अनुसार विश्वजगत् का उपादान नहीं बतलाया है। श्रुति प्रतिपादित अद्वैतवाद का अभिप्राय है कि ब्रह्म अविद्या द्वारा आकाशादि प्रपंचरूप से विवर्तित है, श्रुतिप्रसिद्ध अद्वैतवाद आरम्भवाद अथवा परिणामवाद का प्रतिपादक भी नहीं है। इनका प्रतिस्थापक भी नहीं है। वह विवर्त्तवाद का स्थापक है। इनके लक्षण को पहले कहा जा चुका है। तथापि पूज्यपाद प्रकाशानन्द सरस्वती ने अपने द्वारा रचित 'सिद्धान्त लेश संग्रह' नामक ग्रन्थ में इनके सम्बन्ध में जो कहा है उसे श्रवण करना आवश्यक है।

आरम्भवाद के आरम्भ को आरम्भक से अत्यन्त भिन्न कहा गया है। अद्वैतवाद का सिद्धान्त है कि ब्रह्म तथा तद्विवर्त्त विश्वप्रपंच वास्तव में अभिन्न है। अतएव

---

1. "लोके वृक्षादिपदार्थेषु स्वगतः सजातीये विजातिश्चेति त्रिविधा भेदोऽस्ति"—ऐतरेय आरण्यक भाष्य

तथा "वृक्षस्य स्वगतोभेदः यत्रपुष्पफलादिभिः वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादितः तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते एकावधारणद्वैतप्रतिषेधेस्त्रिभिः क्रमादिति स्वगतभेदो नानात्वरूपजीवेश्वरभेदः सजातीय भेदो द्रव्यत्वादिना सजातीयपृथिव्यादिभेदः विजातीयभेदो गुणादिभेदः" —अद्वैतसिद्धि

आरम्भवाद तथा विवर्त्तवाद इन दोनों के भेद को स्पष्टतः उपलब्ध करना है। किन्तु जिज्ञासा होती है कि सांख्याभिमत परिणामवाद में जब परिणाम तथा परिणामी का अभेद माना गया है, तब विवर्त्तवाद के साथ परिणामवाद का जो भेद है, वह कैसे निर्धारित होगा?

विवर्त्त तथा परिणाम के लक्षणगत् भेद से विवर्त्तवाद तथा परिणामवाद के मध्य का भेद निश्चित होता है। उपादानरूपेण गृहीत वस्तु का जो तत्समसत्ताक अन्यथाभाव है, वह है परिणाम। उपादान के असमसत्ताक अन्यथाभाव का नाम है विवर्त्त। समान है सत्ता जिसकी वह है समसत्ताक। अन्यथा पूर्वपेक्षा रूपान्तरभाव, भवन, अवस्थान, अवस्थाविशेष में अवस्थिति 'अन्यथाभाव'। घट है मृत्तिका का समानसत्ताक अन्यथाभाव, मृत्तिका की विशेष अवस्था। समसत्ताक इस विशेषण पद प्रयोग का उद्देश्य क्या है? घट का तन्तु परिणाम नहीं हो सकता (अर्थात् घट तन्तु (धागा) का परिणाम नहीं हो सकता), यह बताना ही उक्त विशेषण पद के प्रयोग का उद्देश्य है। अपरिच्छिन्न का परिच्छिन्न रूप में, स्वप्रकाश का परप्रकाश (जड़रूप) में, नित्य का अनित्यरूप में तथा रज्जु का सर्पभाव में जो प्रतिभास है—वह है उपादान की विषमसत्ताक अवस्थाविशेष का दृष्टान्त। पारमार्थिकी, व्यावहारिकी तथा प्रतिभासिकी इन त्रिविध सत्ता को कोई-कोई स्वीकार करते हैं। ब्रह्मचैतन्य सत्ता है पारमार्थिकी। घटादि प्रपंच की सत्ता है व्यावहारिकी तथा शुक्ति में रजत् भ्रम वाली सत्ता है प्रातिभासिकी। जो इस त्रिविध सत्ता का अनुमोदन करते हैं, उनके लिए प्रकाशानन्द सरस्वती परिणाम तथा विवर्त्त को क्रमशः 'कारण सलक्षण अन्यथा भाव परिणाम' तथा 'कारण विलक्षण अन्यथाभाव विवर्त्त' की संज्ञा प्रदान करते हैं। प्रकृति है जड़ अचेतन। प्रकृति की सलक्षण जड़ अथवा अचेतन महत्तत्वादि अवस्थाविशेष में अवस्थिति को परिणाम कहा गया है। चिन्मय ब्रह्म की जड़ विश्वप्रपंचाकार में स्थिति ही विवर्त्त है।[1] सिद्धान्तलेशसंग्रह ग्रन्थ में विवर्त्त तथा परिणाम के तीन लक्षण कहे गये हैं। दो लक्षणों का संक्षिप्त विवरण कहा गया। अब तृतीय प्रकार के लक्षण का अभिप्राय क्या है, यह देखा जाये!

उपादान कारणरूप से अभिमत वस्तु का जो अभिन्न कार्य है, वह है परिणाम तथा उपादान कारणरूपेण गृहीत वस्तु से कार्य के भेदाभेद दुर्निरुपणीयत्व का नाम है

1. "ब्रह्मणश्च उपादानत्वं अद्वितीयकूटस्थचैतन्यरूपस्य न परमाणुनामिवारम्भकस्वरूपं न च प्रकृतेरिव परिणामित्वरूपं किन्त्वविद्यया वियदादिप्रपञ्चरूपेण विवर्त्तमानत्वलक्षणम्। वस्तुनस्तुत्समसत्ताकोऽन्यथाभावः परिणामः तदसमसत्ताको विवर्त्त इति वा, कारण सलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः तद्विलक्षणो विवर्त्त इति वा" —सिद्धान्तलेशसंग्रह

तथा "ननु ब्रह्मतद्विवर्त्तप्रपञ्चयोरभेदः सिद्धान्तउपेयते। आरम्भवादे तु आरम्भमारन्तकादत्यन्तभिन्नमुपेयत इति आरम्भविवर्त्तयोर्भेदः स्पष्टः। सिद्धान्त इव परिणामवादेऽपि सांख्याद्यभिमते परिणामपरिणामिनोरभेदाभ्युपगमात् विवर्त्त परिणामयोर्भेदः कथमवगन्तव्य इत्याशङ्क्य लक्षणभेदादित्याह" —अच्युतकृष्णानन्द तीर्थ विरचित सिद्धान्तलेशसंग्रह टीका

विवर्त्तत्व।[1] कार्यकारण का वास्तविक भेदाभेद निरूपण दु:साध्य क्यों है? मृत्तिका कारण है, घट है कार्य। तन्तु कारण है, वस्त्र है कार्य। सुवर्ण कारण है, कुण्डल है कार्य। मृत्तिका से घट, तन्तु से पट अथवा सुवर्ण से कुण्डल को भिन्न रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। वे अभिन्न रूप से संश्लिष्ट जो हैं। निम्नोन्नतादियुक्त मृत्तिका के अभाव में घट की, संयोग विशेष से युक्त धागे के अभाव में वस्त्र की उपलब्धि ही नहीं हो सकती। मृत्तिका ही घट है, तन्तु ही पट (वस्त्र) है, सुवर्ण ही कुण्डल है, इस प्रकार समानाधिकरण्य का प्रत्यय होता है। भिन्न वस्तुद्वय में समानाधिकरण्य का प्रत्यय होना कदापि सम्भव नहीं है तथा कारक व्यापार के पहले निमित्त कारण संयोग से मृत्तिकादि के घटादिरूप में परिणत होने के पहले वह घट मृत्तिकादि में (उपादान में) अनभिव्यक्तभावेन शक्तिरूपेण विद्यमान था, इसे स्वीकार करना ही होगा। इसे अस्वीकार करने से मनुष्य की श्रृंगोत्पत्ति के समान घटादि की उपपत्ति की अनुपपत्ति हो जायेगी। तब किसी भी वस्तु से अन्य किसी भी वस्तु की उत्पत्ति हो जाना असम्भव नहीं रहेगा! कार्यरूप से अभिव्यक्त होने के पूर्व कार्यकारण का अभेदत्व सिद्ध हो जाने से बाद में भी उनके अभेद को मानना ही पड़ेगा। कार्यकारण में अभेद दृष्टि वाले सांख्यदर्शन में इस प्रकार की युक्ति द्वारा कार्यकारण की अभिन्नता को प्रतिपादित किया गया है। भेदवादी तार्किक कहते हैं कि कार्यकारण में अभेद नहीं है। कैसे एक ही का कार्यत्व तथा कारणत्व होगा? केवल मृत्तिका से ही (घट के समान) जल रखने का कार्य नहीं हो सकता। घट भी वे कार्य नहीं कर सकता जो मृत्तिका में होते हैं (जैसे बीजवपनादि)। मृत्तिका के समान घट से कभी भी घटोत्पादन नहीं किया जा सकता। कार्य कारणत्व के अभेदत्व को प्रतिपादित करने के लिए अभेदवादियों ने जिन सभी उक्तियों का व्यवहार किया है, भेदवादी उन सभी युक्तियों का खण्डन करके स्वमत स्थापित नहीं कर सके। साथ ही भेदवादियों की सभी उक्तियों का खण्डन भी अभेदवादी नहीं कर सके!

इस कारण कार्यकारण का भेद दुर्दमनीय है। उत्पत्ति के पूर्व जब कार्य को सत् एवं असत् किसी भी रूप में निरूपित नहीं किया जा सकता, कार्यकारण का भेद भी जब दुर्दमनीय है, तब इसके तत्व को असिद्ध ही कहा जायेगा। क्योंकि जो कार्योत्पत्ति के पूर्वकाल में, कार्यकाल (वर्तमान) में, उसके नाशकाल में भी विद्यमान रहता है, वह स्थिर है। अतः कार्य की तुलना में कारण को सत्य कहा जा सकता है। मृत्तिकादि अवान्तर कारण समूह में स्व-स्व कार्य की अपेक्षा सत्यत्व सिद्ध होने पर भी परमार्थतः सत्यत्व सिद्ध नहीं होता। इसलिए ये परम कारण कदापि नहीं हो सकते। ये भी विकार तथा कार्यपदार्थ हैं। जो देशतः, कालतः, वस्तुतः

1. "कारणाभिन्नं कार्यं परिणामः भेदभेदं बिनैव तद्व्यतिरेकेन दुर्वचं कार्यं विवर्त्त इति वा विवर्त्तपरिणामयोर्विवेकः" —सिद्धान्तलेशसंग्रह

परिच्छिन्न हैं, अतः नित्य-विभु तथा पूर्ण नहीं हैं, वे कभी भी परमकारण नहीं हो सकते। ब्रह्म के बिना सभी बाधित हैं, सभी परिच्छिन्न हैं। अतः परमकारण ब्रह्म ही परमार्थतः सत्य है। विकार अथवा कार्य की अनिर्वाच्यता-अनिरूपणीयता के कारण मिथ्यात्व (अनिर्वचनीयता जो मिथ्यात्व का अर्थान्तर है, पूर्व में कहा जा चुका है) होता है। कारण की निर्वाच्यता-निरूपणीयता के कारण सत्यत्व सिद्ध हो जाता है। अतः सत्कारणवाद ही असन्दिग्धवाद है।

अद्वैतवाद ब्रह्म को ही जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण मानता है। अतः जिज्ञासा होती है कि शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है अथवा ईश्वररूप अथवा जीवरूप जगत् का उपादान कारण है? ब्रह्म, जीव तथा ईश्वर नामक प्रबन्ध में इन प्रश्नो का शास्त्रों से जो उत्तर पाया है, उसे दिया जायेगा।

जगत् की सृष्टिविषयक मतसमूह की समालोचना—सत्कारणवाद का अभिप्राय क्या है, ज्ञात हुआ। अब पाश्चात्य पण्डितगण के सृष्टिवाद, क्रमविकासवाद तथा परिणाम एवं विवर्त्तवाद को सप्रमाण करने की चेष्टा की जायेगी, जो शास्त्र व्याख्यात आरम्भवाद, परिणामवाद तथा विवर्त्तवाद का विकृत रूप है।

'विकृतरूप' इस शब्द के व्यवहार में अनेक विरक्त होंगे, यह मुझे ज्ञात है, तथापि विश्वास के विरुद्ध कार्य करना अनुचित है, इसका व्यवहार किया जाता है। शास्त्र व्याख्यात आरम्भवाद, परिणामवाद तथा विवर्त्तवाद के साथ पाश्चात्य विद्वानों के सृष्टिवाद, क्रमविकासवाद तथा परिणाम अथवा विवर्त्तवाद की एकता सर्वांश में नहीं है। तथापि जिन-जिन विषयों में दोनों में अनैक्य है, उन-उन विषय का शास्त्रीय समाधान ही अविकृत तथा उचित एवं युक्तिसंगत है। इसलिए यहाँ 'विकृत रूप' शब्द का व्यवहार किया गया है।

द्वैतवादी तथा एकत्ववादी, प्रतीच्य दार्शनिकों के स्वीकृत इन दो सम्प्रदायों में से एकत्ववाद का जड़ैकत्ववाद (Materialistic Monism) तथा विज्ञानैकत्ववाद (Idealistic Monism) यह द्विविध रूप है। इसके सम्बन्ध में निविष्टभावेन चिन्तन करने से यह उपलब्धि होती है कि पाश्चात्य विज्ञानैकत्ववाद के साथ बौद्धों के विज्ञानवाद का तथा जड़ैकत्ववाद के साथ चार्वाक मत का अनेक सादृश है। माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक भेद से बौद्धदर्शन चतुर्विध है। माध्यमिकगण सर्वशून्यत्ववादी (Nihilists), योगाचारीगण बाह्यशून्यत्ववादी क्षणिकत्ववादी (Subjective Idealists), सौतान्त्रिकगण बाह्यार्थानुमेयत्ववादी (Representationists), वैभाषिकगण बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी (Presentation-ists) हैं। सौतान्त्रिक मत से जैसे पुष्टि से भोजन का, भाषा से देश का, सम्भ्रम द्वारा स्नेहानुमान होता है, उसी प्रकार ज्ञानाकार से ज्ञेय का विषय अनुमित हो जाता है। बाह्यार्थ अनुमानसाध्य है। वैभाषिकों के मतानुसार ग्राह्य एवं अध्यवसेय भेद से बाह्यार्थ द्विविध है। प्रात्यक्षिक वस्तु ही सत्य है। आनुमानिक मिथ्या है। पाश्चात्य विज्ञानवाद

में भी यह भेद पुष्ट होता है। बर्कले (Berkley), फिक्ट (Fichte), शेलिंग (Schelling), हेगेल (Hegel) तथा कान्ट (Kant) इनके मत को जो जानते हैं, वे यह स्वीकार करेंगे कि पाश्चात्य विज्ञानवाद में भी रूपभेद है। बर्कले कहते हैं कि चक्षु आदि इन्द्रियों से जो उपलब्ध होता है, यदि उसे बाह्यार्थ (Matter) कहें, तब मैं तादृश पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हूँ,[1] किन्तु मैं गुणसमूह के अलावा गुणाश्रय अज्ञेय द्रव्य अथवा सत्व के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करूँगा। फिक्ट (Fichte) के विज्ञानवाद को विषयिविज्ञानवाद (Subjective Idealism), शेलिंग (Schelling) के विज्ञानवाद को पूर्णविज्ञानवाद (Absolute Idealism) कहते हैं। श्लेयरमेकर (Schelimermacher) तथा कान्ट (Kant) ने विज्ञानवाद तथा बाह्यार्थसत्तावाद, इन दोनों के सम्मेलन की चेष्टा की है।

विज्ञानवाद का सिद्धान्त है ज्ञान में प्रतिभासमान ज्ञेय भी ज्ञानवत् है। वह ज्ञान से अभिन्न है। ज्ञान सत्य है। ज्ञानातिरिक्त ज्ञेय अनादिवासनाप्राप्ति अलीक पदार्थ है। वैदिक अद्वैतवादी भी कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव आत्मा में ही सबकुछ अध्यस्त है। अतः आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। अतएव बौद्धों के विज्ञानवाद के साथ वैदिक अद्वैतवाद का साम्य है, यह कहना ही होगा। संक्षेप शारीरिक प्रणेता सर्वज्ञमुनि तथा मधुसूदन सरस्वती प्रभृति विद्वान् कहते हैं कि दृश्य अथवा ज्ञेय कदापि ज्ञान से भिन्न नहीं है। दृश्य अथवा ज्ञेय है ज्ञानकल्पित। इतना मात्र कहकर यदि बौद्धों का विज्ञानवाद तथा वैदिक अद्वैतवाद यदि समान है, तब सभी मतों के साथ बौद्धमतों का साम्य है, यह कहना ही पड़ेगा। सौतान्त्रिक तथा वैभाषिक बौद्धगण बाह्यार्थ के अस्तित्व को मानते हैं, अतएव न्यायवैशेषिक दर्शन से सौतान्त्रिक तथा वैभाषिकों के मत का साम्य है। विज्ञानवादी बौद्धों ने प्रदीप का दृष्टान्त प्रदर्शित करके ग्राह्य-ग्राहक तथा ग्रहण की अभिन्नता का सिद्धान्त स्थिर किया है। वैदिक अद्वैतवादी परस्परविरुद्ध कर्तृ-करण-क्रिया तथा कर्म अभेद सम्भव नहीं मानते। 'हम चक्षु से रूप देखते हैं' यह अनुभव लोगों को होता है। एक ही वस्तु में गृहीतृ, ग्राह्य, क्रिया तथा करणत्व कभी भी उपपन्न नहीं होता। प्रदीप द्वारा अन्धकार निवृत्त नहीं होता। यदि तमः न रहे तब प्रदीप की कोई भी कार्यकारिता ही नहीं रहेगी। वैदिक अद्वैतवाद प्रमातृ, प्रमाण, प्रमेय (विषय) परस्परतः भिन्न इन सभी पदार्थ का अभ्युपगम करता है। अन्तःकरणयुक्त प्रमाता, चक्षु आदि इन्द्रिय (प्रमाण), रूपादिविषय, अवगति—रूपादि आकारा चक्षुरादि इन्द्रियजन्य अन्तःकरण प्रवृत्ति (Perception), इन सब भेद को अद्वैतवाद में अंगीकार किया है। अतः विज्ञानवाद के साथ अद्वैतवाद का साम्य नहीं है। जिज्ञासा होती है कि जब अद्वैतवाद परस्पर प्रविभक्त प्रमातृ-प्रमाणादि प्रपंच स्वीकार करता है, तब आत्मा का निष्प्रपंच अद्वयत्व किस प्रकार से सिद्ध हो सकता है? अद्वैतवाद परस्पर प्रविभक्त प्रमातृ

1. History of Philosophy by Lewes, Volume II, Page 289.

प्रमाणादि को परमात्मसंश्रय (परमात्मा हैं जिसके आश्रय) तमः अथवा अविद्याजनित अज्ञानजनित कहता है। अतएव अद्वैतवाद को इससे कोई क्षति नहीं होगी। विज्ञानवाद के साथ भी इस वाद का कोई साम्य नहीं है। अद्वैतवाद प्रमातृ प्रमाण तथा विषयादि के साथ ज्ञान के भी स्थायित्व को स्वीकार करता है। इसलिए अद्वैतवाद के साथ इस विषय का भी वैसादृश्य है।[1]

ज्ञान (Thought) तथा अर्थ (Matter) इन पदार्थद्वय के स्वरूप का निरूपण करने जाने पर बौद्धगण उभयास्तित्ववादी (ज्ञान तथा अर्थ दोनों ही सत् है इस मत को मानने वाले) हैं। वे ज्ञानमात्रास्तित्ववादी एवं उभयशून्यत्ववादी (ज्ञान तथा अर्थ दोनों ही सत् नहीं है, यह मानने वाले) हैं। परस्परतः विरुद्ध इन तीन सम्प्रदायों में बौद्धगण विभक्त हैं। उभयास्तित्ववादी बौद्धों के मतानुसार गन्ध परमाणुपुंज ही पृथ्वी है, रस परमाणुपुंज ही जल है, रूप परमाणुपुंज तेज है और स्पर्श परमाणुपुंज है वायु। भौतिक स्थावर है, जंगम शरीर है। घट पट सब कुछ ही परमाणुपुंज है। जीव सोपद्रव (बाधित) ज्ञान सन्तान है तथा ईश्वर है निरुपद्रव (अबाधित) ज्ञान सन्तान स्वरूप। बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप दो समुदाय हैं। ये दोनों संघात हैं (External aggregate and internal aggregate)। ये दोनों बौद्धों के मत से मूल पदार्थ हैं। भूत तथा भौतिक पदार्थ हैं बाह्य समुदाय—बाह्य संघात। चित्त तथा चैत्य हैं आभ्यन्तर समुदाय—आभ्यन्तर संघात। ज्ञानमात्रास्तित्ववादी के मत से ज्ञान ही एकमात्र सत्य है। भूत भौतिक पदार्थ मिथ्या है। बौद्धमत षड्विध आस्तिक दर्शन में खण्डित हुआ है। किसी भी आस्तिक दर्शन ने विज्ञानवाद को ग्रहण नहीं किया है न बाह्यार्थ के अस्तित्व का प्रत्याख्यान ही किया है।

वेदान्त दर्शन का कथन है कि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जब पंचभूतात्मक अर्थप्रपंच की उपलब्धि होती है तब इसे असत् नहीं कहा जा सकता। बाह्यार्थ यदि शशक शृंगवत् असत् होता, तब उसकी प्रत्यक्षतः उपलब्धि नहीं होती।[2] अतएव बौद्धमत के साथ अद्वैतवाद का कोई साम्य नहीं है यह कह सकते हैं।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास को पढ़ने से विदित होता है कि विज्ञानमात्रास्तित्व-वाद, अर्थमात्रास्तित्ववाद तथा उभयास्तित्ववाद वहाँ प्रचलित है। विचार आता है कि चार्वाक दर्शन, चतुर्विध बौद्ध दर्शन तथा आर्हत दर्शन (जैन) ये नास्तिक षड्दर्शन ही रूपान्तरित होकर प्रतीच्य दर्शनों के रूप में विकसित हैं। यह

---

1. "ननु मातृमानविषयावगतीरपरस्परं प्रतिविभागवतीः।
उपयन् तदन्तमुनिना सदृशः कथमेष वैदिकमुनिर्भवति॥"
तथा "परमात्मसंश्रयतमोजनितं प्रविभक्तमेवतु परस्परतः।
स्थिरमभ्युपेतमिह नः समये ननु मातृमानविषय प्रभृति।" —संक्षेप शारीरिक
मधुसूदन सरस्वती टीका भी द्रष्टव्य

2. "नाभाव उपलब्धेः" —वेदान्तदर्शन, 2।2।28

सत्य है कि आस्तिक दार्शनिकों में परस्परतः मतभेद है, किन्तु जड़ैकत्ववाद तथा विज्ञानवाद का खण्डन करते समय सभी एकमत हो जाते हैं। पाश्चात्यदर्शन का अनुशीलन करने से आस्तिक प्राच्य दार्शनिक तथा प्रतीच्य दार्शनिक में एक वैलक्षण्य लक्षित होता है। आस्तिक प्राच्य दार्शनिक जिस मत के समर्थन में प्रवृत्त होते हैं, वे यावज्जीवन उसी मत का समर्थन करते रहते हैं। प्रतिपक्ष की युक्तियों से आहत होकर भी स्वमत का त्याग नहीं करते। आज एक प्रकार से, कल अन्य प्रकार से तत्व विवेचना नहीं करते। वे कभी भी स्ववचन विरोध दोष से दूषित नहीं हैं। कई पाश्चात्य दार्शनिक प्रतिपक्ष के युक्तिबल से आहत होकर स्वमत का परित्याग करने के लिए बाध्य हो गये। आज एक बात कल दूसरी बात करने में पाश्चात्य वैज्ञानिक दार्शनिक अत्यन्त अभ्यस्त हैं। इन दोनों दिशाओं के दार्शनिकों के ऐसे वैलक्षण्य का कारण क्या है, इसके सत्यानुसन्धानार्थ तथा तदवधारणार्थ सचेष्ट होना उचित है।

जीव का जन्म ही हमारे लिए मुख्य विषय है। जीव के जन्म सम्बन्ध में हमने शास्त्र तथा पाश्चात्य विद्वानों का जो उपदेश प्राप्त किया है, उसके तात्पर्य का परिग्रह करने के लिए जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में जितने भी मत हैं, उन्हें याद करना उचित है। इसीलिए आरम्भवाद, परिणामवाद तथा विवर्त्तवादरूपी वादत्रय की स्वरूप चिन्तापूर्वक हमें क्या ज्ञात हुआ है तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने विश्वजगत् के सृष्टितत्व की व्याख्या द्वारा जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, उनके साथ शास्त्र का किस अंश में सादृश है और किस अंश में वैसादृश है, अब यह देखना है।

(1) जगत् के वर्तमान क्रम में प्रकृति के जो-जो भावविकार समूह इस समय हमारे ज्ञान के विषयीभूत हो रहे हैं, वे सब अनादिकाल से विद्यमान हैं।

(2) प्रकृति की वर्तमान अवस्था दीर्घकालीन नहीं है। यह किसी पूर्ववर्ती भाव अथवा कारण से उद्भूत नहीं है।

(3) जगत् की वर्तमान अवस्था निर्दिष्ट कालावच्छिन्न अवश्य है, यह अनादिकाल से विद्यमान नहीं है। यह सत्य है। किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार किसी पूर्ववर्ती पर्व अथवा अवस्था से प्रसूत हुई है। यह पूर्ववर्ती पर्व तथा अवस्था भी अपने से पूर्ववर्ती पर्व अथवा अवस्था से जन्मी है। जगत् इस प्रकार की क्रम परम्परा में अभिव्यक्त होकर वर्तमान अवस्था में उपनीत हुआ है। यह अकस्मात् उत्पन्न पदार्थ नहीं है। जगत् के उत्पत्तितत्व का विचार करने में प्रवृत्त होने पर विद्वान् हक्सले के वचन का स्मरण आता है, जिन्होंने इस त्रिविध मत का वर्णन किया है। विद्वान् स्पेन्सर ने त्रिविध वाद का विवरण दिया है, यथा—

(1) स्वतः विद्यमानतावाद (Self Existence)

(2) स्वतः सृष्टिवाद (Self Creation)

(3) बाह्यकारण अथवा ईश्वरकर्तृक सृष्टिवाद (Creation by External Agency)

जगत् की स्वतः विद्यमानता तथा अनादिकाल से विद्यमानता ये वादद्वय वास्तव में समानार्थक हैं। जो जगत् को अनादिकाल से स्थित बतलाते हैं, वे वास्तव में इसके सृष्टत्व को अस्वीकार कर रहे हैं। जिसका आदि तथा अन्त नहीं है, उसे सृष्ट अथवा कार्य पदार्थ नहीं कहा जा सकता। जो सादि है उसी का कारण खोजा जा सकता है। जब जगत् सादि नहीं है, अनादि है, तब इसका कारण हो ही नहीं सकता।

श्रुति-स्मृति दर्शन प्रभृति शास्त्र समूह जगत् को अनादि कहते हैं। भगवान् बादरायण ने शारीरक सूत्र में कहा है कि संसार का अनादित्व श्रुति स्मृत्यादि शास्त्र से तथा युक्ति से सिद्ध हो जाता है। यदि जगत् के अनादित्व को न माना जाये, इसे सादि (Has a Begining) माना जाये, तब इसे अकस्मात् उद्भूत (Result of chance) मानना होगा। इससे मुक्त पुरुषों का पुनः संसार में आगमन तथा अकृत का अभ्यागम, अकृत पुण्य पाप के फलस्वरूप सुख-दुःख प्राप्ति का प्रसंग अनिवार्य हो जायेगा। ऐसी स्थिति में सुख-दुःखादि वैधर्म्य (Inequalities) का कोई हेतु नहीं दिखलाया जा सकता। ऐसी स्थिति में जगत् के उच्चावच भाव बिना निमित्त कहकर सन्तुष्ट होना पड़ेगा।[1]

पक्षान्तर से संसार को बीजांकुरवत् अनादि स्वीकार करने से ये दोष घटित नहीं होते। संसार का अनादित्व युक्ति द्वारा उपपन्न है। वेदादि शास्त्र भी संसार को अनादि कहते हैं। ऋग्वेद संहिता में कहा गया है कि काल के मानदण्ड स्वरूप सूर्य, चन्द्र, सुखमय स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, यह त्रिभुवन की विधाता ने जैसे पूर्वकल्प में सृष्टि की थी, आगामी कल्प में भी वैसी सृष्टि करेंगे।[2] संस्काररूप में अविद्यमान, अत्यन्त असत्, अभिन्न प्रपंच की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सुख-दुःखादि वैषम्य का कारण ईश्वर नहीं है। केवल अविद्या को ही वैषम्य का कारण नहीं कहा जा सकता। एकरूप अविद्या रहने से सृष्टि वैषम्य की उपपत्ति कैसे होगी? भगवान् शंकर स्वामी के अनुसार रागादि (राग-द्वेष-मोह) क्लेश की वासना,[3] संस्कार द्वारा आक्षिप्त धर्मादिलक्षण, कर्मापेक्ष अविद्या, संस्कारवती माया ही सृष्टि विषमता का हेतु है। कर्म के बिना शरीरोत्पत्ति असम्भव है। शरीर के बिना कर्म कैसे होगा? संसार को

1. "उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च"—वेदान्तदर्शन, 2।2।36
"उपपद्यते च संसारस्यानादित्वम्। आदिमत्वे हि संसारस्य अकस्माद्भूते मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूति प्रसङ्गः।"...... शारीरक भाष्य

2. "सूर्यचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्" —ऋग्वेदसंहिता

3. जो पुरुष को दुःख दे, क्लिष्ट करे, उसे क्लेश कहा जाता है। पतंजलिदेव अविद्या, राग, अस्मिता, द्वेष तथा अभिनिवेष को क्लेश दुःख हेतु कहते हैं। अविद्यादि पंचक्लेश स्पन्दमान होकर सत्वादिगुणत्रय के कार्यावरम्भण सामर्थ्य को दृढ़ बलवत्तर करते हैं। जगत्-सर्जन हेतु गुणत्रय के वैषम्यरूप परिणाम निवर्त्तन करते हैं। अव्यक्त, महत् अहंकार, परस्पर कार्यकारण स्त्रोत को उद्भावित करते हैं। परस्पर अनुग्रहाधीन होकर जाति, आयुः तथा भोगलक्षण कर्मविपाक का निष्पादन करते हैं।

अनादि स्वीकार न करने पर कर्म तथा शरीर के परस्पर श्रेयत्व दोष का किसी भी प्रकार से परिहार नहीं होगा। संसार को अनादि मान लेने पर बीजांकुर न्याय द्वारा कर्म तथा शरीर के इतरेतराश्रयत्व प्रसंग की उपपत्ति का कोई दोष नहीं होगा।[1]

पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं कि जगत् की स्वतः विद्यमानता अथवा अनादित्व को स्वीकार करना प्रकारान्तर से इसके सृष्टत्व का प्रतिषेध करने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। अनवच्छिन्न अतीत कालिक सत्ता की उपलब्धि तथा अनवच्छिन्न अतीत काल की उपलब्धि एक बात है। अपरिच्छिन्न अतीत काल की उपलब्धि (Conception of infinite past time) असम्भव है। स्वतः विद्यमानता यद्यपि बुद्धिगम्य (Conceivable) है, तथापि इस स्वतःविद्यमानतावाद द्वारा विश्व की तत्वव्याख्या कुछ भी नहीं हो सकती। इस वाद से जगत् के स्वरूप-निरूपण में कोई भी सहायता नहीं मिलती। वर्तमान काल की विद्यमान कोई वस्तु दो घण्टा पहले थी, क्या इस तथ्य के ज्ञान से उसकी स्वरूप धारणा होगी? अतएव विश्व का स्वतः विद्यमानवाद अनिरूपणीय है और निरूपणीय होने पर भी इसके द्वारा जब जगत् का कोई रहस्य प्रकट नहीं होता, तब यह बाद पूर्णतः अनर्थक है। विद्वान् हर्बर्ट स्पेन्सर इस वाद को नास्तिकवाद (Atheistic Theory) भी कहते हैं।[2]

वेद तथा वेदाश्रित दर्शनादि शास्त्र समूह जगत् को अनादि कहते हैं। अतएव हर्बर्ट स्पेन्सर साहब ने अनादित्ववाद के जो दोष दिखाये हैं, उन सब दोषों का परिहार (यदि सम्भव हो सके) करना कर्त्तव्य है।

विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि संसार को स्वतः विद्यमान अथवा अनादि कहना तथा उसके सृष्टत्व का प्रतिषेध करना एक ही बात है। जो स्वतः विद्यमान है अतः जो अनादि है, जो काल से अवच्छिन्न नहीं है, उसे सृष्ट नहीं कहा जा सकता।

जिसका आदि (Beginning) नहीं है, वह अनादि है। आदि किसे कहते हैं? महाभाष्यकार पतंजलिदेव कहते हैं, पौर्वापर्यात्मक भाव समूह में जिस भाव का पूर्ववर्ती भावान्तर लक्षित नहीं होता जिसका अन्य पूर्वभाव भी नहीं लक्षित होता, किन्तु परभाव लक्षित हो, वह अनादि है।[3] पूर्व भाव को कारण कहा गया है।

---

1. "न चेश्वरो वैषम्यहेतुरित्युक्तम्। न चाविद्या केवला वैषम्यकारणमेकरूपत्वात्। रागादिक्लेश-वासनाक्षिप्तकर्मापेक्ष्य त्वविद्या वैषम्यमयी स्यात्। न च कर्मान्तरेण शरीरं सम्भवति। न च शरीरमन्तरेण कर्मसम्भवतीतितिरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः। अनादित्वे तु बीजाङ्कुर न्यायेनोपपत्तेन कश्चिद्दोषोभवति।" —शारीरिक भाष्य
2. The assertion of self existence is simply an indirect denial of creation. ...Self existence, therefore, necessarily means existence without a beginning. ... To conceive existence through infinite post time implies the conception of a infinite past time which is an impossibility. —First Principle, Page, 31
3. सत्यन्यस्मिन् यस्मात् पूर्वं नास्ति परमस्ति स अदिरित्युच्यते। —महाभाष्य

अतएव जिसका कारण नहीं है, वह है अनादि। जिसका कारण नहीं है, उसका कार्य भी नहीं कह सकते। जो कार्य है, वही सृष्ट है। जो कार्य नहीं है, वह सृष्ट भी नहीं है। यदि जगत् कार्य नहीं है, तब वह सृष्ट तथा कृतक् पदार्थ नहीं है। जो नहीं है, उसे करने के लिए कारक का प्रयोजन होता है। जो नित्यसिद्ध है, उसे कारक के व्यापार की अपेक्षा नहीं होती। सिद्ध को अब साधन क्या? घट यदि अनादि अथवा नित्यसिद्ध है, तब कुम्भकार और आलातचक्र की क्या आवश्यकता? पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं जगत् को अनादि अथवा स्वतः विद्यमान कहना और इसके सृष्टत्व का प्रतिषेध करना एक ही बात है।

शास्त्रपाठ से एक कूटस्थ नित्य है, दूसरा है प्रवाहरूप से नित्य—इन दो नित्यत्व का संवाद मिलता है। महाभाष्यकार भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि वह भी नियत पदवाच्य है, जिसका तत्त्व तद्भावत्व (Essence) नष्ट नहीं होता। जगत् कूटस्थ नित्यतापेक्षा में अनित्य होने पर भी प्रवाह परम्परा में नित्य है। कोई भी वस्तु पूर्णतः ध्वंसप्राप्त नहीं होती। अवस्तु अथवा अभाव से वस्तुसिद्धि, भावोत्पत्ति नहीं हो सकती। हैमिल्टन कहते हैं—"We are unable, on the one hand to conceive nothing becoming something or something becoming nothing"।[1] पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर भी कहते हैं कि भाव तथा अभाव (Something and nothing) को परस्पर सम्बद्ध करना सम्भव नहीं है। इस पूर्व ज्ञान से ही जड़वस्तु (Matter) के अनश्वरत्व की तथा गति तथा कर्म के सन्ततत्व की (बराबर चलते रहने की) अपरिच्छिन्नता (The indestructibility of matter and the continuity of motion) का अनुमान हो जाता है।[2] जो जन्म लेता है, कुछ समय व्यक्तावस्था में रहता है, वृद्धि तथा विपरिणाम को प्राप्त होता है, अपक्षय तथा नाश होता है (नाश = अदर्शन, कारण में लय)। इसे कार्य कहते हैं। जन्मादि षड्विकार को हम कार्य शब्द से पुकारते हैं। जन्मादि छः भाव विकार अविच्छिन्न प्रवाहात्मक हैं। जन्मादि षड्विकार का अविच्छिन्न प्रवाहत्व है संसार का अनादित्व। जगत् की प्रवाह परम्परा में नित्यत्व है बीज से अंकुर, पुनः वृक्ष, वृक्ष से फल, पुनः बीज, पुनः अंकुर, पुनः वृक्ष, पुनः फल, पुनः बीज। कार्यकारण का इस प्रकार बीजांकुर प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है। बीज अंकुर हो जाने पर क्या ध्वंसप्राप्त हो जाता है? क्या अंकुर को विनष्ट बीज का कार्य कहें? विनष्ट बीज से

---

1. "ना वस्तुनो वस्तुसिद्धि" —सांख्य दर्शन, 1।78॥ निवासार्थक वस् धातु के उत्तर में त्वम् प्रत्यय लगाने से वस्तु सिद्ध होता है। जो वास करे, अवस्थान करे, जो सत् है वह है वस्तु। न वस्तु = अवस्तु = अभाव।
2. The indestructibility of matter and the continuity of motion we saw to be really corollaries from impossibility of establishing in thought a relation.

कभी भी अंकुर की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि उससे अंकुरोत्पत्ति होती, तब बीज की यत्नपूर्वक रक्षा करने का प्रयोजन न होता। इसे चूर्णीभूत अथवा दग्ध कर देने से भी अंकुर निकल आता। जब बीज के अवयव निमित्त कारण विशेष के संयोग से प्रादुर्भूतक्रिय (जिस क्रिया से प्रकटित प्रादुर्भूत हुए अभिव्यक्त हुए) होकर पूर्वव्यूह पूर्वसन्निवेश (Molecular arrangements) त्याग करके व्यूहन्तर को प्रस्त हो गये, तब अंकुर की उत्पत्ति होती है। जब तक बीजावयवों की पूर्वव्यूह से वियुक्ति नहीं होती, तब तक अंकुरोत्पत्ति नहीं होती। अत: कार्य में कारण का अभाव नहीं है। अभाव से भावोत्पत्ति नहीं होती।[1] "कार्यकारण की अनादित्व प्रवाह परम्परा में नित्यत्व स्वीकार न करने पर 'अभाव से भावोत्पत्ति होती है' इस मत का आश्रय लेना पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में संसार को अकस्मात् उद्भूत (Result of chance) कहना पड़ेगा।" कार्यमात्र का उपादान नियम है, अभाव से भावोत्पत्ति नहीं होती, कर्मसमूह संस्काररूप से विद्यमान रहते हैं, कर्म का नाश नहीं होता, ये सभी सत्य विज्ञान अथवा दर्शन के आलम्बन हैं। यदि इनके सत्यत्व को न स्वीकार किया, तब दर्शन तथा विज्ञान का आविर्भाव असम्भव हो जायेगा।

संसार अनादि है। कारण में लीनता है लय। ध्वंस होना लय का अर्थ नहीं है। जीव जिन कर्मों को करता है, उनका संस्कार जीव के अन्त:करण में लग्न हो जाता है। वेदादि शास्त्र का उपदेश है कि प्रलय में भविष्यत प्रपंच के बीजभूत, पूर्वसृष्टि में किये कर्मसमूह प्रकृति अथवा माया में विलीन हो जाते हैं तथा जीवगण के अन्त:करण में समवेत होकर संस्काररूप में स्थित रह जाते हैं। जब ये बीज फलोन्मुख होते हैं, तब निशावसान पर पुन: प्रकाश होने के समान जगत् पुन: प्रकाशित होता है। जीव जगत् भी सुषुप्ति से उठ कर संस्कारानुरूप कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। शास्त्रोपदिष्ट अनादित्ववाद का यही अभिप्राय है। विद्वान् स्पेन्सर भूत अथवा जड़वस्तु के अनश्वरत्व तथा गति एवं कर्म के सन्तत्व के प्रतिपादन के समय इन सभी युक्ति का आश्रय लेते हैं। किम्बहुना उनकी पुस्तक का अनेकांश शास्त्र प्रदर्शित युक्ति की ही प्रतिकृति है। वैज्ञानिक विद्वान् ग्रोव यह समझाने के लिए कि गति तथा कर्म का नाश नहीं होता, कहते हैं कि नोदन अथवा अभिघात से उत्पन्न किसी एक सामग्री की गति (Motion) जब अन्य सामग्री के कर्म से बाधित, अवरुद्ध होती है, तब हम उसे स्थिर होते देखते हैं। अत: हमारा साधारणत: विश्वास है कि उसकी गति ध्वंसप्राप्त हो गई। यह विश्वास पूर्णत: सत्य नहीं है। विरुद्ध कर्म द्वारा बाधित कर्म तदाश्रय स्थूल द्रव्य के सम्बन्ध में (As regards the motion

---

1. "न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्ते॥"—न्यायदर्शन, 4।3।17

तथा "बीज़ावयवा कुतश्चिन्निमित्तात् प्रादुर्भूत क्रियाः पूर्वव्यूहं जहातिव्यूहान्तरञ्चापद्यन्ते व्यूहान्तरादङ्कुर उत्पद्यते"—वात्स्यायनभाष्य

of the mass) विनष्ट भले ही हो गया, किन्तु वह ध्वंस प्राप्त नहीं है। स्थूल अथवा दृश्यमान अवस्था का त्याग करके अवस्थान्तर ग्रहण कर लेता है। अथवा गतिरूपता को त्याग करके तापाकार में परिणत हो जाता है। कोई कर्म वास्तव में नष्ट नहीं होता, शक्ति का नाश असम्भव है। पण्डित स्पेन्सर ने अविकल ऐसा ही कहा है।[1]

प्रलयकाल में इस प्रकार से जगत् की स्थूल गति अवश्य अवरुद्ध हो जाती है, किन्तु इसके सूक्ष्मभाव का नाश नहीं होता। शक्ति का ध्वंस नहीं होता (The motion is suspended but the force is not annihilated)। पतंजलिदेव कहते हैं धर्मी अथवा वस्तुमात्र शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य धर्म द्वारा अन्वित है। धर्मी के जिस-जिस धर्म ने अपने-अपने व्यापार को समाप्त करके अतीत पन्था में प्रवेश किया है, उसे शान्त धर्म, अनागत तथा भविष्यत् अवस्था का परित्याग करना चाहिए। जो वर्तमान अवस्था में अपना व्यापार सम्पादित कर रहा है, उसे उदित धर्म कहते हैं। जो शक्तिरूपेण अवस्थित है, जो भविष्यत् परिणाम का बीज है, जिसे किसी विशेष नाम द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता, उसे अव्यपदेश्य धर्म कहते हैं। हम जो देखते हैं, वह है धर्मी का उदित धर्म। यही है धर्मी की वर्तमान अवस्था। धर्मी के और दो धर्म हमारी दृष्टि से परे हैं, सूक्ष्मता के कारण वे हैं हमारे लिए अतीन्द्रिय। धर्मी के अतीत अनागतरूपी धर्मद्वय यद्यपि सूक्ष्मत्व के कारण हमारी दृष्टि से इन्द्रियगोचर नहीं हैं, किन्तु इनका अस्तित्व अनुमानसाध्य है। जब असत् का सद्भाव नहीं है, शक्ति का एकबार में ध्वंस होना असम्भव है, तब हम देखते हैं कि वह निश्चय ही अव्यपदेश्य अवस्था में विद्यमान था। धर्मी की शान्त तथा अव्यपदेश्य का अस्तित्व इस प्रकार के अनुमान से सिद्ध हो जाता है। असत् तथा अभाव (Nothing) से भावोत्पत्ति नहीं होती। पण्डित स्पेन्सर यह कहते हैं। इन्होंने कर्म के सन्ततत्व को भी माना है। सत् का नाश नहीं होता, यह भी इनका स्वीकृत विषय है। शास्त्र ने इन सब सत्य की ओर दृष्टि घुमाकर जगत् की

---

1. "It may, however be asked, what becomes of force when motion is arrested or impeded by the counter-motion of another body? This is generally believed to produce rest, or entire distruction of motion and consequent annihilation of force, so indeed it may, as regards the motion of the masses, but a new force; or new character of force, now ensues, the exponent of which instead of visible motion is heat. I veneture to regard the heat which results from friction or percussion as a continuation of the force which was previously associated with a moving body, and which, when this impinges on another body causing to exist as gross palpable motion, continues to exist as heat." —Correlation of Physical Force, page 25

सृष्टि तथा प्रलय परम्परा के अनादित्व का प्रतिपालन किया है। बिना कारण किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। विचित्र कार्य का कारण भी विचित्र है, एक ही तरह के कारण से विचित्र कार्य की उत्पत्ति असम्भव है। संस्काररूप से अविद्यमान का जन्म अथवा असत् का सद्भाव नहीं होता है। संसार में शास्त्र-प्रतिपादित अनादित्ववाद का यही अभिप्राय है। अतएव जिज्ञासा होती है कि पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर संसार के अनादित्ववाद को सर्वथा युक्तियुक्त क्यों नहीं कहते? जगत् को अनादि कहना तथा इसके सृष्टत्व को अस्वीकार करना समान अर्थ है। इन्होंने जो ऐसा मत कहा है, इसका कारण क्या है? जगत् में सृष्टि तथा लय प्रवाहरूप से नित्य है। वर्तमान सृष्टि पूर्व सृष्टि के ही लगभग समान, सदृशी है। यह विद्वान् स्पेन्सर ने माना है।[1] कारण का नाश न होने के कारण कार्य का भी नाश नहीं होता। अतएव जिन्होंने जगत् कार्य को अनश्वर कहा है, जिन्होंने गति तथा कर्म के सन्ततत्व (Continuity) को स्वीकार किया है, भूत तथा भौतिक शक्ति जिनकी दृष्टि में नित्य है, वे जगत् को क्यों अनादि नहीं कहेंगे? अभाव (Nothing) से भावोत्पत्ति तो हो ही नहीं सकती। सत् का भी नाश असम्भव है। स्पेन्सर, हैमिल्टन प्रभृति विद्वानों ने इस शास्त्रोपदेश को शिरोधार्य किया है। अतः संसार के अनादित्ववाद का प्रत्याख्यान करना, इनके लिए सम्भव ही नहीं था। तब भी यहाँ यह अवश्य कहना कि शास्त्र में सृष्टि-प्रलय की परम्परा के अनादित्व का जिस व्यापक रूप से वर्णन है, पाश्चात्य विद्वान् उसी प्रकार के व्यापक भाव से अनादित्व को चित्त में नहीं धारण कर सके। शास्त्रों में वर्णित कर्म के अनादित्व की स्वरूप चिन्तना करने पर उपलब्धि होती है कि इस सम्बन्ध में पाश्चात्य कोविद कुल की चिन्ताशक्ति बाधित हो गयी है। कर्म की शास्त्र चित्रित अनादित्व की छवि इनकी दृष्टि में शुद्ध कल्पना का विजृम्भण मात्र है। निद्रित तथा जागरित अवस्थाद्वय को शास्त्र ने यथाक्रमेण लय तथा सृष्टि का अपरभाव कहा है। सृष्टि तथा लय के स्वरूप को जानने के लिए निद्रा तथा जागरण का स्वरूप चिन्तन ही यथेष्ट है।

चक्षुरादि इन्द्रियों की उपरति का नाम है निद्रा। जिस समय इन्द्रियाँ क्रिया-प्रतिक्रिया से उपरत होती हैं, विश्रान्त हो जाती हैं, उस स्थिति में तमोगुण द्वारा रजः तथा सत्वगुण अभिभूत हो जाता है। यही है निद्राकाल! जाग्रत् से निद्रितावस्था में इतने ही अंश का पार्थक्य है कि उभयावस्था में संस्कार अथवा वासना ठीक से रहती है। सुप्तोत्थित व्यक्ति निद्रित होने के पहले जिस भाव में था, जागरित होते ही उस

---

1. And thus there is suggested the conception of past during which there have been successive evolutions analogous to that which is now going on, and a future during which sucessive other such evolutions may go on-over the same principle but never the same in concrete result. —First Principles, Pg. 537

भाव को व्यक्ति धारण कर लेता है। उसका कोई भी रूप अन्यथा नहीं होता। निद्रा के पहले जो नहीं था, जागने पर वह नहीं होता। सृष्टि तथा लय इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सुषुप्ति को शास्त्र निद्राप्रलय भी कहते हैं।[1] सुषुप्ति में ऐन्द्रिक कार्यों का उपशम हो जाता है, सुप्त संस्कार समूह तथा पूर्व संस्कार समूह उस समय सूक्ष्मभाव से अन्तःकरण में लीन हो जाते हैं। सृष्टितत्व बताते समय ऋग्वेद ने कहा है—"प्रलयकाल में कर्म संस्कार अन्तःकरण में अव्यक्तरूप से रह जाता है।" जगत् का अनादित्ववाद युक्तिसंगत है। पाश्चात्य विद्वानों में जो जगत् को अनादि कहते हैं, (शास्त्र के समान व्यापक भाव से नहीं) उनमें यह देखना है कि जैसे वह जगत् को अनादि कहते हैं, वैसे सृष्टित्व का प्रतिषेध करते हैं अथवा नहीं।

जो है ही, उसकी अब सृष्टि कैसी? जो नहीं है उसे करने का नाम है सृष्टि। जगत् यदि अनादि अथवा स्वतः विद्यमान है, तब उसे सृष्ट पदार्थ नहीं कह सकते। जो सादि है उसी के कारण का अन्वेषण होगा। जब जगत् सादि नहीं है, तब उसका कारण तथा पूर्वभाव हो ही नहीं सकता। कार्य का कारणानुसन्धान करने में प्रवृत्त होने पर मनुष्य का ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास जगने लगता है। अतः जगत् को अनादि तथा स्वतः विद्यमान स्वीकार करने पर ईश्वर के विश्व सृष्टत्व में विश्वास स्थापन का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। पण्डित स्पेन्सर इसीलिए जगत् के अनादित्व को नास्तिकवाद कहते हैं। वेद तथा वेदमूलक दर्शनादिशास्त्र भले ही जगत् को अनादि कहें, किन्तु वे जगदाधार अथवा जगत्प्राण की सत्ता को हटा नहीं देते। जगत् के अनादित्ववाद में भी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने का प्रयोजन है। यह शास्त्र बतलाते हैं। जगत् का अनादित्व प्रतिपादित करते हुए वेद कहते हैं कि काल का मानदण्ड सूर्य, चन्द्र एवं सुखमय स्वर्ग, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा त्रिभुवन को विधाता ने जैसे पूर्वकल्प में सृष्टि किया था, आगामी कल्प में भी उसी प्रकार की कल्पना तथा सृष्टि करते हैं।[2] वेद ने जगत् को अनादि कहा है, विश्वस्रष्टा का अस्तित्व भी माना है, अतएव यह ज्ञातव्य है कि वेद ने किस प्रकार से परस्परतः विरुद्ध मतद्वय का सम्मिलन कर दिखाया है।

'असत् अथवा अविद्यमान का जन्म नहीं होता, कार्यमात्र का कारण है।' 'बिना कारण किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।' इस प्रकार के सिद्धान्त में उपनीत होने की यही युक्ति है। सत्कार्यवादीगण जगत् तथा कार्य को सत् कहते हैं, पूर्व से ही विदित है कि यही उसका कारण है। सत्कारणवाद ने भी सत्कार्यवाद में

---

1. "तत्र नित्य प्रलयः सुषुप्तिः तस्याः सकलकार्य प्रलयरूपत्वात् धर्माधर्म पूर्वसंस्काराणाञ्च तदा कारणात्मन्यवस्थानं तेन सुप्तोत्थितस्य न सुखदुःखाद्यनुपपत्तिः न वा स्मरणानुपपत्तिः"

—वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ

2. ऋग्वेदसंहिता, 8।8।48

प्रदर्शित युक्तियों का आदर किया है। असत्कार्यवाद कार्य की उत्पत्ति के पूर्व सत् की सत्ता मानने से अनिच्छुक है। इसीलिए विद्वान् स्पेन्सर ने कहा कि जगत् को अनादि कहना तथा इसके सृष्टत्व का प्रतिषेध करना समान बात है। सत्कार्यवादी कार्य की अभिव्यक्ति के पूर्व भी सत् को सत्य कहते हैं, किन्तु उसे स्थूलरूप से व्यक्तभावेन सत् नहीं कहते। इनके सिद्धान्त से प्राकृतिक वस्तु मात्र ही अव्यक्त (सूक्ष्म अतीत अनागत) अवस्था से व्यक्त (सूक्ष्म वर्तमान) में तथा व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था में गमनागमन करती रहती हैं। धर्मी के धर्म का ही परिवर्तन होता है, धर्मी के धर्म में ही परिवर्तन होता है, धर्मी में विद्यमान धर्म में ही अतीत, अनागत तथा वर्तमान में परिवर्तन होता है, किन्तु द्रव्य तथा शक्ति का अन्यथाभाव नहीं होता। अतीत तथा अनागत भी स्वरूपतः सत् है। सूक्ष्मभाव से विद्यमान है। सूक्ष्मभाव से विद्यमान इसका अर्थ क्या है? घट कार्य है, मृत्तिका कारण है, स्थूल कार्य है तथा सूक्ष्म कारण है, यह शास्त्र में समानार्थ में व्यवहृत होता है। मृत्तिका तो घट की सूक्ष्मावस्था है अतः कारणात्मा में शक्तिरूप से विद्यमान तथा सूक्ष्मभाव से विद्यमान एक ही बात है। आस्तिक असत्कार्यवादीगण कहते हैं कि उपादान कारणात्मा में सूक्ष्मभाव से विद्यमान रहता है। वे यह स्वीकार करते हैं कि कारण सत् तथा नित्य है। परमाणु नित्य पदार्थ है। उसका ध्वंस नहीं होता। यह भी उनका अभिमत है। परमाणुसमूह की जाति, संख्या तथा सन्निवेशगत भेद ही इस मत में विविध विचित्र कार्योत्पत्ति का हेतु है। परमाणुसमूह भिन्न-भिन्न संख्या में पृथक्-पृथक् भाव से सन्निवेशित होते हैं, क्या ऐसा निष्कारण है? क्या ये काकतालीय न्याय से भिन्न-भिन्न संख्या में पृथक्-पृथक् भाव से सन्निवेशित होते हैं? आस्तिक असत्कार्यवाद का उत्तर है 'ऐसा नहीं होता' अनादि पूर्वकर्म अथवा अदृष्ट इन परमाणुओं को भिन्न-भिन्न संख्या में पृथक्-पृथक् भाव में सन्निवेशित करता है। अतएव विदित होता है कि आस्तिक असत्कार्यवादीगण कर्म अथवा अदृष्ट एवं परमाणु को सत् कहते हैं। सत्कार्यवादीगण का क्या सिद्धान्त है? सत्कार्यवादीगण भी कर्म के अनादित्व तथा प्रकृति के नित्यत्व को मानते हैं। कर्मवैचित्र्य ही हेतु है सृष्टि वैचित्र्य का। सांख्य मत से प्रकृति तथा अनादि कर्म संस्कार सृष्टि के कारण हैं। प्रकृति है उपादान कारण तथा अनादि कर्म का आकर्षण है निमित्त कारण![1]

सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था में आनयन है सृष्टि। स्थूलावस्था से सूक्ष्मावस्था में गमन का नाम है लय। जगत् अनादि होने पर भी चिरकाल तक एकभाव में नहीं रहता। रह भी नहीं सकता। अतः जगत् को अनादि मानने से इसका यथोक्त लक्षण सृष्टिवाद बाधित क्यों होगा? एक निविष्ट चित्त से चिन्तन करने से ज्ञात होता है कि आस्तिक असत्कार्यवाद के साथ सत्कार्यवाद का इस सम्बन्ध में मूलतः विरोध नहीं

1. "कर्माकृष्टेनादि"—सांख्यदर्शन

है। असत्कार्यवादीगण नित्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। जड़ प्रकृति तथा कर्म विश्वजगत् की सृष्टि स्थिति लय के कारण नहीं हो सकते। आस्तिक असत्कार्यवाद तथा सत्कार्यवाद के पारस्परिक विरोध का यही मूल कारण है। सत्कार्यवादी सांख्यदर्शन का मत है कि जैसे दुग्ध बिना चेतन प्रयत्न के अपने आप दही बन जाता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति चेतन की प्रेरणा के बिना स्वयं महत्तत्वादि रूप में परिणत हो जाती है।[1] आस्तिक असत्कार्यवादी लोगों का सिद्धान्त है कि कार्यमात्र ही चेतनकर्तृक है। चेतन के प्रणोदन के बिना अचेतन स्वयं प्रेरित होकर कोई भी कर्म नहीं कर सकता। अदृष्ट अथवा पूर्वकर्म सृष्टि कार्य में सहकारी कारण होने पर भी प्रयोजक कारण नहीं है। क्योंकि अदृष्ट अथवा पूर्वकर्म भी जड़ पदार्थ हैं। अचेतन उपादान तथा कार्यशक्ति विद्यमान रहने पर भी उसे यथाकाल यथायोग्य कर्म हेतु प्रेरणा देना चेतन का कार्य है। अचेतन तथा जड़ दुग्ध बिना पुरुष प्रयत्न के दधिरूप में परिणत हो जाता है। जल भी स्वतः प्रवृत्त होकर ढाल की ओर प्रधावित होता है। उर्ध्व में फेंकी गयी छड़ी स्वतः प्रेरित होकर भूमि पर प्रत्यागमन करता है। शीतऋतु व्यतीत होने पर वसन्त का आगमन होता है। वसन्त व्यतीत हो जाने पर ग्रीष्माविर्भाव स्वाभाविक है। कण्टक की तीक्ष्णता, धातुओं की विचित्रता स्वभावतः होती रहती है एक हाथ में एक काँच का टुकड़ा रखे, दूसरे हाथ से एक शुष्क पट्टवस्त्र से उसका घर्षण करे। घर्षण के उपरान्त विदित होगा कि काचदण्डी छोटे कण इत्यादि छोटे कागज प्रभृति लघु द्रव्यों को आकर्षण करके खींच रही है। अचेतन चुम्बक लौह को खींच लेता है। अचेतन जलवाष्प मेघरूप में परिणत हो जाता है। अतः इस बात पर कौन भरोसा करेगा कि अचेतन तथा जड़ का कर्तृत्व नहीं है। स्वयं प्रेरित होकर ये सब कोई कार्य सम्पादन नहीं कर सकते। ईश्वरवादी इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रकृति अथवा परमाणुसमूह कर्म में प्रवृत्त होते हैं। ईश्वर की प्रेरणा ही इसमें कारण है। ये खुद कोई कर्म नहीं कर सकते। इसका प्रमाण क्या है? जड़ द्वारा स्वयं प्रेरित होकर किसी कर्म को करने का दृष्टान्त जैसे सुलभ है क्या उसी प्रकार यह दृष्टान्त सुलभ है कि ये चेतन से प्रेरित होकर कर्म करते हैं? ताप संयोग से द्रव्य के अणुसमूह परस्पर विप्रकृष्ट होते हैं और शैत्य संयोग से वे परस्पर सन्निकृष्ट हो जाते हैं, यह हम सर्वदा प्रत्यक्ष करते हैं। किन्तु ताप किसी चेतन से प्रेरित होकर द्रव्य से अणुसमूह को पृथक् करता है अथवा अणुसमूह किसी पुरुषविशेष से प्रेरित होकर ताप से दूरवर्ती तथा शैत्य से निकटवर्ती हो जाते हैं, क्या इसे सप्रमाण प्रत्यक्ष किया जा सकता है?

अचेतन कभी भी चेतन अधिष्ठान के बिना कर्म नहीं कर सकता। इसके प्रतिपादनार्थ दृष्टान्त संग्रह करना दुःसाध्य नहीं है। कतिपय कार्य चेतन द्वारा प्रेरित

---

1. "अचेतनत्वेपि क्षीरवच्चेष्ठितं प्रधानस्य"— सांख्यदर्शन

होकर जड़ करते हैं, उन्हें सप्रमाण प्रस्तुत करना असम्भव नहीं है। मृत्तिका कदापि स्वयं घट नहीं बन जाती। तन्तु कभी भी जुलाहे के प्रयास के बिना वस्त्र नहीं बन सकता। जब ये सब बिना चेतन प्रेरणा के कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकते, तब यह अनुमान करना ही होगा कि प्रकृति अथवा परमाणुसमूह चेतन प्रयत्न के बिना विश्वप्रपंच के आकार में परिणत नहीं हो सकते। आकर्षण तथा विकर्षण (Attraction and Repulsion) परमाणुसमूह का धर्म भले ही हो, ये भी किसी नियामक शक्ति के अधीन रहकर कर्म करते हैं। सत्व-रजः-तमः की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहा जाता है। प्रकृति को नाना स्वभाव कहकर अंगीकार करने पर भी, ईश्वर की नियामक शक्ति के अस्तित्व को मानना होगा। जो कभी होता है, कभी नहीं होता, वह नियामक शक्ति के अधीन है। यह अस्वीकार्य है कि प्रकृति काल के अधीन होकर कार्य करती है। यदि यह अस्वीकार्य है, तब विश्व की सृष्टि ही होती रहती, कभी भी प्रलय नहीं होता। अथवा सदा प्रलय ही रहता, कभी भी सृष्टि न होती। प्रकृति सदा काल के अधीन होकर कार्य करती है, यह सबको स्वीकार्य है। ज्ञानशक्ति से रहित अचेतन प्रकृति को कालज्ञान कैसे हो सकता है? किस काल में उसका क्या कर्तव्य है, किस काल में क्या कर्तव्य नहीं है, इसकी अवधारणा ज्ञानशक्तिरहित प्रकृति से कैसे हो सकती है? अतः यह मानना ही होगा कि प्रकृति से अलग, उससे व्यतिरिक्त ईश्वर नामक कोई पदार्थ है। ईश्वर की प्रेरणा के बिना प्रकृति साम्यवस्था को छोड़कर विषमावस्था नहीं हो सकती। सत्व, रज, तमः गुण अथवा शक्तित्रय इतरेतराश्रयी हैं। जो इतरेतराश्रयी है, वह आपेक्षिक है। ये अन्योन्याभिभववृत्तिक सत्वादि गुणत्रय कदापि स्वतंत्र नहीं हैं। जो परतन्त्र है, अन्योन्याश्रयी है, उनमें से कोई भी स्वतंत्र अथवा मूल कारण नहीं हो सकता। जब ये गुणत्रय आपेक्षिक हैं, तब स्वीकार करना होगा कि कोई स्वतन्त्र पदार्थ इनके मूल में विद्यमान है। बिना स्वाधीन का सहारा लिये पराधीन रह ही नहीं सकता। भगवान् पाणिनिदेव कर्त्ता का लक्षण व्यक्त करते समय कहते हैं कि क्रिया निष्पत्ति में कारक को स्वतन्त्ररूपेण ग्रहण किया जाता है, वह है कर्त्ता।[1]

जिस कार्य का जो आदि उत्पत्ति स्थान है, जो कार्य प्रथम प्रारम्भ होता है, उसे उस कार्य का स्वतन्त्र या प्रधान कारण कहते हैं, यही कर्ता है। कर्ता स्वतंत्र अथवा प्रधान है, इसे कैसे जाना जाता है? महाभाष्यकार पाणिनिदेव कहते हैं कि कर्ता करणादि साधन समूह का प्रवर्तयिता है। कर्ता के प्रवर्तन के बिना ये कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकते। इसी कारण कर्ता को प्रधान अथवा स्वतंत्र कहते हैं।[2] ज्ञान (Knowl-

---

1. "कथं पुनर्ज्ञायते कर्ता प्रधानमिति। यत् सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कर्त्ता प्रवर्तयिता भवति"

—महाभाष्य

2. "स्वतन्त्रःकर्त्ता"—पाणिनि, 1।4।54

edge of proper being), चिकीर्षा (Will or desire to act) तथा प्रयत्न (Violation) के जो आधार हैं, अन्यान्य कारण के जो प्रयोक्ता, प्रवर्तयिता (Which sets in motion all other causes) है, अन्यान्य कारण जिनका नियमवर्ती है, वे ही हैं कर्तृकारक। न्यायमत से मुख्य तथा गौणभेद से कर्तृत्व दो प्रकार का है। कृत्तिमत्व=ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न का मुख्य कर्तृत्व और व्यापाराश्रयत्वादि। (रथ गमन कर रहा है, यहाँ गमन व्यापार का आश्रयत्व ही रथ का कर्तृत्व है)[1] अतएव अचेतन का जो कर्तृत्व है वह मुख्य नहीं है, गौण कर्तृत्व है। स्थाली, काष्ठ, तण्डुल प्रभृति सब रखा है, किन्तु जब तक पाककर्ता नहीं आ जाता और इनको इनकी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कार्य में प्रवर्तित नहीं करता, तब तक कोई कर्म नहीं हो सकता। कर्म मात्र ही ज्ञान-इच्छा तथा प्रयत्नपूर्वक होते हैं। अतः चेतन ही सब कर्म का मुख्य कर्त्ता है। इसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि उपादान कारण सदैव निमित्तकारण का निदेशवर्ती है। श्रुति का कथन है कि 'जो पृथिव्यादि भूतसमूह में अवस्थित है, पृथिव्यादि भूतसमूह जिनके अन्तर में है, पृथिव्यादि भूतसमूह जिनको नहीं जानते, ये जिसके शरीर हैं, जो इनका अन्तर्यामी है, जो इनको यथायोग्य परिणाम में परिणत करते हैं, इस प्रकार से जो प्राण में, कर्मेन्द्रियों में, ज्ञानेन्द्रियों में, मन तथा विज्ञान में अवस्थान करते हैं, प्राण मनःबुद्धि जिनके अन्तर में है, प्राणादि जिसको नहीं जानते, ये जिनके शरीर हैं, जो इनका अन्तर्यामी है, वे ही सत्य है, पूर्ण तथा अमृत हैं'' (बृहदारण्यक उपनिषत् द्रष्टव्य)।

भगवान् बादरायण इसी श्रुति शासनानुसार कहते हैं कि—''ईश्वर ही सर्वकार्य का साक्षात् तथा मुख्य कर्तारूप है। उनके अभिधान तथा ईक्षणवशात् आकाशादि भूतसमूह स्व-स्व विकार की सृष्टि करते हैं, यथायोग्य विविध परिणाम संघटित करते हैं। जो स्थूलदर्शी हैं, जो नास्तिक हैं, वे स्वभावसिद्ध कर्मसमूह को दृष्टान्तरूपेण ग्रहण करके ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्याख्यान करते हैं, अदृष्ट अथवा पूर्वकर्म को अस्वीकार करते हैं।'' वैज्ञानिक विद्वान् ड्रेपर (Draper) कहते हैं— ''मेघ का औज्वल्य अथवा श्यामत्व (Brightness or Blackness) के कारण का हम दृग्विज्ञान की युक्तियों से निरूपण करते हैं। इनके वायुवेग से इतःस्ततः सञ्चलन व्यापार की हम यान्त्रिक व्यापार निष्पत्ति नियम (On mechanical principles) से व्याख्या करते हैं। रासायनिक क्रियातत्व ज्ञान से हम इनके तिरोधान के कारण का निर्वाचन करने का यत्न करते हैं।'' (History of the

---

1. ''कर्तृत्वं चेतकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारक प्रयोक्तृ लक्षणं ज्ञानचिकीर्षा प्रयत्नाधारत्वं''
—सर्वदर्शनसंग्रह

तथा ''क्रियायाः कृतेर्वा समवायित्वम्''—तत्वचिन्तामणि
गंगेशोपाध्याय ने इसके द्वारा गौण तथा मुख्य कर्तृत्व का लक्षण कहा है।

Conflict between Religion & Science, pg. 242-43)

वैज्ञानिक ड्रेपर स्वभावैकशरण नास्तिक हैं। मेघोत्पत्ति, वृष्टिपात प्रभृति दृश्यमान कार्यसमूह अन्य कारण निरपेक्ष जड़ प्राकृतिक शक्ति से होता है, यह इनकी धारणा है। नास्तिक वैज्ञानिकों में से सभी विद्वान् ड्रेपर के ही मतावलम्बी हैं। तर्ककेशरी उदयनाचार्य 'अकस्मात् उत्पत्तिवाद' के खण्डनार्थ प्रवृत्त होकर नास्तिकों से प्रश्न पूछते हैं कि "नास्तिकगण, तुम अकस्मात् शब्द द्वारा क्या यह कहना चाहते हो कि हेतु का अभाव-हेतु का निषेध कोई कारण नहीं है? अथवा भूतिनिषेध— उत्पत्ति का अभाव अपने आप है, उत्पत्ति नहीं है यह कहना चाहते हो अथवा अकस्मात् शब्द अतिरिक्त पारमार्थिक कारण का निषेध करता है? कार्य आत्महेतुक है क्या यह कहना चाहते हो? अथवा कार्य को अनुपाख्य, निर्धर्मक कहना तुम्हारा आशय है अथवा "कार्य का स्वभाव यह है" इस प्रकार के मत प्रकाशार्थ तुमने अकस्मात् शब्द का प्रयोग किया है? इस पाँच प्रकार के विकल्प में जो भी नास्तिकों को अभिप्रेत हो, विमल प्रतिभाशाली उदयनाचार्य की एक ही अमोघ सुतीक्ष्ण युक्ति द्वारा वह खण्डित-विखण्डित हो जायेगा? (अर्थात् जिस प्रश्न के उत्तर में वे हाँ कहेंगे वह उत्तर खण्डित विखण्डित हो जायेगा)।

उदयनाचार्य कहते हैं कि जब कार्यमात्र ही नियतावधिक है, सतत सनियम (Invariable Conditional) है, तब इसे कैसे भी आकस्मिक (Result of chance) नहीं कहा जा सकता। अत: हे अकस्मादुत्पत्तिवादीगण! तुम जिस कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करते हो उस सम्बन्ध में अधिक न कहकर मात्र इतना कहना है कि "कार्योत्पत्ति अवश्य हुई है, किन्तु कार्योत्पत्ति किसी हेतु की अपेक्षा नहीं करती" यह तुम लोगों का मत है। यहाँ मुझे यह पूछना है कि यदि कार्योत्पत्ति किसी हेतु सापेक्ष नहीं होती, तब यह 'कदाचित्' क्यों हो गई? यदि कार्योत्पत्ति में किसी हेतु की आवश्यकता नहीं है, तब यह उत्पत्ति सदैव होती रहती। तब उत्पत्ति की कोई अवधि किंवा कालिक परिच्छेद रहना उचित न होता। ऐसी स्थिति में "इस समय उत्पत्ति हो गयी, इससे पहले नहीं हो सकी" इस प्रकार का कोई कालिक प्रदर्शन ही नहीं किया जा सकता। फलत: कार्य के उत्पत्तिमत्व का धर्म ही असिद्ध हो जायेगा। इसलिए बिना हेतु कार्योत्पत्तिरूप आकस्मिकता सम्भव ही नहीं है। यदि भूति, भवन या उत्पत्ति का नित्यप्रतिषेध किया जाये, अर्थात् 'कभी भी उत्पत्ति नहीं हुई', यदि अकस्मादुत्पत्ति को इस अर्थ में ग्रहण किया जाये, तब तो पूर्व तथा परवर्तिकाल में अथवा वर्तमान काल में भी उत्पत्ति का अभाव सिद्ध हो जायेगा। तथापि मध्यवर्ती एवं वर्तमान में तो कार्य की उत्पत्ति प्रत्यक्षसिद्ध है। इसलिए इस प्रकार के विकल्प में प्रत्यक्ष का विरोध हो जाता है। 'अकस्मादुत्पत्ति' की ऐसी व्याख्या (जो ऊपर की गई है) नितान्त अकिंचित्करी है। कार्य ही यदि कार्य का हेतु

है, यदि कार्य को सात्महेतुक कहा जाये, कार्योत्पत्ति के पूर्व कार्य विद्यमान रहे—ऐसा सिद्धान्त करने पर उत्पत्तिपक्ष के हेतु की सर्वदा विद्यमानता के कारण उत्पत्ति का नियतप्रसंग हो जाता है। किन्तु वह क्या होगा? कार्यकारण भावरूप विकल्प स्वीकार करने से स्वभाव के पौर्वापर्य नियम का (पूर्वभाव कारण, अपरभाव कार्य) व्याघात होता है। इस स्थिति में कार्य को ही कार्य का कारण मानना पड़ेगा। लोक व्यवहार प्रसिद्ध कार्य-कारण भाव का विरोध होगा।

कार्यकारण भाव ही है पौर्वापर्य नियम। एक पदार्थ ही पूर्व एवं वह एक पदार्थ ही अपर नहीं हो सकता। जुलाहा वस्त्रनिर्माणार्थ पहले वस्त्र के कारण तन्तु को जुटाता है। पहले ही वस्त्र नहीं लेता। अतः यह कथन तथा अकस्मात् उत्पत्तिवाद का कथन पूर्णतः सारहीन होने के कारण अग्राह्य है कि कार्य स्वात्म हेतुक है, कार्य ही कार्य का हेतु है। ''कार्य की उत्पत्ति स्वभावतः होती है, कार्योत्पत्ति के लिए अदृष्ट कारण अंगीकार करने का प्रयोजन ही नहीं है'', अदृष्ट प्रतिषेधी नास्तिकगण का यह पंचम विकल्प है जिसे वे अदृष्टवाद का खण्डन करके स्वमतस्थापनार्थ ब्रह्मास्त्र मानते हैं। नास्तिकगण कहते हैं, अग्नि की दाहिकाशक्ति, कण्टक (काँटा) की तीक्ष्णता, जल का शैत्य अकारण ही होता है। जहाँ अग्नि है, वहाँ उसकी दाहिकाशक्ति भी है, कण्टक की तीक्ष्णता स्वयमेव होती है। इसी के कारण इन्हें किसी बाह्यकारण की अपेक्षा नहीं है। उदयनाचार्य ने ऐसे स्वभावैकशरण नास्तिकगण के मत के खण्डनार्थ जिन युक्तियों का प्रयोग किया है, यह विस्तारपूर्वक उनका वर्णन करने का स्थल नहीं है। उनकी विस्तृत विवृत्ति पाठकगण को रुचिकर भी नहीं लगेगी। मैं इसी कारण से यहाँ उनका संक्षेप में परिचय प्रदान करता हूँ।

उदयनाचार्य स्वभाववादी नास्तिकों से प्रथम जिज्ञासा करते हैं कि '' 'स्वभाव' से तुम लोग किस पदार्थ को लक्ष्य करते हो? अग्नि की दाहिकाशक्ति अग्नि का स्वभाव है, क्या इसका यह अभिप्राय है कि 'अग्नि की दाहिकाशक्ति निर्निमित्त तथा बिना कारण है?'' निरवधिकत्व (Unconditionally) अथवा अनियतावधिकत्व (Indefinite conditionality) क्या स्वभाव शब्द का अर्थ है? अथवा 'स्वभाव' शब्दधर्म प्रतिनियताशक्ति (Inherent property aptitude) को समझाने के लिए प्रयुक्त हुआ है?

जो निरवधिक है—निर्हेतुक है, वह बिना कारण, बिना नियम उत्पन्न होता है—वह सर्वदा उत्पन्न क्यों नहीं होता? यदि कहो कि निरवधिक कार्य सर्वदा उत्पन्न न होना ही निरवधिक कार्य का कादाचित्कत्व (कभी होना, कभी न होना, occassionally) स्वभाव है, तब जिज्ञासा होती है कि जो नियत 'कादाचित्कत्व' है, स्वभाव विरहित है यदि वही निरवधिक (Unconditonal) है जिसके निरवधिकत्व तथा कादाचित्कत्व जैसे परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, क्या युगपत (एक

साथ) एक का स्वभाव हो सकेंगे? दाहिकाशक्ति को अग्नि का, शैत्य को जल का निष्कारण धर्म कहने से, अदृष्ट को तो मानना ही पड़ेगा। जो कार्य है, जो जन्मादि विकारयुक्त है, उसे कभी भी निष्कारण नहीं कह सकते। जो अकार्य है, अविकृति है, जो किसी का भी विकार नहीं है, उसे ही निष्कारण संज्ञा दी जा सकती है। रासायनिक आकर्षण, आणविक गुरुत्व, भौतिक वस्तुसमूह का संयोग तथा विभाग तथा एक प्रकार से विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा लय कैसे भी निष्कारण नहीं है। सभी वस्तु, सब वस्तुओं का समभावेन आकर्षण अथवा विकर्षण नहीं करती। क्या वह निर्निमित्त हो सकती है? देशतः, कालतः तथा वस्तुतः परिच्छिन्न पदार्थसमूह को निष्कारण, अकस्मात् उद्भूत अथवा स्वभावसिद्ध कहना युक्तिसंगत नहीं है। कार्य का कारणानुसन्धान ही दार्शनिक एवं वैज्ञानिकों का कर्तव्य है। तत्वदिदिक्षु पुरुषमात्र ही कार्य के कारण का अनुसन्धान करते हैं। इस अनुसन्धान में लगकर भी जो कार्यमात्र के अदृष्ट तथा अलौकिक हेतु को देख नहीं पाते, परमकारण को (यद्यपि उनको पकड़ना असम्भव है—इस धारणा के कारण अथवा अनादि कर्म तथा परमकारण परमेश्वर के अस्तित्व में विश्वास की योग्यता न होने के कारण) पकड़ने की (हृदय में स्थापित करने की) चेष्टा नहीं कर पाते, वे ही कार्य को अकस्मात् उद्भूत, निर्निमित्तक, स्वात्महेतुक, स्वतःविद्यमान अथवा स्वभावसिद्ध मानते हैं।

शुद्ध स्व-स्व प्रतिभामूलक, निरागम (जो आगममूलक नहीं है) तर्क से परमकारण का अनुसन्धान करने से किसी भी अभ्रान्त अथवा स्थिर जैसे सिद्धान्त की प्राप्ति नहीं हो सकती। बाह्य दृष्टि द्वारा अध्यात्म तत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस तत्व का यथायथ भाव में अवलोकन करने के लिए चित्त को अन्तर्मुख करना, एकाग्र करना तथा चित्तवृत्तिसमूह का निरोध करना अत्यावश्यक है। भगवान् बादरायण कहते हैं कि निरागम तो केवल स्व-स्व उत्प्रेक्षामूलक तर्क की प्रतिष्ठा है। अव्यभिचारित्व असम्भव है। एकजन तार्किक अपनी प्रतिभानुसार जिस सिद्धान्त को प्रकट करते हैं, उसमें भी एक अन्य तार्किक जन दोष निकालकर उससे अलग तर्क द्वारा भिन्न रूप सिद्धान्त की स्थापना कर देते हैं। अब एक अन्य तार्किक इन द्वितीय तार्किक के सिद्धान्त को अपने तर्क से काट देते हैं। इस स्थिति में शुद्ध स्व-स्व उत्प्रेक्षामूलक तर्क से स्थिर सिद्धान्त में उपनीत होना असम्भव है। वेदान्त दर्शन में कहते हैं—

"तर्क प्रतिष्ठा नादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः"

(वेदान्त दर्शन, 2।1।11)

व्याप्ति ज्ञान ही अनुमानाख्य तर्क का प्राण है। यही ज्ञान है युक्ति का पूर्व रूप तथा मनुष्य के मन में व्याप्तिज्ञान के अभ्रान्त संस्कार का संकलित होना ही युक्ति का उत्तमरूप है। इन दोनों रूप के एकीभूत होने पर ही यौक्तिक अथवा आनुमानिक ज्ञान पुष्ट होता है। कारण की विकलता से कार्य भी विकल अथवा असम्पूर्ण हो जाता है।

जिनका व्याप्तिज्ञान परिच्छिन्न अथवा दूषित है, उनका यौक्तिक ज्ञान कभी भी अपरिच्छिन्न अथवा अव्यभिचारी नहीं हो सकता। वेदाश्रित आस्तिक दार्शनिकगण इसीलिए वेद के अविरोधी तर्क का ही आदर करते हैं। सामान्य व्याप्तिमूलक तत्व को व्यभिचारी मानकर उसे सत्यज्ञान लाभ के प्रमाणरूप में न मानकर उनका आश्रय नहीं लेते। कार्य के कारणानुसन्धान में प्रवृत्त पुरुषों की स्थूल-सूक्ष्म दृष्टि अथवा विचारशक्ति भेद से जितने भी प्रकार के सिद्धान्त सामान्यतः हैं, श्वेताश्वतर श्रुति ने प्रश्नोत्तर के द्वारा प्रायः उन सभी सिद्धान्तों का उल्लेख करके उनकी मीमांसा की है।

यह परिलक्षित होता है कि काल में भूतसमूह उत्पन्न होते हैं, काल में स्थित होते हैं तथा उसी में विलीन भी हो जाते हैं। काल ही सर्वभूतसमूह के विपरिणाम का हेतु भी है। इसी कारण कोई-कोई काल को ही सृष्टि-स्थिति-लय के कारणरूप में मानते भी हैं। देखा जाता है कि प्रत्येक पदार्थ का स्वभावसिद्ध धर्म है। अग्नि की उष्णता, जल का शैत्य, कण्टक की तीक्ष्णता स्वभावसिद्ध धर्म है। पदार्थसमूह की यही प्रतिनियतशक्ति (स्वभाव) ही किसी के मत से जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय का हेतु है। किसी के मत से अदृष्ट-नियति, पूर्व जन्मार्जित पापपुण्यात्मक कर्म ही जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय का हेतु है। अन्य मतानुसार जगत् अकारण सम्भूत है, आकस्मिक (Result of chance) है। किसी का मत है कि पुरुष अथवा विज्ञानात्मा जगत् की योनि है।

श्वेताश्वतर श्रुति में इसी प्रकार जगत् के कारण विषयक मतसमूह के उल्लेख के अनन्तर सिद्धान्त किया गया है कि परमात्मा की आत्मभूता, परमात्मा से अपृथग्-भूता त्रिगुणमयी प्रकृति अथवा माया ही विश्वजगत् का कारण है। काल-स्वभाव तथा आकाशादि भूत समूह का परमेश्वर ही अधिष्ठाता है। वही इनका नियामक है। ये सभी उसकी आज्ञा के अनुसार कार्य करते हैं। आयुर्वेद ने स्थूलतः स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति तथा परिणामरूप षट्पदार्थ को प्रकृति अथवा कारणरूप माना है। आयुर्वेद ने स्थूलतः व्यावहारिक उद्देश्य से स्वभाव आदि को प्रकृति अथवा कारणरूपेण अवश्य ग्रहण किया है, किन्तु परमार्थतः गुणत्रयात्मिका प्रकृत ही विश्वजगत् का कारण है। यही है आयुर्वेद का वास्तविक अभिप्राय। स्वभाव, काल, नियति तथा परिणाम रूप पदार्थ चतुष्टय प्रकृति परिणाम के विशेष-विशेष धर्म हैं। अतएव ये प्रकृति के ही अन्तर्भूत हैं। स्वभाव, स्वत्वादि गुणत्रय, उसके विकार महत्तत्वादि धर्म, ये सभी प्रकृति-परिणाम ही हैं। नियति भी पूर्वकृत् सत्-असत् कर्मरूपा होने के कारण प्रकृति परिणाम से कदापि भिन्न पदार्थ नहीं है। काल भी प्रकृति परिणाम से अभिन्न है। ईश्वर प्रकृति के क्षोभ हैं तथा स्वभावादि के उद्बोधक हैं। विष्णुपुराण के अनुसार सूक्ष्मविचार द्वारा प्रतीयमान होता है कि पुरुषोत्तम विष्णु हैं क्षोभक। रूपान्तर में वे ही हैं क्षोभ्य। संकोच गुणत्रय की साम्यावस्था है। विकास है गुणक्षोभ। विष्णु ही इन दोनों अवस्था में

प्रधान अथवा प्रकृतिरूपेण विद्यमान हैं। विष्णुपुराण के इस गुर्वर्थ उपदेश का तात्पर्य है कि विश्वजगत् चैतन्यधिष्ठिता त्रिगुणात्मिका प्रकृति का परिणाम है। प्रकृति ही विष्णु की, सर्वव्यापक सर्वकारण परमात्मा की शक्ति है, वह परमात्मा से भिन्न नहीं है। परमात्मा की शक्ति है संकोच-विकासशीला।[1]

उदयनाचार्य अकस्मात् उत्पत्तिवाद के खण्डनार्थ प्रवृत्त होकर जिस पंच प्रकार के विकल्प[2] का उल्लेख करते हैं, उनके स्वरूप का चिन्तन करने से प्रतीति होती है कि उदयनाचार्य इसके द्वारा सर्वप्रकार से प्रसिद्ध मत का ही समासतः एक विवरण दे रहे हैं। स्वभाववादीगण 'स्वभाव' का अर्थ यदि वस्तुधर्म कहते हैं तब इन्हें (कारणतत्व जिज्ञासा के पूर्णभाव से चरितार्थ करने का प्रयोजन बोध होने पर, मुक्ति की आकांक्षा होने पर) सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त सर्वशक्तिमान निरतिशय पुरुषविशेष (ईश्वर) के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। प्रकृति अथवा परमाणुसमूह जिसके द्वारा यथाकाल यथाप्रयोजन सन्निवेशित होते हैं, ऐसे कोई स्वतन्त्र नियमक शक्तिकर्ता हैं, यह मानना होगा। अनादि कर्मसंस्कार अथवा अदृष्ट के अस्तित्व का विश्वास करना ही होगा।

'जगत् अनादिकाल से है' ऐसा मत प्रतीच्य देशों में भी प्रचलित है। किन्तु श्रुति तथा तन्मूलक शास्त्रसमूह जिस कारण से जगत् को अनादि कहते हैं, मेरा विश्वास है कि वहाँ के निवासियों में से अत्यल्प व्यक्ति ही उस कारण से जगत् को अनादि कहेंगे। एक ही शब्द प्रतिभाभेद के कारण भिन्न-भिन्न अर्थ में गृहीत तथा व्यवहृत होता है। शास्त्रोपदेश है कि जगत् प्रवाहरूपेण नित्य है, वह बीजांकुर के समान अनादि भी है। असत् से कदापि सत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का ध्वंस भी असम्भव है। इसी कारण शास्त्र जगत् को अनादि कहते हैं। जगत् को अनादि स्वीकार न करने पर अकस्मात् उत्पत्ति का आश्रय लेना अपरिहार्य हो जाता है। तब नास्तिकवाद की शरण लेने के अतिरिक्त गत्यन्तर ही नहीं होता। तब मुक्तिलाभ असम्भव हो जाता है, इसी कारण शास्त्र ने जगत् को अनादि माना है। पण्डित स्पेन्सर की दृष्टि में जगत् का अनादित्ववाद नास्तिकवाद है। जगत् को अनादि कहना तथा इसके सृष्टत्व का प्रतिषेध करना एक ही बात है। शास्त्र में चित्रित जगत् के अनादित्ववाद से विद्वान् स्पेन्सर प्रभृति पाश्चात्य सुधीगण के मतानुसार जगत्

---

1. ''स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः। स सङ्कोच विकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः।''
—विष्णुपुराण

तथा ''सङ्कोचः साम्यं विकाशो गुणक्षोभः ताभ्यामुपलक्षितः। प्रधानत्वेऽपि स एव स्थितः। तदवस्थाद्वयोपेतं प्रधानमपि विष्णुरेवेत्यर्थः'' —श्रीधरस्वामी

सांख्य तथा वेदान्त के अपूर्व सम्मेलन को देखने की इच्छा होने पर विष्णुपुराण के इस सारगर्भित उपदेश के तात्पर्य के परिग्रह की चेष्टा करनी चाहिए।

2. ''हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च।
स्वभाववर्णना नैवमवधेनियतत्वतः॥'' —न्यायकुसुमांजलि

अनादित्ववाद में अतीव भिन्नता है।

जगत् को अनादि कहने से इसके सृष्टत्व का प्रतिषेध नहीं करा जा सकता। क्योंकि शास्त्र के उपदेश के अनुसार जगत् अनादि होने पर भी परिणामी है। स्थूल-सूक्ष्म यह अवस्था द्वययुक्त है। यह वर्तमान, अतीत तथा भविष्यतरूपी कलात्रय से युक्त है। सूक्ष्म अथवा प्रलयकाल में संस्काररूप में लीन जगत् स्थूलावस्था में आगमन करता है। पुनः सूक्ष्मावस्था में चला जाता है। पुनः-पुनः अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आगमन करता है, पुनः सूक्ष्मावस्था में चला जाता है। अर्थात् अव्यक्तावस्था में चला जाता है। अव्यक्त से व्यक्त में आना पुनः व्यक्त से अव्यक्त में जाना, इससे उसका एक पाद मायायुक्त हो जाता है। परमात्मा चतुष्पात् है। प्रथम पाद है जगदाकार होना। यह मायायुक्त कहा गया। शेष पादत्रय माया से विनिर्मुक्त है। सृष्टिकाल में परमात्मा (माया से) माया द्वारा देवतिर्यक् आदि व्यवहारोपरान्त चेतन प्राणी, एवं अनशन—तदरहित (चेतनरहित) अचेतन गिरि, नदी, सागर आदि की सृष्टि से स्वयं ही इस द्विविध रूप (चेतन तथा जड़) में जगदाकार हो जाते हैं। परमात्मा का अन्य त्रिपाद अमृत स्वरूप है, अपरिणामी है। ये त्रिपादपुरुष ही हैं अमृत ब्रह्म तथा जन्मादि षड्भावात्मक जगत् है सगुण ब्रह्म। कहा है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विश्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥

जगत् प्रवाहरूपेण नित्य है। श्रुति ने इसके द्वारा यही बतलाया है। जगत् का सूक्ष्म (अव्यक्तावस्था) से स्थूलावस्था में आगमन तथा स्थूलावस्था से सूक्ष्मावस्था में गमन, यह सब सर्वकर्मफलाध्यक्ष सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमेश्वर की इच्छा के अधीन है। जो है ही, उसकी सृष्टि कैसे होगी? इस प्रश्न का शास्त्रसम्मत उत्तर है जो सूक्ष्मभाव में विद्यमान है, उसी की तो सृष्टि है अर्थात् उसका स्थूलावस्था में आगमन। यही है जगत् सृष्टि। असत् की (आकाशकुसुम के समान जो अत्यन्त असत् है) कभी भी सृष्टि नहीं हो सकती। जो यह मानते हैं कि असत् जगत् ईश्वरेच्छा से सृष्ट हुआ है, जगत् का अनादित्ववाद उनको सृष्टिवाद का विरोधी प्रतीत होगा। समस्त आस्तिक दर्शन वेदमूलक है। यह असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद तथा सत्कारणवाद मूलत समग्रतः वेद से ही प्रसृत है। सृष्टि के पूर्व विश्वप्रपंच का असत्व तथा सत्य दोनों ही श्रुति-प्रसिद्ध है। सृष्टि से पहले विश्व नहीं था। (असद्वा इदमग्र आसीत्)। इस श्रुति उपदेश का यह आशय है कि सृष्टि से पहले जगत् स्थूल अवस्था में विद्यमान नहीं था। आस्तिक असत्कार्यवादी इस श्रुतिशासनानुसार ही असत्कार्यवाद की स्थापना करते हैं। सृष्टि के पूर्व जगत् सन्मात्र स्थित था। सूक्ष्म तथा अव्यक्त भाव से विराजमान था, यह श्रुतिवचन सत्कार्यवाद की स्थापना का मूल है। जगत् अनादि है, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जगत् चिरकाल से दृश्यमान

अवस्था में विद्यमान था। पाश्चात्य देश में प्रचलित जगत् के अनादित्ववाद का तात्पर्य है कि सम्भवतः जगत् चिरकाल से इसी दृश्यमान अवस्था में विद्यमान है। यही अभिप्राय पण्डित स्पेन्सर का है, जिन्होंने यह कहा कि शक्ति सातत्य (Persistence of Force) विश्वजगत् का कारणरूप है। इन्होंने जगत् की अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आने की स्थिति को स्वीकार किया है। इनके अनुसार यह पुनः अव्यक्तावस्था में जायेगा। इन्होंने गति तथा कर्म के सन्ततत्व को माना है। इन्होंने जगत् के अनादित्ववाद को युक्तिविरुद्ध मानकर त्याग क्यों दिया? जगत् का प्रवाहरूप में नित्यत्व अथवा सृष्टि तथा प्रलय परम्परा का अनादित्ववाद ही शक्ति सातत्य का पूर्णरूप कहा गया है। विद्वान् ड्रेपर, स्टालो आदि वैज्ञानिकगण भी यही मानते हैं।[1] "जगत् स्वतः विद्यमान है तथा जगत् अनादि है", ये कथन पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में समानार्थक होने पर भी शास्त्र के दृष्टिकोण से समानार्थक विवेचित नहीं हो सकते। 'जगत् स्वतः विद्यमान है'—इसका अर्थ क्या है? जगत् निष्कारण है, अनायास उत्पन्न है, अथवा इसकी उत्पत्ति ही नहीं हुई, लय भी असम्भव है। यदि 'जगत् स्वतः विद्यमान है' इसका यदि उपरोक्त अर्थ कहा जाये, तब यह कहा जा सकता है कि यह शास्त्र का अनुमानित अर्थ नहीं है। उदयनाचार्य ने अकस्मात् उत्पत्तिवाद का खण्डन करते हुए तथाभूति (उत्पत्ति) निषेध की युक्ति विरुद्धता का प्रदर्शन किया है। अतएव शास्त्रोक्त जगत् का अनादित्ववाद प्रतीच्य विद्वानों द्वारा यथायथभावेन गृहीत नहीं हो सका है, यह प्रतिपन्न होता है।

विद्वान् पण्डित स्पेन्सर कहते हैं कि अनवच्छिन्न अतीतकालिक सत्ता की उपलब्धि तथा अपरिच्छिन्न अतीत काल की उत्पत्ति एक कथा है। वास्तविकता यह है कि अपरिच्छिन्न अतीत काल की उपलब्धि असम्भव है। तथा स्वतः विद्यमानतावाद यद्यपि बुद्धिगम्य है, तथापि इस वाद द्वारा विश्व की तत्व व्याख्या तनिक भी नहीं होती।

शास्त्र ने काल को कलनात्मक तथा अखण्ड दण्डायमान, इन दो भागों में विभाजित किया है। जो काल स्थावर जंगमात्मक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश का हेतु है, जो काल अमृत है, वह है अखण्ड दण्डायमान काल। जो काल निर्देश्य

---

1. "The doctrine of the conservation and correlation of force yealds as its logical issue the time worn oriental emanation theory, the doctrines of evolution and development strike at that of successive. Now, the Asiatic theory of emanation and absorption is seen to be in harmoney with this grand idea."

—The Conflict between Religion and Science, page 358

विद्वान् ने कहा कि—"It is nothing more than an application of the simple principle that nothing can come from or to nothing"

—Concepts of Modern Physics, p-p 68-69-1

है, ज्ञान का विषयीभूत है, उसे कलनात्मक काल कहा गया है। यह भी स्थूलत्व तथा सूक्ष्मत्व के कारण मूर्त्तामूर्त भेद से द्विविध है। तैत्तरीय आरण्यक श्रुति कहती है कि सूर्यमण्डल भुवनस्थ सबके लिए भूतजात को ऊपर ताप प्रदान करता है। इससे जो पाकक्रिया होती है, वही है कलनात्मक काल का विशेषण। इसके द्वारा ही हम निमेषादि परार्द्धपर्यन्त कालभेद को जान लेते हैं। महाभाष्यकार पूज्यपाद पतंजलि देव ने 'काला: परिमाणिना'[1] सूत्र के भाष्य में कहा है कि जो तरु, तृण, लता आदि मूर्तिमत् द्रव्यजात का कदाचित् उपचय एवं अपचय लक्षित होता है वह काल है। यद्यपि काल नित्य है, एक अखण्ड विभु पदार्थ है, काल का कोई वास्तविक भेद नहीं है तथापि उपाधि भेद सर्वगत आकाश के समान है। (जैसे आकाश जिस पात्र में है, उसी का आकार धारण कर लेता है, वैसे ही)। इसमें भेद की कल्पना कर ली जाती है। एक अखण्डदण्डायमान काल ही भिन्न-भिन्न क्रियोपाधियुक्त होकर भिन्न-भिन्नरूपेण प्रतीयमान होने लगता है।

काल एक प्रकार की क्रिया से दिवसरूप, एक प्रकार की क्रिया से रात्रिरूप, एक प्रकार की क्रिया से मासरूप, एक प्रकार की क्रिया से वत्सररूप, एक प्रकार की क्रिया से युगरूप विशेषित होता है। कलनात्मक काल का स्वरूप है परिवर्तन-क्रिया-गति (Motion of Change)। आविर्भाव (विकास) तथा विनाश (तिरोभाव) अथवा आकस्मिक असद्भाव से सद्भाव तथा पुनः सद्भाव से असद्भाव प्राप्ति है परिवर्तन। गति अथवा परिवर्तन के पौर्वापर्य सम्बन्धात्मक मान अथवा संख्या को कलनात्मक मान कहा जाता है। शास्त्र ने जगत् की सृष्टि से लेकर महाप्रलयपर्यन्त काल को मूर्त्तकाल की सीमा कहा है, के उपरान्त लय, लयोपरान्त पुनः सृष्टि इस प्रकार से बीजाकुंर न्याय से अनादि क्रीड़ा। परिच्छिन्न बुद्धि से अपरिच्छिन्न को पूर्णतः जान सकना सम्भव नहीं है। तब भी मनुष्य मात्र को कुछ न कुछ प्रत्यक्ष के अविषय पदार्थ का ज्ञान हो ही जाता है, यह मानना ही होगा। गति के सन्ततत्व का ज्ञान जिनको हो सका है, अपरिच्छिन्न अतीत काल की उपलब्धि उनको असम्भव क्यों लगेगी? गति तथा क्रिया का ज्ञान ही तो है कलनात्मक काल का ज्ञान। अतएव गति अथवा क्रिया का सन्ततत्व तथा काल का सन्ततत्व एक ही पदार्थ है। जिज्ञासा होती है कि यदि अतीत को अपरिच्छिन्न रूप से धारण किया जाये तब भविष्यत् तथा वर्तमान का ज्ञान किस प्रकार से हो सकेगा? इसी कारण से शास्त्र ने सृष्टि तथा लय परम्परा का अनादित्व स्वीकार किया है। जगत् की प्रवाह परम्परा को नित्य कहा है।

जगत् का विकृत अनादित्ववाद आधुनिक दार्शनिक तथा वैज्ञानिकों द्वारा विशेषतः आदृत क्रमविकासवाद का विरोधी हो जाता है। क्रमविकासवादी पण्डित

1. पातंजल दर्शन—2।25

स्पेन्सर को सम्भवतः इसी कारण बोध होता है और वे उक्त अनादित्ववाद का खण्डन करते हैं। "जगत् की वर्तमान अवस्था निर्दिष्ट कालावच्छिन्न अवश्य है, परन्तु अनादिकाल से विद्यमान नहीं है" यह सत्य उक्ति है, किन्तु "यह अनादिकाल से किसी प्राकृतिक नियमानुसार किसी पूर्ववर्ती पर्व अथवा अवस्था अथवा उससे भी पूर्ववर्ती पर्व अथवा अवस्था से प्रसृत है, जगत् इस प्रकार की क्रम परम्परा से अभिव्यक्त हुआ है" क्रमविकासवादीगण का यही अभिप्राय है। जगत् की वर्तमान अवस्था निर्दिष्ट कालावच्छिन्न है, यह शास्त्र से अनुमोदित तथ्य है। जगत् के शास्त्रोक्त अनादित्ववाद का यह अभिप्राय नहीं है कि जगत् में अनादिकाल से यह वर्तमान अवस्था विद्यमान है। तब आधुनिक क्रमविकासवाद के साथ शास्त्र का विरोध कहाँ से है? क्रमविकासवादीगण जगत् के शास्त्रप्रतिपादित अनादित्ववाद को युक्तियुक्तवाद नहीं कहते, इसका कारण क्या है? प्रश्न का उत्तर देते समय यह स्मरण करो कि क्रमविकासवाद का अभिप्राय है क्या?

इवैल्यूशन (Evolution) शब्द के मूलार्थ में अभिव्यक्ति, अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आगमन, विकसन या प्रस्फुटन (The act of unfolding or unrolling) का अर्थ है। अतएव वृद्धि तथा विपरिणाम क्रम के वाचकरूप में व्यवहृत होता है। कोरक (कली—Bud) से पुष्प के प्रस्फुटन को बीज से अंकुर को तथा अंकुर से शाखा-प्रशाखा विशिष्ट वृक्ष की उत्पत्ति को इवैल्यूशन (Evolution) के दृष्टान्तरूप में ग्रहण किया जाता है। एक शब्द ही अनेक अर्थ में प्रयुक्त होता है। पाटीगणित तथा बीजगणित की मूलक्रिया तथा मूलाकर्षण को (The extraction of roots), घातक्रिया (envolution) की विपरीत प्रक्रिया को Evolution नाम से अभिहित किया गया है। आधुनिक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक Evolution शब्द का जिस सचराचर अर्थ में व्यवहार करते हैं, उसे जानना ही हमारा वर्तमान प्रयोजन है। इसलिए गणित में मूलक्रिया समझाने के लिए यह व्यवहृत क्यों हुआ है, यह चिन्तन करना यहाँ अप्रासंगिक है। वैज्ञानिक तथा दार्शनिक यहाँ Evolution शब्द के व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ के ऊपर उतना निर्भर नहीं हैं। सूक्ष्म अथवा बीजभाव में विद्यमान कारणात्मा में अवस्थित वस्तु के क्रमविकास व्यापार में इस शब्द का व्यवहार किया गया तथा अभी व्यष्टि-समष्टि तथा सामान्य शरीर की अभिव्यक्ति वर्णन स्थल में भी इसका इसी सामान्य अर्थ में प्रयोग किया जाना निःसन्दिग्ध है। क्रमविकास के कतिपय आध्यात्मिक विवरण संग्रह में (ceratain metaphysical system of evolution) देखा जाता है कि Evolution सूक्ष्म तथा बीजभाव में विद्यमान वस्तु का क्रमविकास है। किन्तु आधुनिक The Modern Doctrin of Evolution में परमाणुओं के परस्पर संयोग तथा भौतिक शक्ति की रूपान्तरप्राप्ति को ही (Transformation of Energy) जो वाद सर्वप्रकार के कार्य के कारणरूप में अवधारित करता है, वह "सूक्ष्म अथवा बीजरूपेण विद्यमान वस्तु के विकास" रूप से

Evolution का अर्थ ग्रहण नहीं करता। जो अभिव्यक्त होता है, वही सूक्ष्मभाव से कारणात्मा में अवस्थित रहता है। (अमूर्त्त अथवा अशरीरी भूतों का प्राण तथा संवित् Life and consiousness, सूक्ष्मभावेन विद्यमान है इत्यादि)। आधुनिक इवोल्यूशनवाद इस प्रकार के मतपोषण का कोई कारण नहीं देखता। Evolution शब्द उन्नति (Progress) के पर्यायरूप में व्यवहृत होता है। अधस्तन अवस्था से ऊर्ध्वगमन है आधुनिक व्यवहारित अर्थ। किसी की किस प्रकार से उन्नति हो सकी है? यह इनका क्षेत्र है।

भौतिकराज्य, उद्‌भिजराज्य, संकीर्ण चेतनराज्य एवं विशिष्ट चैतन्यराज्य को प्रकृति का चतुर्विध पर्व माना गया है। यह चतुर्विध सोपान पंक्ति हमारी बुद्धि की विषयीभूत रहती है। अतएव ज्ञातव्य होता है कि Evolution शब्द प्रकृति के इन चतुर्विध पर्व की उन्नति समझाने हेतु व्यवहृत हुआ है। किंवा उपरोक्त उद्‌भिजराज्य, संकीर्ण चेतनराज्य एवं विशिष्ट चेतनराज्यरूपी त्रिविध प्राकृतिक पर्व की उन्नति समझाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। Evolution शब्द वास्तव में आध्यात्मिक जगत् की उन्नति बतलाने के लिए भले ही व्यवहृत हुआ हो, इससे लोग भौतिक जगत् की उत्पत्ति का भले ही तात्पर्यार्थ न लेते हों, तथापि भौतिक राज्य आदि चतुर्विध प्राकृतिक पर्व ही की उन्नति इसका व्यापक तथा असंकीर्ण अर्थ है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जो परिणामसमूह साक्षात् परम्परा से अथवा चाहे जैसे भी मानव का सुख सन्दर्शन करता है, पण्डित स्पेन्सर के मतानुसार वह परिणामसमूह ही अभ्युदयात्मरूपेण विवेचित होता है।[1]

क्रमविकासवादीगण चेतन पदार्थजात को विशेषत: विशेष चेतनायुक्त मानव जाति की प्रकृति के उत्कृष्टतम परिणाम के रूप में (Highest phase of all development) वर्णना करते हैं, केवल कल्याण-वृद्धि तथा सुख-शान्ति को ही मानव की उन्नति बताते हैं। वहीं विद्वान् पण्डित हक्सले तथा साली का कथन है कि इस शब्द का अर्थ है अधस्तन अवस्था से उर्ध्वगमन, निकृष्टतर अवस्था से उत्कृष्टतर अवस्था की प्राप्ति बतलाते हैं। इस अर्थ को भी माना जा सकता है। किसकी उन्नति होती है? इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर मिला। अब कैसी उन्नति हो, उन्नति का स्वरूप क्या है, इसका आधुनिक क्रमविकासवादी विद्वानों ने क्या उत्तर दिया है, इसे सुनना है।

अविशेष, असम्बद्ध तथा समान जातीय भाव का अविच्छिन्न भेद तथा संसर्ग द्वारा विशेष सम्बन्ध तथा विजातीय भाव में परिणत होने का नाम है Evolution। अत: यह कहा जा सकता है कि असंकीर्ण अथवा अमिश्रभाव (Simple type of existence) की संकीर्ण अथवा व्यामिश्रभाव (Complex) में परिणति ही उन्नति

1. Only those changes are held to constitute progress which directly or indirectly tend to heighten human happiness. And they are thought to constitute progress simply because they tend to heighten human happiness. —Essays, H.Spencer, Vol I, Page 2

अथवा Evolution है। अत: कहा जा सकता है कि असंकीर्ण अथवा अमिश्रभाव की (Simple type of Existence) संकीर्ण अथवा व्यामिश्रभाव में परिणति (Complex) ही उन्नति अथवा Evolution है। इस वाद का उद्देश्य अथवा प्रतिपाद्य विषय क्या है? दृश्यमान पदार्थ समूह के तत्व का निरूपण ही इस वाद का उद्देश्य है। परिवर्तन से अविराम एक भाव से अन्य भावान्तर की प्राप्ति ही जगत् का निरूपणीय स्वरूप है। इसीलिए इवोल्यूशनवाद में प्रथमत: परिवर्तन की तत्वव्याख्या का प्रयत्न किया गया है। गति अथवा कर्म (Motion) कौन पदार्थ है, कैसे गति अथवा कर्म की उत्पत्ति होती है, इसके तत्व की अवधारणा का प्रयत्न किया गया है। तत्पश्चात् चेतनराज्य का तत्वानुसन्धान किया गया है। भौतिकराज्य, उद्भिजराज्य, संकीर्ण चेतनराज्य तथा विशिष्ट चेतनराज्य के प्राकृतिक पर्व के साथ एक-दूसरे के पारस्परिक सम्बन्ध निर्णय की चेष्टा की गयी है। यह आधुनिकवाद दृश्यमान के आदि-अन्त के तत्वनिरूपण को निष्प्रयोजन मानता है। प्रकृति की मध्यावस्था के रूप का निरूपण करना ही इनकी दृष्टि में परमपुरुषार्थ है। भूत (Matter), भौतिक शक्ति (Force), भूतों का अनश्वरत्व, शक्ति सातत्य (Persistence of force or conservation of Energy), गति अथवा कर्म का सन्ततत्व (Continuity of Motion), आगन्तुक अथवा नैमित्तिक शक्तियों की क्रिया का गुणन, अभ्यसन (Multiplication of Effects), दृश्यमान जगत् के तत्वानुसन्धान में प्रवृत्त होना, आधुनिक क्रमविकासवादियों ने इन सभी सत्य द्वारा जगत् के सर्वविध तत्वव्याख्यान की चेष्टा की है।

विश्वजगत् के समष्टि तथा व्यष्टिभाव में सामान्यत: तथा विशेषत: अविराम भूत तथा भौतिक पदार्थ समूह एवं गति के सम्प्रविभाग की विशेष-विशेष भाव प्राप्ति (unceasing redistribution of matter and motion) होती है। यही सम्प्रविभाग अथवा विशेष-विशेष भावप्राप्ति ही Evolution का कारण है। भूत और भौतिक पदार्थसमूह की एवं गति की विशेष-विशेष भावप्राप्ति क्यों होती है? भूत तथा भौतिक शक्ति का यही स्वभाव है। साम्यावस्था में अवस्थान करने में ये प्राकृतिक नियम से अपारग हैं। भूत तथा भौतिक पदार्थसमूह की एवं गति की जो अविराम विशेष-विशेष भावप्राप्ति होती है, यही उसका कारण है, इसके अतिरिक्त कोई कारण नहीं है। भूत (Matter) एवं आकर्षण—विप्रकर्षण (Attraction—Repulsion) ये द्विविध भौतिक शक्ति हैं। दृश्यमान जगत् में अन्तर्बहि अन्वेषण करके आधुनिक क्रमविकासवादीगण एतद्व्यतीत अन्य किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं जान सके। आकर्षण तथा विप्रकर्षण शक्तियाँ पर्यायक्रम से प्रादुर्भूत तथा आविर्भूत होती हैं। कुछ समय आकर्षण शक्ति की प्रबलता तथा विप्रकर्षण शक्ति की दुर्बलता रहती है। इसके अनन्तर विप्रकर्षण शक्ति प्रबल होकर आकर्षण शक्ति को अभिभूत कर लेती है। आकर्षण शक्ति के प्रादुर्भाव काल में सृष्टि (Evolution) तथा विप्रकर्षण शक्ति के

प्रादुर्भाव काल में उसकी प्रबलावस्था में लय Dissolution होता है। आकर्षण शक्ति है संसर्गवृत्तिक (Aggregative), विप्रकर्षणशक्ति है भेदवृत्तिक (Separative)। अतः आकर्षण शक्ति के प्रादुर्भावकाल में परमाणुसमूह क्रमशः परस्पर सन्निकृष्ट होते हैं तथा गति का ह्रास हो जाता है। विप्रकर्षण शक्ति की प्रबलावस्था में वे परस्परतः विप्रकृष्ट होते हैं तथा गति की वृद्धि हो जाती है।

चाहे भौतिक जगत् हो, उद्भिज् जगत् हो अथवा संकीर्ण आसन्न चेतन जगत् हो अथवा विशिष्ट चैतन्य जगत् हो, सभी इस नियम से जात, स्थित, वर्द्धित, विपरिणामप्राप्त, क्षीण तथा विनष्ट हो जाते हैं। प्रलयकाल में विप्रकर्षण शक्ति की प्रबलावस्था में परमाणुसमूह नीहारभाव से (जैसे निहारिका छिटकी रहती है) इतः-स्ततः व्याप्त थे तथा आकर्षण शक्ति के प्रादुर्भाव काल में परस्परतः संहत होकर क्षुद्र-बृहत् पृथक्-पृथक् संस्थान रूप में परिणत हो गये। जिस नियम से ज्योतिषिक समाज का गठन हुआ है, जिस नियम से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है, ठीक उसी नियम से उद्भिज शरीर की अभिव्यक्ति होती है। उसी नियम से आसन्न, चेतन तथा विशिष्ट चेतनवर्ग के प्राणियों का शरीर निर्मित होता है। मनुष्य समाजरूपी शरीर का सम्मूर्च्छन भी अविकल इसी नियम के अधीन है। भौतिकराज्य, उद्भिद्राज्य, संकीर्ण अथवा आत्म चेतनराज्य तथा विशिष्ट चेतनराज्य भी प्रकृति के एकरूप नियम से सृजित हैं। उसी नियम से स्थित, वर्द्धित, विपरिणाम प्राप्त हो अपक्षीण तथा विनष्ट हो जाते हैं। इन नियमों का स्वरूप क्या है? भूततंत्र (Physics) तथा रसायनतंत्र (Chemistry) ने जिन प्राकृतिक नियमों का आविष्कार किया है, उनके द्वारा क्या प्राकृतिक भौतिकराज्यादि चतुर्विध पर्व के सर्वप्रकार परिणाम का तत्व व्याख्यात होता है? वैज्ञानिक पण्डित टिनडेल (Tyndall) द्वारा उद्धृत वचनों से इन प्रश्नों का यथेष्ट समाधान मिल सकता है।

विद्वान् पण्डित टिनडेल कहते हैं कि "विज्ञान (Science) से वस्तुसमूह की मध्यावस्था का अतीत तथा अनागत के अन्तराल में स्थित रूप का, जो हमारे समीप प्रकृति (Nature) के नाम से ख्यात है, उसके कार्य का अनेकांश में दर्शन कर सकते हैं।" तथापि इन्होंने प्रकृति के आदि-अन्त का कोई भी समाचार प्राप्त नहीं किया। कोई व्यक्ति अथवा वस्तु सूर्य की सृष्टि करता है, इसकी रश्मि को व्यपदिष्ट (Alleged) सामर्थ्य प्रदान करता है, कोई व्यक्ति अथवा वस्तु इन परमाणुपुंज की सृष्टि करके उनको विविध इतरेतर कार्यकारिणी आश्चर्यभूत शक्ति देता है, इसे विज्ञान नहीं जानता। इस रहस्य का उद्भेद करने के लिए विज्ञान ने हाथ फैलाया है, किन्तु कृतकार्य नहीं हो सका। विद्वान् पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी ऐसा मत प्रकाशन किया।

विश्वजगत् का इतिहास कहने में प्रवृत्त होकर वैज्ञानिकों में अनेक ने इसकी नैहारिकी अथवा वाष्पमयी अवस्था (Nebulous State) को आदिरूप में ग्रहण किया है। व्यक्त जगत् की आद्य अथवा अव्यक्तावस्था में परमाणुसमूह परस्परतः

अनिर्देश्य दूरी पर रहते हैं। परमाणुसमूह इस प्रकार की अवस्था में कब तक थे तथा इस अवस्था में रहने का कारण क्या है, तदनन्तर किसलिए अथवा किस रूप में ये प्रथमतः परस्पर एक-दूसरे का आकर्षण करने में प्रवृत्त हो गये ? परमाणु पुंज प्रस्तुप्त अवस्था से समष्टिभाव में जाग उठे, किंवा व्यष्टि भाव में क्रमशः जागरित हुए, इन प्रश्नों का समाधान विज्ञान नहीं करता, इन्हें अनर्थक मानता है।[1] परमाणुसमूह सुप्तोत्थित होकर (सोये से जागकर) दीर्घकालीन विच्छेद के अनन्तर अपने अन्य आत्मीय परमाणुओं से मिलने के लिए व्यग्र हो जाते हैं। परस्पर एक-दूसरे की ओर तीव्रता से धावित होने लगते हैं। यह अवस्था ही विज्ञान के सूक्ष्मतत्व सम्बन्धित चिन्तन की आद्यभूमि है—प्रथम अवलम्बन है। क्रुक्स (Crookes) प्रभृति कतिपय आधुनिक रसायनवेत्ता तथा भूततंत्रकुशल विद्वान् अनुमान करते हैं कि जिस भूतसमूह (Element) से ग्रहादि की अभिव्यक्ति होती है, वे विश्वतः व्याप्त एक अविशेष भूत के विकार हैं। हाईड्रोजन प्रभृति विशेष-विशेष भूतसमूह की योनि रूप उक्त अविशेष भूत को पण्डित क्रुक्स ने प्रोटोइल (प्रथमभूत) की संज्ञा से पुकारा है। यही प्रोटोइल नामक पदार्थ किसी अविज्ञात प्रक्रियावशात् प्रथमतः भिन्न-भिन्न खण्ड में विभक्त हुआ है। तदनन्तर पुनः विभक्त हुआ है। इन विभक्त अथवा विच्छिन्न खण्डसमूह से सूर्यमण्डल तथा सौरमण्डल की अभिव्यक्ति हो सकी है। ऐसा अनुमान करना होगा। प्रोटोइल नामक प्राथमिक भूत की इस प्रकार की परिणति के समय इसका प्रकृतिगत परिवर्तन होता है, तब यह एक जाति नहीं रह जाता। (एक जाति = Homogeneous)। तब यह हाईड्रोजन आदि भौतिक पदार्थ रूप में परिवर्तित होने लगता है।[2]

---

1. Science understands much of this intermediate phase of things that we can see in nature, of which it is the product; But science knows nothing of the origin or destiny of nature who or what made the sun and give his rays their alleged power? Who or what made and bestowed upon ultimate partictes of their wonderous power of varied interaction? Science does not know the mystry, though pushed back, remains unaltered.
—Fragments Of Science, Vol II, Page 52.
2. It has already been stated that the material, out of which the elements that compose the planets were evolved, was of one uniform nature. Mr. Crookes, as we have seen, has named this substance protyle. This protyle by some process may be supposed to have become brokenup into seperate masses, and again to have broken up and out of each mass suns and systems to have been evolved. During the process the protyle, may be supposed to have been gradually changing its constitution, continuing no longer homogeneous, but gradually changing into the various elements that enter into the constitution of the Earth and other plants.
—Popular Readings in Science, Vol. II, page 201-202

एक अविशेष भूत से ग्रहनक्षत्रादि का आकार परिणाम तथा गतिविशिष्ट होना कैसे सम्भव हो पाता है? जिस अविशेष भूत से ग्रहनक्षत्रादि अवयवों का सन्निवेश होता है, 'उसे है', स्थिर 'नहीं है', इत्यादि समगत विशिष्ट ही कहकर स्वीकार करना होगा। स्थिर अथवा समगत विशिष्ट अवस्था भी बलविज्ञान (Dynamics) के साधारण सूत्रानुसार ही प्रतिपन्न होती है। कोई बाह्यनोदन अथवा आकर्षण के बिना वह परिवर्तित नहीं हो सकती। वैज्ञानिकों के मतानुसार सर्वव्यापक विश्व में अथवा इसके यथोक्त समन्तात् व्याप्त वाष्पमय भाव में जब बहिः कुछ भी नहीं है, तब इसका नित्य स्थिर अथवा समगति विशिष्ट अवस्था में अवस्थान अवश्यम्भावी है। साथ ही इस नीहारावस्था का तापमान सर्वत्र समान होगा। यह भी निश्चित है। किसी बाह्यकारण से जब इस सामान्य भाव के विक्षोभ की सम्भावना नहीं है, तब विश्व का तादृशी नीहारावस्था में चिरदिन अवस्थान अपरिहार्य है। नैहारिक सिद्धान्त की अनुपपत्ति वैज्ञानिकगण की दृष्टि में पतित हुई है। वैज्ञानिकों में से अनेक अब इस सिद्धान्त की विकलांगता का पूरण तथा शोधन करने के लिए अथवा इसके परिवर्तन में अभिनव सिद्धान्त संस्थापन के लिए सचेष्ट हो रहे हैं। शास्त्र ने इस निमित्त अनादि कर्मसंस्कार अथवा अदृष्ट काल एवं सर्वकर्मफलाध्यक्ष ईश्वर का अभिध्यान किया है। शारीरक भाष्य की ब्रह्मविद्याभरण नामक टीका में कहा गया है कि भूताकाश से काल तथा अदृष्ट निमित्त कारणयोग से वायु प्रभृति भूत चतुष्टय की उत्पत्ति हुई है। क्रुक्स, मेन्डलीफ नामक विद्वान् रासायनिक पण्डितों का अनुमान है कि हाईड्रोजनादि भूतसमूह में जो भूत जिस भूत से जितने अधिक काल विलम्ब से अभिव्यक्त है, उस भूत में इसी कारण गुणगत वैषम्य की मात्रा उतनी ही अधिक होती है। भूतसमूह के अभिव्यक्ति काल की मात्रा के अनुसार उनमें गुणगत भेद हो जाता है। इस गुणगत भेद वाली बात का अभिप्राय क्या है? पतंजलिदेव कहते हैं परिणाम की भिन्नता में प्रतिपरिणामक्रम की भिन्नता ही कारण है। एक वस्तु ही प्रतिक्षण परिवर्तित होकर विविध आकार तथा आख्या को प्राप्त होती है। क्रम की भिन्नता ही परिणामभिन्नता का कारण है। क्रम काल का धर्म है, इसलिए भूतसमूह के अभिव्यक्ति काल की मात्रानुसार उनमें जो गुणगत भेद होता है, वही सुख-बोध्य है। वस्तुमात्र ही प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त हो रही है। क्षण है कलनात्मक काल की सूक्ष्मतम अवस्था, कलनात्मक काल का एकक। इसलिए काल की मात्रा के अनुसार वस्तुसमूह के धर्मगत् परिणाम में भिन्नता होगी, इसमें क्या सन्देह? एक क्षण में जो परिणाम अथवा क्रिया होती है, दस क्षण में उससे निश्चय ही अधिक परिमाण में क्रिया होगी। क्रिया भेद के कारण द्रव्यसमूह भिन्न रूपेण लक्षित होते हैं।

भूत तथा भौतिक पदार्थसमूह की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिक जैसा अनुमान कहते हैं, वह शास्त्रीय उपदेश की ही विकृत प्रतिध्वनि है।

अतःपर शरीर, प्राण तथा मन की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में क्रमाभिव्यक्तिवाद का उपदेश श्रवण किया जा रहा है।

विद्वान् पण्डित स्पेन्सर ने शक्ति के सातत्य को ही सर्व कार्यों का कारण माना है, यह विवेचित किया जा चुका है। अब यह ज्ञातव्य है कि पण्डित स्पेन्सर ने जिस शक्ति नामक पदार्थ को सर्वकार्य के कारणरूप अवधारित किया है, वह शुद्ध जड़ शक्ति है, किंवा शुद्धचिच्छक्ति है, अथवा चित्-अचित् रूप उभयात्मिका है। (अचित्=जड़)। चित्त—अचित् तथा जड़, भिन्न धर्माकान्त इन द्विविध पदार्थ का अस्तित्व जो हमें दृष्टिगोचर होता है, उसे स्वीकार करना ही होगा। पाषाण, उद्भिज्, आसन्न चेतन प्राणी, विशिष्ट चैतन्य पुरुष, क्या एक ही कारण से ये सभी अभिव्यक्त हुए हैं? विषयी तथा विषय, ज्ञाता एवं ज्ञेय (Subject & Object) इन परस्पर भिन्न धर्माक्रान्त पदार्थद्वय को एक ही कारण का कार्य कैसे कहा जा सकेगा?

द्वैतवाद तथा एकत्ववाद की बात पहले भी कही जा चुकी है। एकत्ववाद के दो रूप हैं—विज्ञानैकत्ववाद तथा जड़ैकत्ववाद। द्वैतवादीगण के मतानुसार विश्वजगत् चित् एवं अचित् कारण का कार्य है। विज्ञानैकत्ववादी का सिद्धान्त है कि विज्ञान ही एकमात्र सत् पदार्थ है। विषय विज्ञान का ही प्रतिभास है। जड़ैकत्ववादीगण का कथन है कि विषय तथा विषयी दोनों ही जड़ शक्ति के परिणाम हैं। पण्डित स्पेन्सर कहते हैं कि चिच्छक्ति से जड़ाभिव्यक्ति होती है। इसलिए यह मत अनुमोदनीय प्रतीत हो रहा है। अतः यह विदित होता है कि पण्डित स्पेन्सर के मत से अखिल विश्वकार्य के कारणरूप से लक्षित यथोक्त शक्ति पदार्थ शुद्ध जड़ात्मक है। (द्रष्टव्य—Principle of Psychology, volume I, page 15)

जिस शक्ति को विद्वान् स्पेन्सर ने सर्वकार्य के कारणरूप में लक्ष्य किया है, उसके स्वरूप का वर्णन करते समय वे कहते हैं कि जिसके द्वारा वस्तुसमूह को हम वस्तु अथवा सत् कहते हैं, अपिच जिसके द्वारा उन्हें हम क्रियाशील अथवा परिवर्तनशील निश्चय करते हैं, किसी कार्य पदार्थ की तत्वचिन्ता करने में परस्पर भिन्न धर्माक्रान्त इन द्विविध शक्ति का अस्तित्व हमें बुद्धिगोचर होता है। इनमें से प्रथमोक्त शक्ति परिवर्तन अथवा विकार का हेतु नहीं है। यह स्वयं अक्रिय एवं अप्रवर्तक है। दूसरी शक्ति ही है परिवर्तन अथवा विकार का हेतु। इस विकार हेतु शक्ति को विद्वान् स्पेन्सर एनर्जी नाम से पुकारते हैं। विकार की हेतु जो शक्ति है उसकी दो अवस्थाएँ हैं, यथा क्रियमाण (Actual) तथा स्थितिशील (Potential)। अविकार हेतु तथा विकार हेतु शक्ति ही नित्य है। शास्त्र कूटस्थनित्यता तथा परिमितनित्यता रूप से नित्यभाव के द्विविध रूप का वर्णन करते हैं। भगवान् वेदव्यास पातंजल दर्शन के भाष्य में चिन्मय पुरुष को कूटस्थनित्य तथा सत्वादि गुणत्रय को परिणामीनित्य पदार्थ कहते हैं। परिणाम होने पर भी जिससे तत्व

की, तद्भाव अथवा स्वरूप की हानि नहीं होती, वही है परिणामीनित्यता। विद्वान् स्पेन्सर ने इस शास्त्रोपदेश का ही आभास दिया है, यह बोध होता है।

जो अविकार हेतु है, जो स्वतन्त्र है तथा जो विकार हेतु है, जो परतन्त्र है, ऐसे विरुद्ध धर्माक्रान्त का एकीकरण कैसे सम्भव है? सांख्यदर्शन ने प्रकृति व्यतिरिक्त पुरुष के अस्तित्व स्थापक हेतु का प्रदर्शन करते समय कहा है—जो संहत है, जो इतरेतराश्रयी एकाधिक पदार्थ जात का समूह है, वह परार्थ है—परप्रयोजन साधक है। प्रकृति है अन्योन्याश्रयी त्रिगुणात्मिका। अतएव प्रकृति है परार्था। प्रकृति तथा उसका कार्य, उसका विकार ये जब संहत हैं एकाधिक पदार्थ समूहरूप हैं, तब ये भोक्ता (Subject) नहीं हो सकते। जो परिणामी है, उसका कभी भी भोक्तृत्व अथवा ज्ञातृत्व सिद्ध नहीं होता। प्रकृति तथा उसके विकार स्वयं को स्वयं कैसे जानेंगे? क्या एक पदार्थ का ही कर्मत्व अथवा कर्तृत्व उत्पन्न होता है? प्रकृति से व्यक्तिरिक्त पुरुष के न रहने पर लोक में कैवल्य तथा मुक्ति के लिए प्रवृत्ति ही नहीं होती। यदि शरीर ही भोक्ता है, तब भोक्ता के कैवल्य के लिए, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति होने का कोई कारण न रहता। प्रकृति व्यतिरिक्त पुरुष के न रहने पर लोक में कैवल्य अथवा मुक्ति हेतु प्रवृत्ति ही नहीं होती। यदि शरीरादि ही भोक्ता है, तब भोक्ता के कैवल्य के लिए, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए प्रवृत्तिरत होने का कोई कारण ही न रहता। जड़ को कैसे सुख-दुःख का बोध होगा? जड़ को मुक्ति की इच्छा क्यों होगी? स्वभाव को छोड़ने की इच्छा किसकी होती है? जब परिणाम ही प्रकृति का स्वभाव है, तब प्राकृतिक वस्तुजगत् के परिणाम का निरोध कैसे होगा? अतः पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर के चिच्छक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व को मानना ही होगा।

प्राण, मनः, बुद्धि, इन्द्रिय, भूत आदि पदार्थ चैतन्याधिष्ठित त्रिगुणमयी प्रकृति की ही भिन्न-भिन्न परिच्छिन्न अवस्थाएँ हैं। भौतिक राज्य है तमोगुणप्रधान। प्राणराज्य है रजोगुणप्रधान, मनोराज्य है सत्वगुणप्रधान। मैत्र्युपनिषद् में कहा है कि प्राणराज्य रजोप्रधान है और मनोराज्य है सत्वगुणप्रधान प्रकृति प्रतिबिम्बित चिच्छक्ति। यह प्राण स्वयं को दो प्रकार से धारण करता है। देह में इसने स्वयं को पाँच प्राण के रूप में विभक्त किया है। यह इसका प्रथमरूप है तथा ब्रह्माण्डकरण्ड में इन्होंने जगत् के अवभासक आदित्य रूप में अवस्थान किया है। यह इनका अन्य (द्वितीय रूप है) रूप है। भौतिकराज्य आणविक तथा पारमाणविक आकर्षण-विकर्षण की प्रतिद्वन्द्विता की मूर्ति है। प्राणराज्य जीवनीशक्ति एवं आणविक तथा पारमाणविक प्रतिद्वन्द्विता की मूर्ति है। जीवदेह भौतिक तथा रासायनिक आकर्षण विप्रकर्षण की क्रिया भले ही है, किन्तु निर्जीवदेह जैसा होता है, वैसा सजीवदेह नहीं होता। सजीव देह गर्भ के बाहर आते ही आहार संग्रह करना चाहता है, उसका शारीरतन्त्र आहत द्रव्यसमूह को यथा

प्रयोजन रसादि में परिणत करता है। देह की रक्षा तथा पोषणार्थ जिन-जिन अंग में जिस-जिस मात्रा में जिन-जिन द्रव्यों का वितरण आवश्यक है, वहाँ उनकी उस मात्रा का वितरण करके त्याज्यांश का त्याग करता है। ये सभी व्यापार शुद्ध रासायनिक नहीं हैं। जीवराज्य की रासायनिक शक्ति अन्य किसी उच्चतर शक्ति के वश में है और उसी के निर्देशानुसार क्रिया करती है। यह उच्चतर शक्ति है जीवनी शक्ति।

यह जीवनी शक्ति भौतिक तथा रासायनिक शक्ति से स्वतन्त्र है। इसका प्रतिपादन करते हुए जर्मन विद्वान् पण्डित विर्शो (Virchow) कहते हैं कि प्राणाभिव्यक्ति निर्निमित्तक अथवा आकस्मिक नहीं है। सन्तति परम्परा से इसकी अभिव्यक्ति हुई है। सजीव पदार्थ से ही सजीव पदार्थ की उत्पत्ति होती हो, ऐसा सजीव पदार्थ दृष्ट नहीं होता, जिससे इस नियम का अतिक्रमण करके कालतालीय न्याय अभिव्यक्त किया गया। सजीव देह में भौतिक शक्ति तथा जीवनी शक्ति दोनों ही है। अतः भौतिक शक्ति तथा जीवनी शक्ति उभय सम्मिलन से सजीव देह का गठन होता है।

प्राणशक्ति का कार्य स्नायु रज्जु की प्रत्यावृत्तक्रिया के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। यह प्रत्यावृत्त क्रिया ही Reflex Action है। जो जिस किसी मत का अवलम्बन लेते हैं, वे यदि जीवनीशक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार न करें, तब उनका मत स्थायी नहीं होगा। प्रत्यावृत्त क्रिया का मूल है संस्कार। स्नायु रज्जु की क्रिया संस्कारमूलक है, इसकी निष्पत्ति में मन का साक्षात् प्रभुत्व नहीं है, यह स्थिर मत है। यह शुद्ध भौतिक अथवा रासायनिक संस्कार शक्ति का कार्य नहीं है। यह प्राणशक्ति नियमित भौतिक तथा रासायनिक शक्ति के संस्कार का कार्य है। शरीरोत्पत्ति का कारण मात्र रासायनिक तथा भौतिक आकर्षण विप्रकर्षण को नहीं माना जा सकता। पूर्व प्रस्ताव में मैंने शरीर की उत्पत्ति को पूर्वकर्म अथवा अदृष्ट के अधीन मानने वाले सिद्धान्तों का वर्णन किया है।

आधुनिक क्रमविकास के साथ शास्त्र का विरोध कहा है, यह जानने के लिए हमें उपलब्धि होती है कि आधुनिक क्रमविकासवादियों ने भूत तथा भौतिक शक्ति व्यतीत चिच्छक्ति नामक स्वतंत्र पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने कर्म सन्ततत्व को भले ही माना है, किन्तु शास्त्रदृष्टि से कर्म को अनादि कहा गया है, इस दृष्टि से इन लोगों ने कर्म को सन्तत पदार्थ नहीं कहा है। सत का नाश अथवा असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, यह सत्य है—किन्तु विश्वकार्य के कारणरूप अवधारित शक्ति (Force) नामक पदार्थ को उन्होंने सप्राण तथा संविद् विशिष्ट नहीं माना। अप्राण तथा अचेतन जड़शक्ति से सप्राण और सचेतन जीव की अभिव्यक्ति को सम्भव बताया है। जगत् की यह वर्तमान सृष्टि ही आद्यसृष्टि नहीं है। जगत् अनादिकाल से अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में तथा पुनः व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था में गमनागमन

करता है, यह वे नहीं मानते। जड़ अथवा निर्जीव से जीवोत्पत्ति नहीं होती, इस सिद्धान्त पर भी वे अचल भाव से अवस्थान नहीं करते। जब तक मुक्ति नहीं हो जाती, तब तक जीव अपने शुभाशुभ कर्मानुसार उच्चावच स्थूल शरीर ग्रहण करता है, तब तक इस लोक से उस लोक की यातायात अवस्था में रहना ही पड़ता है। यह भी पाश्चात्य दार्शनिक तथा क्रमविकासवादी स्वीकार नहीं करते।

सांख्यदर्शन में उपदिष्ट परिणामवाद के साथ आधुनिक क्रमविकास धारा की तुलना द्वारा क्या शिक्षा मिलती है?

सांख्यदर्शन है सत्कार्यवादी। असत् की उत्पत्ति नहीं होती, सत् का विनाश नहीं होता। जिसमें जो नहीं है, उससे उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतीत तथा अनागत भी स्वरूपतः सत्य हैं। सांख्यदर्शन का यह सिद्धान्त है। सांख्य ने कर्म के अनादित्व को स्वीकार किया है। कर्मवैचित्र्य को सृष्टि की विचित्रता का कारण माना है। इसमें प्रकृति से व्यतिरिक्त पुरुष के अस्तित्व को स्वीकृति दी गयी है। भोक्तृ तथा भोग्य के वैधर्म्य का प्रदर्शन हुआ है, सांख्यदर्शन निर्गुण ब्रह्म के अस्तित्व को मानता है। जड़ से जीवन की उत्पत्ति नहीं होती, यह उसका मत है। मुक्ति न मिलने तक लोकलोकान्तर में भटकने के तथ्य को भी यह दर्शन मानता है। इसलिए इस दर्शन का ऐक्य आधुनिक क्रमविकासवादियों के मत से कदापि नहीं है। सांख्यमतानुसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही विश्व के सर्वविध परिणाम को संघटित करती है। अतः 'अचेतन प्रकृति से विश्व का सर्वपरिणाम साधित होता है' इस सांख्यमत से आधुनिक क्रमविकास का किंचित् साम्य प्रतीत होता है। धर्मी का धर्मगत परिवर्तन होने पर भी उसका नाश नहीं होता। सांख्य दर्शन का यह मत क्रमविकासवाद का संवादी मत है। सांख्य दर्शनोक्त प्रकृति है गुणत्रय की साम्यावस्था। सत्वगुण है प्रकाशसमर्थ, रजोगुण है प्रवृत्ति-परिचालनसमर्थ तथा तमोगुण है नियमन अथवा प्रतिबन्धसमर्थ। गुणत्रय है अन्योन्याभिभव-वृत्तिक, अन्योन्याश्रयवृत्तिक, अन्योन्यजननवृत्तिक तथा अन्योन्यमिथुनवृत्तिक। विज्ञान का मत है कि प्रत्यक्ष भौतिक वस्तु (Material Substance) प्रवृत्ति तथा क्रियाशक्ति तो गति, प्रवृत्ति तथा क्रियाश्रयता एवं जड़त्व (Active Power, passivity and enertia) इन तीन धर्मयुक्ता है। भूत तथा भौतिक शक्ति द्वारा वैज्ञानिकों ने इस त्रिगुण को ही लक्ष्य किया है। मानवतत्व ग्रन्थ में, भूत तथा शक्ति नामक ग्रन्थ में मैंने इसका वर्णन किया है। अतः सांख्यदर्शनोक्त भूत तथा शक्तितत्व आधुनिक विज्ञान का प्रधान आलम्बन है, यह कहा जा सकता है।

तथापि यहाँ यह वक्तव्य है कि त्रिगुणतत्व की सांख्य व्याख्यात प्रतिकृति विज्ञान के नेत्रों में आज भी नहीं आ सकी है। पूर्णभाव से वे इसे हृदयंगम नहीं कर सके हैं। जब सांख्य व्याख्यात त्रिगुणतत्व का रूप उनके नेत्रों में पतित होगा, तब

मनः, प्राण, इन्द्रिय, बाह्यार्थ इत्यादि पदार्थ विषयक विवाद अनेकतः मिट जायेगा। सांख्यदर्शन के (अथवा कहा जा सकता है कि श्रुति के उपदेश) उपदेश में चित्त अथवा मनः सत्वगुण प्रधान कहा गया है। यह सत्वगुण प्रधान प्रकृति का परिणाम भी है। वेदान्त दर्शन के पंचकोष अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय के स्वरूप का चिन्तन करने से ज्ञात होता है कि कोषपंचक उक्त गुणत्रय के ही विशेष-विशेष परिणाम हैं। अन्नमय कोष (स्थूल देह) तामस है, तमोगुण प्रधान प्रकृति का कृत्य (कार्य) है। इसीलिए इसमें जड़ता अधिक है। प्राणमय कोष (जो गुणबहुल है) राजस है। यह प्रवृत्ति अथवा क्रियाशक्ति विशिष्ट है। मनोमयकोष, विज्ञानमयकोष तथा आनन्दमयकोष सत्वगुण प्रधान कहे गये हैं। यद्यपि ये सात्विक हैं, तथापि ये तीनों समानरूप से सात्विक नहीं हैं। इनमें यह भेद क्यों? तमोमिश्र सत्वगुण है मनोमयकोष का कारण। रजोमिश्र सत्वगुण है विज्ञानमयकोष का कारण, शुद्धसत्वगुण है आनन्दमयकोष का कारण। मनोमय कोष-प्राणमयकोष के आभ्यन्तर में है। यह आत्मचैतन्य से अपेक्षाकृत प्रत्यासन्न, निकट है। इसमें सर्वान्तर आत्मचैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। स्थूलदर्शी लोग इसी कारण मनोमयकोष को ही 'आत्मा' कहने लगते हैं।

क्रियाशक्ति की जिस प्रकार से आपादमस्तक व्याप्ति उपलब्ध होती है, ज्ञानशक्ति की भी वैसी आपादमस्तक व्याप्ति उपलब्ध होती है। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ मनोमयकोष के अन्तर्भुक्त हैं। (इस सन्दर्भ में तैत्तरीयोपनिषत् की विद्यारण्यमुनिकृत दीपिका भी देखें।)

पाश्चात्य नरशरीरविज्ञानी (Human Physiology) तथा मनोविज्ञान (Psychology) मस्तिष्क को ही ज्ञानशक्ति का एकमात्र आधार कहते हैं, किन्तु श्रुत्यादि शास्त्र का उपदेश है कि मस्तिष्क ही ज्ञानशक्ति का एकमात्र आधार नहीं है। इसे हैमिल्टन, लाड, रिचमण्ड आदि विद्वानों ने स्वीकार किया है। विद्यारण्य मुनि कहते हैं कि एक ज्ञानशक्ति ही त्रिगुण तारतम्यवशात् करणशक्ति, कर्तृशक्ति तथा भोगशक्तिरूप त्रिधा प्रतीयमान होती है। पाश्चात्य विद्वान् मनोमयकोष को ही Mind मानते हैं।

द्रष्टा तथा दृश्य अथवा भोक्ता एवं भोग्य (Subject and object, or mind and matter) इन पदार्थद्वय के स्वरूप से दार्शनिकों ने अनेक विचार किया था। द्वैतवाद ने इन पदार्थद्वय को सम्पूर्ण विभिन्न कहा है। द्वैतवाद इनको सत् पदार्थ मानता है। विज्ञानैकत्ववाद सिद्धान्त का मानना है कि द्रष्टा अथवा भोक्ता (Subject) ही सत्, दृश्य नहीं है, भोग्य की स्वतंत्र सत्ता भी वह नहीं है। जड़ैकत्ववाद के मत से द्रष्टा का दृश्य पृथक् सत्ताक है। भिन्न जातीय पदार्थ रूप में भले ही उपलब्ध हो, परन्तु ये हैं जड़शक्ति के ही परिणाम।

मैत्र्युपनिषत् भोक्तृ तथा भोग्य के स्वरूप दर्शनार्थ जो कुछ कहता है, उसे पहले श्रवण किया जा चुका है। इसे पुनः श्रवण करना होगा। इससे अनेक संशय विनिवृत्त हो जाते हैं। इसका कथन है कि प्रकृति, जगद्बीज, अव्याकृत, इत्यादि शब्द से वाच्य प्रधान ही भोग्य (object) है। जो इस प्रधान के अन्तःस्थ हैं, जो प्रधान (प्रकृति) के अन्दर इसके सत्ताप्रदरूप से अवस्थान करते हैं, वह चेतन पुरुष ही भोक्ता हैं। प्रधान तथा तत्कार्य (त्रिगुणविकार), ये सब हैं भोग्य (object)। यहाँ त्रिगुणविकार से श्रुति ने किस पदार्थ को लक्ष्य किया है?

मैत्र्युपनिषद् स्वयं ही इसका उत्तर प्रदान करता है। जो प्राकृत है, प्रकृति से उत्पन्न है, जो प्रकृति का कार्य है, वही है भोग्य। जब प्रकृति ही भोग्य है, तब जो प्रकृति से समुत्पन्न है, वे प्रकृति के ही कार्य हैं। वे भी भोग्य (object) ही हैं। सत्वादि गुणत्रय के भेद से जिन पदार्थों की उत्पत्ति होती है, उन्हें प्रधानतः कितने भाग में बाँटा जा सकता है? मैत्र्युपनिषद् में कहा है कि महदादि (जिसकी महत् से उत्पत्ति है), विशेषान्त (—विशेष विकार शब्दवाच्य पृथिव्यादि महद्भूत में जिनका अन्त है) ये पदार्थनिचय प्रकृति के विकार (कार्य हैं) हैं। महदादि-विशेषान्त पदार्थ त्रिगुणभेद के ही परिणाम हैं यह सुना, किन्तु जानना यह है कि महदादि विषयान्त समूह शब्द से किस पदार्थ का तात्पर्य है? महत् पदार्थ का स्वरूप क्या है?

पातंजल दर्शन विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र तथा अलिंग सत्वादि गुणत्रय के इन चार पर्व के अवस्थाविशेष का वर्णन किया है। एकादश इन्द्रिय (चक्षु-कर्ण-नासिका-जिह्वा-त्वक् प्रभृति पंच ज्ञानेन्द्रिय, वाक्, पाणि, प्रभृति पंच कर्मेन्द्रिय तथा उभयात्मक मनः) तथा आकाशादि पंचभूत इन 16 पदार्थ को उक्त दर्शन में 'विशेष' इन संज्ञा से अभिहित किया गया है। पंचतन्मात्र (सूक्ष्मभूत) तथा अहंकार—इन 6 को अविशेष संज्ञा से संज्ञित किया गया है। महत्तत्व 'लिंग मात्र' है तथा प्रकृति-प्रधान शब्द से (गुणत्रय की सम्यावस्था) तथा अलिंग संज्ञा से आख्यात होती है।[1] मैत्र्युपनिषद् ने 'महदादिविशेषान्त' एवं शब्दद्वारा महत्तत्व, अहंकारतत्व, पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रिय तथा पंचस्थूल भूत इन 23 तत्व को ही लक्ष्य किया है। ये तत्व त्रिगुणभेद से उत्पन्न होते हैं। महत्तत्व प्रकृति का आद्यविकार है। महत्तत्व ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का सम्मूर्च्छित रूप है। (सम्मूर्च्छित=मिलित)। महदादि विशेषान्त इन 23 त्रिगुणभेद परिणाम को भोग कहने से अन्तःकरण तथा बाह्यकरण भी भोग ही सिद्ध होता है। श्रुति ने भोग्य को अन्तःकरण तथा बाह्यकरणरूपी दो भागों में विभक्त किया है। प्रकृति है 'अव्यक्त भोग्य' तथा महदादि है व्यक्त भोग्य। व्यक्त भोग्य पदार्थ में बुद्धि, अहंकार प्रभृति पुरुष के (भोक्ता) भोग्यकरण है। शब्दादि विषयसमूह हैं कर्म। करण को कर्त्ता मानने से अनेक भ्रम हो जाते हैं। मैत्र्युपनिषद् ने वाक्-पाणि

1. "विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि" —पातंजल दर्शन

प्रभृति पंच कर्मेन्द्रियों को वचन, आदान, गमनादि तथा प्राणन्, अपानन् इत्यादि कर्म को मुख्य प्राण का ही कर्म बताया है। नरशरीर विज्ञान ने प्राणशक्ति की क्रियाविशेष को ही प्रत्यावृत क्रिया (Reflex Action) कहा है। विद्वान् लैण्डोज ने (Dr. Landois) प्रत्यावृत्त क्रिया को ही बाह्य त्वण्डत्पन्न (Superficial), गम्भीर अथवा कण्डरा समुत्पन्न (Deep or Tendon) तथा यान्त्रिक (Organic) इन तीन श्रेणी में विभाजित किया है। श्वास क्रिया शोणित संचालन, क्षतसंरोहण, परिपाक इत्यादि प्राणन व्यापार समूह हैं, यांत्रिक प्रत्यावृत्तक्रिया। अतः कहा है कि नरशरीर विज्ञानी प्राणशक्ति की क्रिया विशेष को प्रत्यावृत क्रिया (Reflex Action) कहते हैं।

भोक्तृ और भोग्यरूपी पदार्थद्वय का इतर व्यावर्तक लक्षण क्या है? जो त्रिगुणात्मक है, अतः अचेतन है—वह है भोग्य। जो निगुण, निर्विकार है, जो आत्मा है, चैतन्य है, वह है भोक्ता। अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब रूपेण पतित चिदाभास, अविवेक के कारण भोक्तृरूपेण प्रतीयमान होने पर[1] भी स्वभावतः भोक्ता नहीं है।

शास्त्र ने भोक्ता तथा भोक्तृ (Subject and Object) इन पदार्थद्वय के इतर व्यावर्त्तक लक्षण कहते समय जो कहा है, उसका तात्पर्य परिग्रह करने पर द्वैतवाद-अद्वैतवाद-जड़ैकत्ववाद-विज्ञानैकत्ववाद के विवाद का भंजन हो जाता है। शास्त्रचरण में शतबार, सहस्रबार प्रणत होना होगा। सत्यज्ञानलिप्सु हृदय विमल आनन्द से परिपूर्ण हो गया। श्रुति का उपदेश है कि जो अपरिच्छिन्न है, जो एकाधिक पदार्थ की संगति नहीं है, अतः जो कूटस्थनित्य है, अपरिणामी है, वही है भोक्ता अथवा द्रष्टा। जो एकाधिक पदार्थ की संहति है, जो परिणामी है, नियत चंचल है, वह कभी भोक्ता अथवा ज्ञाता नहीं हो सकता। प्रकृति है त्रिगुणात्मिका। अतः वह एकाधिक पदार्थ का समूह है, अतः प्रकृति अचेतना है। चिन्तनशील विद्वान् पण्डित स्पेन्सर के मस्तिष्क में अविकारात्मक तथा विकारात्मक शक्तिरूप प्रतिभात हुआ है। उनकी बुद्धि में सर्वकार्य के कारणरूप जो नित्य पदार्थ पतित होते हैं, उनको उन्होंने आदि, अन्तरहित, अपरिच्छिन्न सत्ता कहकर अनुमान किया है। तथापि वे जड़ैकत्ववादी होंगे क्यों, यह मैं समझ नहीं पाता। भोक्तृ तथा भोग्य पदार्थद्वय के व्यावर्तक लक्षण उन्हें हृदयंगम क्यों नहीं हो सके? विषयभोगासक्त चित्त में अपरिच्छिन्न का रूप भी परिच्छिन्न भाव से पतित होता है। पण्डित स्पेन्सर आदि, अन्त, शून्य, अपरिच्छिन्न सत्ता का नाम अवश्य लेते हैं, किन्तु तादृश पदार्थ के प्रकृतरूप का दर्शन नहीं कर पाते। आद्यन्त (आदि-अन्त), शून्य, अपरिच्छिन्न सत्ता अथवा कूटस्थ नित्य पदार्थ कूटस्थ चिन्मय पुरुष से भिन्न अन्य कुछ नहीं है, यह

1. ''प्राकृतभन्नं त्रिगुणभेदपरिणामत्वान्महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्'' —मैत्र्युपनिषत्
तथा ''अनेनैव चतुर्दशविधस्य मार्गस्य व्याख्या कृता भवति''—वही

तथ्य पण्डित स्पेन्सर यथायथरूप से उद्घाटित नहीं कर सके। पतंजलिदेव कहते हैं कि चित्तद्रष्टा (पुरुष) तथा दृश्य (शब्दादि विषय तथा चक्षुरादि इन्द्रियवर्ग) से सम्बद्ध होकर सभी विषय का प्रकाशक होता है। कहा है—

"दृष्टृदृश्योपरोक्तं चित्तं सर्वाथम्"—पातंजल दर्शन

इस सूत्र का भाष्य करते समय भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि चित्त (मनः) मन्तव्य (ज्ञेय object) पदार्थ में उपरक्त-मन्तव्य पदार्थ के आकार में आकारित होता है तथा यह (स्वयं विषय अथवा दृश्य हो) विषयी अथवा आत्मा के साथ अपनी वृत्तियों के साथ अतिसम्बद्ध हो जाता है। चित्त विषय एवं विषयी के साथ सम्बद्ध होकर उभयरूप में भासमान होता है। विषयात्मक (पुरुष-आत्मा का दृश्य) होकर भी अविषयात्मक रूप से स्वयं द्रष्टृ अथवा भोक्तृ (Subject) भाव में अचेतन होने पर भी चेतनरूपेण प्रतिभात होने लगता है। प्रतिबिम्बग्राही स्फटिक के समान सर्वपदार्थ का अवभासक होकर विवेचित होता है। चित्त आत्मा का समानाकार धारण करता है, इसलिए कोई-कोई भ्रान्ति के कारण चित्त को ही चेतन कहते हैं। चित्त के अतिरिक्त 'आत्म' नामक पदार्थ के अस्तित्व को अस्वीकार कर देते हैं। कोई-कोई चित्त को ही एकमात्र सत् कहते हैं। दृश्यमान वस्तुजात को चित्त से व्यतिरिक्त नहीं कहते। इनके मत से चेतनाचेतन जगत् विज्ञान विजृंभण है।

भगवान् वेदव्यास के इन सब अमूल्य उपदेश का तात्पर्य संग्रह करने से जड़वाद, विज्ञानवाद के आविर्भाव का रहस्य खुल जायेगा। पाश्चात्य विद्वान् चित्त व्यतिरिक्त आत्म नामक पदार्थरूप स्पष्टतः नहीं देख पाते, हमारी यही धारणा है। चित्त व्यतिरिक्त आत्म नामक पदार्थरूप स्पष्टतः देखने के लिए समाधि नेत्रों को खोलना होगा। चित्त व्यतिरिक्त आत्म नामक पदार्थ का रूप स्थूल प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। अनुमान नेत्रों से भी इसका यथायथभाव से निरीक्षण नहीं हो सकता।

विद्वान् हर्बर्ट स्पेन्सर इन्द्रिय-मनः-प्राण आदि को जड़शक्ति का कार्य कहते हैं। श्रुति तथा सांख्य तथा वेदान्तदर्शन भी इसे त्रिगुण का कार्य कहते हैं। अतः ज्ञातव्य होना है कि पण्डित स्पेन्सर के साथ इस विषय में श्रुत्यादि शास्त्र का क्या मतैक्य है ? विद्वान् स्पेन्सर यदि जड़-चेतन के शास्त्रवर्णित रूप का यथायथभाव से अवलोकन कर सकते, तब जो परिणामी, विकारात्मक है जो संहत, परप्रकाश्य है, वह जड़ तथा जो कूटस्थनित्य, अपरिणामी, अविकारी है वह चैतन्य ज्ञात होता। यदि वे जड़ तथा चैतन्य के इस वैधर्म्य की उपलब्धि कर सकने में समर्थ होते, "तब मनः प्राण इन्द्रियाँ जड़शक्ति का कार्य अथवा त्रिगुण परिणाम होने पर भी गुणत्रय के तारतम्य के कारण परस्पर भिन्नधर्माकान्त हो जाती हैं" इस शास्त्रोपदेश का तात्पर्य ग्रहण करने में यदि वे समर्थ हो जाते, तब उनके मत के साथ शास्त्रमत में ऐक्य हो जाता!

भले ही सांख्य में प्रकृति को सर्वविध परिणामसाधिका कहा हो, किन्तु चैतन्य को भौतिक देह (स्नायु प्रभृति का) का धर्म नहीं कहा। यदि चैतन्य देह का

स्वाभाविक धर्म होता, तब मरण तथा सुषुप्ति का अभाव होता। क्योंकि देह की अचेतनता ही मरणादि विकार है। स्वभाव यावद्द्रव्यभावी है। जितने दिन द्रव्य रहता है, उतने दिन उसके स्वभाव का नाश नहीं होता। द्रव्य का नाश होते ही स्वभाव विनष्ट हो जाता है। जब देह विद्यमान रहने पर मरणादि विकार हो रहे हैं, तब चैतन्य को देह का स्वभाव नहीं कह सकते।[1] चैतन्य शरीर का स्वाभाविक धर्म नहीं है। उसके प्रतिपादनार्थ महर्षि गौतम भी अविकल रूप से यह बात कहते हैं। रूपादि शरीर का स्वाभाविक गुण है (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध=रूपादि)। शरीर कभी भी रूपादि से विहीन नहीं हो सकता, किन्तु चेतनाविहीन हो जाता है।[2] अतएव चैतन्य जड़देह का धर्म है, यह मानना शास्त्र तथा युक्ति से विरुद्ध है।

जड़ अथवा अचेतन प्रकृति विविध परिणाम साधन करती है, उसका क्या कारण है। क्रमविकासवादीगण इसके उत्तर में कहते हैं कि परिणाम साधन प्रकृति का साधन अथवा प्रयोजन है। प्रकृति कभी तो प्रवृत्ति स्वभाव, तो कभी निवृत्ति स्वभाव, क्यों हो जाती है? अचेतन प्रकृति जो सृष्टि तथा लय (Evolution & Dissolution) इन दो विपरीत कार्य का सम्पादन करती है, उसका हेतु क्या है? क्रमविकासवादीगण इसका जो उत्तर प्रदान करते हैं, उसका निगलितार्थ है कि ऐसा उसका स्वभाव जो है! सांख्यदर्शन का कथन है कि दुग्ध जिस प्रकार बिना किसी पुरुष-प्रयत्न के दधिरूप हो जाता है, जैसे जल सर्वदा नीचे की ओर प्रवाहित होता है, जैसे एक ऋतु के अनन्तर अन्य ऋतु क्रमशः आते रहते हैं, उसी प्रकार प्रकृति अन्य की प्रेरणा के बिना, स्वभावतः बिना भोगकामना के विविध परिणाम का साधन करती है। अनादि कर्मसंस्कार को भी इस सांख्यदर्शन में प्रकृति की परिणाम प्रवृत्ति का कारण कहा गया है।

प्रकृति स्वभावतः परिणाम साधन करती है, यह तो ज्ञात हुआ, किन्तु प्रश्न उठता है कि प्रकृति के इस प्रकार के परिणाम साधन का प्रयोजन क्या है? अथवा यह निष्प्रयोजन सृष्टि रचना करती है? सांख्य ने इसके उत्तर में कहा है कि प्रधान (प्रकृति) स्वतः सृष्टि भले ही करती है, किन्तु उसका सृष्टि निष्प्रयोज्य नहीं है। पुरुष का भोग तथा मुक्ति ही इसके जगत् सृजन का प्रयोजन है।[3]

वेद कहते हैं कि प्रकृति चिदात्मा के अधीन है। प्रकृति परतंत्रा है, स्वतंत्रा नहीं है। प्रकृति परमेश्वर कर्तृक प्रेरित होकर विषमत्व प्राप्त करती है। परमेश्वर ही उसका क्षोभ करते हैं। अतः प्रश्न होगा कि सांख्य क्या श्रुतिविरोधी मत है? क्या उसने जड़ैकत्ववादियों की ही तरह जड़ प्रकृति को ही सर्वेसर्वा नहीं कहा?

---

1. "प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च"—सांख्यदर्शन, 3।21
2. "यावच्छरीरभावित्वाद्रुपादीनाम्"—न्यायदर्शन
3. "प्रधानसृष्टिः परार्था स्वतोऽप्यडोक्तृत्वादुष्ट्रकुंकुमवहनवत्"—सांख्यदर्शन, 3।58
   "कर्मबद्धष्ठेर्वा कालादेः"—सांख्यदर्शन, 3।60

सांख्यदर्शन सर्वज्ञानशक्तिमत्, सर्वक्रियाशक्तिमत् पुरुष सामान्य के अस्तित्व को स्वीकार करता है। अयस्कान्त (Magnet) की सन्निधिमात्र से लौह की जो प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान पुरुष के सन्निधिमात्र से प्रकृति में प्रवृत्ति होने लगती है। अतएव सांख्य आधुनिक क्रमविकासवाद के साथ सर्वांश में साम्यपूर्ण नहीं है। वह श्रुतिविरोधी भी नहीं है।[1] यह दर्शन एक बार कहता है कि प्रकृति पुरुष प्रयत्न बिना ही सृष्टि करती है, जगत् स्रष्टा ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यही दर्शन फिर कहता है कि प्रकृति ईश्वर की प्रेरणा से जगत् सृजन करती है। क्या इससे सांख्य स्ववचन विरोधी सिद्ध नहीं होता?

"प्रकृति जगत् सृष्टि करती है, महदादिरूप से जगदादिरूप में परिणत होती है" इस वाक्य के श्रवणानन्तर श्रोता की जिज्ञासा होती है कि प्रकृति का जगत् सृष्टि का प्रयोजन क्या है? प्रकृति निष्प्रयोजन जगत् सृजन करती है, यदि यह कहा जाये, तब मुक्त भी बन्धन विशिष्ट प्रतीत होने लगेंगे। यह नियम है कि बिना प्रयोजन कभी किसी की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः प्रकृति निष्प्रयोजन सृष्टि करती है, यह सम्भव नहीं है। सांख्य का मत है कि पुरुष के भोग तथा अपवर्ग (मोक्ष) के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति जगत् सृष्टि की होती है। पातंजल दर्शन भी दृश्य (object) का स्वरूप प्रदर्शन करते समय कहते हैं कि प्रकाशशील सत्व, क्रियाशील रजः एवं स्थितिशील तमः, यह गुणत्रय ही दृश्य, भूत तथा इन्द्रियरूप से (तमोगुण प्राधान्य से स्थूलभूत तथा सत्वगुण की प्रधानता से इन्द्रिय) सत्वादि गुणत्रय का परिणाम होता है। पुरुष का भोग तथा अपवर्ग ही सत्वादि गुणत्रय का प्रयोजन है। भोग (सुख-दुःख का—इष्टानिष्ट का साक्षात्कार) तथा मोक्ष, इन भिन्न सृष्टि का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, इसे समझा जा सकता है। किन्तु बात तो यह है कि क्या अचेतन प्रकृति को बोध होगा कि 'यह मेरा कर्तव्य है' यद्यपि प्रकृति जड़ है, अचेतन है, तथापि पुरुष के सान्निध्य से सचेतनवत् हो जाती है।

महर्षि कपिल ने 'ईश्वर प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध नहीं होता' (ईश्वरासिद्धे—सांख्यदर्शन, 1।92) इस प्रकार की बात क्यों कहा? पहले ही कहा गया है कि ईश्वर के प्रकृतरूप को दिखलाने के लिए 'ईश्वर' नामक पदार्थ सम्बन्धित अपूर्ण तथा भ्रान्तज्ञान के प्रोत्सारणार्थ ईश्वर सिद्धि के प्रतिकूल महर्षि कपिल अनेक तर्क-वितर्क करते हैं। लौकिक प्रत्यक्ष तथा तन्मूलक अनुमान तथा तर्क से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध न होने पर भी बालकोचित विचार द्वारा ईश्वर की सिद्धि असम्भव होने पर भी कोई दोष नहीं होता। यह महर्षि कपिल समझा रहे हैं। सांख्य में उपदेश है कि 'ईश्वर का अस्तित्व लौकिक प्रत्यक्षादि द्वारा सप्रमाण नहीं होता' इत्यादि उपदेश की प्रकृति का तात्पर्य क्या है, उसका विशेष चिन्तन न करके अनेक विद्वानों

1. "स हि सर्ववित् सर्वकर्ता"—सांख्यदर्शन, 3।56

ने कपिल को निरीश्वरवादी अथवा नास्तिक कहा है। 'ईश्वर की सिद्धि न होना' (ईश्वरासिद्धेः), यह एक असम्पूर्ण वाक्य है। लोग अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार इस वाक्य को ऐसे पूरा करते हैं कि "ईश्वर की सिद्धि न होने से ईश्वर नहीं है"। इस निमित कपिल ने ईश्वर का प्रतिषेध किया है, ऐसा सिद्धान्त बना लेते हैं। यदि 'ईश्वर नहीं है' यही कहना कपिल का प्रयोजन होता, तब वे स्पष्टतः ईश्वर के अभाववशतः इस बात को कहते। लोग 'ईश्वर' शब्द से जो समझते हैं, वह श्रुति प्रतिपादित ईश्वर का स्वरूप नहीं है। ऐसे ईश्वर का प्रतिपादन सरल होने पर भी सत्यानुसन्धानरत सूक्ष्मविचारशील पुरुष की दृष्टि में सुसाध्य रूप से विवेचित न होता। 'ईश्वर है' यह विश्वास असभ्य बर्बर जातियों में भी विद्यमान है। लेकिन उन्होंने ईश्वर के स्वरूप को तो देखा नहीं है, तथापि उनकी मुक्ति का वह कारण नहीं है। ईश्वर शब्द से साधारणतः लोग जो समझते हैं, वह तर्क द्वारा सिद्ध नहीं है। (वह विश्वाससिद्ध है)। यही प्रदर्शित करने के लिए महर्षि कपिल कहते हैं कि ईश्वर को तुम मुक्त पुरुष कहोगे अथवा वद्धपुरुष कहोगे? उन्हें क्लेशादिमुक्त कहोगे अथवा क्लेशादिबद्ध कहोगे? क्योंकि मुक्त तथा बद्ध के अतिरिक्त पुरुषान्तर का अस्तित्व नहीं मिलता। यदि ईश्वर को मुक्त कहो तब अभिमान रागादि के अभाव से उनके द्वारा विश्व जगत् का स्रष्टत्व असिद्ध हो जायेगा। अभिमान रागादि के रहते मुक्ति नहीं मिलती और इसके अभाव में द्रष्टत्व असम्भव है। तब क्या ईश्वर प्रतिपादक श्रुतिवचन मिथ्या है? ना, वह मिथ्या नहीं है। ईश्वर प्रतिपादक श्रुति समूह की कैसे उत्पत्ति होगी?

श्रुति में ईश्वर शब्द शुद्ध चिन्मय निर्गुणब्रह्म, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर प्रभृति सिद्ध पुरुष विशेष के लिए प्रयुक्त है। श्रुति जहाँ ईश्वर के संकल्प से स्रष्ट्त्वादि का प्रतिपादन करती है, वहाँ उपासनार्थ ब्रह्मादि को लक्ष्य किया है। श्रुति अनेक स्थल में तो ईश्वर को प्रकृत्यादि अखिल पदार्थ के अधिष्ठाता के रूप में वर्णन करती है। जिसके संकल्पादि द्वारा किसी पदार्थ का कोई परिणाम होता है, लोक उसे ही उस पदार्थ का अधिष्ठाता कहते हैं। अतएव संकल्पविहीन निर्गुण ब्रह्म का यथोक्त लक्षण अधिष्ठातृत्व सिद्ध नहीं होता। अतएव संकल्परहित निर्गुण ब्रह्म के यथोक्त लक्षण का अधिष्ठातृत्व सिद्ध कैसे होगा? महर्षि कपिल का कथन है निर्गुण ब्रह्म के संकल्पपूर्वक द्रष्टत्व सिद्ध नहीं होता। इसी कारण मैंने इस मत के प्रत्याख्यान पूर्वक अयस्कान्तवत् (जैसे चुम्बक की सन्निधि में लौह का प्रेरण। चुम्बक संकल्प करके लोहे का आकर्षण नहीं करता, वह स्वयं आकर्षित हो जाता है) प्रेरकतत्व को स्वीकार किया है। श्रुति का कथन है ईश्वर ने 'मैं बहुः होऊँगा' इस प्रकार का संकल्प करके जगत् सृष्टि प्रारम्भ की। (तदेक्षत् बहुस्यां प्रजायेय)। ऐसी हालत में कैसी उत्पत्ति होगी? सांख्याचार्यों ने इसकी दो प्रकार की उत्पत्ति का वर्णन किया है

(1) 'कूल पतित होने की इच्छा कर रहा है।' इस प्रकार से यहाँ श्रुतिवचन को (प्रकृति विषयक) गौण अथवा औपचारिक मानना होगा। (2) अथवा ऐसे श्रुतिवाक्य बुद्धिपूर्वक सृष्टि प्रतिपादक है, अबुद्धिपूर्वक आदिसर्ग प्रतिपादक नहीं है। बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक, यह द्विविध सृष्टि का स्वरूप क्या है? जो सब कर्म संकल्पमूलक है वह है बुद्धिपूर्वक और जो एतद्विपरीत है वह है अबुद्धिपूर्वक। 'इस पदार्थ से यह कार्य सिद्ध होगा' ऐसी बुद्धि ही संकल्प नाम से अभिहित की जाती है। बुद्धिपूर्वक कर्मानुष्ठान में कर्ता प्रथमतः पदार्थ का संदर्शन-स्वरूपावधारण करते हैं। जो पदार्थ जैसे कार्य का सम्पादन करेगा, जिसमें जैसी कार्य-निष्पादन की योग्यता है, यह निश्चय करते हैं। सन्दृष्ट प्रमाण द्वारा जिस प्रकार के कार्य-निष्पादन की योग्यता है, वह निश्चय करते हैं। सन्दृष्ट प्रमाण द्वारा प्रमित अथवा बुद्धि के विषयीभूत अर्थ यदि उसके ईप्सित रूप में निश्चित होते हैं, तब वे वह प्रार्थना करते हैं। तदनन्तर प्रार्थित पदार्थ जिस उपाय से समधिगत होगा, यह स्थिर करते हैं। तदनन्तर कर्म का प्रारम्भ होता है। बुद्धिपूर्वक कर्म का यही स्वरूप है।

सन्दर्शन पदार्थ स्वरूप का निरूपण, प्रार्थना अथवा अध्यवसाय, यह त्रिविध मानस व्यापार सर्व प्रकार की बाह्यक्रिया प्रवृत्ति का मूलक आद्यपर्व है। आद्यावस्था है। बुद्धिपूर्वक कर्म के (Voluntary Action) स्वरूप प्रदर्शन करने के लिए उद्यत होने पर अध्यापक साली जो कहते हैं, उसे स्मरण करो। अध्यवसाय अथवा इच्छा को (The Rise of some desire in mind) वे बुद्धिपूर्वक कर्म की आद्यावस्था (Initial Stage), समीहा, चेष्टा तथा आरम्भ को द्वितीयावस्था तथा क्रिया को अन्त्यावस्था कहते हैं। तनिक चिन्तन से उपलब्धि होगी कि अध्यवसाय, समीहा अथवा चेष्टा एवं क्रिया एक ही शक्ति के लिए स्थान तथा अवस्था भेद से भिन्न-भिन्न प्रदत्त संज्ञामात्र हैं, ये स्वरूपतः भिन्न पदार्थ नहीं हैं। इच्छाशक्ति की अन्त्यावस्था ही कर्म नाम से परिचित पदार्थ है (The last stage of the voilition is known as the act)। जो कर्म बुद्धिपूर्वक नहीं है, उन्हें स्वयंसिद्ध (Automatic), प्रत्यावृत्त (Reflex), साहजिक अथवा यादृच्छिक (Spontaneous) इत्यादि नाम से लक्षित किया जाता है। हृदयन्त्र, फुसफुस, वृक्क, यकृत इत्यादि इत्यादि शारीरिक यन्त्र समूह का स्पन्दन अबुद्धिपूर्वक कर्म का दृष्टान्त है। जिसे स्वयंसिद्ध कर्म कहा गया है, उसका स्वरूप चिन्तन करने पर प्रतिपन्न होगा कि स्वभाव अथवा संस्कार ही उसका कारण है। मैं इच्छा करूँ अथवा न करूँ, श्वासयन्त्र स्वकार्य साधन करता है। पाकयन्त्र अपना पाक-कार्य निष्पादित करता है। हृदययन्त्र का भी नर्तन मुझसे पूछ कर नहीं होता, वह अविराम चलता है। निद्रितावस्था में तलवे में यदि खुजलाया जाये, तब निद्रित व्यक्ति बिना जागे उसी निद्रावस्था में अपना पैर हटा लेता है। अतः ऐसे कृत्य संकल्पमूलक नहीं हैं। किन्तु

जिज्ञासा होती है कि ये सब जो अपना कार्य करते हैं, इसका कारण क्या है? विज्ञान इसके उत्तर में कहता है, श्वास यन्त्रादि का यही स्वभाव है। श्वासयन्त्र, पाकयन्त्र, वृक्कयन्त्र इत्यादि शरीरयन्त्र एक अविशेष Cell नामक पदार्थ के कार्य हैं। नरशरीर विज्ञान भी यही कहता है। अतः प्रश्न है कि अखिल शरीर यन्त्र के उपादान में यथोक्त सेल नामक पदार्थ की पृथक्-पृथक् कार्य करने की शक्ति पूर्व से ही विद्यमान रहती है। भिन्न-भिन्न रूप कर्म निष्पादन की योग्यता Cells समूह का स्वभाव है। आत्मनिष्ठ धर्म है। अथवा सन्निवेश तथा संख्याभेद प्रभृति कारण से उनकी पृथक्-पृथक् कर्म करने की योग्यता उत्पन्न होती है? यदि कहें कि सन्निवेश तथा संख्याभेद आदि कारण से उनमें भिन्न-भिन्न कार्य करने का सामर्थ्य आता है, तब Cells किसलिए अलग-अलग रूप से सन्निवेशित होते हैं, उनमें भिन्न-भिन्न संख्या में सम्मूर्च्छित होने का हेतु क्या है? तत्वानुसन्धित्सु के लिए इन जिज्ञासा के समाधान का प्रयोजन होगा। क्रमविकासवादी पण्डित कहते हैं कि भिन्न-भिन्न कर्म का निष्पादन ही Cells को भिन्न-भिन्न भाव से सन्निवेशित करता है। शास्त्र के अनुसार समुदाय वस्तु कारणात्मा में अवस्थित स्व-स्व परिणाम शक्ति द्वारा ही स्थूल रूप में परिणत होती है। संस्कारवादी प्रकृति ही सृज्य पदार्थ जात की प्रधान सृष्टि का कारण है। ईश्वर इसकी बीजांकुर रूप से परिणति में वृष्टिपात के सामान पर्जन्यवत् (सान्निध्य मात्र द्वारा) निमित्त कारण है।[1] बीज की अंकुररूप परिणति अबुद्धिपूर्वक कर्म है। अबुद्धिपूर्वक कर्म को समझने के लिए संस्कारवर्ती प्रकृति, कारणात्मा में अवस्थित परिणामशक्ति तथा ईश्वर सान्निध्य तथा ईश्वर के सान्निध्यमात्र से चेतन का प्रेरकत्व—यह दो कारण है। (चेतन का प्रेरकत्व अर्थात् जैसे चुम्बक लोहे को आकर्षण शक्ति द्वारा प्रेरित करता है। वह संकल्प करके लोहे को नहीं खींचता, उसका सान्निध्य स्वतः बिना इच्छा के लोहे को खींचता है। वैसे ही ईश्वर के सान्निध्य मात्र से सृष्टि क्रिया होने लगती है।)। सांख्य चेतन के निमित्तत्व को स्वीकार करता है। पुरुष के सन्निधान मात्र द्वारा प्रेरकत्व मानता है। अतएव जड़ैकत्ववादीगण के साथ सांख्यदर्शन की एकता है। बुद्धिपूर्वक कर्म के साथ अबुद्धिपूर्वक कर्म का क्या पार्थक्य है, अब यह चिन्ता करना है। बुद्धिपूर्वक कर्म के साथ अबुद्धिपूर्वक कर्म का पार्थक्य क्या है, वह जानने के लिए यह स्थिर करना है कि बुद्धि कौन-सा पदार्थ है।

सांख्य का मत है कि बुद्धि प्रकृति के आद्यविकार महतत्व का अपरपर्याय है। निश्चयाख्य अध्यवसाय इसकी साधारणी वृत्ति है। अध्यवसाय बुद्धि की वृत्ति है।

---

1. निमित्तमात्रमेवासीत् सृज्यनां सर्गकर्मणि।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तय:॥
निमित्तमात्रं मुक्तवकंनान्यत् किंचिदवेक्षते।
नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तुवस्तुताम्॥ —विष्णुपुराण, 1।4।51-52

बुद्धि का कार्य है। तब सांख्यदर्शन यह क्यों कहता है कि अध्यवसाय ही बुद्धि है। ऐसा क्यों कहा गया? वास्तव में धर्मी से धर्म भिन्न नहीं है। सांख्यदर्शन ने इसी कारण 'अध्यवसायो बुद्धि' यह कहा है। बुद्धि को महतत्व क्यों कहा गया। जिसका बहुकार्य व्यापकत्व है, जो महान् ऐश्वर्ययुक्त है, जो सर्वतोमुखी प्रभुताविशिष्ट है, उसे लोक में महान् कहा गया है। बुद्धि स्वयं से इतर अखिल कार्य का व्यापक है। यह महान् ऐश्वर्ययुक्त है। इसी कारण बुद्धि को महत्तत्व कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ऋग्वेदादि वेद इस महत् अथवा हिरण्यगर्भ से निःश्वासवत् आविर्भूत हुए हैं। शतपथ ब्राह्मण में 'महत्' शब्द द्वारा यहाँ महत्तत्वादि से अधीष्ठित चैतन्य को ही लक्ष्य कहा है। वेदादि शास्त्र पढ़ने से जाना जाता है कि पृथिव्यादि अचेतन पदार्थाभिमानी चेतन को समझाने के लिए वेदादि शास्त्र पृथिवी, जल इत्यादि शब्दों का व्यवहार करते हैं। अबाधित दृष्टि सर्वज्ञ शास्त्र का ऐसा करना ही उचित भले ही है, किन्तु इसके लिए परिच्छिन्न ज्ञान वाले उन्नतमन्य पुरुषवृन्द से शास्त्र को 'जड़ोपासक' 'असभ्य' ऐसे मधुरवचन (!) सुनना पड़ा है।

जैसे अध्यवसाय महत्तत्व का धर्म है, वैसे ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य भी महत्तत्व के ही धर्म अथवा कार्य हैं। बुद्धि है इनका उपादान। धर्मादि को महत्तत्व का कार्य क्यों कहा गया? बुद्धि निरतिशय सत्वगुण का कार्य है। धर्मादि भी सत्वगुण के परिणाम हैं। इसलिए धर्मादि को निरतिशय सत्वगुण का कार्य तथा बुद्धि अथवा महत्तत्व का कार्य कहा गया है। अधर्मपरायण मनुष्य समूह, पश्वादि आसन्न चेतन जीवों में भी बुद्धि का अंश है, तब इनमें अधर्म की प्रबलता क्यों है? महत्तत्व ही रजः तथा तमःरूपी शक्तिद्वय (गुण) के उपरागवशात् क्षुद्रधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, तथा अनैश्वर्य (शक्तिहीनता) का कारण बन जाता है। श्रुति-स्मृति आदि शास्त्र ने सरल पुरुष को ईश्वर कहा है, इस विवेचना से वह सरल रूप से बोधगम्य हो गया। रजः तथा तमः द्वारा स्वाभाविक ऐश्वर्य के आवृत होने के कारण अन्यान्य उपाधि का ऐश्वर्य परिच्छिन्न अथवा अपकृष्ट हो गया।

बुद्धि तथा महत्तत्व को नित्य तथा अनित्य भागद्वय में विभक्त किया गया है। कारणरूप वृद्धि नित्य है। कारणरूप बुद्धि प्रकृति में नित्यभावेन विद्यमान है। कार्यरूप बुद्धि अनित्य है। इसका उत्पत्यादि परिणाम होता है। महत्तत्व से अहंकार परिणाम प्रसृत होता है। अहंकार अन्तःकरण द्रव्य है। अभिमान इसकी असाधारण वृत्ति है। इसका कार्य किंवा धर्म है। एक ही अन्तःकरण बीज, अंकुर तथा वृक्ष के समान बुद्धि, अहंकार तथा मनःरूपी अवस्थात्रय भेद हेतु कार्य कारणभाव को प्राप्त हो जाता है। इसी कारण पुराणादि शास्त्र महत्-मनः-मति-ब्रह्मा-बुद्धि-ज्ञान-ईश्वर इत्यादि को समानार्थक कहते हैं।

निश्चय—अध्यवसाय बुद्धि की वृत्ति है। बुद्धि से निश्चित पदार्थ ही लोक में 'मैं', 'मेरा' ज्ञान को उत्पन्न करते हैं जो अहंकार के ही वृत्तिरूप हैं। अहंकार भी

सात्विक-राजस-तामस भेद से त्रिविध है। सात्विक अहंकार से ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा उभयात्मक मन का तथा तामस अहंकार से पंचतन्मात्र अथवा पंचसूक्ष्मभूत का परिणाम होता है।

बुद्धि का जो लक्षण यहाँ विदित हुआ है, उसमें कर्ममात्र ही बुद्धिपूर्वक है। क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता? जिसे हम स्वाभाविक अथवा स्वयंसिद्ध कर्म कहते हैं, वे भी बुद्धिपूर्वक कर्म हैं, क्या इसमें कोई सन्देह है? जो सब कर्म सात्विक अहंकार से उत्पन्न है, इन्द्रिय तथा मन की क्रिया के अधीन हैं, उन्हें हम सचराचर बुद्धिपूर्वक क्रिया कहते हैं। जो सकल कर्म तामस अहंकार द्वारा निष्पादित होते हैं अथवा जो समष्टि अथवा व्यष्टि महत्तत्व कर्तृक हैं, वे ही अबुद्धिपूर्वक कर्म के नाम से अभिहित हैं।

संस्कार का नूतनत्व-पुरातनत्व अथवा सादित्व-अनादित्व भी कर्म को दो भागों में विभक्त करने वाला हेत्वन्तर है। जीववृन्द स्व-स्व जाति के अनुसार (संस्कारानुसार) कर्म करते हैं। वह सब अबुद्धिपूर्वक कर्म है। जीववृन्द बिना शिक्षण के स्वभावत: जन्म से ही अपनी-अपनी जाति के कर्म में प्रवृत्त होते हैं, पूर्व संस्कार इसका कारण है। यही संस्कार अथवा कर्मवासना अपने-अपने संस्कार के वश में कर्म करती है। बाह्यप्रकृति में किंवा बीजदेह में बुद्धिपूर्वक, अबुद्धिपूर्वक जो क्रियाएँ संघटित होती हैं, हम अदूरदर्शितावश उनकी उपलब्धि नहीं कर पाते। वह सब वास्तव में संकल्पमूलक है। भौतिक जगत् में संकल्पशक्ति वास्तव में अन्धे के समान प्रकृति के नियम का पालन करती है। आकर्षण तथा विप्रकर्षण करती है, यान्त्रिक, रासायनिक तथा दैहिक क्रिया का विनियमन करती है। भौतिक जगत् मानवीय संकल्प की मुखापेक्ष न करके, इन सभी कर्म का सम्पादन करने में समर्थ है। अवधानमूलक कर्म बुद्धिपूर्वक तथा अनवधानमूलक कर्म अबुद्धिपूर्वक संज्ञा से अभिहित किया गया है।

(1) ईश्वर अपनी विभूति दिखलाने के लिए संस्कार की सृष्टि करते हैं।

(2) बिना विचार के जैसे स्वप्न अकस्मात् उत्पन्न होता है, जगत् भी अकस्मात् उत्पन्न है।

(3) जगत् सृष्टि माया विजृम्भण मात्र है।

(4) प्रभु की इच्छा ही सृष्टि का कारण है।

(5) काल से भूत-समूह उत्पन्न होते हैं।

(6) जगत् सृष्टि भोगार्थ होती है।

(7) परमेश्वर की क्रीड़ा के लिए सृष्टि होती है।

माण्डूक्योपनिषत् की गौड़पादकारिका में सृष्टि प्रयोजन विषयक यह सप्तविध मत अंकित है। तदनन्तर सिद्धान्त किया गया कि सृष्टि तो परमेश्वर का स्वभाव है। आप्तकाम अथवा निस्पृह परब्रह्म का क्या प्रयोजन हो सकता है? निर्गुण

ब्रह्म का स्वभाव है सच्चिदानन्दैकरसत्व तथा मायाविशिष्ट सगुण ब्रह्म का स्वभाव है सृष्टि–स्थिति–संहार।[1]

जड़वादी भी तो स्वभाव को कारण कहते हैं, तब श्रुति के साथ उनका पार्थक्य कैसे? जैसा पार्थक्य अग्नि से जल का है, दिन के साथ रात्रि की जैसी भिन्नता है, वैसा ही पार्थक्य श्रुति तथा स्वभावैकशरण जड़वादियों के बीच है। स्व का भाव स्वभाव। स्व=आत्मा। आत्मा की सगुण–निर्गुण दो अवस्था है। अतएव स्वभाव शब्द भी आत्मा की सगुण तथा निर्गुण अवस्था का वाचक है। अखण्ड सच्चिदानन्दमयत्व निर्गुण आत्मा का स्वभाव है, स्वभाव से जगत् सृष्ट होता है, इस शास्त्रवचन का तात्पर्य है कि चैतन्याधिष्ठित प्रकृति से जगत् की रचना होती है। यदि जड़ैकत्व–वादीगण स्वभाव का प्रकृत तथा पूर्णरूप देखना चाहें, तब उन्हें सांख्य के साथ अपने मत का ऐक्य करना होगा। तब वे श्रुति को विमल विज्ञान जननी कहकर समझने लायक होंगे। ऐसी स्थिति में तत्वदर्शी ऋषियों ने श्रुतिवचन के सामने अपना मस्तक अवनत किया था, उसी तरह ये भी नतमस्तक हो सकेंगे।

सांख्यदर्शन ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है अथवा नहीं, इसे संक्षेप में बतलाया गया। सांख्यदर्शन ने यह कहा कि ईश्वर का अस्तित्व लौकिक प्रत्यक्षादि द्वारा सिद्ध न होने पर भी कोई क्षति नहीं है। इसका वर्तमान विवेचना में किंचित् आभास दिया गया। वेदान्तादि आस्तिक दर्शन समूह के साथ सांख्यदर्शन का मूलतः कोई विरोध नहीं है। पुराण–तन्त्र–इतिहास–ज्योतिष–आयुर्वेद में सांख्यमत ही समादृत है। योगी भी सांख्यमत का अनुवर्तन करते हैं। कर्मी के लिए सांख्यमत के अतिरिक्त कोई गत्यन्तर नहीं है। वैदिक आर्य जाति की प्रणाली सांख्यमत के समान ही है। भक्त तथा भगवान् महर्षि कपिल के चिरऋणी हैं, जिन्होंने वेद प्रसूत सांख्यदर्शन के प्रकृत रूप का निरीक्षण किया है, जो विष्णु के अवतार विशेष हैं। भगवान् कपिल के अमूल्य तत्वोपदेश का सार मर्म यथायथ भाव से ग्रहण करके वैदिक आर्य जाति में उसे स्वीकार किया गया है। यह ज्ञानपिपासु की ज्ञानपिपासा का आसेचक, योगी की आराध्य सामग्री, भक्त की अमूल्यनिधि तथा नास्तिक को तड़ित करने वाला भयानक मुद्गर है।

अव्यक्त, अव्याकृत, गुणसाम्य तथा कारण प्रकृति का पर्याय है। इस प्रकृति के अन्तर में सर्वव्यापक पुरुष अधिष्ठित हैं। परब्रह्म भगवान् वासुदेव जब जगत् सृष्टि

---

1. विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैविकल्पिता॥
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ते क्रीड़ार्थमितिचापरे। देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥
—माण्डूक्य कारिका

की इच्छा करते हैं, तब उनका संकर्षण संज्ञक अंश बहिर्गत होकर सन्निधिस्थ प्रकृति पुरुष को क्षोभित करता है। क्षुब्ध प्रकृति पुरुष से बुद्धिलक्षण महत्तत्व का आविर्भाव कहा गया है। यह भगवान् का प्रद्युम्न नामक अंश है। विक्रियमाण महत्तत्व से अहंकार की अभिव्यक्ति होती है। यह भगवान् का अनिरुद्ध नामक अंश है। वेदोक्त हिरण्यगर्भ तथा सांख्योक्त महत्तत्व समान पदार्थ है।

श्रीमद्‌भागवत के 26वें अध्याय में सांख्यमत विवृत्त हुआ है। इस ग्रन्थ में कपिल को भगवान् विष्णु का अवतारत कहते हैं। श्रीमद्‌भागवत् में कहे गये सांख्यमत को संक्षिप्त रूप में कहा जा रहा है।

भगवान् कपिल ने पुरुष तथा प्रकृति को मूलपदार्थ माना है। आत्मा ही पुरुष है। पुरुष का स्वरूप अनादि, निर्गुण, प्रकृति से भिन्न, प्रत्यग्धामा (प्रतिलोम धाम-स्फूर्ति-प्रकाश है जिसमें), स्वयंज्योति, विश्व प्रकाशक है। अनादि कहकर आत्मा की क्षणिकता का विवाद समाप्त किया गया है। प्रकृति से परे का अर्थ है, ये संसारी नहीं हैं। असंग हैं। निर्गुण अर्थात् ज्ञानस्वरूप। स्वयंप्रकाशत्व अर्थात् जिनसे विश्व प्रकाशित है। यहाँ प्रकृति को सूक्ष्मा, अव्यक्ता, दैवी अर्थात् विष्णुशक्ति और त्रिगुणमयी कहते हैं। श्रीधरस्वामी कहते हैं कि आवरण तथा विक्षेपशक्तिभेद से प्रकृति द्विविधा है। आवरण शक्ति द्वारा प्रकृति ही जीवोपाधि अविद्या रूप से तथा विक्षेपशक्ति द्वारा परमेश्वरी मायारूप से विद्यमान रहती है। इसमें जो वेदान्त का अभिमत है, उसे आगे कहा जायेगा। पुरुष का भी ईश्वर तथा जीवरूप से दो भेद है, जो प्रकृति का अविवेकवशतः संसरण करें, अवशभाव से जन्मादि विकारस्त्रोत में बह जायें, वे जीव हैं। जो प्रकृति को वश में करके विश्व की सृष्टि स्थित तथा पालन करें वे ईश्वर हैं।[1] पुरुष तथा प्रकृति अनादि हैं। तैत्तरीय आरण्यक में कहा गया है कि अजा (जिनका जन्म ही नहीं है, अनादि है) मूल प्रकृतिरूपा माया त्रिगुणात्मिका है। ये ही देव, तिर्यक्, मनुष्यादि प्रजा का प्रसव करती हैं। एक ही प्रकृति से कितने प्रकार के विचित्र कार्यों की उत्पत्ति होती है, इस सम्बन्ध में श्रुति का कथन है कि अजा प्रकृति त्रिगुणात्मिका होकर भी कर्मसंस्कारवती है। अतः इन एक से ही बहुविध प्रजा तथा विविध विचित्र कार्यों की उत्पत्ति होती है। जीव को भी श्रुति ने अज कहा है। जीव भी प्रकृति अथवा माया के समान अनादि है। उसका भी वास्तव में जन्म नहीं है। जीव भी आसक्त तथा विरक्त भेद से द्विविध हैं। जो प्रीतिपूर्वक माया की सेवा में रत हैं, माया के वश में हैं, विवेकरहित हैं, वे हैं

---

1. "अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृते परः। प्रत्यग्धामो स्वयं ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्।"

—श्रीमद्‌भागवत्, 2।26।3

"तत्र आवरण विक्षेपशक्तिभेदेन प्रकृतिर्द्विधा तत्रावरणशक्त्या सैव जीवोपाधिरविद्या। विक्षेपशक्त्या सैव माया परमेश्वरी। पुरुषश्च जीवेश्वररूपेण द्विविधं तत्र यः प्रकृत्याविवेकेन संसरति स जीवः। यस्तु प्रकृतिं वशीकृत्य विश्वसृष्ट्यादि करोति स परमेश्वरः" —श्रीधरस्वामी

आसक्त अथवा बद्धजीव। जो भोग में पड़े रहकर जन्म-मरणादि प्रवाह में विकारात्मक संसार-सागर में डूबते-उतराते रहते हैं, वे हैं आसक्त अथवा बद्धजीव। जिन्होंने माया का त्याग किया है, भोगों से माया के स्वरूप को अच्छी तरह जान लिया है, जिनमें वैराग्य उदित है, वे हैं विरक्त जीव।[1]

श्रीभागवत ने जीव के प्रकार वर्णन करने में प्रवृत्त होने पर इस श्रुति का ही अनुवाद किया है। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि पुरुष गुणत्रय द्वारा त्रिगुणात्मक विविध विचित्र प्रजा सृष्टिकारिणी यदृच्छा उपगता प्रकृति को लीलान्याय से प्राप्त करते हैं। प्रकृति को प्राप्त करते ही ज्ञानगुहा (अविद्या—जो ज्ञान को ढके) द्वारा विमोहित होकर अपने निजभाव आत्मरूप को भूल जाते हैं कि मैं निर्गुण, ज्ञानस्वरूप, कर्तृत्वादि, धर्मरहित, निर्विकार हूँ। तब वे प्रकृति के अध्यासवशात् अपने को प्रकृति के कर्तृत्वादि धर्म वाला मान लेते हैं। सत्वादि गुणत्रय द्वारा क्रियमाण कर्मसमूह का स्वयं को कर्ता समझने लगते हैं। पुरुष का यह अविवेक ही संसार बन्धन का कारण तथा पराधीनता का हेतु है। कार्य (शरीर), करण (इन्द्रिय) तथा कर्तृत्व की कारण है प्रकृति। गुणसाम्य युक्त। निर्विशेष प्रकृति का जो गुणक्षोभ है, वैषम्य अथवा विशेषता प्राप्ति है, उसका कारण क्या है? श्रीमद्भागवत ने कहा है कि वैषम्य अथवा विशेषता प्राप्ति का कारण है निर्विशेष, गुणसाम्य प्रकृति का जिससे विक्षोभ होता है, वे हैं कालरूप भगवान्। वे आत्ममाया द्वारा प्राणीगण के अन्तर में अन्तर्यामी पुरुषरूप से तथा बाहर कालरूपेण विद्यमान रहते हैं। श्रीमद्भागवत ने भी प्रकृति के 24 भेद कहे हैं। प्रकृति के 24 भेद तथा पुरुष (1)=24+1=25 तथा जीव तथा ईश्वर की भेदविवीक्षा (25+1=26) से 26।

दैव अथवा जीव के अदृष्ट (पूर्वकर्म संस्कार) के कारण क्षुभितधर्मिणी (क्षुभित-विषमत्व प्राप्त होना है जिसका धर्म) अपनी योनि (अभिव्यक्तिस्थान) प्रकृति में परमपुरुष परमेश्वर वीर्य (चिच्छक्ति) का आधान होता है। उससे हिरण्मय प्रकाश बहुल महत्तत्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्व से अहंकारादि विश्वप्रपंच उत्पन्न होता है। जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है, उसे उसका कारण कहते हैं। कारणगर्भ में कार्य विद्यमान रहता है।

भागवत ने महत्तत्व के स्वरूप प्रदर्शनार्थ कहा है कि यह जगद् का अंकुर है। यह कूटस्थ (लयविक्षेपरहित) है। आत्मा में स्वगर्भ में सूक्ष्मभावेन अवस्थित अहंकारादि विश्वप्रपंच को प्रकटित करता है। प्रलयकालीन आत्मप्रस्वादन का तीव्रतम का अपने तेज द्वारा पान करता है। अध्यात्मरूप से यह है चित्, अधिभूतरूप से है महान् तथा उपास्यरूप से वासुदेव आख्या से आख्यात है। महत्तत्व सत्वगुण

---

1. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वर्ह्वीं प्रजां जनय सरूपां।
आजोह्येकोजुयमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगाभजोऽन्यः॥ —तैत्तरीय आरण्यक

प्रधान है, स्वच्छ तथा शान्त है। महत्तत्वोपाधिक पुरुष हैं वासुदेव। सांख्यदर्शन इसे ही पालनकार्य निर्वाहक विष्णु कहता है। भगवान् के वीर्य से सम्भूत विक्रियमाण महत्तत्व से क्रियाशक्ति रूप त्रिविध अहंकार की उत्पत्ति होती है यथा वैकारिक अथवा सात्विक, तैजस अथवा राजस एवं तामस। भागवत वर्णित संकर्षण नामक पुरुष को अहंकार का उपास्यरूप कहा गया है। भूत (सूक्ष्मभूत), इन्द्रिय तथा मनः अहंकार का कार्य है। वैकारिक अथवा सात्विक अहंकार से मनः की उत्पत्ति होती है। संकल्प (चिन्तन), मन का विकल्प, यह सब मन का धर्म है। अनिरुद्ध मन के उपास्य रूप हैं।[1] सांख्यदर्शन के साथ इन वचनों का सादृश्य है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी सांख्यमत वर्णित है।

वेद कहते हैं कि त्रिपाद् पुरुष उर्ध्व में उदित है। इनका मात्र एक पाद पुनः-पुनः माया में आता है। माया में आकर स्वयं चेतन तथा अचेतनरूपी जगत् होकर व्यापक हो जाते हैं। उन आदिपुरुष से ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है। परब्रह्म से समुत्पन्न हिरण्मय अण्ड से जो स्वयं प्रादुर्भूत है, वे हैं स्वयम्भू हिरण्यगर्भ, प्रजापति, ब्रह्म इत्यादि संज्ञा से प्रसिद्ध। परब्रह्म की शक्ति ही माया है। प्रकृति, अव्यक्त प्रधान आदि उसी के नाम हैं। वेद ब्रह्म की तथा ब्रह्मा की, इन दो सृष्टियों का वर्णन करते हैं। सांख्यदर्शन ब्रह्म की सृष्टि को आदिसृष्टि, अबुद्धिपूर्वक सृष्टि कहता है। आदिसृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय ब्रह्म था। इस अवस्था में प्रकृति (माया) उस ब्रह्म में ही विलीन थी। अतः जिज्ञासा होती है कि वेद ने जब ब्रह्म को विश्व का अभिन्न निमित्तोपादन कहा है, ब्रह्म को ही भोक्ता, भोग्य, तथा प्रेरिता (अन्तर्यामी) कहा है,[2] तब सांख्यदर्शन ने कैसे ब्रह्म को विश्व का अभिन्न निमित्तोपादान (ब्रह्म ही जगत् के निमित्त हैं) कह दिया है? सांख्य की दृष्टि में क्या भोक्तृ, भोग्य तथा अन्तर्यामी पदार्थत्रय अभिन्न हैं? साथ ही चेतन की प्रेरणा के अभाव में जड़ स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता। क्या यह सांख्य मानता है? यदि यह बात सांख्य को स्वीकार होती, तब जो अचेतन है, वह स्वयं प्रेरित होकर कर्म करता। इसका प्रतिपादन करने के लिए दुग्ध की दधि बनने की स्वतः प्रवृत्ति को क्या दृष्टान्त माना जायेगा? अपिच सांख्यदर्शन यदि श्रुति अथवा वेदान्तादि दर्शन का विरोधी नहीं होता, तब क्या बादरायण, शंकराचार्य आदि आचार्यगण साख्यमत के खण्डन की इतनी चेष्टा करते?

श्रुतिपाठ से ज्ञात होता है कि श्रुति ने द्वैतवाद का भी आदर किया है। उसे यह ज्ञात है कि द्वैतवाद का भी प्रयोजन है। फलतः अद्वैतवाद, द्वैतवाद, सत्कार्यवाद,

---

1. "एतावानस्य महिमानो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।"
"ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः।"
—पुरुषसूक्त

2. "भोक्ताभोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्"—श्वेताश्वतर श्रुति

असत्कार्यवाद, सत्कारणवाद, असत् कारणवाद, आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्त्तवाद ये सभी वाद श्रुति से ही उत्पन्न हैं। ''एक ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है'' यह श्रुत्युपदेश समझने के लिए न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पातंजल, पूर्वमीमांसारूपी पंचविध आस्तिक दर्शन की चरणसेवा करना कर्त्तव्य है। ये अद्वैत मार्ग के द्वार स्वरूप हैं। ऋग्वेद ने इस सम्बन्ध में जो कहा उसे पहले अंकित किया जा चुका है। परिच्छिन्न बुद्धि से कभी अद्वैत ज्ञान प्रतिभात नहीं होता। इसे न समझ पाने से, वीतराग तथा वीतद्वेष न होने से, चित्तवृत्ति का निरोध न रहने से क्या अखण्ड सच्चिदानन्द का अनुभव हो सकेगा? द्वैतराज्य की प्रजा क्या विमल अद्वैतराज्य के यथार्थ संवाद को जान सकेगी? सत्वस्थ, समदर्शी, ऋषियों ने इसीलिए द्वैतवाद का उपदेश किया है। श्रुति-स्मृति-पुराण-तन्त्र इत्यादि ने इसी कारण परस्परविरुद्ध नाना मतों का उपदेश दिया है। गौड़ पादाचार्य अपनी कारिका में कहते हैं कि श्रुति-स्मृति ने सृष्टि विषयक जो परस्पर विरुद्ध नाना मतों को उपन्यस्त किया है, उन सबकी उपयोगिता है। यह अद्वैत मार्ग में उपनीत होने का उपाय है।[1]

अतएव द्वैतप्रतिपादनपरक शास्त्रों का वचन श्रुतिविरोधी नहीं है। उदयनाचार्य कहते हैं कि अद्वैतवाद के परमार्थतः सत्य होने पर भी परमार्थ दृष्टि से जगत् अविद्याकल्पित अथवा माया का विजृम्भण होने पर भी आर्दक वणिक् की बहित्र चिन्ता का क्या प्रयोजन?[2] महर्षि कपिल कहते हैं कि मध्यमाधिकारी को ब्रह्मलाभ के योग्य बनाने के लिए कर्त्तृत्वरहित, असंग, साक्षी चिदात्मा के स्वरूप दर्शनार्थ सांख्यदर्शन का प्रणयन किया गया है। उसका उद्देश्य है प्रकृति तथा पुरुष का भेद दर्शन। अतः कपिल दर्शन में अद्वैतवाद समर्थक वचन पाने की आशा निरर्थक है। देह ही आत्मा है, देहातिरिक्त आत्म नामक पदार्थ नहीं है, जो ऐसा विश्वास करते हैं—और देह के अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं जान पाते, जो वेदोक्त ज्योतिष्टोमादि कर्म के अनुष्ठान से विमुख हैं, उपास्य ईश्वर के स्वरूपज्ञानाभाववशात् जो ब्रह्मलोक प्राप्त्यर्थ ईश्वरोपासना नहीं करते, ऐसे व्यक्ति को ईश्वर तथा जीव का स्वरूप बताने के लिए महर्षि गौतम तथा कणाद ने परमाणुपुंज से पृथिवी आदि के उदय की कथा कही है। मूलकारण परब्रह्म से आकाश, काल, दिक् तथा परमाणु समूह उत्पन्न होते हैं, जब ये व्यवस्थित हो जाते हैं, तब उससे उत्तरकालीन सृष्टि का ही उपदेश सांख्य में किया गया है। महर्षि कपिल ने चित् तथा अचित् इन पदार्थद्वय के विवेकहेतु परमाणु समूह की प्राचीन अवान्तर सृष्टि का कुछ विवरण दिया है। अखण्डैकरस ब्रह्म का माया द्वारा चित्

1. ''मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टियाचादिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन॥'' —गौड़पादकारिका

2. ''अविद्यैव हि तथा-तथा विवर्त्तते यथायथानुभाव्यतया व्यवह्रयते तत्तन्मायोपनीतोपाधि-भेदाच्चानुभूतिरपि भिन्नैव व्यवहार पथमवतरति गगनमिव स्वप्न दृष्ट घटकटाह कोटरकुटीकोटिभिः। तदास्तां तावत् किभाद्रकवणिजो बहित्रचिन्तयेति'' —आत्मतत्व विवेक

तथा अचित् अथवा जड़रूपी भेद, चिदात्मा के पारस्परिक भेद (जड़ तथा चिदात्मा का भेद) तथा सत्वादि गुणत्रय, सांख्यदर्शन का यही पदार्थ है। इनका तत्वनिरूपण ही सांख्यदर्शन का प्रयोजन है। अतएव सांख्यदर्शन में अद्वैतवाद का कोई प्रतिपादन न रहने से भी कोई दोष नहीं होता। इसी कारण से सांख्यदर्शन ने अभिन्न-निमित्तोपादन की बातें नहीं कही हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सांख्यदर्शन ने यह प्रतिपादन करने की चेष्टा क्यों की है कि 'अचेतन स्वयं प्रेरित होकर कर्म कर सकता है'?

चेतन अधिष्ठान के बिना जड़ स्वयं कोई कर्म नहीं कर सकता। इस वाक्य का तात्पर्य परिग्रह करने में हमें क्या प्रतीत होता है? चेतन अधिष्ठान के बिना स्वयं कोई कार्य जड़ नहीं कर सकता, मृत्तिका अपने आप घटाकार धारण नहीं कर सकती, यह एक दृष्टान्त है। मृत्तिका चेतन कुम्भकार द्वारा प्रेरित होकर घटाकार धारण करती है। क्या कुम्भकार विशुद्ध चिच्छक्ति है? अथवा वह चित् एवं जड़ दोनों का मिलित रूप है? कुम्भकार की बुद्धि, मनः तथा शरीर जड़शक्ति है। इसलिए कुम्भकार विशुद्ध चिच्छक्ति नहीं है। अब विदित होता है कि कुम्भकार की चिच्छक्ति किस प्रकार से उसकी बुद्धि-मनः-शरीर को घट-निर्माण में प्रेरित करती है? चिच्छक्ति के साथ जड़शक्ति का किस रूप से सम्बन्ध होता है? संयोग तथा समवाय, ये दो सम्बन्ध लोक में परिचित हैं। घट के साथ रज्जु का, दण्ड के साथ पुरुष का जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध का उत्पत्ति तथा विनाश मानव को ज्ञानगोचर हो जाता है। इसका अपर नाम है युतसिद्ध सम्बन्ध, यह है संयोग सम्बन्ध। समवाय सम्बन्ध की तरह न्याय-वैशेषिक मत में नित्य सम्बन्ध के नाम से भी इसे जाना जाता है। महर्षि कणाद कहते हैं कि जिस सम्बन्ध से कार्य कारण (यह कार्य, यह आधेय) 'इसमें' इस आधार में विद्यमान है, ऐसी उपलब्धि होती है, वह समवाय है। अवयव के साथ अवयव का, जाति के साथ व्यक्ति का, द्रव्य के साथ गुण का जो सम्बन्ध है, उसे समवाय सम्बन्ध कहते हैं। साक्षात् तथा परम्परा भेद से भी सम्बन्ध को दो भागों में बाँटा गया है।

संयोग तथा समवाय, ये साक्षात् सम्बन्ध के दृष्टान्त हैं। जो सम्बन्ध सम्बन्धान्तरघटित है, जो सम्बन्ध संघटन सम्बन्धान्तर की अपेक्षा रखता है, वह है परम्परा सम्बन्ध। दैशिक तथा कालिक व्यवधान रहने पर भी, दो पदार्थ का परस्पर परम्परा सम्बन्ध होता है। चिच्छक्ति के साथ जड़ का जो सम्बन्ध है, क्या वह साक्षात् सम्बन्ध है अथवा परम्परा सम्बन्ध है? यदि उसे साक्षात् सम्बन्ध कहें तब यह जानना होगा कि चिच्छक्ति जड़ के साथ समवाय सम्बन्ध में सम्बद्ध है अथवा वे परस्पर परमाणुद्वय की तरह संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं? चिच्छक्ति के साथ जड़ का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि अप्राप्त परस्पर असम्मिलित पदार्थद्वय की जो प्राप्ति है, जो मिलन है उसे संयोग कहते हैं। यदि चिच्छक्ति देशतः-कालतः-वस्तुतः

परिच्छिन्न नहीं है, पदार्थ नहीं हैं, यदि ये सर्वगा हैं, सर्वव्यापक हैं, तब ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है, जो इनके लिए अप्राप्त है। चिच्छक्ति सर्वव्यापक, अपरिच्छिन्न है। चिच्छक्ति के सर्वव्यापक होने का क्या प्रमाण है? जो देशतः, कालतः तथा वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं है, जो अपरिणामी है, वही आत्मा अथवा चिच्छक्ति है। ऐसे पदार्थ का अस्तित्व क्यों स्वीकार होगा? हमें यह ज्ञात है तथा यह बोध है कि हम परिच्छिन्न हैं। यदि सृष्टि में अपरिच्छिन्न अथवा अपरिणामी पदार्थ न होता, तब हमें अपनी परिच्छिन्नता का ज्ञान कैसे होता? जब चिच्छक्ति अपरिच्छिन्न है, अनन्त पूर्ण है, तब जड़ वस्तु में भी वह विद्यमान रहती है। यदि जड़ में यह शक्ति विद्यमान रहती, तब जड़ को 'जड़' क्यों कहते? तब चेतन अधिष्ठान के बिना ही जड़ स्वयं प्रेरित होकर कोई काम कर पाता अथवा नहीं, इस प्रश्न की मीमांसा के लिए दार्शनिक इतना तर्क क्यों करते हैं? तब मनुष्यादि चेतन पदार्थ की तरह, जड़ में पदार्थसमूह की अनुभूति क्यों नहीं है, जबकि मनुष्यादि में यह अनुभूति रहती है! सांख्यदर्शन में प्रकृति को भी जड़ अथवा अचेतन कहने का क्या कारण है?

जो अपरिणामी है, एकाधिक पदार्थ का समूह है, अतः जो अचेतन है, जो परप्रकाश्य है, सांख्य ने उसे जड़ कहा है। चिच्छक्ति के सर्वव्यापक होने पर जड़ का जड़धर्म विलुप्त नहीं होता। अग्नि संयोग से लौह की दाहकताशक्ति जन्म लेती है, क्या इससे उसका लौहधर्म समाप्त हो जाता है? क्या तपने पर लाल हो गया लौह वास्तव में अग्नि हो जाता है? इसलिए जड़वस्तु में चैतन्यशक्ति रहने पर भी जड़ को जड़ की कहा जायेगा। शक्ति विद्यमान है, तब भी जब तक वह उपाधिगत नहीं होती, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। निरुक्तटीकाकार इसीलिए कहते हैं—"आत्मा सर्वगत होने पर भी प्रतप्त लौह के जिस स्थान में दर्भ (कुश) प्रक्षिप्त होता है, उस-उस स्थान से अग्नि की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार सर्वगत आत्मा जब तक कार्यकारण संघात से व्याप्त होता है, आत्मा तब तक ही लक्ष्यीभूत होता है। तब तक चैतन्य शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। (निरुक्त टीका देखें) जब तक शक्ति यन्त्रगत नहीं होती, अथवा उपाधियुक्त नहीं होती, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। भगवान् दुर्गाचार्य ने इससे यही बतलाया है। सांख्यदर्शन अप्रकाश अथवा ज्ञानशून्य को जड़ कहता है। चिच्छक्ति का स्वरूप क्या है? जो प्रकाश अथवा ज्ञानस्वरूप है, वह चित् है। इस कथन का अभिप्राय क्या है? सांख्यमत से चित् निर्गुण है। अतः उसका कोई धर्म नहीं हो सकता। 'प्रकाश अथवा ज्ञान चित् का धर्म है', जो ऐसे मत को मानते हैं, सांख्यदर्शन उनसे एकमत नहीं है। सांख्यदर्शन चित् को जड़ से विलक्षण धर्म वाला विशिष्ट पदार्थ नहीं कहता। जो जड़ व्यावृत, जड़ विलक्षण होकर जड़ का प्रकाश करता है, वह है सांख्यमत का चित्स्वरूप।

कर्म करना अचित् तथा जड़ का धर्म है। अपरिणामी चिन्मय पदार्थ में कोई क्रिया नहीं रह सकती। चेतन द्वारा प्रेरित, प्रवर्तित हुए बिना जड़ कोई भी कर्म नहीं

कर सकता, जो यह कहते हैं, क्या वे निर्गुण चिद्रूप पदार्थ के प्रवर्तकत्व को अंगीकार कर सकते हैं? वेदान्तदर्शन प्रकृति अथवा मायाधिष्ठित चैतन्य के प्रवर्तकत्व को स्वीकार नहीं करता। प्रवृत्ति निर्गुण पुरुष अथवा ब्रह्म का धर्म नहीं है। यदि यह सत्य है, तब अचेतन प्रकृति स्वभावतः कर्म में प्रवृत्त होती है, इस बात में क्या आपत्ति है? कहा है—''परमात्मवस्तु स्वरूपव्यापाश्रयमौदासीन्यं मायाव्यापाश्रयं च प्रवर्तकमित्य-स्त्यातिशयः''—शारीरक भाष्य।

क्या प्रकृति प्रवृत्तिस्वभावा, निवृत्तिस्वभावा अथवा इन दोनों की मिलित प्रवृत्तिनिवृत्तिस्वभावा है? इस प्रश्न का अभिप्राय क्या है? संसार में देखा जाता है कि प्रवृत्ति मात्र ही निवृत्ति में परिसमाप्त हो जाती है। निवृत्ति ही प्रवृत्ति की अन्त्यावस्था है। सृष्टि तथा लय पर्यायक्रम में होते हैं। शास्त्रों में यह अंकित है। सांख्य-पातंजल-न्यायवैशेषिक-पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा-सृष्टि तथा लय परम्परा का अनादित्व सभी स्वीकार करते हैं। अतः जिज्ञासा होती है कि प्रकृति प्रवृत्तिस्वभावा, निवृत्तिस्वभावा अथवा उभयस्वभावा है? एक पदार्थ का परस्पर स्वभाव विशिष्ट स्वभाव वाला होना युक्तिसंगत नहीं है। सांख्यदर्शन इसके उत्तर में कहता है कि मैं प्रकृति को प्रकाश, क्रिया तथा स्थितिशील सत्व, रजः तथा तमः कहता हूँ। सत्वादि गुणत्रय पर्यायक्रमेण आविर्भूत तथा अभिभूत होते हैं। गुणत्रय अन्योन्याभिभववृत्तिक हैं। अतः प्रकृति का प्रवृत्ति तथा निवृत्तिस्वभावा होना विस्मयकारी कदापि नहीं है। श्रुति-वेदान्त-पुराण ने भी माया को संकोच विकासशील कहा है। प्रकृति के प्रवृत्ति-निवृत्ति का कार्य अनियामित नहीं है। यह कालाधीन है, इसे मानना ही होगा। अचेतन की विमृश्यकारिता उपपन्न नहीं होती। वाष्पयन्त्र जलवाष्प के बल से चलता है, यह सत्य है, किन्तु वह स्वयं स्थिर नहीं हो सकता। चेतन परिचालक (Driver) के बिना वह कभी भी यथा प्रयोजन स्थान-स्थान पर स्थिर नहीं हो सकता। चेतन परिचालक द्वारा नियामित न होने से वाष्पीयरथ कभी भी स्थान-स्थान पर जाकर रुक नहीं सकता। रुक कर पुनः गतियुक्त नहीं हो सकता। अचेतन द्वारा बुद्धिपूर्वक कर्म किया जाना असम्भव है। इसीलिए वेदान्त दर्शन का कथन है कि चिच्छक्तिरहित प्रधान से अथवा प्रकृति से जगत् रचना उत्पन्न नहीं होती। साम्यावस्था में गुणत्रय के वैषम्यप्राप्ति की योग्यता विद्यमान है, इसे मान लेने पर भी निमित्तकारण के अभाव में इनकी वैषम्यभाव की प्राप्ति सम्भव नहीं है। गुणत्रय की वैषम्यप्राप्ति को यदि निर्निमित्तिक कहें तब कदाचित् वैषम्यभावप्राप्ति का, कदाचित् साम्यभावप्राप्ति का कोई भी कारण प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में सर्वदा ही वैषम्यप्राप्ति होने का कोई कारण नहीं है।

महर्षि कपिल की बुद्धि में इन सब विप्रतिपत्ति का रूप पतित नहीं हुआ हो, लेकिन ऐसा नहीं है। महर्षि ने जीव के अदृष्ट, काल, अयस्कान्तमणिवत् चिच्छक्ति

के सान्निध्य मात्र से उसके प्रेरकत्व को स्वीकार किया है। निमित्तत्व को भी स्वीकार किया है। भगवान् शंकर स्वामी ने अपने शारीरक भाष्य में चिच्छक्ति के प्रेरकत्व को स्वीकार करने पर भी इष्टापत्ति नहीं होगी, यह प्रतिपादित करने के लिए कहा है कि चिच्छक्ति का सान्निध्य ही यदि अचेतन प्रकृति का प्रवृत्ति निमित्त होता है, तब प्रकृति की प्रवृत्ति के नियतत्व का प्रसंग होगा, क्योंकि चिच्छक्ति का सान्निध्य नित्य है। अयस्कान्त का सान्निध्य तथा चिच्छक्ति का सान्निध्य एक प्रकार का नहीं है। क्योंकि अयस्कान्त का सान्निध्य अनित्य है।

दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक सर्वदा एकरूप नहीं होते। दृष्टान्त मात्र परिच्छिन्न होता है। विशेषत: अपरिच्छिन्न का सर्वांश में दृष्टान्त सम्भव नहीं है। परिच्छिन्न तथा अपरिच्छिन्न सर्वतोभावेन एकरूप कैसे होगा? माया, अव्याकृत, अविद्या इत्यादि शब्दवाच्य कारण की चैतन्य व्याप्ति नित्य है, मायादि शब्दवाच्य कारण से चैतन्य का अध्यास नित्य नहीं है। अतएव सृष्ट्यादि सान्तत्य सिद्ध नहीं क्यों होता, इस प्रश्न का समाधान करने के लिए उद्यत होने पर मैत्र्युपनिषद् की दीपिका के प्रणेता रामतीर्थ स्वामी कहते हैं कि मायादि शब्दवाच्य कारण से चैतन्य की व्याप्ति नित्य होने पर भी सुषुप्त की स्वप्नादिवृत्ति के उद्भव के समान विद्या कर्म तथा पूर्व प्रज्ञानुसार अबुद्धिपूर्वक रूप से कदाचित् चिदाभास व्याप्ति हो जाती है, अतएव मायादि शब्दवाच्य कारण से चैतन्य की व्याप्ति नित्य होने पर भी सृष्ट्यादि के नित्यत्व की आशंका करने का अवकाश नहीं रहता, यह समझना होगा।[1] महर्षि कपिल क्या ऐसा उत्तर देकर पार नहीं हो सकते? सांख्यदर्शन चैतन्य के नित्य सान्निध्य को ही प्रेरकत्व कहता है। 'अचेतन प्रकृति' से सांख्य ने चैतन्य के प्रतिबिम्ब रूप प्रकृति का तात्पर्य ग्रहण किया है। मैत्र्युपनिषत् में कहा है कि परमात्मा में विद्यमान तम: (तम: शब्द से प्रकृति तथा गुणत्रय की साम्यावस्था लक्षित होती है) अधिष्ठानभूत चिदात्मा से प्रेरित होकर विषमत्व (पूर्वावस्था प्रच्युति रूपविक्षोभ) प्राप्त होकर कार्योन्मुख होता है। परब्रह्म से प्रेरित होकर प्रकृति की साम्यावस्था की जो विषमत्व प्राप्ति है, वही है रजोगुणाख्य कारण तथा रजोगुण की परब्रह्म प्रेरित जो विषमत्वप्राप्ति है वही है सत्वगुणप्रधान कारण का रूप।[2] सांख्यदर्शन ने भी चिच्छक्ति के प्रेरकत्व को अंगीकार किया है। तब सांख्यमत से चिच्छक्ति का यह प्रेरकत्व सन्निधानमात्र निमित्तक है। व्यापारमूलक नहीं है। कुम्भकार जिस प्रकार से मृत्तिका का प्रेरण करता है, निर्गुण ब्रह्म उसी प्रकार प्रकृति का प्रेरण करे, यह कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि कुम्भकार शरीरधारी है, जबकि ब्रह्म अशरीरी है। कुम्भकार रागादिदोष युक्त

---

1. मैत्र्युपनिषत् दीपिका
2. ''तत्परे स्यात्तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्रूपं वै रजस्तद्रज: खल्वीरितं नियमत्वं प्रयत्येतद्वै सत्वस्यरूपं''—मैत्र्युपनिषत्

है, ब्रह्म में रागादि है ही नहीं। संकल्प मानस व्यापार है, जबकि ब्रह्म में मन: नहीं है। अतएव उनमें संकल्प-विकल्प नहीं होता। ब्रह्म सर्वगत है, प्रकृति भी सर्वगत है। सर्वगत पदार्थ में स्पन्दन लक्षण (स्पन्दन, vibration ही लक्षण है जिसका) कर्म होना सम्भव नहीं है। कर्म न होने से कर्मजन्य संयोग भी नहीं हो पाता। ब्रह्म तथा प्रकृति दोनों निरवयव हैं। निरवयव पदार्थद्वय का संयोगज संयोग भी उत्पन्न नहीं होता। अकार्य पदार्थद्वय के परस्पर आश्रयाश्रयिभाव सिद्ध नहीं होते। अतएव ब्रह्म के साथ प्रकृति का समवाय सम्बन्ध भी उपपन्न नहीं होता। अद्वैत ब्रह्मवादीगण ब्रह्म के साथ माया अथवा प्रकृति के तादात्म्य लक्षण को स्वीकार कर लेते हैं।

प्रवृत्तिरहित ब्रह्म का प्रवर्तकत्व कैसे उपपन्न होगा? वैदान्तिकगण का उत्तर है कि प्रवृत्तिरहित अयस्कान्त (चुम्बक) जिस प्रकार से लौह का प्रवर्तक होता है, उसी प्रकार स्वयं प्रवृत्ति रहित, सर्वगत्, सर्वात्मा, सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर सकल का प्रवर्तक रहता है।[1] सांख्यदर्शन भी तो अयस्कान्त मणिवत् सन्निधान मात्र द्वारा प्रेरकत्व स्वीकार करता है, तब दोनों का पार्थक्य कहाँ है?

जैसा कहा गया है सांख्यदर्शन "पुरुष अथवा चिच्छक्ति सन्निधानवशात् प्रकृति महत्तत्वादि रूप में परिणत होती है", यह बात मानता है। किन्तु ईश्वर के संकल्प से सृष्टि को स्वीकार नहीं करता। अचेतन प्रकृति की शक्ति प्रवृत्ति को सांख्य ने स्वीकार किया है। अचेतन अन्य के प्रयत्न से निरपेक्ष होकर स्वयं कार्य करता है। तत्प्रतिपादनार्थ सांख्यदर्शन अचेतन दुग्ध की दधिरूप में परिणति, जल के स्वत: निम्नाभिमुख में गमन इत्यादि को बताता है। सांख्यदर्शन कहता है, पुरुष अथवा चिच्छक्ति का सान्निध्य मात्रात्मक अधिष्ठातृत्व केवल आदि सृष्टि में ही सिद्ध हो ऐसा नहीं है। जीव के (अन्त:करण प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीव है) विशेष कार्यसमूहों में, व्यष्टिसृष्टि में, पुरुष का जो अधिष्ठातृत्व है, वह भी सन्निधान मात्रात्मक है। व्यापारपूर्वक है। क्योंकि कूटस्थ चिन्मात्र के व्यापारपूर्वक से अधिष्ठातृत्व उपपन्न नहीं होता।[2] अचेतन प्रवृत्ति से चेतन की अपेक्षा है। व्यापारशून्य चेतन का आपेक्षिकत्व उपपन्न नहीं होता। अत: चेतन के अपेक्षिकत्व की उपपत्ति के लिए चेतन भी व्यापारयुक्त है, इसे मानना होगा। यही है वेदान्तदर्शन की गूढ़ अभिसन्धि। चेतन तथा अचेतन के संयोग होने से तब प्रवृत्ति भले ही हो, किन्तु यह प्रवृत्ति अचेतन की है। चेतन की नहीं है। सांख्य का यही गूढ़ अभिप्राय है। वैदान्तिक कहते हैं कि चेतन तथा अचेतन के संयोग के कारण अचेतन में स्पन्दरूप प्रवृत्ति परिदृष्ट होती है। वह चेतन का स्पन्द नहीं है। हम भी यही कहते हैं कि उस

---

1. "अयस्कान्तवद्रुपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्त्तकत्वोपपत्ते:।"—शारीरक भाष्य तथा "ननु, वेदान्तिनोऽपि चेतनयोजीवेश्वरेश्वरयोरसङ्ग चेतन्यमात्रस्वरूपयो: कथमधिष्ठातृत्व-मित्याशङ्क्या सन्निधिमात्रेण तद्भविष्यतीति सदृष्टान्तनाह"—ब्रह्मविद्याभरण

2. "विशेष कार्येष्वपि जीवानाम्"—सांख्यदर्शन

स्पन्द की प्रयोजिका प्रयत्नादिरूपा प्रवृत्ति चेतन की है। व्यापारविहीन चेतन की प्रवृत्ति होगी भी कैसे?[1]

"प्रवृत्तिरहित असंग, चैतन्यस्वरूप जीव तथा ईश्वर का अधिष्ठातृत्व कैसे उपपन्न होता है? जैसे प्रवृत्तिरहित चुम्बक जिस प्रकार से लौह का प्रवर्तक होता है, प्रवृत्तिशून्य रूपादि विषय समूह जिस प्रकार चक्षुरादि के प्रवर्तक होते हैं, उसी प्रकार प्रवृत्तिरहित असंग, ईश्वर सभी का प्रवर्तक हो जाता है। वैज्ञानिक इस सांख्य-सम्मत सन्निधान मात्र द्वारा प्रेरकत्व को अंगीकार करके समाधान करते हैं, वह तात्कालिक समाधान है। वह वैज्ञानिकों का प्रकृत अभिप्राय नहीं है।[2] चेतन का अधिष्ठातृत्व व्यापारमूलक है, यही वेदान्तदर्शन का अनुमान है। अचेतन प्रकृति की स्व प्रवृत्ति होना असम्भव नहीं है। इसके प्रतिपादनार्थ सांख्यदर्शन अचेतन दुग्ध की वत्स (बछड़ा के लिए) विवृद्धि एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। वेदान्तदर्शन कहता है कि अचेतन दुग्ध तथा जल चेतनाधिष्ठित होकर प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् दुग्ध दधि बन जाता है और जल निम्न की ओर बहने लगता है। बिना चेतन से प्रेरित हुए दुग्ध दधि नहीं बन सकता और जल निम्न की ओर नहीं बह सकता। श्रुति का भी मत है कि परमेश्वर जलादि भूतों में अन्तर में रहकर इनका प्रेरण करते हैं। बृहदारण्यक में कहा है कि अक्षर परब्रह्म के शासन में नदियाँ भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाती हैं।[3]

अचेतन दुग्ध वत्स (बछड़े) की परिपुष्टि के लिए स्वतः प्रवृत्त होता है। यह दृष्टान्त भी साध्य है, सिद्ध नहीं है। क्योंकि चेतन गाय की स्नेहेच्छा, वत्स को चाटकर दुग्ध का प्रवर्तन करती है। धेनु की क्षीर प्रवृत्ति अन्य के यत्न निरपेक्ष स्वतःप्रवृत्ति का दृष्टान्त नहीं है। दुग्ध की दधिरूप परिणति, अचेतन की स्वतः प्रवृत्ति की प्रतिपादक है। यह है सांख्य द्वारा गृहीत अन्य दृष्टान्त। वेदान्त कहता है कि यहाँ भी ईश्वर की इच्छा अथवा नियम दुग्ध के दधिरूप में परिणत होने का कारण है।

निमित्तकारणरहित असहाय एक ब्रह्म की विचित्र, क्रमिक (क्रमोत्पन्न) विश्वप्रपञ्च सृष्टि कैसे सम्भव हो सकी, इस प्रश्न का उत्तर देते समय वेदान्तदर्शन भी निमित्तकारणरहित दुग्ध के दधिजनकत्व को दृष्टान्तरूपेण ग्रहण करता है।

---

1. "तथा च अचेतन प्रवृत्तौ चेतनस्यापेक्षितत्वान्निर्व्यापारस्य च तस्यापेक्षित्वानुपपत्तेः। तदुपपत्तये चेतनेऽपि व्यापारः कल्प्यते इति गूढोऽभिसन्धिः।..... चेतनाचेतनसंयोगे प्रवृत्तिर्दृष्टा। सा अचेतनस्यैव न तु चेतनस्य। नापि चेतनप्रयुक्तस्येति सांख्यस्य गूढोऽभिसन्धिः। ननु चेतनाचेतन संयोगे अचेतनगता स्पन्दरूपा या प्रवृत्तिर्दृष्टा, सा चेतनस्येत्यस्माभिर्नोच्यते। अपि तु तादृश स्पन्द प्रयोजिका प्रयत्नादिरूपाप्रवृत्तिश्चेतने अभुपेदत्युच्यते। निर्व्यापारस्य चेतनस्य प्रवृत्युप-योगानुपपतेः।"—ब्रह्मविद्याभरण।
2. "अयस्कान्तवदिति तु तात्कालिकं समाधानमितिभावः"—ब्रह्मविद्याभरण
3. "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्यानद्यः"—बृहदारण्यक, 3।8।9

(उपसंहार वदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवृद्धि)। जिज्ञासा होती है कि तब सांख्यदर्शन का अपराध क्या है? भगवान् शंकर स्वामी इसके उत्तर में कहते हैं कि बाह्यनिमित्तकारण की अपेक्षा किये बिना जो स्वाश्रय कार्य होता है, उसके लौकिक दृष्टान्त को प्रदर्शित करने के लिए वेदान्त दर्शन ने 'दुग्ध के दधिरूप परिणाम में बाह्य साधन की निरपेक्षता' की बात कही है। अन्यथा सर्वकार्योत्पत्ति में ईश्वर का निमित्तत्व है। श्रुति का यही उपदेश है। दुग्ध का दधिरूप में परिणाम क्या है, बाह्यसाधन निरपेक्ष कार्योत्पत्ति का यथार्थ? रासायनिक पण्डितगण तथा आधुनिक जीवाणुतत्वानुसन्धायी यह बात सुनकर क्या कहेंगे? वैज्ञानिकगण परीक्षा द्वारा स्थिर करते हैं कि दुग्ध को कुछ काल रख देने से लैक्टिक ऐसिड (Lactic Acid) परिवर्तित हो जाता है, जो पहले लैक्टोज़ नामक दुग्ध का उपादान था। जीवाणुतत्वानुसन्धायी विद्वान् अनुमान करते हैं कि इस प्रकार परिणाम से दुग्ध में जीवाणु विशेष का अधिष्ठान संघटित होने लगता है। जो कुछ भी हो, दुग्ध बाह्यकारण निरपेक्ष होकर दधिरूप में परिणत नहीं हो सकता। प्राचीन लोगों को जीवाणु की लीला का ज्ञान नहीं था, किन्तु दुग्ध में अम्ल संयोग करने मात्र से वह दधि का आकार धारण कर लेता है। ग्वाला लोग अन्न संयोग से दधि प्रस्तुत कर देते हैं। यह सब प्राचीनकाल में लोगों को ज्ञात था। तब भगवान् बादरायण ने दुग्ध के दधिरूप परिणाम को बाह्यसाधन निरपेक्ष परिणाम के दृष्टान्त रूप में क्यों ग्रहण किया?

दुग्ध अन्न अथवा ताप संयोग से अथवा जीवाणु विशेष के अधिष्ठान के कारण दधि का आकार ग्रहण करता है। जल, मृत्तिका आदि अन्नादि निमित्तकारण योग से कभी दधि नहीं होता। जीवाणु विशेष जल मृत्तिकादि में सहस्त्रचेष्टा करने पर भी दधि नहीं बना सकते। इसलिए स्वीकार करना होगा कि दुग्ध में यह वासना है कि दधि बनना है तथा यह योग्यता भी है। अतएव दुग्ध दधि-रूप में परिणत हो जाता है। दधि वासनायुक्त दुग्ध कालविशेष में दधिवासना परिपक्व हो जाने पर जब दधिरूप में परिणत होता है, उसी प्रकार आकाशादि वासना विशिष्ट सर्वकारण ब्रह्म काल विशेष में आकाशादि वासना समूह का क्रमिक परिपाक निष्पन्न होने पर विचित्र क्रमोत्पन्न आकाशादि की आकारता प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् बादरायण इस बात को समझाने के लिए दुग्ध के दधिरूप परिपाक नामक लोकसिद्ध उदाहरण को ग्रहण करते हैं। सर्वकारण सर्वशक्ति ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी कार्य पदार्थ अभिन्न निमित्तोत्पादन का प्रकृत दृष्टान्त नहीं हो सकता। लौकिक परीक्षकों के इस अर्थ को समझने में सरलता होती है, उसी अर्थ को वे दृष्टान्त रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस उदाहरण से भगवान् बादरायण यह समझाते हैं कि ब्रह्म का विचित्र जगत् सृष्ट करना असम्भव नहीं है। भले ही वे बाह्यसाधन निरपेक्ष रूप से ऐसा कर सकते हैं। तभी सांख्यदर्शन 'अचेतन की स्वतः प्रवृत्ति सम्भव है' इस श्रुतिविरुद्ध मत का उपन्यास

क्यों करता है? परतन्त्र अचेतन प्रकृति में स्वातंत्र्य है, सांख्यदर्शन के इस कथन का क्या अभिप्राय है?

अधिकारानुसार उपदेश प्रदान करना ऋषिगण की रीति थी। हमारा विश्वास है कि ऋषिगण की यह रीति ही वास्तव में हितकारी है। भोग तथा मोक्ष जीव का प्रयोजन है। भोग है गौण प्रयोजन, मोक्ष है मुख्य प्रयोजन। परम पुरुषार्थ। मोक्ष के परम पुरुषार्थ होने पर भी अविद्या में बद्ध, संसार में लिप्त जीव सांसारिक सुखभोग को ही जीवन के मुख्य प्रयोजन के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। प्राकृतिक विज्ञान परम पुरुषार्थ सिद्धिद पथ पर सम्पूर्णतः उपकारक न होने पर भी निष्प्रयोज्य नहीं है। सांसारिक जीवन को यथासम्भव निरर्गल करना होगा, प्राकृतिक विज्ञान यही करता है। 'एक ही ब्रह्म सत् है। उससे भिन्न सब माया है, मिथ्या है' जो ऐसे ज्ञान लाभ के अधिकारी हैं, जिनका संसार वैराग्य पूर्णरूपेण विकसित है, उनके समीप ही ऐसे ज्ञान का प्रकृत आदर होगा। वे ही ऐसे उपदेश सुनने के यथार्थ पात्र हैं। किन्तु क्या इस ज्ञान से जगत् व्यापार चलेगा? वृष्टि तथा बाढ़ का कारण क्या है? अन्न कैसे उत्पन्न होता है? जरादि रोगोत्पत्ति का कारण क्या है? इत्यादि प्रश्न का उत्तर तथा मेघ उत्पादन करते हैं, ईश्वर जीवनोपकारार्थ वृष्टि प्रदान करते हैं, इस प्रकार के जागतिक समाधान की प्रयोजनसिद्धि के लिए क्या है, इनकी इस क्षेत्र में क्या उपयोगिता है? ईश्वर सर्वकार्य का मूलकारण है। वही जगत् है, जगत् भिन्न अन्य कुछ नहीं है, वेदान्त आदि अद्वैत ब्रह्म प्रतिपादक ग्रन्थों को पढ़कर अथवा उनके श्रीमुख से अद्वैत ब्रह्मज्ञान के उपदेश सुनकर इस प्रकार के वाक्य उच्चारण करना तथा ईश्वर के सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तियुक्त रूप की उपलब्धि करना अलग बात है। ईश्वर का स्वरूपावधारण, जन्मान्तर के अनेक सुकृत से, अनेक साधना बल से किसी भाग्यवान् को होता है। हम भक्तिमार्ग को जितना सुगम मानते हैं, वह उतना सुगम नहीं है। जब तक यथार्थ अनुष्ठान से चित्तशुद्धि नहीं हो जाती, ज्ञान के यथायथ अनुशीलन से अविद्या का अन्धकार तिरोहित नहीं हो जाता, तब तक परात्पर श्रीभगवान् के श्रीचरण में प्रकृत भक्ति का उदय सम्भव नहीं है। चित्त चंचल है, शरीर दुर्बल है, तमोगुणाधिक्य के कारण कर्म करने में अपारग है। इन्द्रियाँ कहती हैं कि इस मार्ग पर जाने से सुखभोग नहीं मिलेगा तथा मस्तिष्क को बाधा होगी, अतएव ज्ञानानुशीलन करने से अनिच्छुक व्यक्ति पर क्या भक्ति देवी की कृपा होगी? ऐसे पुरुष क्या सर्वसन्ताप द्वारा भक्तिदेवी के अमरप्रार्थित, योगवांछित, ज्ञानीपूजित चरणदर्शन के अधिकारी बन सकते हैं? दयामय! तुम्हारे अतिरिक्त कोई नहीं है, तुम्हारे बिना मुझे कुछ नहीं चाहिए, संसारासक्त, कामादि के वशीभूत, संकीर्ण हृदय मानव क्या हृदय से ऐसी प्रार्थना कर सकेगा? प्राण के समान पुत्ररत्न को अकाल में कालमुख में अर्पित करके, अर्थभाव में सबसे पददलित होकर अन्नाभाव में क्षुधानल

से दग्ध होकर, असह्य व्याधि की यातना सहकर, 'दयामय! तुम मंगलमय हो, तुम्हारे सभी कर्म जीवकल्याणार्थ हैं', जो ऐसी प्रार्थना कर सकें, वे ही श्रीभगवान् की कुछ महिमा जान सके हैं। उनका ईश्वर के प्रति कुछ अनुराग जन्मा है। किन्तु संसार में ऐसे भाग्यवान गिनती के हैं।

अचेतन चेतन के अधिष्ठान के अभाव में स्वतः कर्मप्रवृत्त नहीं हो सकता। लौकिक परीक्षा से यह सप्रमाण करना सुसाध्य नहीं है। इस मत की परीक्षा करने पर अनेक प्रतिकूल दृष्टान्त भी परीक्षक की दृष्टि के सम्मुख प्रतीयमान होने लगते हैं। सारथी तथा अश्व के सहयोग के अभाव में रथ अपने आप नहीं चलता। यह देखकर शैत्य संयोग से अणुसमूह का जो आकुंचन होता है तथा ताप संयोग से प्रसारण होता है, ताड़ित् शक्ति द्वारा देह मध्य में तथा बहिर्जगत् में विविध क्रिया परिलक्षित होती है, मृत्तिका प्रकृति के आपूरण के कारण पाषाण, बालुका आदि के रूप में परिणत होती है, द्रव्य समूह के पारस्परिक रासायनिक संयोग द्वारा जो विविध विचित्र कार्य संघटित होते हैं, औषधि द्वारा कितने विस्मयजनक कार्य निष्पन्न होते हैं, सभी का विचार करने पर क्या साधारण बुद्धि यह निर्णय दे सकती है कि ये ईश्वर द्वारा कृत हैं अथवा साक्षात् भाव से चेतन अथवा अचेतन कृत हैं? क्या जड़शक्ति की अद्भुत लीला देखकर विस्मयविष्ट चित्त जड़शक्ति को अकिंचित्कर अथवा चेतन का मुखापेक्षी बताकर सन्तुष्ट हो जायेगा? जड़ विज्ञान की चरणसेवा से प्राकृतिक शक्ति समूह का तत्व अवगत हो जाता है। भोगासक्त मनुष्य विज्ञान की कृपा से अपने जीवन को कितना सुखमय बना रहे हैं! चेतन के अधिष्ठान के अभाव में अचेतन कोई कर्म नहीं कर सकता। जगत् माया का विजृम्भण है, इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है, यह ज्ञान लेकर सन्तुष्ट होने से क्या वे विज्ञान से कार्य ले सकते हैं?

संसार परमार्थतः मिथ्या है। परमाणु का स्पन्दन एवं सन्निवेश भी ईश्वर के आदेश के अनुसार होता है। प्राकृतिक शक्तिसमूह चेतन कर्तृक अधीष्ठित होकर क्रिया करता है। स्वतः प्रवृत्त होकर कोई कर्म नहीं कर सकता। अचेतन परतन्त्र है। पारमार्थिक दृष्टि से ये सब बातें सत्य होने पर भी व्यावहारिक क्षेत्र में इनके सत्यत्व को यथायथरूपेण उपलब्ध कर सकना निश्चय ही दुःसाध्य है। मुख से यह सब ज्ञान बघारने पर भी हृदय में इस प्रकार का विश्वास कितना दृढ़ हो सका है, इसका परीक्षण करने से अनेक को उनकी अपनी वास्तविकता का पता चल जायेगा। अतएव व्यावहारिक दशा में यथायथ रूप से यथोक्त ज्ञान की उपयोगिता अत्यल्प है। इसीलिए भगवान् कपिलदेव ने चिच्छक्ति प्रतिबिम्बित प्रकृति के स्वातंत्र्य को स्वीकार किया है। 'अग्नि पाक कर रहा है', 'हाड़ी पाक कर रही है' इत्यादि वाक्य अग्नि आदि के स्वातंत्र्य अथवा प्रधान कर्तृत्व को स्वीकार कर लेते हैं। जड़ अथवा परतन्त्र को स्वतंत्र स्वीकार करने का कारण क्या है? भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि प्रधान कर्ता जहाँ

परोक्ष है, सृष्टि के बाहर है अथवा परोक्ष न होने पर भी जहाँ अन्य कर्ता प्रधानरूप से विवक्षित हो रहा है, वहाँ ऐसे ही वाक्य का प्रयोग होता है। जब तक अन्यान्य कारक कर्ता के समभिव्याहार में रहते हैं, तब तक इनके पारतंत्र्य को स्पष्टतः समझा जा सकता है। परन्तु जब वे प्रधान कर्ता से पृथक् अथवा दूर अवस्थान करते हैं, तब वे ही प्रधान कर्ता के रूप में गृहीत हो जाते हैं। जब तक मंत्री राजा के पास रहते हैं, तब उनकी परतन्त्रता अन्यास उपलब्ध हो जाती है। किन्तु जब राजा अन्यत्र हैं, तब वहाँ मन्त्रीगण राजोचित सम्मान प्राप्त करते हैं। जिन लोगों ने राजा को देखा ही नहीं है, जिनकी योग्यता नहीं है कि राजा को देख सकें, किंवा जो राजा का प्रयोजन ही नहीं जानते, अमात्यगण को ही वे लोग प्रधानकर्ता मान लेते हैं।[1]

प्रकृति-शक्ति-अजा-प्रधान-अव्यक्त-तमः-माया-अविद्या इत्यादि इसके पर्यायवाची हैं। विज्ञानभिक्षु कहते हैं पुरुष को सर्वार्थसाधक बतलाकर इन्होंने राजा-अमात्यवत् 'प्रधान' नाम से वास्तव में जगत् के उपादान को प्रकृति कहा है। जगन्मोह को माया नाम दिया है। यद्यपि अमात्य स्वतंत्र नहीं है, तब भी जिस कारण से इनको स्वतंत्र माना गया है, कपिलदेव ने उसी कारण से अचेतन अथवा परतन्त्र प्रधान (प्रकृति) को स्वतन्त्र कह दिया है। जो प्रधान कर्ता अथवा परमेश्वर को नहीं देख सकते अथवा जिन लोगों ने परमेश्वर के चरणदर्शन का प्रयोजन नहीं जाना है, वे अमात्य को ही निःसन्दिग्ध रूप से स्वतन्त्र मानते हैं। वह कभी नहीं जान सकते कि अमात्य परतन्त्र है स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। दूसरी बात यह है कि जब वे राजा के ही प्रतिनिधि हैं, जब वे स्वेच्छा से राजा के आदेश अथवा नियम का अतिक्रमण करते हैं, तब उन्हें राजा मान लेने में क्षति क्या है? लौकिक राज्य में तो ऐसा राजनीति से अनुमोदित है। सांख्य में भी प्रकृत्याभिमानी देवताओं की सत्ता को मान्यता दी गई है। फलतः निरवच्छिन्न जड़वादी को परमेश्वर का अस्तित्व बतलाने के लिए जो शक्ति चाहिए, वह न्याय वैशेषिक तथा सांख्य पातंजल में है, उतनी अद्वैत ब्रह्मवादी वेदान्त दर्शन में नहीं है। निर्गुण चिच्छक्ति के कर्तृत्व को हृदय में धारण करना जितना कठिन है, चित् प्रतिबिम्बित सत्वादि गुणत्रय का कर्तृत्व समझ सकना उतना कठिन नहीं है। सांख्य परमार्थतः श्रुतिविरोधी नहीं है, यह प्रतिपादित-करने के लिए हम संक्षेप में ऊपर एक-दो बातें कह आये हैं। यहाँ 'सांख्यदर्शन' यदि परमार्थतः श्रुतिविरोधी नहीं है, तब भगवान् बादरायण, भगवान् शंकराचार्य ने सांख्यमत को वेदविरुद्ध कह के उसका प्रत्याख्यान क्यों किया? अब इस प्रश्न का उत्तर प्रदान किया जा रहा है।

शारीरिक सूत्र अथवा वेदान्त दर्शन के द्वितीय अध्याय के प्रथम अथवा द्वितीय पाद में सांख्यादि दर्शनों के मत का खण्डन मिलता है। इस ग्रन्थ का पाठ करने से विदित होगा कि वेदान्त दर्शन ने श्रुति से भिन्न शास्त्रों को स्मृति कहा है। स्मृति शब्द का जो अर्थ व्यवहार में है, साधारणतः जिस अर्थ में उसका व्यवहार होता है, यहाँ

---

1. "तद्यथा अमात्यानां राजा सह समवाये पारतन्त्र्यं व्यवाये स्वातन्त्र्यम्"—महाभाष्य

उससे भिन्न रूप में कहना होगा। वास्तव में यह भिन्नाकार अर्थ वास्तव में भिन्न नहीं है। इसका यह भिन्नाकार अर्थ श्रुति से अनुमोदित है। तैत्तरीय आरण्यक सर्वपुरुष श्रोत्रग्राह्य वेदवाक्य को प्रत्यक्ष तथा अनुमेय श्रुतिमूल मन्त्रादि शास्त्र को स्मृति कहता है। शारीरक सूत्र में भी श्रुति को समझाने के लिए प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार परिलक्षित होता है। तत्वजिज्ञासु के लिए यह चिन्तन का विषय है कि यहाँ श्रुति को प्रत्यक्ष क्यों कहा? इसका उत्तर मिल जाने से यह ज्ञात हो जायेगा कि आस्तिक दार्शनिक किस कारण से श्रुति को श्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं, जो श्रुतिविरुद्ध है, उसे अग्राह्य, भ्रान्तिमूलक मानते हैं। अनुमानादि प्रत्यक्ष से, प्रत्यक्ष (शुद्ध प्रत्यक्ष) ही सभी प्रमाण का मूल है। जब ज्ञानमात्र ही प्रत्यक्षमूलक है, जब जो लोग वेद को सर्वज्ञानप्रसूति मानते हैं, वे इसे प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और क्या कह सकेंगे? यदि अनुमानादि प्रत्यक्ष के विरोधी हैं तब जैसे उनको प्रमाण नहीं माना जाता, उसी प्रकार स्मृत्यादि यदि वेदविरोधी हैं, तब वेदज्ञ ऋषि उसे अप्रमाण मान लेते हैं। वेद को प्रत्यक्ष क्यों माना गया यह समझाने के लिए एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखना होगा। थोड़े में उसे नहीं बतलाया जा सकता। 'श्रुति अपौरुषेय तथा सत्यज्ञान प्रसूति' नामक ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में भविष्य में कुछ कहा जायेगा। श्रुतिमूलक स्मृति ही शास्त्र प्रमाणरूपेण गृहीत है। भगवान् जैमिनी कहते हैं जो स्मृति उपलभ्यमान श्रुति की विरोधिनी है, उस स्मृति को प्रमाण नहीं माना जा सकता। जो स्मृति उपलभ्यमान श्रुति की अविरोधी है, वह श्रुतिमूलक है।[1] इस कारण स्मृति तभी मान्य है जब वह श्रुतिविरोधी वचनों से रहित हो। इस नियमानुसार स्मृति का साक्षात् स्वतन्त्र प्रमाणत्व सिद्ध नहीं होता।[2] भगवान् बादरायण इसी कारण श्रुतिविरोधी मतों का खण्डन करते हैं। प्रत्यक्षवादी आधुनिक वैज्ञानिक दार्शनिक भी प्रत्यक्ष से विरुद्ध मत का आदर नहीं करते। यदि वेद को अबाधित प्रत्यक्षज्ञान का सार्वभौम माना जाये, उस स्थिति में वेदविरुद्ध श्रुति समूह का अनादर, वेदविरुद्ध स्मृति समूह का प्रत्याख्यान आवश्यक कर्तव्य है। कपिल, गौतम, कणाद, पतंजलि, मनु, याज्ञवल्क्य प्रभृति ने भी यही माना है। वेदविरुद्ध का महर्षि कपिल ने भी अनादर किया है। तब कपिल के मत के प्रत्याख्यान का क्या कारण है? कपिलादि वेदप्राण ऋषिगण के साथ भगवान् बादरायण, शंकर स्वामी, प्रभृति का मत विरोध क्यों?

कपिल, गौतमादि महर्षिगण वेदभक्त तथा तत्वदर्शी होने पर भी अधिकारी भेदानुसार जैसे अदृष्ट तत्व पृथक्-पृथक् बताया जाता है कि परमार्थ से व्यवहार सम्भव नहीं है, शुद्ध पारमार्थिक ज्ञान द्वारा व्यवहार निष्पत्ति असम्भव है, इत्यादि रूप से उपदेश भेद हो जाता है। अदृष्ट तत्व को समझाते समय श्रोता की बोधशक्ति की मात्रा के अनुसार उनकी अवस्था का पर्यवेक्षण करके उन्हें समझाना पड़ता है।

1. "विरोधे त्वलक्षणं स्यादसति ह्यनुमानम्"—जैमिनी सूत्र, 1-3-3।
2. भट्ट कुमारिल स्वामी कहते हैं—"अविरोधे श्रुतिर्मूलं न मूलान्तर सम्भवः।
विरोधे त्वन्यमूलत्वामिति स्यादर्द्धवैशसम्।"—तन्त्रवार्तिक

इसीलिए तत्वदर्शी ऋषिगण ने वेद के पारमार्थिक अर्थ को छोड़कर उसके अर्थवाद का आश्रय लेकर कार्य किया है।[1] ऋषिगण ने जो ऐसा किया है, इसमें भी वेद का आदेश है। साधारण लोगों द्वारा की गई वेदच्युति में तथा ऋषिगण द्वारा कृत वेदच्युति में समान कारण नहीं देखना चहिए।

जो भी हो, अधिकारी विशेष के लिए वेद के पारमार्थिक रूपदर्शन में योग्य पुरुषों के लिए परमार्थतः श्रुतिविरुद्ध मत का खण्डन करना कर्तव्य है। भगवान् बादरायण, शंकरस्वामी प्रभृति ने सांख्य का जो खण्डन किया है, उसका यही कारण है।

भगवान् बादरायण की बात तो छोड़ें, किन्तु पूज्यपाद शंकरस्वामी का भाष्य पढ़ते-पढ़ते हमारे मन में एक-दो स्थान पर संशय है। सांख्यदर्शन में प्रधान को जगत् कारण क्यों कहा है? राज प्रतिनिधि अथवा अमात्य को राजा कहने से सांघातिक क्षति नहीं है। सांख्यदर्शन यदि जड़वादीगण की तरह जड़भिन्न पदार्थ स्तर का अस्तित्व स्वीकार न करता, चिच्छक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रतिषेध करता, तब वह मत सांघातिक क्षतिकर हो जाता। सांख्यदर्शन ने पंगु पुरुष को माना है। चक्षु के बिना अन्धप्रकृति चल ही नहीं सकती, यह भी माना है, तब इस विषय में स्वातंत्र्य-पारतन्त्र्य को लेकर विवाद है। किन्तु कथा यह है कि भगवान् शंकरस्वामी के ''सांख्यादि स्मृतिकल्पित प्रधानेतर महदादि प्रधान परिणाम समूह (महत्, अहंकार तथा पंचतन्मात्र का) वेद अथवा लौकिक ज्ञान द्वारा उपलब्ध नहीं होता'' इस वाक्य का क्या अर्थ है? महत्तत्वादि को वेदस्वीकृत पदार्थ न मानने से पुराण, इतिहास, ज्योतिष, आयुर्वेद, तन्त्र, मनु इत्यादि को भी वेदविरोधी मानना पड़ेगा। क्योंकि ये सभी महत्तत्वादि को तत्व के अन्तर्गत मानते हैं। यही नहीं, कठोपनिषत्-प्रश्नोपनिषत्-मैत्र्युपनिषत्-गर्भोपनिषत्-चूलिकोपनिषत्-तैत्तरीय आरण्यक प्रभृति श्रुति समूह में जब महत्तत्वादि का वर्णन मिलता है तब शंकरस्वामी ने क्यों ऐसा कहा, यह समझ से बाहर का विषय है। चूलिकोपनिषत् से विदित होता है कि द्वैतवाद तथा अद्वैतवाद का अपूर्व सम्मिलिन देखकर हृदय अपार आनन्द से मग्न हो जाता है। यह विदित होता है कि आस्तिक दर्शन समूह वेद से ही निसृत है।[2]

ऋग्वेद संहिता में उक्त है कि अविकृतिरूपा तथा निखिल विकार की मूल प्रकृति एवं प्रकृति विकृति से उदासीन पुरुष (चिच्छक्ति), इन दोनों से महदादि सप्ततत्व की उत्पत्ति होती है। प्रकृति-पुरुष के योग से भले ही जगत् सृष्ट होता है,

---

1. भर्तृहरि कहते हैं—''ऋषीनां दर्शनं यच्च तत्वे किञ्चिदवस्थितम्।
न तेन व्यवहारोऽस्ति न तच्छन्दनिबन्धनम्॥''—वाक्पदीय
सदानन्द विरचित अद्वैत ब्रह्मसिद्धि में भी यही है।
2. चूलिकोपनिषत् माया को विकार जननी, अष्टरूपा, अजा, ध्रन्वा इन विशेषण से विशेषित करता है। ''विकार जननीं मायामष्टरूपाम जां ध्रन्वाम्''—चूलिकोपनिषत् तथा—
''पुरुषं निर्गुणं सांख्यमव्यक्तं शिरोविदुः। चतुर्विंशति संख्याकमव्यक्तंव्यक्तदर्शनम्॥''
''अद्वैतं द्वैतमित्येत त्रिधा त पञ्चधा तथा''—चूलिकोपनिषत्

परन्तु पुरुषांश के अविक्रियत्व के कारण तथा प्रकृत्यंश के विकारशीलत्व के वशात् प्रकृत्यंश ही प्रपंचाकार में परिणत होता है। इसीलिए ऋग्वेद ने 'अर्द्धगर्भा' विशेषणपद का प्रयोग किया है। महदादि सप्ततत्व ही विश्वप्रपंच के आन्तर तथा बाह्य पदार्थ के रेत:स्वरूप बीज तथा कारणभूत हैं। उक्त महदादि सप्ततत्व विष्णु के त्रिपाद में से एक पद पर आश्रित हैं। यह उनकी ही शक्ति है।[1]

क्या सांख्य ने इन वेदोपदेश की व्याख्या नहीं की? तैत्तरीय आरण्यक के "अजा अनादि त्रिगुणात्मिका माया अथवा प्रकृति बहुविध त्रिगुणात्मक प्रजा की सृष्टि करती है" इस मन्त्र को जो प्रकृति को जगत् का कारणतत्व माना जाता है, सांख्य दर्शन का बीज स्वरूप नहीं माना जायेगा?

महर्षि कपिल जिस उद्देश्य से सांख्यदर्शन का प्रणयन कर गये हैं, उसमें प्रकृति के स्वातंत्र्य वर्णन का प्रयोजन था। सांख्यदर्शन ने प्रकृति की स्वतंत्रता का प्रतिपादन करने का प्रयास किया है। सात्विक, राजस तथा तामस रूप महत्, सांख्यमत से पूर्व कल्पसिद्ध जीव है। इन्हें सांख्य में ब्रह्मा-विष्णु-महेश कहा है। इस मत में नित्य ईश्वर व्यवस्थापित नहीं है। योगमत से महत् का सात्विक भाग नित्य ऐश्वर्य से शक्तिमान तथा नित्यमुक्त है।[2] योगदर्शन नित्य ईश्वर को मानता है, यह सत्य है तथापि ये भी स्वभाववाद के अभ्युपगमवाद से प्रकृति के स्वातंत्र्य का प्रतिपादन करते हैं। रजस्तम: सभिन्नतावशत: मलिन कार्यतत्व परमेश्वर की उपाधि नहीं है। नित्य-ज्ञान-इच्छा तथा आनन्दादिमत् सदा एकरूप कारण सत्व ही उनकी उपाधि है। सामान्यत: सांख्ययोग का यही अभिप्राय है। सृष्टि-स्थिति तथा संहारकार्य के सत्वादि कार्योपाधिक ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर ये अधिकारी हैं। सांख्यदर्शन की यही गूढ़ अभिसन्धि है।

विज्ञानभिक्षु स्वप्रणीत विज्ञानामृत नामक ब्रह्मसूत्र भाष्य में कहते हैं कि "केवल जीवात्मा का ज्ञान हो जाने से मोक्ष हो जाता है," इसके प्रतिपादनार्थ सांख्यदर्शन ने अनीश्वर बौद्धमत के अभ्युपगमवाद द्वारा प्रतिज्ञात आत्मानात्म विवेक का प्रतिपादन किया है। स्वशास्त्र के प्रयोजनाभाव के कारण परमेश्वर के व्यवस्थापन की चेष्टा नहीं की। ब्रह्मा-विष्णु-महेश के अतिरिक्त ईश्वर का साधन अत्यन्त प्रयाससाध्य है, उसे ब्रह्ममीमांसा में कहा गया है, इसीलिए उन्होंने ब्रह्मादि के अतिरिक्त ईश्वर का प्रतिपादन नहीं किया।[3]

---

1. "सप्तार्धगर्भाभुवनस्यरेतो विष्णोस्तिष्ठन्तिप्रादिशा विधर्मणि"—ऋग्वेद संहिता, 2।21।164 इसका सायण भाष्य भी देखें।
2. "अत्रोच्यते केवल जीवात्मज्ञानादपि मोक्षोभवतीति प्रतिपादयित्वं सांख्यं अनीश्वर बौद्धमताभ्युपगमवादेन प्रतिज्ञातमात्मानात्मविवेकं प्रतिपादयन्ति ईश्वरव्यवस्थापनस्य स्वशास्त्रेऽनुपयोगात्। श्रुतिभ्यो ब्रह्मविष्णुशिवातिरिक्तेश्वरसादने प्रयास बाहुल्यात्। ब्रह्ममीमांसयैव तत्साधनस्य कृतत्वाच्च"—विज्ञानामृत
3. "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर:"—पातंजलदर्शन

अनेक का विश्वास है कि सांख्यदर्शन के साथ आधुनिक क्रमविकासवाद का अनेकांश में साम्य है। हक्सले, साली प्रभृति पण्डितों ने ऐसा मत प्रकाशित किया है।[1] हम इसी कारण Evolution Theory सहित सांख्यदर्शन के किस अंश का कितना साम्य है, यह देखने की चेष्टा करते हैं।

आधुनिक क्रमविकासवादी शुद्ध जड़वादी नहीं हैं। क्रमविकासवाद संसार के अनादित्व को अस्वीकार करता है। वह कर्म की परम्परा के नित्यत्व को नहीं मानता। उसे जीवात्मा तथा लिंगदेह के तत्व का ज्ञान नहीं है। संसार का अनादित्ववाद सांख्यदर्शन का अभिमत है। देह से अलग आत्मा के अस्तित्व को इसने प्रमाणित किया है। लिंगदेह के तत्व की व्याख्या की है। अविशेष से विशेष का प्रारम्भ होता है। प्रकृति के आपूरण से जात्यन्तर परिणाम होता है। सांख्य ने यही बात कही है। यद्यपि मात्र इस अंश में सांख्य और क्रमविकासवाद में कुछ साम्य है, किन्तु प्रवाहनित्यता (संसार की), तथा अदृष्ट (पूर्व संस्कार) को अंगीकार न करने से दोनों के मध्य विषम भेद परिलक्षित होता है। संसार के अनादित्व तथा अदृष्ट को आस्तिक दर्शन मात्र ने माना है। इस क्षेत्र में आस्तिक दर्शनों में कोई विवाद नहीं है। क्रमविकासवाद में जगत् को अनादि नहीं कहा गया, इसके कारण को इस ग्रन्थ में विवेचित किया जा चुका है। नैहारिकी अवस्था से क्रमशः विशेष-विशेष भाव प्राप्त करके जगत् दृश्यमान अवस्था में उपनीत हो सका है। क्रमविकासवाद का यही अनुमान है। जगत् की यह अवस्था प्रलयकाल में सूक्ष्मभावेन विद्यमान थी, यदि क्रमविकासवादी यह स्वीकार करते हैं, तब इनका यह कथन कि "हम क्रमशः उन्नति की ओर जा रहे हैं। पहले उद्भिज्ज थे। तदनन्तर कृमि बने, तदनन्तर नाना योनियों में जाते-जाते पहले वानर, तब असभ्य मनुष्य हो गये। अब सभ्य हो रहे हैं" अनेक विशेष बाधा उत्पन्न करता है। इसी कारण क्रमविकासवादी शास्त्रोक्त संसार के अनादित्ववाद को युक्तिसिद्ध कह सकने में अक्षम हैं। अतः यह वाद नास्तिक अथवा निर्मिमित्तक वाद है।

पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर स्वतः विद्यमानता (Self Existence) को जिस दृष्टि से देखते हैं तथा जिस कारण से इसे युक्तिसिद्ध वाद नहीं कहते, उसे सुना। अब स्वतः सृष्टिवाद (Self Creation) तथा बाह्यकारण एवं ईश्वर कर्तृक सृष्टिवाद (Created by an External Agency) उक्त विद्वान् की दृष्टि में जिस रूप से पतित हुआ तथा जिस लिए इसे भी युक्तिसिद्ध वाद नहीं माना गया, वह श्रवण करना है।

स्वतः सृष्टिवाद को पण्डित स्पेन्सर ने Pantheism कहा है। ईश्वर ही जगत् का एकमात्र कारण है। उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ नहीं है। जिस वाद का

1. "In the later system of emanation of Sankhya there is a more marked approach, to materialistic doctrine of evolution." See– Evolution in Encyclopedia Britannica

यह सिद्धान्त है उसे पानथिज़्म कहा जाता है। स्पाईनोज़ा (Spinoza) पाश्चात्य जगत् में इस मत के प्रतिष्ठापक हैं। ईश्वर (God) शब्द से स्पाईनोज़ा क्या समझते हैं? ईश्वर विश्व का कारण है। इसका अभिप्राय क्या है? स्पाईनोज़ा ने ईश्वर शब्द से द्वैतवादी की तरह (पाश्चात्य द्वैतवादी) अनित्य द्रष्टा को नहीं जाना। इनके मत से ईश्वर तथा जगत् समान पदार्थ हैं। वे ही कारण हैं, वे ही कार्य हैं। द्रव्य (Substance), गुण (Attribute) तथा कर्म-विवर्त्त (Mode) इन तीन को स्पाईनोज़ा ने पदार्थ कहा है। जो स्वतः विद्यमान तथा स्वतः प्रमाण है, अर्थात् जिसकी सत्ता तथा प्रामाण्य अन्यापेक्षया सिद्ध नहीं है, उसे स्पाईनोज़ा ने द्रव्य (Substance) कहा है। जिसे द्रव्य के तत्व अथवा उपादान रूप में बुद्धि से समझा जाये, वह है गुण (Attribute) तथा द्रव्य के विवर्त्त अथवा परिणाम को कहते हैं कर्म (Mode)। द्रव्य का अन्य कारण नहीं है, यह स्वयं अपना कारण रूप है। यदि इसे स्वयं ही अपना कारण न मानें, तब इसे कार्य पदार्थ कहना पड़ेगा। यह स्वीकार करना होगा कि यह किसी अन्य पदार्थ से उत्पन्न हुआ है। द्रव्य अपरिच्छिन्न (Infinite) तथा एकमात्र अद्वितीय सत् पदार्थ है। द्रव्य ही जब एक अद्वितीय अनन्यापेक्ष (Independent) सत् पदार्थ है, तब इसे स्वाधीन (Free) कहना होगा। यह स्वयं प्रेरित होकर अन्य के (अपने से भिन्न के) प्रयोजन बिना कर्म करता है, यह स्वीकार करना ही होगा। क्योंकि वृत्त (Circle) के व्यासार्ध (Radii) सब समान हैं, वृत्त के व्यासार्ध समान होते हैं इसका कारण यह है कि इनका अन्य कोई भी कारण नहीं है। इस प्रकार से ईश्वर जो कर्म करते हैं, विविधाकार में विवर्तित होते हैं, उसका भी अन्य कोई कारण नहीं है। वे किसी बाह्य कारण से प्रेरित हो कार्य नहीं करते। जैसे दुग्ध स्वयं अपने शुभ्रत्व, मधुरत्व तथा तरलत्व का कारण है, उसी प्रकार से पण्डित स्पाईनोज़ा ईश्वर को विश्वजगत् का कारण कहते हैं। जैसे पिता पुत्र का तथा सूर्य ताप का कारण है, वैसे ही इनके मत से ईश्वर उस प्रकार से जगत् का कारण नहीं है।[1]

विद्वान् स्पाईनोज़ा ईश्वर की निर्गुण तथा सगुण (Unqualified being and qualified being) अवस्था मानते हैं। श्रुतिबोधित अद्वैत ब्रह्मवाद के साथ

---

1. "God is not the cause of the world in the proper and usual senses of the term, a cause acting from without and creating it once for all, but the permanent substraction of things, the innermost substance of the universe. God is neither the temporal creator of the world; as dualism and christinaty conceive him"
—Weber.

"By substance, I mean that which has existence in itself and is conceived of itself, i.e. that the conception of which needs for its formation the conception of no second thing"—A Study of Spinoza, By J. Martineau L.L.D.D. page 123

क्या इस मत की सर्वांश में समता है? भले ही सर्वांश में समता न हो लेकिन कुछ अंश में तो समता है। स्पाईनोज़ा चिच्छक्ति और प्रकृति (माया) के स्वरूप को विशेष रूप से नहीं समझ सके। हेगेल के मत से स्पाईनोज़ा का किस अंश में पार्थक्य है, यह स्थिर होने से श्रुतिबोधित अद्वैतवाद तथा स्पाईनोज़ा के पानथिज़्म की सर्वांश में एकता नहीं है, यह बुद्धिगत होगा।

विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि जगत् शान्त तथा निष्क्रियावस्था से स्वयं किसी बाह्यकारण के बिना ही व्यक्त तथा उदित हो सका है। (Potential Existence passing into actual existance) स्वत: सृष्टिवाद का यही आशय है। किन्तु बात यह है कि जगत् की शान्त निष्क्रिय अवस्था को क्या हम बुद्धि के विषयीभूत करने में समर्थ हैं? जिसकी क्रिया अथवा गुण का व्यपदेश नहीं होता, उसे हम असत् समझते हैं। असत् पदार्थ को कैसे सत्‌रूपेण ग्रहण किया जा सकेगा? यह भी नहीं कह सकते कि असत् स्वयं अपनी शक्ति अथवा धर्म द्वारा सत् होगा। एक अद्वितीय सत् पदार्थ किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा के बिना ही अपना परिवर्तन करता है, इसका प्रकृत अर्थ है बिना कारण कार्योत्पत्ति होती है, असत् से सत् का जन्म होता है। किन्तु क्या ऐसा सम्भव है? अतएव स्वत: सृष्टिवाद स्वत: विद्यमानतावाद के समान प्रामाणिक वाद नहीं है।[1]

विद्वान् स्पेन्सर के इन सभी तर्क के प्रकृत मर्म को ग्रहण करने के लिए यह स्मरण करना होगा कि असत् तथा सत् का लक्षण क्या है? कार्य तथा कारण के स्वरूप का चिन्तन करने के लिए शान्त तथा उदित अवस्थाद्वय की पर्यालोचना करना होगा। आन्तर तथा बाह्य वस्तुत: भिन्न है अथवा अभिन्न यह निश्चय करना होगा।

जिसकी क्रिया तथा गुण का व्यपदेश नहीं होता, उसे लोग असत् कहते हैं। जो अर्थ क्रियाकारी (That which produces an effect) है, बौद्ध भी उसे सत् कहते हैं। अर्थ क्रियाकरित्व ही सत्व (Existence) है। जर्मन देशीय विद्वान् हेगेल भी सत्व तथा क्रियाशीलत्व (Reality and Activity) को समानार्थक (Synonymous) रूपेण ग्रहण करते हैं। हेगेल के मत से जो सत् नहीं है, वह क्रियाशील नहीं हो सकता। जो क्रियाशील नहीं है, वह सत् नहीं हो सकता। सम्पूर्णत: व्यापारवान् अथवा सम्पूर्णत: क्रियारहित कोई सत् पदार्थ नहीं होता।[2]

---

1. "Moreover, existence passing into another shape without external agency involves a change without a cuse—a thing of which no idea is possible ...For all these reasons then a self created universe is inconceivable..." —H. Spencer
2. "Activity is synonymous with reality. Nothing is active except what is real and nothing is real except what is active. Absolute rest does not exist." —Weber-Hegel.

जो सत् नहीं है, वह अर्थ क्रियाकारी नहीं है, इस बात को सत्य कहकर 'जो अर्थ क्रियाकारी नहीं है, वह सत् नहीं है' यह बात भी सत्य होगी, इसका क्या प्रमाण? अपरिणामी अथवा कूटस्थ नित्य है अथवा असत् है? 'जो अर्थ क्रियाकारी नहीं है, इसका क्या तात्पर्य'? व्याकरणादि शास्त्र क्रिया को परिस्पन्दन-साधन-साध्य, गमनादि (Motion-Vibration) तथा इससे विपरीत अपरिस्पन्दन-साधन-साध्य अवस्थानादि (Existence) रूपी भागद्वय में विभक्त कर देता है। अपरिणामी कूटस्थ नित्य पदार्थ में गमनादि क्रिया न रहने पर भी अवस्थानादि क्रिया है, परिणामी पदार्थ समूह की सत्ता चैतन्यप्रद है, यह कहने से इन्हें सत् कहना होगा। सत् तथा असत् किंवा भाव एवं अभाव (Being and Not Being) इन पदार्थद्वय के स्वरूप को लेकर दार्शनिकों ने (विशेषतः एकत्ववादियों ने) अनेक चिन्तन किया है। हेगेल के मतानुसार पदार्थ मात्र की स्वभावविरोधी (Contradictory in it-self) प्रतियोगिता ही पदार्थ का तत्व है। दोनों की प्रतिद्वन्द्विता का समवाय ही पदार्थ का तादात्म्य (Identity) है।[1]

श्रीहर्ष स्वप्रणीत खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ में भाव तथा अभाव पदार्थ के खण्डनावसर पर[2] जिन तर्कों को बताते हैं, हेगेल के न्याय (Logic) का पाठ करने से अनेकतः तदनुरूप तर्क का रूप परिलक्षित होता है। श्रीहर्ष प्रथमतः प्रश्न करते हैं "अभाववत्व का अर्थ क्या है? यदि निषेधात्मकत्व अभावत्व का स्वरूप है, यदि यह कहें तब जिज्ञासा होगी कि निषेध कहने से प्रतिक्षेप (Contradiction) का ज्ञान होगा, किंवा अभाव को जानोगे? प्रतिक्षेपात्मकत्व भावपदार्थ भी हैं। भाव तथा अभाव का परस्परतः प्रतिक्षेपात्मकत्व स्वीकृत हो जाता है। (It is acknowl-edge that contradiction contained in both being and non-be-ing. Existence itself is contradictory)। अभाव को निषेध के अर्थरूप में ग्रहण करने से जिज्ञासा विनिवृत्त नहीं होगी। अतः निषेध में प्रतीयमानत्व भी इसके द्वारा निरस्त हो जायेगा। भावविरोध ही अभावत्व है, यह भी नहीं कह सकते। 'भावविरोधित्व है सत्तावत्व' यह सुनकर प्रश्न होगा कि सर्वभाव का विरोधित्व अभावत्व नहीं है। यह उचित नहीं है। घट का अभाव भूतलादि का विरोधी नहीं है। भावविशेष के विरोधित्व का नाम अभावत्व है, यह भी यथार्थ उक्ति नहीं है। इसलिए विशेष-विशेष भाव समूह में कतिपय का तद्भावत्व सिद्ध हो जाता है।[3]

---

1. "Every thing is contradictory. Contradiction forms its essence. Its identity consists in being the union of two contradiction."
—History Philosophy, Lewes, 534
2. द्रष्टव्य 'खण्डनखण्डखाद्य' —श्रीहर्ष, चतुर्थ परिच्छेद
3. "अभावत्वं किमभिधीयते निषेधात्मक मिति चेत्? तद्यदि प्रतिक्षेपात्मकत्वं तदा भावेप्यन्ति भावाभावयोर्द्वयोरपि परस्परप्रतिपक्षेपात्मकत्वस्वीकारात्" —वही

हेगेल के मतानुसार व्यापार शून्य शुद्ध निरुपाधिक अथवा निर्गुणभाव के अभाव के समान है। (Hence being pure and simple is equal to non-being)। जिसकी क्रिया तथा गुण का व्यपदेश नहीं होता, वह असत् पदार्थ है। हेगेल के उक्त वचन का यही तात्पर्यार्थ है। आस्तिक सत्कार्यवाद तथा असत्कार्यवाद परस्परतः विरोधी नहीं है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि मायावाद का प्रकृत रहस्य उद्भिन्न हो गया। ऋग्वेद संहिता का कथन है ''इन्द्र परमात्मा माया द्वारा विविध विचित्र जगदाकृति धारण करते हैं। परमात्मा की शक्तिरूप माया ही विश्वजगत् का उपादान कारण है।''[1] माया का स्वरूप क्या है? श्रुति के अनुसार माया अनादि कार्योत्पादन में समर्था है। यह ब्रह्मरूप में सती, कार्यरूप में असती है, अतएव ये न तो सती हैं न असती। हेगेल ने अनेकतः ऐसे विचारों द्वारा केवल भाव तथा केवल अभाव को समान पदार्थ कहा है। तब भी यहाँ यही कहना है कि श्रुति के साथ हेगल के कथन में ऐक्य नहीं है।

ब्रह्म स्वयं अविकार, अपरिणामी हैं, जो स्वयं अविकार, अपरिणामी है, वह विकार अथवा कार्य का हेतु क्यों होगा? जो कुछ होंगे नहीं, करेंगे नहीं, उन्हें 'सत्' नहीं कहा जा सकता। यदि वे केवल सत् होते तब वे चिरकालपर्यन्त कूटस्थ भाव में ही अवस्थान करते। कभी भी जगदाकृति में विवर्तित नहीं होते। पक्षान्तर से यदि इनको केवल असत् (only nothing) कहें, तब ये सम्पूर्णतः निष्क्रिय, निष्कल, शून्य (Zero) होते। अतएव ब्रह्म को सगुण तथा निर्गुण, दोनों मानना होगा।[2]

श्रुति ने ब्रह्म को सर्वभूतगूढ़ (सर्व प्राणी में संवृत), सर्वव्यापी (सर्व-भूतान्तरात्मा, स्वरूपभूत), कर्माध्यक्ष (सर्व प्राणिकृत् विचित्र कर्म के अधिष्ठाता, सर्वभूताधिवास (जो सब में वास करे), साक्षी (सर्वद्रष्टा), चेता (चेतयिता), केवल (निरुपाधिक), निर्गुण (गुणरहित), एकदेव (अद्वितीय द्योतनस्वभाव), इन 9 विशेषणों से भूषित किया है। इनका स्वरूप चिन्तन करने से उपलब्धि होती है कि श्रुति ने इन 9 विशेषणों से ब्रह्म के उपादानकारणत्व, निमित्तकारणत्व तथा अभिन्न निमित्तोपादानत्व का प्रतिपादन किया है।[3] हेगेल ने भी कुछ न कुछ ऐसा ही विचार दर्शाया है। तब भी हेगेल तथा वेदान्त में पार्थक्य क्या है?

---

1. ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते...''—ऋग्वेद संहिता, 4।47।18
2. "Hence, being pure and simple is equal to non being. It is both itself and its opposite. If it were only itself, it would remain immovable and barren. If it were only nothing, it would be equal to zero, and in this case, perfectly powerless and fruitless. Because it is both if becomes something, a different thing, everything." —Weber, Hegal
3. ''एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥'' —श्वेताश्वतर उपनिषद्

भूतभविष्यवर्तमानात्मक यावत् अनुभूत, अनुमित, अनुश्रुत जगत् सर्वतोमुख विराट् की महिमा है। उनका मायिक रूपमात्र है। किन्तु वे इनकी अपेक्षा अनेक बृहत् कारण हैं। त्रैकालिक भूत समुदायरूपी यह जगत् इनका एकपाद मात्र है। इनके बाकी और तीन पाद हैं जो अमृतस्वरूप हैं। यह अमृतस्वरूप पादत्रय है, इनका स्वप्रकाश रूप अवस्थित है (पुरुषसूक्त का तृतीय ऋक् द्रष्टव्य है)। हेगेल इस प्रकार की बात नहीं कर सके। अत: वेदान्त के साथ हेगेल का विशेष पार्थक्य है। श्रुति ने सगुण ब्रह्म को ही हिरण्यगर्भ, विराट् पुरुष इत्यादि नाम से अभिहित किया है। त्रिगुणाधिष्ठित चिच्छक्ति ही सगुण ब्रह्म है। इन्हें ईश्वर कहा गया है।

विद्वान् हेगेल कहते हैं कि शक्ति तथा क्रिया (व्यापार चेष्टा Force and Exertion) परस्परत: भिन्न नहीं हैं। क्रिया तथा चेष्टा से ही हम शक्ति को जान पाते हैं। शक्ति तथा क्रिया यथाक्रमेण आन्तर तथा बाह्यभाव के वाचक हैं। शक्ति (Force) शब्द के द्वारा आन्तर अथवा अव्यक्त भाव एवं क्रिया तथा कर्म शब्द से व्यवहार अर्थात् बाह्यशक्ति लक्षित होती है। आन्तर (Inner) तथा बाह्य (Outer) वास्तव में एक पदार्थ है। इनका तादात्म्य सम्बन्ध में सम्बन्ध (Identical) है। ये वास्तव में एक पदार्थ हैं। आन्तर कभी बाह्यविच्छिन्न होकर अथवा बाह्य कभी आन्तर विरहित होकर नहीं रहता। प्रत्येक व्यक्तभाव ही, प्रत्येक कार्य की शक्ति की आन्तर अथवा अव्यक्त व्यक्तावस्था है। कारण से कार्य वास्तव में भिन्न नहीं है।[1]

यह श्रुति, शारीरक भाष्य, शारीरक सूत्र की ही प्रतिध्वनि है। अथर्ववेद संहिता में कहा है कि "जो आन्तर है, वह बाह्य है, जो बाह्य है—वही आन्तर है।"[2] विज्ञानभिक्षु भी कहते हैं कि व्यक्तता और अव्यक्तता के अतिरिक्त आन्तर तथा बाह्य में कोई भेद ही नहीं है। विद्वान् स्पेन्सर ने स्वत: सृष्टिवाद की अनुपपत्ति दिखलाने के लिए कहा है कि भाव तथा सत्पदार्थ से हम क्रियाकारी पदार्थ को ही जानते हैं। सर्वथा निष्क्रिय पदार्थ को सत् रूप से अवधारित कर सकना सम्भव नहीं है। इसलिए विश्वजगत् में अव्यक्तावस्था को सत् कहना होगा। किन्तु निष्क्रिय अवस्था को सत् किस प्रकार से कहा जाये? यह सिद्धान्त कदापि उपपन्न नहीं होता कि असत् अपनी शक्ति द्वारा अथवा धर्म द्वारा सत् हो जाता है। असत् एकभाव बाह्यकारण निरपेक्ष होकर रूपान्तर ग्रहण करता है, यह भी स्वीकारयोग्य बात नहीं है।

विद्वान् पण्डित स्पेन्सर की ऐसी आशंका के परिहारार्थ हम असत् अथवा सत् अथवा अभाव तथा भाव (Non-being and Being, Negation and affirmation or position) अथवा कारण और कार्य इन पदार्थों का चिन्तन

---

1. "These two co-efficients inner and outer are also identical, neither is without the other-cause itself passes into effect."
—History of Philosophy, Dr. A.Schwegler
2. "यदन्तरं तद्बाह्यं यदबाह्यं तदन्तरं" —अथर्ववेद संहिता

करते हैं। न्याय वैशेषिक दर्शन में अभाव (Non-Existence Negation) पदार्थ को संसर्गाभाव तथा अन्योन्यभाव (Relative non-existence and mutual non-existence) इन दो भागों में विभक्त करते हैं। संसर्गाभाव भी प्राग्भाव (Antecedent non-existence), प्रध्वंसाभाव (जन्यभाव—Emergent non-existence) तथा अत्यन्ताभाव (नित्य संसर्गाभाव) त्रैकालिक ससंर्गाविच्छिन्न प्रपियोगिताक अभाव (Absolute non-existence) रूप से त्रिविध है। अन्योन्याभाव (Reciprocal non-existence or difference) तथा भेद (Difference) समान पदार्थ है। घट से पट भिन्न है, गो से अश्व भिन्न है, घट कदापि पट नहीं है। गो अश्व नहीं है इत्यादि में जो अभाव की प्रतीति होती है, उसे अन्योन्याभाव कहा गया है। यह भाव व्यतिरिक्त नहीं है। प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव संस्कारभाव के प्रकार हैं। यह स्वर्ण यह अलंकार होगा, इसे सुनकर हमें अलंकार की उत्पत्ति के पूर्व स्वर्ण अलंकार के जैसे अभाव (Non-existence) की प्रतीति होती है, उसे प्राग्भाव कहा गया है। उत्पत्ति के अनन्तर समवायिकारण से कार्य का जो संसर्गाभाव है, वही है प्रध्वंसाभाव। सत्कार्यवादीगण के सिद्धान्त से प्राग्भाव तथा प्रध्वंसाभाव हैं कार्य के अनागत अथवा भविष्यत् एवं अतीत। इस अवस्थाद्वय के अतिरिक्त कुछ नहीं। (अर्थात् अनागत एवं अतीत के अतिरिक्त इन्हें अन्य कार्य वाला नहीं कहा जा सकता)। वैयाकरण भी कारण को शक्तिरूप की सूक्ष्मभाव अवस्था को प्राग्भाव कहते हैं। पण्डित हेगेल के उपदेश में अभाव ज्ञान भी वस्तुतः भाव ज्ञान है। अभाव ज्ञान के बिना भाव ज्ञान की तथा भाव ज्ञान के बिना अभाव ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। एकत्व के अभाव में अथवा प्रतिक्षेप में (The negation of the unit) यह बहुत्व का ज्ञान है।[1] भाव का तिरोभाव है अभाव, अभाव का आविर्भाव है भाव, ये परस्पर विरोधी नहीं हैं।[2]

अद्वैतसिद्धि नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में कहा गया है कि वस्त्र की संकुचित अथवा प्रसारित अवस्था वस्त्र के स्वरूप में जैसे अनुस्यूत है (Closely attached or

---

1. "All position says Hegel, is negation, every notion has in it the opposite of itself, in which it passes forward to its own negation. But again all negation is position affirmation. When a notion is negated the result is not forthwith a mere nothing, a pure negative, but on the contrary, a concrete positive, there results, in fact a new notion, and one too that is enriched by the negation of the proceeding one. The negation of the unit, for example, is the notion of plurality."

—History of Philosophy, Dr. A. Schwegler.

2. "These two notions, concequently, are not more absolutely opposed than absolutely identical? Each of them disappears immediately into the other." —History of Philosphy, Schwegler.

linked to, woven together) उसी प्रकार मृत्तिकापिण्ड, घट आदि अवस्थाओं में घट का स्वरूप अनुस्यूत रहता है। इसके स्वरूप का नाश नहीं होता। घट का स्वरूप अनुस्यूत हुआ है, इसीलिए जो मृत्तिका थी, वही घट बना, उससे जलहरणादि कार्य हुआ, अब वह भग्न है। जल लाने लायक नहीं है। कार्य निष्पादन में अयोग्य है। ऐसी प्रत्यभिज्ञा (Recognition) होती है। अतएव द्रव्य के अनागतादि अवस्था समूह परस्पर भिन्न होने पर भी प्रत्येक अवस्था में इनका स्वरूप अनुगत रहता है। 'घट ध्वंस प्राप्त हो गया' यहाँ ध्वंस प्रतियोगिता घट ही प्रतीत हो रहा है। अतएव अनागत, वर्तमान तथा अतीत अवस्था ही यथाक्रमेण आविर्भूत तथा तिरोभूत होती है।[1] सत्कार्यवादी भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि भूत तथा भविष्यत् एक साथ नहीं रहते। ये धर्मिरूपेण मृत्तिकादि में सूक्ष्मभाव से अवस्थान करते हैं। इन वचनों को यहाँ स्मरण रखना होगा। भाव तथा स्वभाव के स्वरूप को लेकर दार्शनिकों ने अनेक विचार किया है। पूर्व में इसे कहा जा चुका है। सर्वशून्यतावादी बौद्धगण कहते हैं कि सकल भावराज्य ही वस्तुतः अभाव है। क्योंकि गो अपने से इतर अश्वात्मा में असत् है। गो अनश्व है तथा अश्व भी उससे इतर गवात्मा में असत् है। अश्व गो रहित है। गो में अश्व इत्यादि भाव जात अन्योन्याभाव के कारण अभाव है।[2] महर्षि गौतम कहते हैं ना, ऐसा नहीं होता। सभी भाव—स्वीय भाव—स्वीय धर्म से सिद्ध है (What is, is)। गो यह शब्द उच्चरित होने पर जाति विशिष्ट द्रव्य गृहीत होता है। अभाव मात्र गृहीत नहीं होता। यदि अभाव होता, तब गो शब्द कहने से अभाव की प्रतीति होती। अश्वात्मा में गो असत् है। यह कहा जा रहा है, किन्तु यदि सकल सर्वत्र ही अभाव हो तब 'गवात्मा में गो अगो' (नहीं है)। यह क्यों न कहा जाये? गवात्मा में गो सत् है, इसीलिए तो? अतः सर्वभाव पदार्थ ही स्वभावसिद्ध है। सर्व अभाव यह इसका अपसिद्धान्त है। द्रव्य समूह की स्वभावतः सिद्धि असम्भव है, क्योंकि सभी द्रव्य आपेक्षिक हैं (Relative हैं)। दीर्घापेक्षाय ह्रस्व की सिद्धि हो जाती है। "सभी द्रव्य आपेक्षिक हैं। कोई स्वभावसिद्ध नहीं है।" महर्षि गौतम कहते हैं जिस युक्ति से इस प्रतिज्ञा की स्थापना की जाती है, वह है व्याघात दोषयुक्त (Contradictory)। 'ह्रस्व दीर्घापेक्षाकृत' अब जिज्ञासा होती है कि दीर्घ का दीर्घत्व स्वभावसिद्ध है अथवा अपेक्षिक है? यदि कहें कि दीर्घ का दीर्घत्व ह्रस्वापेक्षाकृत है, तब द्रव्य का स्वभाव सिद्धत्व ही प्रकारान्तर से स्वीकार करना होगा। ह्रस्व रहने पर दीर्घ का ज्ञान नहीं रहता। दीर्घ रहने पर ह्रस्व का ज्ञान नहीं रहता। इसलिए दोनों ही परस्पराश्रयी हैं। दोनों का ज्ञान इतरेतरापेक्ष है। इतरेतर पदार्थद्वय में एक के अभाव में दूसरे का अभाव

---

1. "वस्तुतस्तु ध्वंसकालेऽपि घटो इति ध्वंसप्रतियोगिता घटे प्रतीयते एव तथाचानागत्वर्त्तमाना-तीतावस्थाः क्रमेणाविर्भावयन् तिरोभावयंश्चानिर्वाच्यो घटः कालत्रयेप्यनुस्यूते इतिनः सिद्धान्तः"
—अद्वैतसिद्धि

2. "सर्वमभावोभावोवेष्वतरेतराभावसिद्धे" —न्यायसूत्र, 4।1।37

अवश्यम्भावी है। अतः एक का अभाव दोनों का अभाव है। इससे अपेक्षा व्यवस्था कैसे उपपन्न होगी?

हेगेल (Hegel) ने क्या कहा है? जागतिक वस्तुमात्र ही परिच्छिन्न है। परिच्छिन्न वस्तुमात्र है सप्रतियोगिक। सभी दृग्गोचर वस्तु ही भाव तथा अभाव पक्षद्वय की मध्यवर्ती है। परिच्छिन्न ज्ञान है सदसदात्मक। भाव तथा अभाव की मिलितमूर्ति। अनुभूति (Thought) के स्वरूप का चिन्तन करने से विदित होगा कि यह अमुक से भिन्न है तथा यह अमुक के समान है। अनुभूति मात्र ही इस प्रकार से भेदोभेदमूलक है। परिच्छिन्न रूप से अभाव है और परिच्छिन्न अभाव में भाव है। अपरिच्छिन्न अभाव तथा अपरिच्छिन्न भाव एक पदार्थ है। "Every definite thought, by the fact, that it is definite, has necessary relation to its negation and cannot be seperated, from it without lossing its own meaning"। निविष्ट भाव से चिन्तन करने से प्रतीति होगी कि हेगेल के मत के साथ न्यायदर्शन का कोई मूल विरोध नहीं है। यहाँ इन तर्क के प्रत्याख्यान का क्या प्रयोजन?

असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद तथा सत्कारणवाद सर्व प्रकार के दार्शनिक भाव के मूल हैं, इसका प्रतिपादन तथा आस्तिक वेदमूलक इन वादत्रय का स्वरूप जानना (जो की परस्पर अविरोधी है) ही हमारा मूल प्रयोजन है। इस प्रयोजन से प्रेरित होकर हम जगत् के भिन्न-भिन्न सृष्टि विषयक मत की समालोचना करते हैं। असत् की उत्पत्ति नहीं होती, सत् का नाश नहीं होता। दार्शनिक वैज्ञानिकों में से अनेक इस कथा का अभ्युपगम करते हैं। 'असत् की उत्पत्ति नहीं होती', अतीत तथा अनागत स्वरूपतः विद्यमान हैं, यह बात सुनकर जिन्हें यह विचार आता है कि जगत् की यह दृश्यमान व्यक्त अवस्था ही प्रलयकाल में विद्यमान रहती है, वे 'असत् की उत्पत्ति नहीं होती' तथा अतीत-अनागत स्वरूपतः विद्यमान हैं, इन वाक्यों के प्रकृत स्वरूप को कथमपि ग्रहण नहीं कर सकते। इसी कारण न्यायदर्शन ने असत्कार्यवादी का पक्ष लिया है। सत् तथा असत् शब्द का अर्थचिन्तन करने से प्रतीति होती है कि निषेधार्थक 'नञ' अव्यय पद के साथ संयुक्त होकर सत् तथा असत् आकार बनता है। अविशेष सत् देशतः-कालतः-वस्तुतः परिच्छिन्न होकर विशेष-विशेष सद्रूप में उपलब्ध होता है। 'यह यह नहीं है'—यह उससे भिन्न है—इसका अर्थ है कि जो देश तथा काल से अवच्छिन्न नहीं है, उसमें ठीक उसी-उसी धर्म अथवा गुण का अस्तित्व उपलब्ध नहीं होता। अतः विशेष अथवा परिच्छिन्न पदार्थ मात्र ही भाव और अभाव (हाँ और ना) की मिलित मूर्ति हैं। सत्ता के देशतः-कालतः-वस्तुतः परिच्छिन्न होने पर भी उसके स्वरूप का नाश नहीं होता। अभाव भी भाव से व्यतिरिक्त नहीं है। हेगेल इस बात को समझाने की चेष्टा करते हैं। जगत् अव्यक्तावस्था में भी सत् है, इस बात का अर्थ है कि जगत् की अव्यक्तावस्था में भी यह सूक्ष्मभावेन शक्तिरूपेण विद्यमान है। शान्त

(Potential) तथा उदित एवं क्रियमाण (Kinetic) रूप से वैज्ञानिकों ने शक्ति की अवस्थाद्वय का वर्णन किया है। जो शक्ति द्रव्य समूह को अव्यक्तक्रियमाण अवस्था में आनयन करती है, उसे दृष्ट प्रवृत्ति शक्ति (Kinetic energy) कहते हैं और जो अव्यक्त अवस्था से गति प्रवर्तन की चेष्टा करती है, उसे अदृष्ट संचित अथवा शान्त शक्ति (Stored or potential energy) कहा गया है। अदृष्ट अथवा शान्त शक्ति में क्रिया अथवा प्रवृत्तिशीलता नि:सन्दिग्ध है, क्योंकि क्रियाहीन तथा प्रवृत्तिशून्य शक्ति का अस्तित्व प्रतिपन्न नहीं होता। परन्तु सूक्ष्मत्व के कारण हमारे लिए अतीन्द्रिय है। हम नहीं देख पाते।[1]

ऋग्वेद संहिता में प्रलय का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व जगत् नहीं था। क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं थी। तब क्या प्रलयावस्था में जगत् विद्यमान था, सत् था? ना, प्रलयावस्था में जगत् विद्यमान भी नहीं था, क्योंकि विद्यमान की सृष्टि कैसी? वेद कहता है कि सृष्टि के पूर्व भी जगत् असत् नहीं था। अन्य स्थान पर वेद कहता है कि प्रलयावस्था में जगत् विद्यमान नहीं था, इस प्रकार परस्परविरुद्ध वचन द्वारा प्रलय का स्वरूप कैसे निर्वाचित होगा? 'सृष्टिपूर्व जगत् असत् नहीं था' इस वाक्य का तात्पर्य है कि प्रलयावस्था में जगत् परमव्योम में, परब्रह्म नामरूप विनिर्युक्त होकर अव्यक्तावस्था में विद्यमान था। पुन: 'प्रलयकाल में जगत् सत् विद्यमान नहीं था' इसका अभिप्राय है कि जगत् की यह व्यक्त परिदृश्यमान अथवा तब विद्यमान नहीं थी। प्रलयकाल में पृथिव्यादिलोक, अन्तरिक्ष, चतुर्दश भुवन, आकाशादि भूतजात, कुछ भी विद्यमान नहीं था। भोग्यप्रपञ्च की तरह उस समय भोक्तृप्रपंच भी नहीं था। अन्य श्रुति में कहा है कि उस प्रलयकाल में अप् सलिल विद्यमान था। ऋग्वेद का कथन है नहीं, उस समय सलिल भी नहीं था।[2] उस अवस्था में सूर्य अथवा अन्य ग्रह-उपग्रह नहीं थे, मृत्यु नहीं थी, जीवन नहीं था। जैवचेष्टा नहीं थी। तब सर्ववेदान्त प्रसिद्ध ब्रह्मतत्व ही विद्यमान था। प्राण के सम्बन्ध के बिना जीवन रहेगा कैसे? इसीलिए श्रुति ने 'अवातम्' का प्रयोग किया है। अर्थात् प्राण के सम्बन्धाभाववशात् विशिष्ट जैव व्यापार नहीं था। तब भी जीवन

---

1. अध्यापक G.T. Lodd कहते हैं, "The energy which is regarded as causing actual motion is kinetic that which is to be regarded as tending to produce motion is stored or potential. But in as much as we have not test or suggestion of the presence of energy except motion, we seem compelled to consider the so called tendency to move (potential energy) as motion that is beyond the sphere of the senses, because distributed over so vast a number of minute portions of matter whose amount of motion is too small to be discoverable". —Physcological Psychology, Page 653
2. "ना सदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरोयत्।
विभावरीव: कुहुकस्य शर्मन्नम्भ: कियासीद्गहनं गभीरम्।" —ऋग्वेद संहिता, 8। 129। 1

था। सत्व-रजः-तमः त्रिगुणात्मिका प्रकृति (माया) तब अपने आधार ब्रह्म के साथ अविभागापन्न होकर साम्यावस्था में विद्यमान थी। क्रियाशील रजोगुण की अनभिव्यक्ति के कारण तत्काल कोई व्यक्त क्रिया नहीं थी। प्रकृति अथवा माया ईश्वरापेक्ष है। इससे यह ध्वनित होता है। इस समय एक अद्वितीय पदार्थ विद्यमान था, अन्य कुछ नहीं था।[1] सृष्टिपूर्व में जब जगत् नहीं था तब उसका जन्माविर्भाव कैसे हो सका है?

जायमान की जन्मक्रिया में निश्चय ही कारकत्व, कर्तृत्व है। कारक कारण का अवान्तर विशेष है। क्रिया के लिए कारक के नियत पूर्वक्षण में विद्यमानत्व अवश्यम्भावी है। वेद ने इस आशंका के परिहारार्थ कहा कि सृष्टि के पूर्व प्रलयदशा में भूतभौतिक अखिल जगत् तमः अन्धकारवत् (जैसे नैशतमः सर्वपदार्थसमूह को ढककर रखता है) आत्मा के स्वरूप के आवरक मायासंज्ञक भावरूप अज्ञान से आवृत था। संस्कारावस्था में विद्यमान था। आविर्भाव अर्थात् सूक्ष्मत्व से स्थूलत्वप्राप्ति अर्थात् उत्पत्ति और स्थूल से सूक्ष्म संस्कारावस्था में गमन है नाश। इसके द्वारा असत्कार्यवाद प्रत्याख्यात हो जाता है। कारण के साथ अविभागापन्न, एकीभूत, एक अखण्डतमोभाव से स्थित जगत् कैसे विभक्त हुआ? सृष्टि आरम्भ होने का हेतु क्या है? कारणसहित एकीभूत अविभागापन्न जगत् तप के स्रष्टव्यरूप पर्यालोचनारूप के माहात्म्य से विभागता को प्राप्त हो सका। परमेश्वर की पर्यालोचना ही जगत् की उत्पत्ति हेतु है। इस विकार जात की सृष्टि की प्रागवस्था में परमेश्वर के मन में काम, जगत् सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होती है। परमेश्वर में जगत्-सृष्टि की इच्छा क्यों? प्रलयकाल में जीवसमूह का वासनावासित अन्तःकरण समूह माया अथवा प्रकृति में विलीन रहता है। प्राणिगण का अतीत कल्प में कृत तथा अन्तःकरण में समवेत कर्म ही भावी प्रपंच का बीजस्वरूप है। जब यह कर्मवासना फलोन्मुख होती है, तभी जगत्-सृष्टि की इच्छा होती है। कल्पान्तर में जीव संघकृत कर्म ही वर्तमान सृष्टि का कारण है।

वह तो शब्द, श्रुति अथवा अलौकिक अबाधित, प्रत्यक्षसिद्ध है। तथापि श्रुति तथा त्रिकालज्ञ विद्वज्जन समूह के अनुभव को ही यहाँ प्रमाण माना गया है। ऋग्वेद कहता है कि अब इन अनुभूयमान अखिल जगत् के हेतुभूत, कल्पान्तर में जीवकृत,

1. ''न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्यो अन्ह आसीत् प्रकेतः,
आनीदवातं स्वधयां तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किं चनास॥''
''तम आसीतमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥''
''कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमः यदासीत्।
सतो वन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीषा कवयो मनीषा॥''
—ऋग्वेद संहिता, 8।129।2,3,4

प्रकृति अथवा कारण में लीन कर्मसमूह को अतीत, अनागत तथा वर्तमान कालज्ञ योगिगण चित्तवृत्तिनिरोध करके समाधि से जान लेते हैं।

विद्वान् स्पेन्सर स्वतः सृष्टिवाद की जो अनुपत्ति का प्रदर्शन कर गये हैं, उद्धृत मन्त्रसमूह द्वारा उन सभी का परिहार होगा। पण्डित स्पेन्सर के 'असत् को कैसे सत् रूप अवधारित किया जाये' इस प्रश्न का उत्तर है कि प्रलयकाल में जगत् व्यक्तावस्था में विद्यमान न रहने पर भी सूक्ष्म भाव से संस्काररूपेण विद्यमान था। यदि स्थूल की सूक्ष्मावस्था असत् नहीं है, तब जगत् की सूक्ष्म अव्यक्तावस्था भी असत् नहीं है। शान्त शक्ति (Potential Energy) पूर्णतः व्यापाररहित नहीं है। अतः जो क्रियाहीन है, वह असत् है, जो असत् के इस लक्षणानुसार अव्यक्तावस्था में स्थित जगत् को असत कह रहे हैं, उनका मत सूक्ष्म चिन्तायुक्त नहीं है। यह विवेचना से प्रमाणित हो जाता है। विद्वान् स्पेन्सर ने 'बाह्यकारण निरपेक्ष निष्क्रिय अव्यक्तावस्था की व्यक्तावस्था प्राप्ति' 'स्वतः सृष्टिवाद या प्यान्थिज़्म' के इस प्रकार के अभिप्राय की कल्पना से इनके जिन दोषों का प्रदर्शन किया है, वेदबोधित परिणामवाद में उन सब दोषों की कोई संभावना नहीं है। उसके अनन्तर जिज्ञासा होती है कि पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर ने शक्ति तथा उसके सातत्य को विश्वजगत् का एकमात्र कारण अवधारित किया है। क्या वे यथोक्त स्वतःसृष्टिवाद के स्वप्रदर्शित दोषों द्वारा अपने ही मत को कलंकित नहीं कर रहे हैं?

विद्वान् स्पेन्सर ईश्वर द्वारा सृष्टि की अनुपपत्ति को दिखलाने के लिए कहते हैं कि ईश्वर ने असत् (शून्य) out of nothing से जगत्-सृष्टि की। ऐसे सिद्धान्त को कैसे युक्तियुक्त कहा जाये? अभाव अथवा शून्य के साथ भाव के सम्बन्ध की प्रतिपत्ति कैसे होगी? जगत् यदि सृष्ट नहीं है, तब कैसे उत्पन्न हो सका? और यदि उसे सृष्ट कहें, तब सृष्टि से पहले असत् कहने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। दिक् (Space) को असत् (Non-existence) कह दिया तब उसे समझोगे कैसे? तत्पश्चात् जगत् बाह्य कारणों द्वारा सृष्ट हुआ है, यदि इसे मान लिया जाये, तब यह बाह्यकारण कहाँ से आया (How came there to be an external agency) इसका समाधान क्या होगा?

जो वेद तथा तत्प्रसूत दर्शनादि शास्त्र का अध्ययन करते हैं, वे इन सब प्रश्न को सुनकर विस्मित होंगे, यह निःसन्दिग्ध है। 'ईश्वर शून्य से जगत्-सृष्टि करते हैं' यह बात वेद तथा वेदप्रसृत ग्रन्थों में भी नहीं है। बोध होता है कि विद्वान् स्पेन्सर ने बाइबिल की ओर दृष्टि देकर इन प्रश्नों का उत्थापन किया है।

जो भी हो, विद्वान् स्पेन्सर सृष्टि विषयक स्वतः विद्यमानतावाद, स्वतः सृष्टिवाद, बाह्यकारण तथा ईश्वर कर्त्तृक सृष्टिवाद की अनुपपत्ति प्रदर्शनार्थ जिन सब बातों को कहते हैं, वेद तथा तत् प्रसृत शास्त्रसमूह कर्तृक विवृत्त जगत् का सृष्टिवाद

सब अनुपपत्ति दोषयुक्त है, इसे स्वीकार करना होगा। इन्होंने जगत्-सृष्टि विषयक प्रचलित मतों में से प्रत्येक का अनुपपत्ति प्रदर्शन किया है और इसीलिए यह सब वर्णन किया है, जो खण्डनीय है। किन्तु सूक्ष्म मनीषायुक्त असाधारण प्रतिभाशाली पण्डित स्पेन्सर के विमल मस्तिष्क में क्या वह प्रतिभात नहीं हो सका? हमारे मन से ऐसा प्रश्न उठा है, जिसका समाधान संक्षेप में करना है।

सृष्टि विषयक यथोक्त त्रिविध मत वास्तव में शास्त्र में उत्सृष्ट है तथापि अविकृत नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् इसे यथायथ रूप से प्राप्त नहीं कर सके। साथ ही यह तत्व दुर्विज्ञेय है। दृश्यमान विसृष्टि अर्थात् भूत-भौतिक-भोक्तृभोग्यरूपा बहु प्रकार सृष्टि किस उपादान तथा निमित्त कारण से प्रादुर्भूता है, किसे यह परमार्थतः ज्ञात है? कौन इसका विस्तृत वर्णन करने की क्षमता रख सकता है? यदि कहो कि यह देवगण जानते हैं, वे भी इसका विस्तृत वर्णन नहीं कर सकते। क्योंकि वे भूत सृष्टि हो जाने के पश्चात् आविर्भूत हैं। अतः उन्हें अपनी उत्पत्ति से पूर्व का तत्व सम्यक्रूपेण कैसे ज्ञात हो सकता है? जिन्होंने जो प्रत्यक्ष नहीं किया है, वे कैसे उसका पूर्ण भाव से इतिहास बता सकेंगे? जिस उपादान तथा निमित्त कारण से विश्वजगत् आविर्भूत है, जब देवता उसे सम्यक् प्रकार से नहीं जानते, तब कौन परिच्छिन्न दृष्टि स्वल्पज्ञान, अर्वाचीन मनुष्य उसे जान सकेगा? जगत् की सृष्टि जैसे दुर्विज्ञेय है, सृष्ट जगत् का सन्धान भी दुःसाध्य व्यापार है। जिस उपादान भूत से परमात्मा ने इस गिरि नदी सागरादिरूपेण विचित्रा सृष्टि सम्भूत की है, उनके अतिरिक्त कौन उसे धारण करने में समर्थ है? विश्व के कारणानुसन्धान में प्रवृत्त होकर यह कहा गया कि किसी जड़ प्रधान (प्रकृति) से जगत् ने स्वयं जन्म प्राप्त किया है, कोई यह कह गया कि परमाणु विश्व जगत् का उपादान है तथा ईश्वर निमित्त कारण है, कोई परमाणु तथा जड़शक्ति रूप पदार्थद्वय को जगत् कारण कहता है, तथापि परमात्मा ही विश्वजगत् के उपादान हैं और वे ही निमित्त कारण हैं, कोई इसे तत्वतः जान सका है अथवा नहीं।

जिज्ञासा होती है कि इस प्रकार की जिज्ञासा निवृत्त होने के लिए जो कहा गया उसका भावार्थ है कि जातक कभी भी अपने जन्म के वृत्तान्त को नहीं जान सकता। जनक-जननी अथवा जिन्होंने जातक का जन्म देखा है, जो जातक से प्राचीन हैं, जातक जिस देश-काल से परिच्छिन्न है, उससे जो परिच्छिन्न नहीं है—वे ही जातक के जन्म का वृत्तान्त सम्यक् रूप से जान सकते हैं। विश्वजगत् जिस कारंण से प्रसृत है। उसका पूर्ण इतिहास वे ही जानते हैं, वे ही इसका वृत्तान्त कह सकते हैं। जो इसके अध्यक्ष है, स्रष्टा हैं उनकी शरण लेनी होगी। उनसे जन्म विवरण सुनना होगा। यदि इसके जन्म का वृत्तान्त कोई जानता है, तब एकमात्र विश्वविधाता, सर्वज्ञ, सनातन आदिपुरुष को ही वह ज्ञात है। वेद तथा ईश्वर एक हैं।

परमेश्वर ज्ञान है वेद। अतएव वेद से ही विश्वजगत् का इतिहास प्राप्त हो सकता है। वेदमुख से विश्वजगत् का जो वृत्तान्त श्रवण किया जायेगा, वही है इस सृष्टि का प्रकृत इतिहास तथा प्रकृत जन्म वृत्तान्त। इसीलिए आस्तिक दार्शनिक वेद को ही सर्वोपरि प्रमाण मानते हैं।

विद्वान् पण्डित स्पेन्सर ने जगत्‌ोत्पत्ति के सम्बन्ध में जिन सभी तर्कों को कहा है, चिन्तन करने से प्रतीति होगी कि जगदाद्यवस्था का स्वरूप हम कैसे भी जान नहीं सकते। वह परिच्छिन्न ज्ञान मानव के लिए अज्ञेय है। (we can not conceive the origin of universe)। यह प्रतिपादन करना ही समस्त तर्कों का उद्देश्य है। पण्डित स्पेन्सर कहते हैं कि प्रत्येक संवेदन (sensation) यहाँ हमें कारण का अनुमान करने के लिए बाध्य कर देता है, साथ ही आदि कारण (first cause) को पकड़ने के लिए प्रेरित भी करता है। आदि कारण का स्वरूप क्या है? यह परिच्छिन्न है अथवा अपरिच्छिन्न? (Is it finite or infinite)। आदिकारण को यदि ससीम परिच्छिन्न कहें, तब स्वीकार करना होगा कि इसकी सीमा के बाहर कुछ विद्यमान है। वह है 'अकारण'। यदि आदिकारण ससीम तथा परिच्छिन्न नहीं है, तब उसे अपरिच्छिन्न तथा स्वतंत्र कहना ही होगा। इसे पूर्व निर्विशेष (Absolute) मानना होगा। एक ही पदार्थ को पूर्ण, परिच्छिन्न तथा कारण कैसे कहा जाये? अपरिच्छिन्न, पूर्ण निर्विशेष तथा कारण, ये परस्पर विरोधी (Self contradictory) हैं। मानसेल (Mansel) ने अपरिच्छिन्न, पूर्ण तथा कारण, इन पदार्थत्रय की पारस्परिक विरोधिता को बताने के लिए जो तर्क दिया है, उन्हें स्पेन्सर साहब ने अपने ग्रन्थ 'फर्स्ट प्रिंसपल' में अंकित किया है। मानसेल कहते हैं कि कारण (cause) का अर्थ है, जिससे अधिक पूर्ण तथा निर्विशेष अनन्य सम्बन्ध Absolute पदार्थ नहीं हो सकता एवं पूर्ण तथा निर्विशेष पदार्थ कभी भी कारण नहीं हो सकता। कारण का अस्तित्व कार्य की अपेक्षा से सिद्ध होता है। 'कारण' कहने से 'किसी कार्य का कारण' यह बोध होता है। 'कार्य' कहने से किसी कारण का कार्य यह भासित होता है। जिसका अस्तित्व सम्बन्धमूलक अथवा अपेक्षिक नहीं है, वही है पूर्ण। Absolute। निर्विशेष। पूर्ण अथवा निर्विशेष प्रथमतः स्वभाव में विद्यमान रहते हैं, तदनन्तर कारण होते हैं, यदि यह कहा जाये तब अपरिच्छिन्न (Infinite) पदार्थ का चिन्तन करते ही बाधा हो जायेगी। अपरिच्छिन्न पदार्थ प्रथमतः नहीं है, तब आगे कहाँ से हो जायेगा? यदि कारणत्व (विद्यमानता) तथा सत्ता (Existence), सम्भाव्य (Possible) धर्म है, तब जो कारण न होकर विद्यमान है, वह अपरिच्छिन्न तथा विभु नहीं हो सकता।

पूर्ण अथवा निर्विशेष को यदि कारण मानें, तब सिद्धान्त करना होगा कि यथोक्त पूर्ण अथवा निर्विशेष पदार्थ स्वाधीन इच्छा तथा ज्ञान द्वारा ही (Free will &

Consciousness) कर्म करता है। जिसकी इच्छा तथा ज्ञान अन्य के अधीन है, उसे पूर्ण अथवा अपरिच्छिन्न कहा नहीं जा सकता। पूर्ण अथवा अपरिच्छिन्न के कारणत्व को बुद्धिपूर्वक (voluntary) कहना होगा, बुद्धि अथवा इच्छापूर्वक कर्म सचेतन ही कर सकता है। ज्ञान ही ज्ञातृ तथा ज्ञेय का सम्बन्ध रूप है। ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय तथा ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञाता की सिद्धि होती है। इसलिए ज्ञाता तथा ज्ञेय का निरवच्छिन्न पूर्णत्व सम्भव नहीं होता। विद्वान् स्पेन्सर ने ऐसे अनेक तर्कों के द्वारा कहा है कि विश्व के आदिकारण स्वरूप को हम लोग यथायथ रूप से उपलब्ध नहीं कर सकते। जो विश्व के आदिकारण हैं, विश्व के स्रष्टा हैं, विश्व के मूल कारण का स्वरूपावधारण केवल वे ही कर सकते हैं।" (The origin of the universe is inconceivable by us to conceive its origin is possible only to the originator.) इस सिद्धान्त में उपनीत हुए हैं। हमने इस ग्रन्थ में ऋग्वेद के मुख से जो उपदेश सुना है चिन्तनशील, सत्यसन्ध, निरभिमान विद्वान् पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर ने अनेकतः उसी उपदेश की प्रतिध्वनि को अंकित किया है, यह कहा जा सकता है। विद्वान् स्पेन्सर जगत् की स्वतः विद्यमानता, स्वतः सृष्टि एवं किसी बाह्यकारण अथवा ईश्वर कर्तृक सृष्टि, इस त्रिविध वाद की अनुपपत्ति के लिए जो कहते हैं विश्व जगत् के मूलकारण के स्वरूप सम्बन्ध में जितने मतों का प्रकाशन करते हैं, उन सबकी समालोचना की गयी। पाश्चात्य दार्शनिकों के मतों में जो शास्त्रवर्णित आरम्भवाद, परिणामवाद तथा विवर्त्तवादरूपी वादत्रय का विकृतरूप है, उसे संक्षेप में कहा गया। अब यहाँ जीव के उत्पत्ति विषयक सभी मतों की समालोचना करना होगा। उस समय यथास्थान में पाश्चात्य दार्शनिकों के मत समूह को जो शास्त्र व्याख्यात आरम्भादि मत समूह के विकृत रूप हैं, उन्हें विवेचित किया जायेगा।

[पंचम प्रस्ताव समाप्त]

षष्ठ प्रस्ताव

जीव के जन्म सम्बन्ध में हमारे मन्तव्य की अनुवृत्ति

जीव के उत्पत्ति विषयक मतों की समालोचना करने के लिए उद्यत होने पर जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जितने मत प्रचलित हैं, उन्हें जानना आवश्यक है। इसीलिए जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में प्रसिद्ध मत समूह का विवरण प्रदान करना उचित समझा है। जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में जितने मत प्रचलित हैं, उनका तत्वानुसन्धान करने से यह विश्वास होता है कि आरम्भवाद, परिणामवाद तथा विवर्त्तवाद अथवा असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद तथा सत्कारणवाद ही उन सबका मूल है। सभी वेदप्रसूत हैं। आस्तिक दार्शनिक वेद के उपदेशानुसार ही अधिकारी भेद से आपात् दृष्टि से भिन्न-भिन्न उपदेश देते हैं। चार्वाक, चतुर्विध बौद्ध तथा आर्हत दर्शन, इन षड्विध नास्तिक दर्शनों में भी विविध वादों की छाया है, यह प्रतीत हो रहा है। ग्रीक दार्शनिकों से लेकर वर्तमान काल के दार्शनिकों तक में से प्रत्येक के मत की निविष्ट चित्त से पर्यालोचना द्वारा सप्रमाण होता है कि इस देश के षड्विध आस्तिक तथा षड्विध नास्तिक मत को प्रतीच्य दार्शनिक मतों का घटकावयव कहा जा सकता है। किन्तु इसे स्थानाभाव के कारण इस ग्रन्थ में यथाप्रयोजन तथा यथारीति विस्तारपूर्वक विवेचित नहीं किया जा सकता। जो भी हो, इसके अनन्तर जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शास्त्र तथा प्रतीच्य दार्शनिक जो कुछ कहते हैं, उनकी समालोचना की जाती है।

जीव उत्पत्ति सम्बन्धित मतों की समालोचना—किसी पदार्थ की उत्पत्ति में जानना होगा कि वह किस उपादान, निमित्त तथा सहकारिकारण के योग से आविर्भूत हुआ है। इसे स्थिर करना आवश्यक है। जगत् की उत्पत्ति तत्व की व्याख्या करने से ज्ञात होता है कि दर्शनशास्त्र ही इसके उपादान, निमित्त तथा सहकारी कारण के स्वरूप निर्वाचन की चेष्टा करता है। ऋग्वेद का कथन है कि अमर्त्य आत्मा जब शरीर ग्रहण करता है, तब उसकी संज्ञा है जीव। सूक्ष्म शरीरोपाधिक (सूक्ष्म अथवा लिंग शरीर जिसकी उपाधि है) आत्मा नाना प्रकार के कर्म करके कृतकर्मभोगार्थ उर्ध्व-अधः नाना लोकों का परिभ्रमण करता है। जो कार्य है, जिसका जन्मादिविकार है, उसका ही कारण अनुसन्धान करना होता है। जो अकार्य है, उसका कारण क्या होगा? जीव का विश्लेष करने से आत्मा तथा शरीर, इन पदार्थद्वय की प्राप्ति होती है। आत्मा जन्मादि विकार से रहित है। आत्मा अकार्य

है, अतएव उसका कारणानुसन्धान नहीं हो सकता। शरीर कार्य पदार्थ है, शरीर के जन्मादि विकार अथवा परिणाम होते हैं। इसलिए शरीर का कारणानुसन्धान कर्त्तव्य है। इसी कारण जीवोत्पत्ति सम्बन्धित कोई बात शास्त्र ने नहीं कही है। शरीर का उत्पत्ति तत्व ही शास्त्र में व्याख्यात हुआ है। न्याय वैशेषिक दर्शन में परमाणु को शरीर (organism) का उपादान अथवा समवायि कारण कहा है। शरीर शब्द शास्त्र में प्रधानतः जैव शरीर तथा जीव का भोगायतन है। जीव के अधिष्ठान को समझाने के लिए यह व्यवहृत हुआ है। शास्त्र मतानुसार अणुसंघात मात्र ही शरीर शब्द की व्यवहार भूमि नहीं है। वैशेषिक दर्शन पृथिव्यादि भूतचतुष्टय का, शरीर, इन्द्रिय तथा विषय इन त्रिविध कार्य का वर्णन करता है। पार्थिव, जलीय, तैजस, आग्नेय तथा वायवीय शरीर का वर्णन वैशेषिक दर्शन में मिलता है। शरीर-इन्द्रिय तथा विषयरूपी त्रिविध कार्य का क्या लक्षण है? महर्षि गौतम कहते हैं कि जो चेष्टा से हित प्राप्ति तथा अहित परिहार योग्य व्यापार का आश्रय है, जो इन्द्रियों का आश्रय है तथा जो इन्द्रियार्थ (इन्द्रिय तथा उसका अर्थ, रूप-रसादि) सन्निकर्ष से उत्पन्न सुख-दुःख का आश्रय है, वह है शरीर[1]। महर्षि गौतम इसके द्वारा जैव शरीर को ही लक्ष्य करते हैं। शरीराश्रय रूप (शरीर है जिसका आश्रय) ज्ञाता की अपरोक्ष प्रतीति के तथा ज्ञान के साधन का नाम है इन्द्रिय। शरीर तथा इन्द्रिय के बिना आत्मा के उपभोग साधन का नाम है विषय[2]। योनिज तथा अयोनिज भेद से शरीर को भागद्वय में विभक्त किया गया है।

शुक्रशोणित के संयोग से जात (इससे यहाँ 'योनि से जात' यह तात्पर्य है) शरीर है योनिज। एतद् विपरीत शुक्र शोणित की अपेक्षा न करके जो शरीर उत्पन्न है, वह है अयोनिज। देवता तथा कुछ ऋषियों का शरीर है अयोनिज। शुक्र शोणित के अभाव में कैसे शरीरोत्पत्ति होता है? प्रशस्तपाद कहते हैं कि प्रकृष्ट धर्म तथा अधर्म के साथ अणुओं से अयोनिज शरीर उत्पन्न होता है। शरीरोत्पत्ति में अणु समूह ही कारण है। शुक्रशोणित का सन्निपात कारण नहीं है। शुक्रशोणित परमाणु ही समष्टि विशेष से अलग अन्य पदार्थ नहीं है। परमाणु समूह अदृष्ट अथवा पूर्वकर्म विशेष द्वारा प्रेरित होकर शुक्रशोणित का आकार ग्रहण करते हैं। अतएव धर्माधर्म विशेष द्वारा अनुगृहीत परमाणु समूह से अयोनिज शरीरोत्पत्ति असम्भव कैसे होगी? अधर्म विशेष के साथ युक्त अणुओं से दंश मशकादि अयोनिज यातना शरीर (यातना तथा दुःख के लिए है जो शरीर) की उत्पत्ति होती है।[3] शुक्र तथा शोणित संयोग से कैसे शरीर उत्पन्न होता है? शुक्र तथा शोणित इन दोनों के संयोग के अनन्तर जठरानल के

1. ''चेष्ठेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्''—न्यायदर्शन
2. ''भोगायतनं शरीरं, शरीराश्रयं ज्ञातुरपरोक्ष प्रतीतिसाधनं द्रव्यमिन्द्रियम्। शरीरेन्द्रिय व्यतिरिक्त-मात्मोपभोग साधनं द्रव विषयः''—न्याय कन्दली
3. न्यायकन्दली देखें।

सम्बन्ध हेतु शुक्र शोणित के आरम्भक परमाणु पूर्व रूप के विनाश तथा समान गुणान्तर की उत्पत्ति होने से द्वयणुकादि क्रमेण कलल शरीर (Protoplast) की उत्पत्ति होती है। कलल शरीर उत्पन्न होने से उसमें अन्तःकरण प्रविष्ट होता है। शुक्रशोणितावस्था में अन्तःकरण का प्रवेश क्यों नहीं होता? मनः शरीराश्रय है (शरीर आश्रय है जिसका) अतएव शरीर की उत्पत्ति हुए बिना मन का प्रवेश सम्भव नहीं है।

माता का आहार रस अदृष्टवशात् यथा मात्रा में कलल शरीर में संक्रमण करता है। तदनन्तर पुनरपि भेदवृत्तिक जठरानल के सम्बन्ध हेतु कलल शरीर के आरम्भक परमाणु समूह के क्रिया विभागादि न्याय से, कलल शरीर के नष्ट होने से, कललारंभक परमाणुनिचय उपजातक्रिय (उपजात है क्रिया जिनकी) आहार परमाणु समूह के साथ एकीकृत होकर शरीरान्तर का आरम्भ कर देते हैं। "कलल शरीर का नाश होकर शरीरान्तर की उत्पत्ति होती है" इस वाक्य का अभिप्राय क्या है? शरीर भेद का प्रमाण क्या है? स्वल्प परिमाण के आश्रय में महत् परिमाण की परिसमाप्ति नहीं हो पाती, यही अभिप्राय है। अवस्थान्तर को प्राप्त एक शरीर ही महत् परिणाम का आश्रय होता है, यह कहने से इष्टसिद्धि हो पाती है। शरीरभेद की कल्पना का क्या प्रयोजन? श्रीधराचार्य कहते हैं कि उससे भी शरीरभेद की, बहुशरीर की उपलब्धि अनिवार्य है। श्रीधराचार्य के इस उपदेश का मर्म क्या है, इसे बतलाने की यह चेष्टा है।

शरीर की उत्पत्ति का विचार करने में प्रवृत्त होने से ज्ञात होता है कि पूर्व शरीरकृत कायिक, वाचिक तथा मानसिक शुभाशुभ कर्म के फल के कारण (आत्मा अथवा अन्तःकरण से समवेत संस्काररूप में अवस्थान) शरीर की उत्पत्ति होती है। पूर्व शरीर द्वारा अनुष्ठित कर्म संस्कार से प्रेरित होकर भूतसमूह से वर्तमान शरीर निष्पन्न होता है। भूतनिचय स्वतन्त्र रूप से शरीर-निर्माण नहीं कर सकते।

जो पूर्व कर्म तथा अदृष्ट नहीं मानते, उनके मत से पाषाण-स्फटिक प्रभृति मूर्ति जैसे पूर्व कर्म तथा अदृष्ट के बिना अणुसमूह से सम्भूत होकर गठित है, जीव का शरीर भी उसी प्रकार पूर्व कर्म तथा अदृष्ट निरपेक्ष अणुओं से उत्पन्न है। पूर्व कर्म मानने का कोई प्रयोजन नहीं है। महर्षि गौतम ऐसे नास्तिकों के प्रबोधार्थ कहते हैं कि पाषाणादि की आकृति पूर्व कर्म प्रेरित अणुओं से नहीं होती, क्या यह प्रमाण से सिद्ध है? यह पाषाणादि कर्म निरपेक्ष अणुओं की स्वतन्त्र चेष्टा के फल हैं, यह बात किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। द्वितीयतः यदि यह स्वीकार किया जाये कि पाषाणादि की आकृति कर्मनिरपेक्ष अणुओं से उत्पन्न है, वह सप्रमाण नहीं है। क्योंकि शरीर की उत्पत्ति पद्धति तथा पाषाणादि की आकृति एकरूप नहीं है। सजीव देह की उत्पत्ति बीजपूर्वक है। शुक्र तथा शोणित के संयोग से गर्भ उत्पन्न होता है। जनिष्यमाण जीव के गर्भयातनाभोग तथा माता-पिता के पुत्र सुखभोग रूप अदृष्ट

द्वारा प्रेरित भूतसमूह द्वारा शरीर का गठन होता है। अपिच, माता-पिता का पूर्वकर्म जैसे शरीरोत्पत्ति का निमित्त कारण है, इसी प्रकार आहार भी शरीरोत्पत्ति का निमित्त कारण है। माता-पिता जो पान तथा भोजन करते हैं, उससे शोणित तथा वीर्य उत्पन्न होता है। गर्भाशयस्थ बीज माता के रस से रक्त से वृद्धि प्राप्त करते हुए स्थित रहता है। सजीव देह की उत्पत्ति में अणु समूह निर्दिष्ट नियमानुसार सम्मिलित (Aggregated) होते हैं। सजीव देह की वृद्धि भी नियम का अतिक्रमण करके नहीं होती।

सजीव देह की उत्पत्ति बीजपूर्वक होती है। शुक्र शोणित के संयोग से सजीव देह उत्पन्न होता रहता है। सजीव देहोत्पत्ति का अपूर्व कारण यही है? अयोनिज शरीर की कथा पूर्व में उक्त है। श्रुत्यादि शास्त्र में अण्डज, जीवज (जरायुज), उद्भिज् इत्यादि विविध शरीर का संवाद मिलता है। अतएव सजीव देह की उत्पत्ति बीज से होती है, इसे सार्वभौम सत्य किस प्रकार से कहा जायेगा?

महर्षि गौतम कहते हैं सजीव देहोत्पत्ति में माता-पिता का निमित्तत्व है। मातृशक्ति तथा पितृशक्ति के संयोग के अभाव में सजीव देहोत्पत्ति असम्भव है। वात्स्यायन मुनि कहते हैं कि सजीव देहोत्पत्ति में माता-पिता का निमित्तत्व है। इस वाक्य का अर्थ है कि पाषाणादि का आकार बीज से नहीं बना है। किन्तु शरीरोत्पत्ति बीजपूर्वक है। माता पितृ शब्द द्वारा महर्षि बीजभूत शुक्र-शोणित को ही लक्ष्य करते हैं। वाचस्पति मिश्र कहते हैं माता-पिता शरीरोत्पत्ति के साक्षात् कारण नहीं हैं। यह माता-पिता शब्द शोणित-शुक्र का ही वाचक है।

पाश्चात्य जीवविज्ञान ने शरीरोत्पत्ति के चतुर्विध मार्ग की आवधारणा की है। यथा संविभाग (Fision), उद्भेद अथवा प्रस्फुटन (Budding of Germination), बीज प्रवाहण-बीज सन्तति (Spore formation) तथा मैथुन (Congugation or fusion)।

मातृशक्ति एवं पितृशक्ति के संयोग के बिना शरीर की उत्पत्ति असम्भव है। महर्षि गौतम के उपदेश के सामान्य व्याप्ति पक्ष में कहीं भी व्यभिचार नहीं है। आधुनिक जीव तत्वविद् का संविभागादि जो चतुर्विध, शरीरोत्पत्ति मार्ग है, क्या उसके द्वारा यह प्रतिपन्न होगा कि शुद्ध एकरूप शक्ति से शरीरोत्पत्ति होती है? स्त्री शक्ति तथा पुंशक्ति के मैथुन का क्या यह संयोग आवश्यक है? स्थूलतः हो अथवा सूक्ष्मतः हो शरीरोत्पत्ति में इन दोनों का मैथुन (स्त्रीशक्ति तथा पुरुषशक्ति का) आवश्यक है इसे वैज्ञानिक भी मानते हैं। फ्रांसिसी विद्वान् बिनेट कहते हैं कि जीवाणु के मध्य में भी मैथुन Copulation होता है। उनका शरीर भी मैथुनज है। इनमें से अनेक का विश्वास है कि पूतीभूत फान्ट से सम्भूत (Infusaria) कीट समूह अमैथुनज हैं। विद्वान् एरेनबर्ग ने वैज्ञानिकों में यह विश्वास उत्पन्न

किया है।[1] शुद्ध अणुदैर्घ्य तथा लम्बसंविभाग (Longitudinal Fissipary) द्वारा ही उक्त कीटों की उत्पत्ति होती है। पहले अनेक ने इस मत का पोषण किया और अब भी करते आ रहे हैं। सन् 1858 पर्यन्त इस भ्रान्तिमूलक सिद्धान्त का किसी ने भी प्रतिवाद अथवा प्रत्याख्यान नहीं किया। पण्डित एम बाल्वीयानी ने इस मत की भ्रान्ति का प्रदर्शन करके फान्ट से उत्पन्न कीटों का मैथुनज प्रमाण भी प्रस्तुत कर दिया। विद्वान् पण्डित कार्पेन्टर कहते हैं कि उद्भिज तथा क्षुद्रतम जीवों में मैथुन संगम के बिना बीजराशि से मुकुल प्रस्फुटन प्रक्रिया विशेष से अनेक स्वतन्त्र जीवों की सन्तान होती है। मुकुल अथवा कोरक प्रथमतः बीज से प्रस्फुटित होते हैं। तदनन्तर अल्प-अल्प करके बीज निर्भरता का त्याग करके वे उससे पृथक् हो जाते हैं और स्वतंत्रता से जैव कार्य आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार से जीवोत्पत्ति रीति एवं कोष संविभाग से जीवोत्पत्ति को वास्तविक रूप से एकरूप माना जा सकता है।[2]

अतएव महर्षि गौतम के अनुसार मातृशक्ति तथा पितृशक्ति ही शरीरोत्पत्ति की निमित्तत्व है। यह उक्ति न्यायविरुद्ध नहीं है। विश्वजगत् का प्रत्येक अणु स्त्रीशक्ति तथा पुंशक्ति की मिलित मूर्ति है। रासायनिक संयोग से, अणुसमूह के संकल्प से, मैथुन से, जल-वाष्प प्रभृति को व्यापकतः देखने से प्रतिपन्न होगा कि कुछ भी अमैथुनज नहीं है। ऑक्सीजन तथा हाईड्रोजन के मैथुन से जलोत्पत्ति होती है। यह भी स्वीकार्य है कि उक्त दोनों जल कारण द्रव्य (हाईड्रोजन-ऑक्सीजन) में जलोत्पादन सामर्थ्य है। उनमें जल जनन शक्ति सूक्ष्मभावेन न रहने से वे जलोत्पादन में समर्थ नहीं हो सकते थे।

महर्षि कपिल कहते हैं कि जिस आयतन में बाह्यज्ञान है, वह 'शरीर' (organism पदवाच्य) होगा ऐसा नहीं। जीवात्मा का जो भी भोगायतन है, वही है उसका शरीर। अन्तः संज्ञायुक्त वृक्ष, गुल्म, लता, औषधि, वनस्पति, तृण इत्यादि का भी भोक्तृ-भोगायतनत्व है, वे भी भोक्तृभोगायतन सम्बन्ध वाले हैं।[3] महामुनि वात्स्यायन 'बीज' शब्द से धर्माधर्म विशेष सहित, विशिष्ट भावेन सन्निवेशित

---

1. Ehrenberg has established by is authority the prevailing opinion is science that copulation never takes place among infusaria and that all facts observed by early writers as connected therewith are to be regarded as phenomena of longitudiual fissiparity. This erreneous idea prevailed unquestioned until 1858, when Balbiani addressed a communication to the Academy of Sciences, wherein he showed that sexual reproduction preceded copulation is bound among infusaria—Psychic Life of Micro-organism, p. 965
2. Vide-Carpenters Physiology, page 745
3. "न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्म लतौषधि वनस्पति तृणवीरुधादीनामपि भोक्तृ भोगायतनत्वं पूर्ववत्"—सांख्यदर्शन, 5। 12। 1

अणुसमूह को ही लक्ष्य करते हैं। शोणित तथा शुक्र अलग-अलग नहीं हैं। छान्दोग्य श्रुति में अण्डज, जीवज तथा उद्भिजरूपी त्रिविध शरीर का उल्लेख है। यह कहा जा चुका है कि धर्माधर्म विशेष सहित विशिष्ट-विशिष्ट भाव सन्निवेशित अणुपुंज को ही श्रुति ने यहाँ बीज कहा है। "कर्मनिरपेक्ष भूत समूह से जड़ मूर्त पदार्थ की उत्पत्ति के नियमानुसार शरीर की भी उत्पत्ति होती है। शरीरोत्पत्ति में विशिष्ट पूर्व कर्म की आवश्यकता को स्वीकार करना ही नहीं होगा। वह अनर्थक है।" नास्तिकों के इस प्रकार के मत से असहमत होकर महर्षि गौतम कहते हैं कि शरीर की उत्पत्ति बीज से होती है। मातृ तथा पितृशक्ति के ही संयोग से शरीरोत्पत्ति नहीं हो जाती। अतः महर्षि गौतम ने जिस उद्देश्य से 'शरीरोत्पत्ति बीज से' यह नियम कहा है, अयोनिज शरीरोत्पत्ति के दृष्टान्त से उनके उद्देश्य में कोई बाधा अथवा प्रतिबन्धक कारण नहीं आता।

भले ही पाषाणादि की आकृति में सम्मूर्च्छन (Aggregation) से वृद्धि होती हो, परन्तु शरीरोत्पत्ति में उपचय (Growth) तथा पाषाणादि की आकृति की उत्पत्ति तथा उपचय में वही नियम कार्यकारी नहीं होता। माता के द्वारा भुक्त एवं पीत आहार के परिपाक से रसादि की उत्पत्ति होती है। इस रसादि से गर्भाशयस्थ बीज का उपचय होता है। कलल, कण्डर, मांस, पेशी, स्नायु, यकृत, फुफ्फुस प्रभृति शारीरंभक बीज अथवा शोणित शुक्र के ही निःसन्दिग्ध परिणाम भेद रूप हैं। लेकिन बात यह है कि एक ही अविशेष कारण को ही किस प्रकार से पृथक्-पृथक् शरीरावयव का परिणाम हेतु कहा जाय, क्या अणुसमूह पृथक्-पृथक् रूप से सन्निवेशित होते हैं, क्या वे निष्कारण हैं? क्रमविकास वादीगण कहते हैं कि प्राकृतिक निर्वाचन ही अणुसमूह को यथाप्रयोजन भिन्न-भिन्न भाव से सन्निवेशित करता है। इस क्रिया के निष्पादित होने में (वह उन-उन क्रिया के निष्पादनार्थ) वे प्राकृतिक प्रेरणा से उन-उन भाव के साथ सन्निवेशित हो जाते हैं।

क्रमविकासवादी के प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) नामक कारणतत्व का स्वरूप क्या है, इसे पूर्व में विवेचित किया जा चुका है। ये लोग जिसे सर्व प्रकार के परिणाम के साधनरूप में अवधारित करते हैं, क्या प्राच्य दार्शनिक उस रूप को नहीं देख सके? क्या डारविन प्रभृति वैज्ञानिक इसके आविष्कर्ता हैं? जिन्होंने सांख्य तथा वेदान्तदर्शन का पाठ किया है, वे अनायास ही जान सकते हैं कि यथोक्त प्राकृतिक निर्वाचनवाद सांख्य-पातंजल द्वारा उपदिष्ट प्रकृति स्वातंत्र्यवाद की छाया अथवा उसका विकृत रूप है।

सांख्य तथा पातंजल जिस प्रकृति को स्वतंत्र कहते हैं, वह उक्त है। सर्वदा परिणत होना प्रकृति का स्वभाव है। प्रकृति में सभी परिणामों को साधने की योग्यता रहती है। तब भी इसे धर्माधर्म की मुखापेक्षा करना पड़ता है। धर्माधर्म क्या प्रकृति के

प्रयोजक-प्रवर्तक हैं? 'कारण' कभी भी कार्य से प्रवर्तित, चालित नहीं हो सकता। अतएव धर्माधर्मादि निमित्त समूह प्रकृति अथवा उपादानों को प्रवर्तित नहीं करते। केवल प्रतिबन्धक की निवृत्ति करते हैं। यह निवृत्ति होने से प्रकृति स्वयं स्वविकार कार्यरूप में परिणत होने लगती है। जब कृषक एक जलपूर्ण क्षेत्र से अन्य क्षेत्र (खेत) में जलप्लावन को सोचते हैं, तब वे उपयुक्त यन्त्र से स्वभावतः निम्नस्तर बहने वाले जल को उच्चभूमि में पहुँचा देते हैं। कृषि में कृषक को इस कार्य में उच्चभूमि के आवरणभेद के अतिरिक्त कुछ नहीं करना पड़ता। भूमि का आवरण भंग होते ही जल स्वयमेव क्षेत्रान्तर में उपनीत हो जाता है। कृषक पौधों की जड़ में पार्थिवादि रस प्रवेश नहीं करा सकता। वह इस कार्य में प्रतिबन्धक हो रहे घास-तृण को खेत से उखाड़ कर, उत्पादित कर फेंक देता है। अब रस स्वयमेव पौधों की जड़ में जाने लगता है। इसी प्रकार से धर्म ही प्रतिबन्धक अधर्म के अभिभवपूर्वक प्रकृति अथवा उपादानों को, उपादान कारण को, स्व-स्व योग्यतानुरूप कर्म करने का अवसर प्रदान करता है। शुद्धि तथा अशुद्धि अथवा धर्म तथा अधर्म, ये परस्परतः अत्यन्त विरुद्ध पदार्थ हैं। जहाँ शुद्धि अथवा धर्म है, वहाँ अशुद्धि तथा अधर्म रह ही नहीं सकते। इसलिए धर्म अधर्म को बाधा देता है। अधर्म धर्म को बाधित करता है। धर्म के उत्कर्ष से ही नन्दीश्वर ने देवशरीर प्राप्त किया। इसी प्रकार अधर्म से जब धर्म अभिभूत हो गया, तब इन्द्रपद प्राप्त नहुष को अधर्म- प्रधान अजगर के शरीर की प्राप्ति हुई।[1]

राजकुमार नन्दीश्वर बिना मरे अत्युत्कट तपः प्रभाव से देवशरीर प्राप्त कर सके थे और नहुष ने शाप के कारण सर्पशरीर धारण किया, यह कैसे सम्भव है? मनुष्य शरीर के उपादान एकरूप हैं, देवशरीर के उपादान अन्य रूप हैं। एकरूप कारण से कैसे भिन्न प्रकार के कार्य की उत्पत्ति होगी? पतंजलि देव इसके उत्तर में कहते हैं कि जात्यन्तर परिणाम प्रकृति के आपूरण-अनुप्रवेश वशात् होता है। अर्थात् पूर्व परिणाम का (मनुष्यादि देहेन्द्रिय का) अपाय, अपगम हो गया। उत्तर परिणाम का (देव तिर्यक प्रभृति शरीरेन्द्रिय का) आविर्भाव, अपूर्व (जो पहले नहीं था) देह तथा इन्द्रियों का आपूरण, अनुप्रवेश के कारण होता है। शरीर की प्रकृति पंचभूत है तथा इन्द्रिय की प्रकृति अस्मिता (अहंकार) है। ये पंचभूत तथा अस्मिता धर्माधर्मरूप निमित्त के वशवर्ती होकर मनुष्यादि शरीर तथा इन्द्रियरूप में परिणत हो जाते हैं। जिस उपादान अथवा प्रकृति से मनुष्यशरीर गठित होता है, उसी से देवशरीर गठित नहीं होता, तब भी पृथिव्यादि पंचभूत तथा अस्मिता यथाक्रमेण शरीर तथा इन्द्रियों के साधारण उपादान अथवा प्रकृति हैं।

प्रकृति में सर्वत्र सर्वप्रकार के परिणामसाधन की योग्यता है। केवल धर्माधर्मादितो निमित्तसमूह द्वारा प्रतिबद्ध होने से सर्व प्रकार के परिणामसाधन नहीं

1. "निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीना वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्"—पातंजल दर्शन

कर पाते। निमित्त की बाधा हटते ही धर्माधर्म सर्व प्रकार के परिणामसाधन को पा लेते हैं।[1]

"प्रकृति में सर्वत्र सर्व प्रकार परिणामसाधन की योग्यता है, केवल धर्माधर्मादि निमित्त द्वारा बाधित होने से, ये सर्वत्र सर्व प्रकार का साधन नहीं कर पाते।" पतंजलि देव ने ऐसे कई अमूल्य उपदेश जगत् को देकर सत्य का जो रूप प्रदर्शित किया है, विचार होता है कि वह सत्य का रूप उन्नतन्मयन्य आधुनिक लोग भी ग्रहण करेंगे। मनुष्यशरीर का विश्लेषण करने से हाईड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन, ये 4 रूढ़ पदार्थ प्राप्त होते हैं। पश्वादि के शरीर के भी यही उपादान, यही प्रकृति है। उद्भिज शरीर भी इन्हीं द्रव्यों से गठित है। पाषाणादि का विश्लेषण करने से उन्हीं हाईड्रोजन आदि रूढ़ पदार्थ के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं आता। शरीरयन्त्र समूह के एकक (unit of organisation) रूप से गृहीत Cell नामक द्रव्य भी यथोक्त रासायनिक रूढ़ पदार्थ समूह का ही सांयौगिक है। हाईड्रोजनादि रूढ़ पदार्थ निचय के सर्व प्रकार के स्थावर तथा जंगम शरीर के साधारण उपादान होने पर भी मात्रा तथा सन्निवेशादि भेद के कारण विविध विचित्र शरीर का परिणाम होता है। परस्परतः भिन्न धर्म विशिष्ट अनेक द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। कोई कार्य बिना कारण नहीं होता। इसलिए मानना होगा कि सभी विकार तथा कार्य पदार्थ का साधारण उपादान एकरूप होने पर भी परस्परतः भिन्न धर्माक्रान्त विविध कार्य की उत्पत्ति होती है। इसका विशिष्ट कारण है।

शास्त्र ने धर्माधर्म, अदृष्ट अथवा पूर्वकर्म को ही विशिष्ट कार्योत्पत्ति का विशिष्ट तथा असाधारण कार्य कहा है। जो हाईड्रोजनादि सर्व प्रकार के कार्य के साधारण उपादान कारण हैं, इसे रसायनवेत्ता विद्वान् भी मानते हैं। हाईड्रोजनादि सर्वत्र समान मात्रा में तथा समभाव में सन्निवेशित नहीं होते, यह भी स्वीकार्य है। हाईड्रोजनादि के सर्वत्र समान मात्रा में तथा समभाव में सन्निवेशित न होने का कारण क्या है, इसके समाधान का प्रयत्न रसायनशास्त्र ने नहीं किया है। शक्ति सातत्य तत्व द्वारा इसका कोई समाधान नहीं होता। इसलिए प्राकृतिक निर्वाचन का आश्रय लेकर प्रश्न का समाधान खोजना होगा। अध्यापक वेन् ने सहकारि कारण (Colloca-tion) के साथ शक्ति सातत्य को सर्वप्रकार से विचित्र कार्य का कारण कहा है। इन्होंने सहकारिकारण का नाम तो ग्रहण कर लिया, किन्तु इसके स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पूर्व कर्म संस्कार ही इसका स्वरूप है। हर्बर्ट स्पेन्सर प्रभृति पण्डितों के ग्रन्थ से विदित होता है कि कर्म संस्कार ही इसका स्वरूप है, किन्तु शक्ति सातत्य तथा वर्तमान जन्म के कर्म संस्कार के द्वारा

1. "जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापुरात्"—पातंजल दर्शन, कैवल्यपाद, सूत्र 2

"पूर्व परिणामापाये उत्तर परिणामोप जनस्तेयामपूर्वावयवानुप्रवेशाद्भवति कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापुरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति"—योगसूत्रभाष्य

भी विश्व का कारणतत्व सम्यक् रूप से व्याख्यात नहीं हो पाता। कर्म के अनादित्व, सृष्टि तथा प्रलय की परम्परा के नित्यत्व को स्वीकार न करने पर इष्टसिद्धि नहीं होती। पण्डित स्पेन्सर के मत से क्रमाभिव्यक्ति अबुद्धिपूर्वक यान्त्रिक व्यापार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

पण्डित स्पेन्सर के मतानुसार सामान्य भाव के अस्थायित्व (Instability homogeneous) तथा आगन्तुक एवं नैमित्तिक (Incedent) शक्ति के क्रियासमूह के गुणन (Multiplication of the effect), इन नियमद्वय से ही क्रमविकास (Evolution) संघटित होता है। भगवान् वेदव्यास के अनुसार गुणवृत्त जड़ वर्ग क्षण मात्र के लिए भी धर्म, लक्षण विरहित होकर अवस्थान नहीं करता। परिणामशीलता ही जड़ वर्ग का, त्रिगुणात्मक पदार्थ जात का स्वभाव है एवं यही स्वभाव इनकी प्रवृत्ति का कारण भी है। यह विज्ञान के नेत्रों में नहीं आया है। मेरा विश्वास है कि क्रमविकास-वादियों का प्राकृतिक निर्वाचन इसी सत्य का परिच्छिन्न एवं मलिन प्रतिबिम्ब है। तथापि इस दशा में, इस देश में, इस सत्य का प्रकृत रूप देखने को कौन इच्छुक है? कौन अधिकारी है? परम कारुणीक भगवान् पतंजलिदेव का यही उपदेश प्रकृत कल्याणार्थीगण के लिए परमहितकर, इप्सिततम भवरोग की अमोघ भेषज है। हर्बर्ट स्पेन्सर, वेन् प्रभृति विद्वान् शक्तिसातत्य को ही (The persistence of force or conservation of Energy) क्रमाभिव्यक्ति का प्रधान कारण कहते हैं। प्रोफेसर वेन् कहते हैं कि इन शक्तिसमूह के इतरेतर सम्बन्ध अथवा शक्ति सातत्य के आविष्कार से कार्य कारणभाव के स्वरूप के निरूपण में अत्यधिक उन्नति हो सकी है।[1]

संघात अथवा कायव्यूह की समष्टिभूत शक्ति का परिमाण शक्तिसमूह की अन्योन्य क्रियाओं के कारण परिवर्तित होकर भी तत्वतः वर्द्धित अथवा अपेत नहीं होता। तत्वतः वह एकभाव में ही रहता है। शक्ति सातत्य का यही स्वरूप है। रसायन-शास्त्र ने रासायनिक परिणाम के जो सब नियम आविष्कृत किये हैं, उनमें चरम सामान्य भाव भी (Ultimate generalization) शक्ति सातत्य नियम के ही अन्तर्भूत है। प्रत्येक विकार तथा परिणाम शक्ति सातत्य नियमाधीन है। प्रत्येक विकार तथा परिणाम शक्ति सातत्य नियम के शासन में भले ही हो, यहाँ यह भी कहना है कि इस नियम को सहकारिता कारण के नियमसमूह के सहाय रूप में ग्रहण किया गया है।[2] विद्वान् स्टालो

---

1. "A great advance in the mode of viewing causation is made by the modern discovery of the law named co-relation of force of conservation of Energy"—Logic, Part II, page 20.
2. "The ultimate generalization of chemistry must fall under the law of conservation of force, and must express the most generalized conditions of the re-distribution of chemical force. The law of persistence over-rides every phenomenon of change, but it must be accompanied in each case with laws of collection."—Bain's Logic, part II, p. 254-255

कहते हैं कि क्रियाशील अथवा प्रवृत्त शक्ति की (Energy of Motion) स्थिति शील शक्ति में, संस्काररूप सूक्ष्मावस्था में अवस्थान की योग्यता है, इसे स्वीकार किये बिना प्राकृतिक परिणाम की तथा इसके नानाविधत्व की उपपत्ति नहीं होती।

अणु सम्मूर्च्छन (अणुसमूह के घनीभाव धारण के) आपेक्षिक नित्यत्व से रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया, स्फटिक विपरिणाम (Crystallization), उद्भिज तथा जैव शरीरोत्पत्ति, इन सभी क्रियाशील शक्ति की स्थितिशील शक्तिरूप में, तदवस्था में, अवस्थान योग्यता सापेक्ष है। क्या आधुनिक वैज्ञानिकों की यह उक्ति कि "सत्व-रज:-तम: प्रकृति से सर्व परिणाम होते हैं, परिणाम मात्र ही त्रिगुणात्मिका है, प्रकृति सर्व विकार जननी है, यह सत्य है, तब इसे धर्माधर्म (Collections) की मुखापेक्षा करना पड़ता है। धर्म अथवा शक्ति की उदित, शान्त तथा अव्यय, ये तीन अवस्थाएँ हैं।" इत्यादि क्या शास्त्रोपदेश की ही प्रतिध्वनि नहीं है? रसायनशास्त्र हाईड्रोजन आदि कतिपय रूढ़ पदार्थ को विश्व जगत् के सर्व परिणाम का उपादान मानता है। भगवान् पतंजलिदेव भी 'स्त्रियाँ' इस पाणिनीय सूत्र के भाष्य में अविकल रूप से यही कह गये हैं। कर्म संस्कार का वाचक है 'आगन्तुक अथवा नैमित्तिक शक्ति के क्रिया समूह का गुणन'। अतएव पण्डित स्पेन्सर क्रमविकास के जिन दो नियमों की व्याख्या करते हैं, वे 'सर्व विकार जनन समर्था, नित्य परिणामिनी, धर्माधर्मापेक्षमाणा' प्रकृति के ही सर्व प्रकार परिणाम हैं। उससे ही संघटित होते हैं। यह भी पातंजल व्याख्यात इस व्यापक नियम के ही अन्तर्गत है।

आधुनिक क्रमविकासवादी की धर्माधर्मादि निमित्त कारण समूह की ओर विशेष दृष्टि नहीं पड़ी है। इसी कारण इनका प्राकृतिक निर्वाचनवाद विकलांग-सा पड़ा है। पतंजलि देव कहते हैं—"प्रकृति ही में सर्वत्र सर्व प्रकार परिणामसाधन की योग्यता है। तब धर्म तथा अधर्म रूप निमित्त की प्रतिबन्धकता के कारण यह सर्वत्र सर्व प्रकार का परिणामसाधन नहीं कर सकती। यह तथ्य अनेक को आपाततः युक्ति विरुद्ध प्रतीत हो सकती है, किन्तु यह विश्वास है कि निविष्टभाव से चिन्तन करने से इस प्रकार के बोध का अमूलकत्व प्रतिपन्न हो सकेगा। परिदृश्यमान विविध विचित्र कर्मशक्ति का मूलकारण प्रधान अथवा प्रकृति ही है, इसे सभी स्वीकार करेंगे। परमाणु हो, त्रिगुणात्मिका प्रकृति हो, नवीन रसायनशास्त्र के हाईड्रोजनादि रूढ़ पदार्थ हों, अथवा शक्ति हो, इनमें किसी न किसी पदार्थ को दार्शनिकगण सर्वकार्य के साधारण उपायरूप में उपादान रूप में ग्रहण करते हैं, जो सर्वकार्य का साधारण उपादान है, उसे सर्व विकार हेतु सर्वप्रकार परिणामसाधन की योग्यता वाला कहना न्यायसंगत है। जो सर्वप्रकार परिणामसाधन की योग्यता युक्त है, वह यदि किसी प्रतिबन्धक कारण से बाधित न हो, तब सर्वत्र सर्वप्रकार के परिणाम साधित क्यों नहीं हो सकते? प्रकृति सर्वप्रकार के परिणामसाधन की योग्यता से युक्त है,

तथापि जब वह सर्वत्र सर्वप्रकार के परिणामसाधन नहीं कर पाती, तब यह मानना ही होगा कि वह किसी निमित्त द्वारा प्रतिबद्ध होकर सर्वप्रकार के परिणामसाधन नहीं कर पा रही है। यह प्रतिबन्धक हटते ही वह पुनः स्वयं सर्वत्र सर्वप्रकार का परिणामसाधन करने में समर्थ हो जाती है। यदि प्राकृतिक निर्वाचन को एकमात्र कारण कहें, तब प्रकृति किसी को योग्य, किसी को योग्यतर, किसी को योग्यतम—तो किसी को अयोग्य क्यों बनाती है। इस प्रश्न की कोई मीमांसा नहीं होती। इसीलिए प्रकृति को यदृच्छाचारिणी कहा गया है। यह मानने से भी क्या संशय निवृत्त नहीं हो जाता।

प्रकृति को यदृच्छाचारिणी बताकर निश्चिन्त हो जाना दार्शनिक वैज्ञानिकों के लिए असम्भव है। निर्निमित्तवाद दर्शन विज्ञान में अपवादस्वरूप है। वरन् अनिर्वाच्यवाद की शरण लेना कर्तव्य है, तथापि निर्निमित्तवाद का आश्रय लेना दार्शनिक तथा वैज्ञानिकों का कर्तव्य कदापि नहीं है। यहाँ मृत्युलोक में ज्ञान-विज्ञान विशिष्ट, हिताहित विवेकक्षम मनुष्य जाति ही उत्कृष्ट जीव है। क्षुद्रतम कीट, मत्स्य, सरीसृप आदि भी प्रकृति गर्भ से सम्भूत हैं, मनुष्य भी वहीं से उत्पन्न है। जहाँ प्रकृति क्षुद्रतम, अयोग्य कीटादि की जननी है, वहीं वह योग्य मनुष्य जाति का भी प्रसव करती है। प्रकृति ने योग्य तथा अयोग्य, उभय प्रजा का सृजन किया है। इन्होंने पहले ही योग्य प्रजा का प्रसव क्यों नहीं किया? जननी बिना कारण सन्तानों को दुःख देगी, यह कल्पना करने से ही हृदय व्यथित हो जाता है। प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) शब्द की क्रमविकासवादियों ने जो कल्पना (अर्थ) की है, प्राकृतिक निर्वाचन से उन सभी अर्थ की कैसे उत्पत्ति भावित होती है, इसकी व्याख्या करने का कोई प्रयत्न दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रकृति इनके दृष्टिकोण से अचेतन-अन्ध-सी है। किन्तु प्रकृति में ये लोग जिस शक्ति तथा धर्मों का आरोपण करते हैं, उसके स्वरूप चिन्तन से यह प्रतीति होती है कि प्रकृति कथमपि चेतनारहित किंवा अन्ध नहीं है। शक्ति को जड़ात्मक अथवा अन्धरूपेण ग्रहण नहीं किया जा सकता। "प्रकृति विवेकशक्तिशून्य, संकल्पशक्ति विरहित, सम्पूर्णतः अन्ध तथा बुद्धिपूर्वक कर्म करने में अपराग है, अथच यह स्वयं यथाप्रयोजन संविभक्त हो जाती है (Nature differentiating herself), विविध विचित्र चेतनोचित कर्म करने में यह पारग है, सम्प्रयोजनवत् कर्म करती है, योग्यतम का रक्षण करती है, अयोग्य को दुःख देकर संहार करती है" इन सब बातों का वास्तविक अर्थ समझ में ही नहीं आता।

यद्यपि सांख्य पातंजल ने प्रकृति को अयोग्य कहा है, इनकी दृष्टि में भी प्रकृति अन्धरूप है, यह भी सत्य है, तथापि ये चित् शक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, चैतन्य के सन्निधान निमित्तक अधिष्ठातृत्व को मानते हैं, सृष्टि-

पालन तथा संहार कार्य निष्पादक ब्रह्मादि के अस्तित्व का अभ्युपगम करते हैं, कर्म के अनादित्व को भी अंगीकृत करते हैं। इसी कारण सांख्य पातंजल के उपदेश हमारे लिए दुर्बोध्य हैं ही नहीं। डारविन के सिद्धान्त के मूलस्वरूप प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) में जहाँ एक ओर संगतिप्रवणता (Adaptation) तथा सन्ततिप्रवणता, अत: संक्रमणशीलता (Heredity) है, वहीं दूसरी ओर संरक्षण चेष्टा (जीवन संग्राम) Struggle of life Existence के ऊपर प्राकृतिक निर्वाचन आधारित है। पैतृक धर्म का संक्रमण तथा संगति (संयोजन) इन दो नियमों से विद्वान् लामार्क अवगत थे। अपत्य संचार नियम (Law of Heredity) साजात्य का तथा संगति नियम (Law of Adaption) वैजात्य का मूल प्रवर्तक है। आन्तर या केन्द्रिक तथा बाह्य एवं परिधि, इन द्विविध प्रकृति से शरीर के जन्मादि विकार होते हैं। आन्तर प्रकृति साजात्य संरक्षण (Conserve) एवं बाह्य प्रकृति वैजात्य अथवा विकार (Variation) उत्पादन करती है। बाह्य प्रकृति वास्तव में आन्तर प्रकृति की मुखापेक्षा करती है। भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि प्रकृति के आपूरण से भले ही जात्यन्तर परिणाम होता है, किन्तु प्रकृति धर्माधर्म की अपेक्षा से परिणामसाधन करती है। मनमाने ढंग से नहीं करती। यदृच्छाक्रमेण नहीं करती। आन्तर प्रकृति तथा बाह्य प्रकृति मूलत: एक है। ये दो स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। एक मूल प्रकृति ही धर्माधर्म संस्कार विशेष द्वारा परिच्छिन्न होकर भिन्न-भिन्न आन्तर प्रकृतिरूप से अभिव्यक्त होती है।

विकार (Variation) निर्दिष्ट नियमाधीन है। शुद्ध संगति के (Adaptation) नियमवशवर्ती होकर आम्रवृक्ष कभी भी कण्टकी वृक्ष के रूप में परिणत नहीं हो सकता। आम्रबीज तथा कण्टकी बीज में बाह्य प्रकृति तो एक है, किन्तु आम्रबीज को बाह्य प्रकृति जो देती है, वही कण्टकी बीज को अविकलरूप से क्यों नहीं देती? आम्रबीज अपनी विशिष्ट आन्तर प्रकृति की प्रेरणा से जो चाहता है, प्रकृति उसे वही देती है। अतएव धर्माधर्म-पूर्वकर्म, संस्कार तथा अदृष्ट ही उन्नति तथा अवनति का मूल है। जात्यन्तर परिणाम विशेष का विशेषरूप है विकार के कारण कर्म की विचित्रता से सृष्टि वैचित्र्य।

अध्यापक क्लास (Dr. C. Claus) कहते हैं डारविन का प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) प्रकृत रूप से मैलथस (Malthus) के उद्भिद् तथा जीव विषयक सिद्धान्त का ही विशेषरूप (परिवर्तित) है। यह अकेले डारविन द्वारा कल्पित सिद्धान्त कदापि नहीं है। प्राकृतिक निर्वाचनवाद जीवविज्ञान निरूपित जीव की जन्मादि परिणाम पद्धति तथा परिज्ञात प्राकृतिक नियमसमूह का व्यापार है। इन दोनों के द्वारा जो अनेकत: समर्थित होता है, उसे हम स्वीकार करते हैं, तथापि यह अवश्य कहना है कि प्राकृतिक निर्वाचन के मूलकारण का तथा संगति और

अपेत्यकारण संचारण कार्य के साथ भौतिक सम्बन्ध (Physical Connection का आविष्कार पथ अभी भी बहुत दूर है।[1] अध्यापक डॉ क्लास कहते हैं कि डारविन के प्राकृतिक निर्वाचन तथा जात्यन्तर परिणामवाद (Darwinian Theory of Selection and Transmutation Theory) की प्रतिष्ठापक युक्तियों को परीक्षाधीन करने पर यह तत्काल प्रतिपन्न होता है, यद्यपि अभी तक अनुसन्धान से उसका साक्षात् प्रमाण समधिगत नहीं हो सका है। सम्भवत: आगे भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि प्राकृतिक निर्वाचन तथा जात्यन्तर परिणामवाद तो स्वीकृत विषयसमूह (Postulates) पर प्रतिष्ठित है। उसका साक्षात् अनुसन्धान नहीं हो सकता।[2]

क्रमाभिव्यक्तिवादीगण ने भिन्न-भिन्न जीवसमूहों में अवयव सन्निवेश अथवा संस्थानगत सादृश्य (Agreement in structure between many different forms of living beings) देखकर यह सिद्धान्त किया कि सभी जीव एकजातीय मूल जीव से क्रमश: अभिव्यक्त हुए हैं। वानर के अंग-प्रत्यंग से मनुष्य के अंगों का सादृश्य देखकर तथा दिखलाकर, वानर की अस्थि से मनुष्य की अस्थि का, वानर के शरीर से मनुष्य के शरीर का, वानर के मस्तिष्क से मनुष्य के मस्तिष्क का प्रदर्शन करने में क्रमाभिव्यक्तिवादीगण ने विशेष उत्सव आनन्द का अनुभव किया। वानर, कुत्ता, व्याघ्र आदि भिन्न-भिन्न जीवों के बीजभूत शोणित तथा रेत: की रासायनिक परीक्षा, अनुवीक्षण परीक्षा द्वारा वैज्ञानिकों ने किसी पार्थक्य की उपलब्धि नहीं की। अत: प्रश्न उत्थित होता है कि कारण में यदि पार्थक्य नहीं है, तब कार्य में इतना पार्थक्य क्यों? अभिव्यक्त मनुष्य के साथ अभव्यक्त वानर में जो सन्तानगत सादृश्य प्रत्यक्षीभूत होता है, अभिव्यक्त कुत्ते के साथ वैसा सन्तानगत सादृश्य क्यों परिलक्षित नहीं होता?

निविष्ट चित्त से चिन्तन द्वारा प्रतीति होती है कि उत्कृष्ट-अपकृष्ट जीवसमूह के बीजभूत रक्त तथा वीर्य (रेत) के मध्य भौतिक तथा रासायनिक धर्मगत पार्थक्य

---

1. "In its fundamental idea the natural selection theory is essentially an application of the doctrine of Matlhus to plants and animals.....". "We must certainty admit that Darwin's selection theory, although supported by what are knowledges of biological processes and of the operation of the laws of nature, is very far from discovering the final causes and psychical connection of the phenomena of adaptation and heredity."—Text Book of Zoology, Vol I, p. 147.
2. "When the fundamental arguments of the Darwin's theory of selection and the transmulation theory founded upon it are submitted to criticism, it is soon apparent that direct proof by investigation is now and perhaps always will be, impossible, for the theory is founded upon postulates which cannot be submitted to direct inquiry"—Text Book of Zoology, Vol I, p. 50

उपलब्ध न होने पर भी उनके जैवधर्म सम्बन्ध में आकाश-पाताल का भेद है। यदि जैविक व्यापार केवल आकर्षण तथा विप्रकर्षण शक्ति का कार्य होता, शुद्ध भौतिक तथा रासायनिक शक्ति का परिणाम होता, तब भौतिक एवं रासायनिक धर्म सम्बन्ध से एकरूप रक्त तथा वीर्य से एक ही प्रकार के जीव का सृष्टि में उत्पादन होता। भौतिक तथा रासायनिक धर्म सम्बन्ध में पार्थक्य न रहने पर भी वानर का लिंगदेह तथा मनुष्य का लिंगदेह अपृथक् नहीं है, यहाँ तक कि यह पार्थक्य, प्रारम्भ से ही है। यह केवल शुद्ध बाह्य प्रकृति की क्रिया का फल नहीं है। मनुष्य की भ्रूणावस्था से वानर तथा कुत्ता आदि निकृष्ट जीवों की भ्रूणावस्था में सूक्ष्मतर दृष्टि से विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है। प्रकृति जीव के धर्मानुसार भिन्न-भिन्न परिणामसाधन करती है। यह वास्तव में आपत्तिविरहित सत्सिद्धान्त है। डॉ. वील (Dr. L. Beale) अनेकत: इसी मत के पक्षपाती हैं।[1] 'योग्यतम का परित्राण' अथवा धार्मिक की रक्षा, यह प्रकृति का काम है। यह हम भारतीय अवनत मस्तक हो मानते हैं। क्योंकि शास्त्र का मत है कि धार्मिक की रक्षा, साधु का परित्राण तथा अधार्मिक का विनाश, दुष्कृत का संहार यह श्रीभगवान् का कार्य है। जब धर्म की ग्लानि तथा अधर्म की वृद्धि होती है, तब धर्म संस्थापनार्थ भगवान् नानारूपेण अवतीर्ण हो जाते हैं।[2]

प्राकृतिक निर्वाचन को जो लोग जैव परिणाम का एकमात्र कारण समझते हैं तथा अन्य को भी समझाने का प्रयत्न करते हैं, उनके लिए दु:ख से यह कहना है कि आज भी वे वास्तविक रूप से इस प्रश्न का हल नहीं खोज सके कि 'प्राकृतिक निर्वाचन क्या है?'। योग्यतम का परित्राण (Survival of the fittest) प्राकृतिक निर्वाचन की यथार्थ व्याख्या नहीं कर सकता। 'योग्यतम का जीवन रक्षित होता है', 'योग्यतम अथवा जीवन संग्राम के अनुकूल साधन वाला जीवित रहता है' और 'इसके विपरीत प्रतिकूल साधन वाले ध्वंस को प्राप्त हो जाते हैं, जो जीवित हैं वे अवश्य अनुकूल साधनयुक्त हैं', यह तथ्यरूपेण स्वीकृत पदार्थ का शब्दान्तर द्वारा पुनरुल्लेख प्राकृतिक निर्वाचन की यथार्थ व्याख्या नहीं है। जो जीवित हैं, वे योग्य हैं, उनमें सभी विशेषता है, उस विशेषता ने ही उनको योग्य बनाया है, ये बातें उन

---

1. Dr. Beale M.B.F.R.S. कहते हैं—"Although there may be no physical or chemical differences, we know that life history of these several forms is very different, which the results of their living are sufficient to prove that they must have been diverse from the very first." —Protoplasm or Matter and Life, page 285.
2. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ —गीता

नास्तिक क्रमाभिव्यक्तिवादीगण (जो अदृष्ट तथा धर्माधर्म को नहीं मानते) द्वारा कैसे प्रमाणित की जायेंगी, यही मेरी समझ में नहीं आ रहा है।

प्राकृतिक निर्वाचनवादीगण प्रकृति (Nature) कहकर किस पदार्थ को लक्ष्य करते हैं? आकर्षण-विकर्षणात्मक जड़ शक्ति तथा हाईड्रोजन आदि रूढ़ पदार्थ, जो जीव का उत्पादन करते हैं, कुछ जीवों को साधनसम्पन्न करते हैं, योग्यतम का परित्राण करते हैं, यह सब वैज्ञानिकों के लिए सुखबोध्य होने पर भी हमारे लिए नितान्त दुःखबोध्य है। कौन-सा जीव अनुकूल साधनों वाला है, कौन प्रतिकूल साधनयुक्त है, क्यों है, जड़-शक्ति से जीवनीशक्ति कैसे है? किस नियम से इसकी अभिव्यक्ति होती है? यह सब नास्तिक क्रमाभिव्यक्तिवादीगण हमें नहीं समझा सके। क्या क्रमाभिव्यक्तिवादीगण इन सबका समाधान करने का प्रयत्न करेंगे? क्रमाभिव्यक्तिवादी विद्वान् मेरी इन बातों को सुनकर अवश्य परिहास करेंगे। क्रमविकास प्रकृति का स्वभाव है। नैहारिक अवस्था से क्रमशः उच्चावच जीवसमूह की अभिव्यक्ति हुई है। क्रमशः अभिव्यज्यमान जीव पर्व समूह में कोई जीव पर्व प्राकृतिक नियम से जीवन संग्राम में प्रतिकूल साधन वाला है, कोई जीव पर्व उससे किंचित् अधिक अनुकूल साधनसम्पन्न है, इस प्रकार से क्रमशः उत्तरोत्तर अधिकतर साधनसम्पन्न जीव का आविर्भाव होते जाना प्राकृतिक नियम है। नैसर्गिक नियम है। इसलिए प्रकृति किसी को प्रतिकूल साधन वाला तथा किसी को अनुकूल साधन वाला क्यों बनाती है, क्रमाभिव्यक्ति-वादीगण प्रागुक्तरूप इन प्रश्नों के उठाने का अवसर ही नहीं देते। जो ऐसा प्रश्न करते हैं, वे इनकी दृष्टि में जड़ बुद्धि हैं। स्थूलदर्शी हैं। उन्हें ये वैज्ञानिक मानो अधस्तन जैव पर्व में अवस्थित करते हैं!

आधुनिक क्रमविकासवाद के साथ सांख्यपातंजलोक्त परिणामवाद का किस-किस अंश में वैसदृश है, यह जानने के लिए उद्यत होने पर यह उपलब्धि होती है कि प्रकृति के आपूरण से जात्यन्तर परिणाम होता है। यही सांख्य पातंजल के साथ आधुनिक क्रमविकासवाद का कुछ सादृश्य है। कुछ सादृश्य है, यह क्यों कहा? सांख्य पातंजलोक्त प्रकृति तथा क्रमविकासवाद में प्रयुक्त Nature 'प्रकृति' समान पदार्थ नहीं है। सांख्य पातंजल में प्रकृति धर्माधर्म अपेक्षापूर्वक परिणाम संघटित करती है, वहाँ प्रकृति चैतन्य से अधिष्ठित है। प्रकृति जीव के भोग तथा मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है। इस सांख्य पातंजलोक्त उपदेश की तरह क्रमविकासवादी कुछ नहीं कहते। इसीलिए मैंने कहा कि कुछ सादृश्य है।

अविशेष, असम्बद्ध तथा समानजातीय भाव के अविच्छिन्नभेद तथा संसर्ग से विशेष सम्बन्ध में तथा विजातीय भाव में परिणत होने का नाम है क्रमविकास (Evolution)। विद्वान् स्पेन्सर इस क्रमविकास के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुके हैं। अव्यक्त अथवा सूक्ष्म स्थिति से व्यक्त अथवा स्थूलावस्था में आगमन ही

क्रमविकास का रूप है। दृष्ट से अदृष्ट की सिद्धि होती है। कठिन, तरल तथा वायवीय, जड़ वस्तु की इन तीन अवस्था के साथ हमारा कुछ न कुछ परिचय अवश्य है। इन अवस्थाओं का तत्वानुसन्धान करने से विदित होगा कि अणुओं के सन्निवेशगत भेद से ही इन अवस्थाओं का उदय होता है। द्रव्य की ठोस अवस्था में अणुसमूह परसरतः धनभाव में संयुक्त रहते हैं (Firmly Cohere)। तरलावस्था में उनकी संहति (Cohesion) शिथिल होती है। वायवीय अवस्था में उनका गतिशीलत्व प्रकाण्ड रूप से बढ़ जाता है। इसलिए यह देखा जाता है कि संसर्गवृत्तिक अथवा आकर्षणात्मक शक्ति (Aggregative Power) तथा भेदवृत्तिक अथवा विप्रकर्षणात्मक शक्ति (Seperative Power), ये दोनों शक्ति ही जड़ वस्तु समूह की ठोस अवस्था, तरल अवस्था तथा वायवीय अवस्था के कारण हैं। संसर्गवृत्तिक प्रबलता से अणुसमूह परस्परतः गाढ़रूप से संश्लिष्ट होते हैं तथा भेदवृत्तिक शक्ति की प्रबलता से वे परस्परतः विप्रकृष्ट हो जाते हैं। संसर्ग शक्ति (संसर्गवृत्तिक शक्ति) की प्रबलता से अणुसमूह जब परस्परतः सन्निकृष्ट होते हैं, तब उनकी गति का ह्रास होता है। भेदवृत्तिक शक्ति की प्रबलता से जब वे परस्पर विप्रकृष्ट होते हैं, तब गतिवृद्धि अवश्यम्भावी है। जो अमूर्त वस्तु मूर्त होती है, उसमें संसर्ग वृत्तिक शक्ति की प्रबलता ही कारण है तथा जो मूर्त वस्तु अमूर्त हो जाती है, उसमें भेदवृत्तिक शक्ति की अधिकता ही कारण है। जल वाष्प होता है, वाष्प जल रूप में परिणत होता है तथा जल हिमखण्ड बन जाता है। जल का वाष्पाकार होना विलयन व्यापार (Diffusion) का दृष्टान्त है तथा वाष्प का जलाकार होना अथवा जल का हिमखण्ड बनना संहनन परिवर्तन (Concentration) का दृष्टान्त है। सृष्टि तथा लय, जो है वह संहनन तथा विलयन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। दृश्यमान वस्तु जात में संहनन तथा विलनय की अविराम क्रिया चलती रहती है, तब काल के निमित्त कारण भेद से उक्त क्रियाद्वय में ह्रास वृद्धि होती है। सप्राण देह भी अणु समष्टि है।

इसलिए सप्राण देह में सृष्टि तथा लय यथाक्रम से संहनन एवं विलयन व्यापार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सप्राण देह में भी निरन्तर संहनन तथा विलयन की क्रिया चलती रहती है। अप्राण मूर्तद्रव्य में (Inanimate objects में) अणुओं का संहनन (Integration), जड़भाव (Passive) में होता, किन्तु सप्राणदेह में संहनन व्यापार जड़भाव से नहीं होता। स्वतन्त्र भाव से आहाराणु द्वारा किया जाता है। अप्राण मूर्तद्रव्य तथा सप्राणदेह का विलयन व्यापार भी (Disintegration) सर्वथा एकरूप नहीं है। अप्राण मूर्तद्रव्य के बहिः पृष्ठ का विलयन बाह्य प्रकृति में अवश्यभाव से होता है। सप्राण देह अपनी आन्तर शक्ति विशेष के द्वारा स्वतन्त्र रूप से आन्तर विलयन कार्य (Active internal disintegration) सम्पादन करता है। विद्वान् स्पेन्सर अपने जीवविज्ञान में प्रथमतः शरीरोपादान रूप

भौतिक वस्तुओं का विवरण देते हैं। शरीरोपादन के भौतिकवस्तु समूह (organic matter) का विवरण देने में प्रवृत्त होकर उक्त विद्वान् पण्डित हाईड्रोजन, ऑक्सीजन, नाईट्रोजन तथा कार्बन रूप चतुर्विध रूढ़ पदार्थों की तत्वचिन्ता करते हैं। क्योंकि सजीव देह प्रधानतः इन चार कार्य पदार्थ से ही गठित होता है। हाईड्रजोनादि चतुर्विध रूढ़ पदार्थों में प्रथम तीन (Hydrogen, Oxigen, Nitrogen) साधारण अवस्था में वायवीय (gascous) तथा चौथा कार्बन Solid ठोस है। प्रथम तीन वायवीय पदार्थ को तरलावस्था में लाने के लिए अनेक वर्षों की चेष्टा बेकार चली गयी है। तब इन्हें अतिमात्र तापशमन (Extreme refrigeration) के साथ तीव्र आपीड़न द्वारा वैज्ञानिकगण इनको तरलाकृति में परिवर्तन करने की विधि जान गये।

शरीरोपादान के रूढ़ पदार्थ (organic elements) भिन्न-भिन्न रूप अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। कार्बन भी हीरक (Diamond), ग्रेफाईट (graphite) तथा अंगार (Charcoal) ऐसे परस्पर भिन्न त्रिविधाकृति में परिदृष्ट होता है। वैशेषिक दार्शनिक प्रशस्तपादाचार्य ने त्रिविध पार्थिव विषय का उल्लेख किया है। जैसे—(1) मृत्प्रकार (मृत्तिका के भिन्न-भिन्न विकार ईंटा आदि का)। (2) पाषाण—उपल (शिला), मणि (सूर्यकान्त मणि), वज्र (हीरकादि)। (3) स्थावर—तृण, औषधि, इन त्रिविध का विवरण प्राप्त होता है। कार्बन पार्थिव है। शरीर के लिए शास्त्र 'पृथिवी भूतोपादानक' कहता है। (पृथिवी भूतोपादानक अर्थात् पृथ्वी नामक भूत है जिसका उपादान)। न्याय वैशेषिक तथा सांख्यमत से पृथिवी भिन्न सभी भूत शरीपोदान नहीं हैं। तब भी पृथ्वी भिन्न भूत चतुष्टय का शरीरोत्पत्ति में निमितत्व है। पार्थिव शरीर में जलीय, तैजस तथा वायवीय अणुसमूह पार्थिव अणुओं के साथ संयुक्त हो जाते हैं, यह भी ये स्वीकार करते हैं।

वेदान्त मत से शरीर पाँचभौतिक है। आयुर्वेद ने भी इसी प्रकार शरीर को पाँच भौतिक माना है। पातंजल दर्शन के भाष्य में भगवान् वेदव्यास सत्वादि गुणत्रय का स्वरूप प्रदर्शन करते समय जो कहते हैं, उससे हमें यह उपदेश मिलता है कि 'गुणत्रय समान जातीय रूप में निमित्त समवायिकारण (Coinherent cause) तथा असमान जातीय रूप में निमित्त कारण (Efficient cause) होते हैं। ऑक्सीजन तथा हाईड्रोजन को जल का उपादान कारण नहीं कहा जा सकता। असमान जातीय पदार्थ उपादान अथवा समवायी कारण नहीं हो सकते। न्याय वैशेषिक तथा सांख्य दर्शन में पृथ्वी को जो शरीर का उपादान कारण कहा गया है, उसका यह कारण है कि असमान जातीय पदार्थ उपादान अथवा समवायिकारण नहीं हो सकते। सांयौगिक (Compound) समूह सभी जिस विजातीय घटकावयव (Components) के रासायनिक संयोग से उत्पन्न होते हैं, उसी से इन सब घटकावयव द्रव्य में विलक्षण गुण का प्रादुर्भाव होता है।

महर्षि कणाद कहते हैं जब शरीर में घटकावयव द्रव्य के विलक्षण गुण का प्रादुर्भाव नहीं होता, तब स्वीकार करना होगा कि पार्थिव अणुसमूह ही शरीर के उपादान एवं समवायी कारण हैं तथा अन्यान्य भौतिक अणुसमूह निमित्त कारण है।[1] महर्षि गौतम तथा कपिल भी यही कह रहे हैं। कपिल का कथन है कि भिन्न जातीय द्रव्यसमूह का उपादानत्व समवायी कारणत्व घट पटादि किसी भी कार्य में दृष्ट नहीं होता। सजातीय द्रव्यसमूह ही सर्वत्र उपादान कारण होता है।[2]

''हाईड्रोजन आदि वायवीय पदार्थसमूह को तरल अथवा ठोस अवस्था में लाना एक असाध्य व्यापार है।'' इसी सत्य से ''विजातीय द्रव्य किसी कार्य का उपादान कारण नहीं हो सकते'' इस शास्त्रोपदेश की उपपत्ति हो जाती है। विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं द्रव्यों के परस्पर रासायनिक संयोग से गुण का परिवर्तन अवश्य होता है, किन्तु नाश नहीं होता। सांयौगिक वस्तु के गुणसमूह प्रत्येक सांयौगिक अवस्था में पूर्णतः क्रिया करते हैं, तब परस्पर एक-दूसरे के द्वारा अभिभूत होने से वे स्वरूप में प्रव्यक्त नहीं हो पाते।[3] जो परस्परतः समवेत होकर कार्यरूप में परिणत होते हैं, उनको उपादान तथा समवायिकारण कहते हैं। सजातीय अणुओं के संयोग से जो भाव होता है, विजातीय अणुसमूह का संयोग उस रूप से नहीं होता। एक पार्थिव अणु में जिस परिणाम में आकर्षण शक्ति रहती है, एक जलीय अणु में निश्चित उस परिणाम में आकर्षण शक्ति नहीं रह सकती। आकर्षण तथा विकर्षण इन दोनों शक्ति के अथवा रजः, तमः, सत्वः इन गुणत्रय के तारतम्य से भिन्न-भिन्न जातीय परमाणुसमूह का आविर्भाव होता है। सजातीय अणुओं के परस्पर संयोग से द्रव्य के गुणान्तर का प्रादुर्भाव नहीं होता। उनमें सजातीय अणुसमूह के विप्रकर्षणात्मक आवेष्ठन (Repulsive envelope) के साक्षात् प्रतिबन्धकतावश परस्पर रासायनिक संयोग संयुक्त नहीं हो पाता। अर्थात् उनके आपेक्षिक साम्यभाव

---

1. ''गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्रयात्मकम्''—वैशेषिक दर्शन, 4।2।3
2. ''पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धे''—न्यायदर्शन, 3।1।28

तथा ''न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहुनामुपादानायोगत्''—सांख्यदर्शन, 5।102

3. "Oxygen, Hydrogen and Nitrogen are gases which for many years defied all attempts to liquify them, and carbon is a solid except perhaps at the extremely high temperature of the electric Arc only by intense pressure joined with extreme refrigerations have the three gases been reduced to the liquid forms. There is much significance in this...The properties of substance, though destroyed to sense by combination, are not destroyed in reality, it follows from the persistence of force, that the properties of compound are resultants of the properties of its components are severally in full action though mutually obsecured.''

—The Principles of Biology, Vol. I, page 30

की विच्युति नहीं होती। अतएव सजातीय अणुसमूह ही उपादान कारण होते हैं। विजातीय अणुसमूह उपादान कारण नहीं हो पाते। उपादान कारण (Coinherent cause) कार्य से कभी भी वियुक्त नहीं होते। उपादान शक्ति ही कार्य पदार्थ है।

विजातीय शक्तिसंयोग से उपादान शक्ति की आपेक्षिक साम्यावस्था की विच्युति होने से ही कार्य अन्यथा हो जाता है। जब तक घट है, तब तक घट के उपादान मृदणु समूह परस्पर समवेत हो जाते हैं। यदि घट के उपादान मृदणु (मिट्टी के अणु) के साथ विजातीय अणुसमूह सजातीय अणुओं की तरह परस्पर समवेत हो जाते, तब घट कार्य की उत्पत्ति असम्भव हो जाती। उपादान कभी भी अननुवृत्त (incoherent) नहीं होते। सांख्यदर्शन के अनुसार अविशेष से विशेष का आरम्भ होता है—"अविशेषा द्विशेषयारम्भः"

जो विशेष निर्देश्य नहीं है, उपभोगयोग्य शान्त, घोर तथा मूढ़त्वादि रूप है जिसमें, वही है अविशेष। पंचतन्मात्राख्य सूक्ष्मभूत पंचक को सांख्यदर्शन अविशेष कहता है। इस अविशेष या सूक्ष्म पंचभूत समूह से विशेष अर्थात् शान्तादि रूपविशिष्ट पंचस्थूल अथवा पंचमहाभूत का आरम्भ होने लगता है। पातंजल दर्शन में पहले कहा गया है कि विशेष, अविशेष, लिंग मात्र तथा अलिंग सत्वादि गुणत्रय के चार पर्व हैं। इनका पातंजल दर्शन में वर्णन है। एकादश इन्द्रियाँ तथा पाँच स्थूल भूत (पृथ्वी आदि) इन 16 पदार्थों को इस दर्शन में विशेष कहा गया है। पंचतन्मात्र (सूक्ष्मभूत) तथा अहंकार, इन 6 को अविशेष कहते हैं। महत्तत्व को 'लिंगमात्र' कहा गया है तथा प्रकृति (प्रधान) अर्थात् गुणत्रय की साम्यावस्था ही 'अलिंग' है। इस प्रकार 16+6+1=23 तत्व त्रिगुणभेद से उत्पन्न होते हैं। सांख्यतत्व कौमुदी में सूक्ष्म शरीर माता-पिता संयोग से प्राप्त स्थूल (षाट्कौशिक) शरीर तथा पंचस्थूलभूत तथा भौतिक घटपटादि कार्य, इन त्रिविध विशेष पदार्थ का वर्णन मिलता है। महत्तत्वादि 23 तत्व ही सांख्य पातंजलमत से सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर के बीज हैं। महत्तत्वादि 23 तत्व से ही स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर का परिणाम होता है। 'तस्माच्छरीस्य' (सांख्यदर्शन 3/2) तथा 'तद्वीजात् संसृति' (सांख्यदर्शन 3/3) इन 23 तत्वों में अवस्थित पुरुष उक्त उपाधि से पूर्वकृत कर्म भोगार्थ देह से देहान्तर में संसरण करने के लिए प्रतिबद्ध है। आदिसर्ग में (महाप्रलय के पश्चात् जो नवीन दृष्टि का सर्ग है) प्रकृति प्रत्येक पुरुष के लिए एक-एक लिंगदेह का निर्माण करती है। लिंग शरीर असक्त, अव्याहत गति है। शिला के बीच से भी प्रवेश करने में समर्थ है। नियत अर्थात् आदिसर्ग से लेकर महाप्रलय तक स्थायी रहने वाला यह महत्तत्व बनता है अहंकारतत्व, 11 इन्द्रिय, पंचतन्मात्र द्वारा। षाट्कौशिक स्थूल शरीर के बिना सूक्ष्मशरीर का भोग नहीं होता। इसी कारण इसे निरुपभोग (जिसका भोग नहीं होता) कहते हैं। षाट्कौशिक शरीर अथवा स्थूल शरीर के बिना सूक्ष्म शरीर का

भोग नहीं होता। इसलिए यह पुनः-पुनः (जब तक मुक्ति नहीं हो जाती), स्थूल शरीर ग्रहण करता रहता है।

संसार में देह से देहान्तर संसरण का धर्माधर्म ही कारण है। जब सूक्ष्मशरीर में धर्माधर्म सम्पर्क नहीं है, उसका संसार किस रूप में उपपन्न होगा? सांख्यदर्शन इसके उत्तर में कहता है कि धर्मादि भावों द्वारा अधिवासित होकर यह देह से देहान्तर गमन करता है। धर्माधर्मादि भावसमूह बुद्धि द्वारा अन्वित होते हैं और सूक्ष्म शरीर बुद्धियुक्त है। इसलिए जैसे सुरभित चम्पा पुष्प से सम्पर्क होने पर वस्त्र उस गन्ध से वासित हो जाता है, उसी तरह से सूक्ष्म देह भी धर्माधर्मादि भावयुक्त बुद्धि के सम्पर्क से उसके द्वारा अधिवासित हो जाता है।[1] सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर में पुरुष के सुख-दुःख का भोग किस शरीर से होता है? आदिसर्ग में उत्पन्न लिङ्ग अथवा सूक्ष्मशरीर में ही सुख-दुःख का भोग होता है, लिंग शरीरोपाधिक[2] पुरुष ही सुख-दुःख का भोक्ता है। सूक्ष्म अथवा लिंगशरीर ही में सुख-दुःख का भोग होता है, इसका प्रमाण क्या है? मृतक शरीर में इनका अनुभव नहीं होता। स्थूल शरीर से निर्गमन ही मृत्यु है। अतएव स्वीकार करना पड़ेगा कि सूक्ष्म शरीर में ही सुख-दुःख का भोग होता है। जो भोगायतन है, वही है शरीर। भोगायतनत्व ही मुख्य शरीरलक्षण है। न्याय वैशेषिक दर्शन में भी शरीर का यही लक्षण किया गया है। स्थूल शरीर में जब सुख-दुःख का भोग नहीं होता, तब शरीर के यथोक्त लक्षणानुसार सूक्ष्म शरीर को ही मुख्यतः शरीर कहना होगा। मुख्य भोगायतन सूक्ष्म शरीर का आश्रय होने के कारण स्थूल शरीर का शरीरत्व सिद्ध हो जाता है।[3]

लिङ्ग शरीर एक या बहुः है? सांख्यदर्शन कहता है कि आदिसर्ग में हिरण्यगर्भ की उपाधि वाला एक समष्टिभूत लिंगशरीर था। तदनन्तर उस पितृलिंग देह से (जैसे पुत्र-कन्यादि लिंगदेह रूप से अंशतः नानात्व होता है) नानात्व होने लगा। यह क्यों होता है? भिन्न-भिन्न भोग हेतु कर्मभेद ही व्यक्तिभेद का (Distinct Individuals) कारण है। जीवसमूह का साधारण कर्म समष्टि सृष्टि का तथा विशेष-विशेष कर्म व्यष्टि सृष्टि का हेतु है। सांख्यदर्शन के ऐसे उपदेश में श्रुति तथा स्मृति ही मूल है। ऋग्वेद संहिता के पूर्वोद्धृत उपदेश का स्मरण करिये। भगवान् मनु भी कहते हैं असीम कार्य निर्माण में समर्थ अहंकार तथा पंचतन्मात्र, पंचसूक्ष्मभूत तथा 6 पदार्थों के स्व-स्वविकार अथवा कार्यसमूह में (अहंकार का विकार इन्द्रियाँ तथा तन्मात्र का विकार पाँच स्थूलभूत) उनका (अहंकार तथा तन्मात्र का) सन्निवेश करके, इस संयोजन से

---

1. "मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा"—सांख्यदर्शन 3/7

तथा "पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसृति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्।" —सांख्यकारिका

2. "पूर्वोत्पत्तेस्ततकार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य"—सांख्यदर्शन

3. "तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः"—सांख्यदर्शन 3/11

विधाता ने देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, स्थावर प्रभृति समस्त भूतों की सृष्टि की है। भगवान् मनु अहंकार तथा पंचतन्मात्र इन 6 पदार्थों को समस्त लिंगशरीर समझाने में व्यवहार करते हैं।[1] सांख्यमत से लिंगशरीर है अणु परिणाम। परिच्छिन्न। यदि लिंगशरीर अणुपरिणाम नहीं होता, तब उसकी गति की उपपत्ति कैसे होती ?

न्यायवैशेषिक दर्शन में लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर का उल्लेख नहीं है। न्यायवैशेषिक दर्शन 'अन्तःकरण' शब्द द्वारा लिंग को ही लक्ष्य करते हैं। "कलल शरीर उत्पन्न होने पर उसमें अन्तःकरण का प्रवेश होता है", पूर्वोक्त उद्धरण का स्मरण करें। मनुसंहिता तथा उसके मेधातिथि कृत भाष्य में जीव शब्द का प्रयोग लिंगदेह समझाने के लिए किया है। भगवान् मनु कहते हैं शरीर (स्थूल शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ के (जीवात्मा) अतिरिक्त सर्व देही में सहज अर्थात् आमोक्ष (मोक्ष मिलने तक) स्थायी जीव नामक अन्तरात्मा (अन्तःकरण) भी है।[2] मेधातिथि कहते हैं इसी जीवसंज्ञक पदार्थ को कोई अन्तःकरण कहते हैं, कोई लिंगशरीर कहते हैं।[3] अतएव यह कहा जा सकता है कि न्यायवैशेषिक के साथ सांख्य अथवा वेदान्त में इस सम्बन्ध में कोई विरोध नहीं है।

न्यायवैशेषिक दर्शन का उपदेश है कि परमाणुसमूह के परस्पर सम्मिलन से सृष्टि का तथा उनके परस्पर विभाग से लय का कारण बनता है। सांख्यदर्शन कहता है कि सत्वादि गुणत्रय का वैषम्य या न्यूनातिरिक्तभाव से संहनन सृष्टि का कारण है तथा उनका साम्य लय कारण है।[4] विद्वान् स्पेन्सर के साथ इस शास्त्रीय उपदेश का जिस अंश में सादृश है उसे कहना होगा। वैशेषिक मत से पृथिव्यादि परमाणु पर्यन्त विभाग ही प्रलयकाल है। सृष्टिकाल में समस्त अणुसमूह में जो अदृष्ट विशिष्ट क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा का संयोगापेक्ष कर्म उत्पन्न होता है, वह कर्म अपने आश्रय से अणु को अन्य अणु के साथ संयुक्त करता है। तदनन्तर द्वयणुकादिक्रमेण स्थूल वायु की उत्पत्ति होती है। अग्नि आदि की उत्पत्ति में यही नियम है। एक प्रकार से अखिल जगत्कार्य अणु से सम्भूत होता है। पण्डित स्पेन्सर कहते हैं कि ईथर की लहरें किंवा तरंगें अणुओं को तरंगित करती हैं। इनका स्पन्दन तथा स्थान परिवर्तन ही गति (Motion) पदार्थ है।

जिस पदार्थ की उर्मि अणुओं को गतिविशिष्ट करती है, वह अपेक्षाकृत अपिण्डीभूत (Imponderable) है। जो परलोक में विश्वास करते हैं, जिन्होंने इस

---

1. "तेषां त्ववयवान् सूक्ष्मान् यन्नामप्यमितौजसाम् सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्म्ममे॥"—मनुसंहिता
2. "जीव संज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्"—मनुसंहिता
3. "अन्येतु मन्यन्ते अन्तःकरणं मनोबुध्याहंकाररूपं जीवस्तस्य अन्तःकरणसंज्ञत्वात् ...."—मेधातिथि
4. "साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्"—सांख्यदर्शन 6/42

विश्वास-स्थापना की प्रतिभा के साथ जन्म लिया है, जो सांसारिक यातना को यातना मानते हैं और उस उपाय का अन्वेषण करते हैं, जिससे इस दुर्विसह यातना की शान्ति हो, अर्थात् जो आसक्त जीव नहीं है, उनके समीप पण्डित स्पेन्सर के उपदेश से अधिक आदर वैशेषिक दर्शनाचार्य प्रशस्तपाद का उपदेश प्राप्त करेगा। यह निसन्दिग्ध है।[1]

प्रशस्तपाद कहते हैं कि ब्रह्मा के कालमान के अनुसार जब ब्रह्मा का 100 वर्ष हो जाता है, तब वह वर्तमान ब्रह्मा का अपवर्ग अथवा मुक्तिकाल है। उस समय संसाराखिन्न, संसार में नाना स्थानों में पुनः-पुनः शरीरादि धारण हेतु दुःख से क्लिष्ट, गर्भवास आदि विविध दुःख-भोग से अवसन्न प्राणिगण के विश्रामार्थ सर्वभुवन पति की, सर्वत्र अव्याहत प्रभाव परमेश्वर की जगत्-संहार की इच्छा होती है। तदनन्तर स्थूल शरीर, इन्द्रिय तथा स्थूल भूत के आरम्भक सर्वात्मा में समवेत कर्म संस्कार का अदृष्ट का प्रतिबन्ध होता है, अदृष्ट वृत्ति का निरोध हो जाता है। इस समय अणुसमूह के संयोग की निवृत्ति होती है और उसका परमाणुपर्यन्त विभाग होता है। जीवात्मा अनन्त है। प्रत्येक जीव के अदृष्ट भी भिन्न हैं। अतएव अदृष्ट भी अनन्त हैं। इसलिए अनन्त अदृष्ट का परिपाक क्रमशः होना सम्भव है। अदृष्ट क्षय के कारण कतिपय जीव भोगोपरत होकर विश्रान्त हो जायेंगे, कतिपय जीव अदृष्ट न क्षय होने के कारण भोग में लगे रहेंगे, कतिपय जीव भोग से विमुख भी हो जायेंगे। अतएव प्रलय की सम्भावना कहाँ है? सर्वदा विषय प्रवृत्ति हेतु शरीरादि का युगपत अभाव कैसे होगा? प्रशस्तपाद इसके उत्तर में कहते हैं कि सृष्टि तथा लय यथाक्रम से प्रबोध, जागरण तथा निद्रा व्यापार की तरह है। कर्म शेष हो अथवा न हो, जैसे रात्रि में सब निद्रित होते हैं, रात जैसे सबका स्वाभाविक विश्रामकाल है, वैसे ही प्रलय भी स्वाभाविक विश्रामकाल है। सृष्टि तथा लय प्रबोध तथा निद्रा के समान स्वाभाविक विश्रामकाल है। यह निद्रा तथा प्रबोध भी उसी तरह क्रिया-प्रतिक्रिया मात्र है। परमाणुपर्यन्त का विभाग उत्तरोत्तर विद्यमान रहता है तथा पूर्व-पूर्व का विनाश क्रमानुसार होता रहता है। (अर्थात् पहले का विनाश तथा उसके आगे की विद्यमानता।) प्रविभक्त परमाणु पुंज तथा धर्माधर्मसंस्कारानुविद्ध—धर्माधर्मसंस्कार वासित जीवात्मा सकल ब्रह्मा के मान के 100 वर्ष के काल में प्रलयावस्था में अवस्थान करते हैं। इसके अनन्तर प्राणिगण के संचित कार्यसमूह के फलोन्मुख होने पर परमेश्वर की जगत् सृष्टि करने की इच्छा जन्म लेती है, तब सर्वात्मगत अदृष्ट अथवा कर्मसंस्कार पुनः वृत्तिलाभ करते हैं, उदित अथवा जागरित होते हैं, क्रियमाण

---

1. "An atom united with one for which it has a strong affinity, has to be transferred to another for which it has a weeker affinity. This transfer implies motion. The motion is given by the waves of medium that is relatively imponderable."—The Principls of Biology, Vol I, P. 34

(Kinetic) अवस्था को प्राप्त करते हैं। वैशेषिक दर्शन का उपदेश है कि प्रलयकाल में परमाणुसमूह प्रविभक्त होकर अवस्थित रहते हैं। इसलिए स्पेन्सर तथा ड्रेपर का यह उपदेश कि सृष्टि तथा लय यथाक्रम से संहनन तथा विलयन से भिन्न अन्य कुछ नहीं है, शास्त्रोपदेश से विसंवादी नहीं है। वैशेषिक दर्शन भी परमाणुओं के कर्तृस्वभाव अधिष्ठाता की कल्पना करता है। चेतन अधिष्ठाता के बिना अचेतन की प्रवृत्ति नहीं होती। प्रलय के उपरान्त जब पुनः सृष्टि प्रारम्भ होती है, तब प्रथमतः वायु परमाणु पुंज में ही कर्मोत्पत्ति के पवन परमाणुपुंज समवायिकारण लब्धवृत्ति हो जाते हैं। शान्त अवस्था से उदित अवस्था में आगत अदृष्ट अथवा पूर्व संस्कार के कर्म से युक्त आत्मा और परमाणु का संयोग असमवायि कारण (incoinherent cause) हैं तथा अदृष्ट है निमित्त कारण। वायु परमाणु के परस्पर संयोग से क्रमशः द्व्रणुक, त्र्यणुक आदि की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर स्थूल (महान्) वायु का विकास होता है। उत्पन्न स्थूल वायु आकाश में अप्रतिहत तथा अबाधित होकर, अतिमात्र (वेगयुक्त) होकर अवस्थान करता है। तदनन्तर उस वायु में आप्य (जलीय) परमाणुसमूह से द्वयणुकादि क्रम से महान् सलिलनिधि उत्पन्न होकर सर्वत्र प्लवमानावस्था में (प्रतिरोध न होने से) अवस्थान करता है।

जलनिधि की उत्पत्ति के अनन्तर उस जलनिधि में पार्थिव परमाणु पुंज से महापृथिवी (स्थूल) संहत होकर स्थिर भाव से अवस्थान करती है। तदनन्तर उस महोदधि में पूर्ववत् द्वयणुकादि क्रम से उत्पन्न महान् तेजोराशि, किसी के भी द्वारा अभिभूत न होकर देदीप्यमान होकर विराजमान रहती है। इस क्रम से वायु प्रभृति महाभूत उत्पन्न होकर परमेश्वर के संकल्प मात्र से पार्थिव परमाणुसहित तैजस परमाणु द्वारा महद्बिम्ब आरम्भ होता है। इसके अनन्तर परमेश्वर समस्त भुवनों के साथ सर्वलोक पितामह चतुर्मुख ब्रह्म के उत्पादन द्वारा उन्हें प्रजा सृष्टि में विनियोजित करते हैं। परमेश्वर द्वारा विनियुक्त अतिशय ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्ययुक्त ब्रह्मा अपने तप-बल से (ज्ञानातिशय के कारण वे प्राणिगण के पूर्व कर्म से अभिज्ञ रहते हैं, वैराग्य के कारण वे पक्षपात रहित प्रजा-सृष्टि करते हैं तथा ऐश्वर्य के कारण वे प्राणिमात्र को यथायथरूप से कर्मफल प्रदान करते हैं) प्राणिगण के कर्मविपाक को जानकर तदनुरूप मनः संकल्प से उद्भूत अयोनिज प्रजापति, मनु, देवर्षि, पितृगण, ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण, क्षुद्रतर क्षुद्रतम भूतसमूह की सृष्टि करते हैं। सृष्ट भूतसमूह में जिसका जैसा आशय है, पूर्वकर्म संस्कार है, उसे वैसा ज्ञानादि प्रदान करके स्थित रहते हैं। बिन्दुमात्र अन्यथा नहीं करते।[1] ऋषि, प्रजापति, मनु का

---

1. ''ब्राह्म्येण मनिन वर्षशतान्ते वर्तमानस्य ब्रह्मणोऽपवर्गकाले, संसारखिन्नानां सर्वप्राणिनां निशि विश्रामार्थं सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य संजिहीर्यसमकालं शरीरेन्द्रियमहाभूतोपनिबन्धकानां सर्वात्मगतानामदृष्टाना वृत्ति निरोध सति महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगनिवृत्तौ तेषामापरमाण्वन्तो विनाशः''—प्रशस्तपादभाष्य।

मानस शरीर है। इनका दृष्ट संस्कार है (जिन्हें पूर्व कर्म संस्कार दृष्ट तथा साक्षात्कृत है)। सुप्तावस्था से उठा व्यक्ति जैसे पूर्व संस्कार समूह का, पूर्व ज्ञानादि का स्मरण करता है, ये भी उसी प्रकार से कल्पान्तर में अनुभूत सब प्रकार के शब्दार्थ व्यवहार को स्मरण करते हैं। पूर्व कल्प में जो-जो शब्द जिस-जिस अर्थ में व्यवहृत होता था, वर्तमान कल्प में ये उन-उन शब्द का उसी-उसी अर्थ में व्यवहार करते हैं तथा ऐसी व्यवहार परम्परा से लोगों में शब्दार्थ की व्युत्पत्ति होती है।[1]

प्रशस्तपाद के इन सब उपदेशों का यथायथ अर्थ परिग्रह करना निश्चय ही दुःखपूर्ण व्यापार है। जो सब विषय साधारण प्रतिभा के लिए विसंवादी हैं, विरोधी हैं, लोग कभी भी उन सब विषय को यथार्थतः नहीं ग्रहण करते। प्रशस्तपाद विश्व की सृष्टि तथा प्रलयत्व की व्याख्या करते समय अनेकतः साधारण की प्रतिभा के प्रतिकूल बातें कहते हैं। स्थूल प्रत्यक्ष तथा तन्मूलक अनुमान, इन दो प्रमाण से किसी तत्व की जैसी व्याख्या होती है, सभी लोग वैसी ही व्याख्या सुनना चाहते हैं। लौकिक प्रत्यक्ष के बाहर की कथा होने से उसे कल्पना का विजृम्भण मानकर साधारणतः उपेक्षित किया जाता है। सृष्टि तथा प्रलय के तत्व की व्याख्या करने के लिए लौकिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त की बातें कहे बिना अन्य गति नहीं है। आधुनिक शिक्षित पुरुषों में से अनेक इसे समझ ही नहीं सकते। कोई-कोई कहते हैं, क्या स्पेन्सर, कामत, ह्यूम आदि दार्शनिकों ने विश्वसृष्टि तथा प्रलयतत्व की व्याख्या करते समय इस देश के नागरिकों के समान कल्पना राज्य में परिभ्रमण किया है?

परमेश्वर-ब्रह्मा-अदृष्ट, मानसप्रजा इत्यादि प्रत्यक्षविरुद्ध पदार्थसमूह की कथा कही गयी है। हरबर्ट स्पेन्सर, कामत प्रभृति पण्डितों में से कोई भी विश्व की सृष्टि तथा प्रलयतत्व की यथारीति व्याख्या करने में प्रवृत्त नहीं हो सका है। जो दर्शन (Philosophy) जगत् की सृष्टि तथा लयत्व का अनुसन्धान करने से विमुख है, परमकारण के तत्व का निर्णय करने से प्रतिकूल है, जिसका उद्देश्य ही है स्थूल प्रत्यक्ष प्रमाणसाध्य प्राकृतिक नियम समूह (Laws of Nature) का तथ्य निर्धारण जड़ विज्ञान की उन्नति ही जिनका एकमात्र लक्ष्य है, अतीत तथा अनागत की चिन्ता की विवेचना जिनके लिए अनावश्यक है, वही पॉज़िटिव फिलॉसफी कही जाती है।

1. "ऋषयः प्रजापतयो मनवस्तु मानसा अयोनिजशरीर विशिष्टादृष्टं सम्बन्धिनो दृष्टसंस्काराः कल्पान्तरभूतंसर्वमेव शब्दार्थ व्यवहारं सुप्तप्रति बुद्धवत् प्रतिसन्दधते प्रतिस्पन्दधानाश्च परस्परं बहवो व्यवहरन्ति तेषां व्यवहारात् तत्काल वर्तिनां प्राणिनां व्युत्पत्तिस्तद्व्यवहराच्च-न्येषामित्युपपद्यते व्यवहार परस्परया शब्दार्थ व्युत्पत्तिरित्यर्थः"—न्यायकन्दली
भर्तृहरि कहते हैं कि निखिल पौरुष आगम प्रलय में विलय प्राप्त होने पर भी सर्वागम के बीज अपौरुषेय वेद विद्यमान रहते हैं। इसी बीज का सहारा लेकर पुरुषगण द्वारा सभी आगम संयोजन किया जाता है।

विद्वान् कामत इस Positive Phylosophy के प्रतिष्ठापक हैं। अतएव कामत विश्व के सृष्टि तथा लय की जो तत्वचिन्ता करते हैं। वह कभी सम्भव नहीं होगी। विद्वान् स्पेन्सर ने भी विश्व के सृष्टितत्व को अज्ञेय कहा है। ह्यूम भी अनेकतः अनिर्वाच्य वाद के ही पक्षपाती थे। आगस्ट कामट विश्व की सृष्टि तथा लय के तत्वानुसन्धान में भले ही प्रवृत्त न भये हों, तब भी उन्होंने सूक्ष्म तथा अव्यक्तभाव में विद्यमान मानवीय प्रकृति के मूलधर्म अथवा शक्तियों के प्रस्फुटन को मनुष्य प्रवृत्ति की उन्नति कहा है।[1] वर्तमान जगत्, जो कि अतीत जगत् का पुनर्जन्म है, स्टोयिक लोगों की तरह ह्यूम ने अनेकतः ऐसे विश्वास को ही स्थान दिया है।[2] स्टोयिक (Stoic) लोगों के मत में वैदान्तिक सिद्धान्त की छाया स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इनके मतानुसार ईश्वरैकत्ववाद का बीज (The germ of a monistic and pantheistie conception of evolution) देखा जाता है। जो कुछ भी हो, विश्व की सृष्टि तथा लयतत्व का जिसने जितने परिमाण में अनुसन्धान किया है, उसे उसी परिणाम में लौकिक प्रत्यक्ष की सीमा से निःसन्दिग्ध रूप से बाहर जाते देखा गया है।

प्रशस्तपाद ने विश्व की सृष्टि तथा प्रलय के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसकी सत्यता का क्या प्रमाण है? केवलमात्र लौकिक प्रत्यक्ष तथा तन्मूलक अनुमान से उनकी सत्यता का परीक्षण करने से इष्टसिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष तथा तन्मूलक अनुमान किसी भी प्रकार से अलौकिक विषय के तत्वावधारण में पर्याप्त प्रमाण नहीं हो सकता। लौकिक प्रत्यक्ष तथा तन्मूलक अनुमान के अतिरिक्त पदार्थ तत्वावधारणार्थ और क्या प्रमाण मान्य हो सकेगा? लौकिक प्रत्यक्ष तथा तन्मूलक अनुमान से सभी पदार्थ के स्वरूप का निर्णय नहीं होता। शास्त्र कहते हैं कि उन सबके स्वरूप निर्णय में सनातन वेद ही एकमात्र उपाय है। आप्तोपदेश ही इस सम्बन्ध में प्रमाण है। जो वेदों का स्वतःप्रमाण्य स्वीकार नहीं करते, वे चिरकाल तक पारमार्थिक सत्य ज्ञानार्जन के क्षेत्र में अपारग ही रहेंगे। चिरदिनपर्यन्त अपारग रहेंगे या नहीं, यह कौन कह सकता है? क्या संकीर्ण साम्प्रदायिक भाव ऐसे सिद्धान्त में उपनीत होने का एकमात्र कारण नहीं है?

जिनके हृदय में साम्प्रदायिक भाव की छाया भी आ जाती है, वे कदापि यह नहीं स्वीकार कर सकते कि 'वेद स्वतः प्रमाण है।' यहाँ तक कि साम्प्रदायिक भाव

---

1. "Comte does not recognize that this process is aided by any increase of innate capacity; on the contrary, progress is to him the unfolding of fundamental faculties of human nature which always pre-existed in a latest condition". —*Ency. Britt, 9th Ed. Evolution*
2. "He (Hume) says, in an eternal duration that every possible order or position will be tried and infinite number of times and hence this world is to be regarded (as the stoics maintaned) as an exact reproduction of previous world".

से ग्रस्त मस्तिष्क में ऐसा विचार भी नहीं आ सकता कि वे लोग इस वाक्य का उच्चारण कर सकें अथवा इसका प्रकृत अर्थ ग्रहण कर सके। जिनका चित्त रागद्वेष के वश में है, उन्हीं के चित्त में साम्प्रदायिक भाव को स्थान मिलता है। महत्तत्व ही रजः तथा तमः गुणद्वय अथवा शक्तिद्वय के उपरागवशात् क्षुद्रधर्म जैसे अज्ञान, वैराग्य तथा अनैश्वर्य का कारण होकर इन्हीं गुणद्वय द्वारा ज्ञानैश्वर्य आदि को आवरित कर लेता है और वह परिच्छिन्न अथवा अपकृष्ट हो जाता है। इसी परिच्छिन्नता और अपकृष्टता के कारण साम्प्रदायिक भाव का आवास स्थल (व्यक्ति में) हो जाता है।

"वेद ही स्वतः प्रमाण है" इस अतीव गम्भीरार्थक शास्त्रोपदेश का मर्म क्या है, इसे साम्प्रदायिक भाव से मलीयस हो गयी बुद्धि द्वारा कदापि नहीं जाना जा सकता। इस देश में साम्प्रदायिक भाव से क्षुण्ण होकर जो लोग वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं और इस स्वतः प्रमाणत्व की स्थापना के लिए जो बद्धपरिकर हैं, मेरा विश्वास है कि उनमें से भी कुछ ही लोग इस बात से शायद ही अवगत हो सके हों कि 'वेद स्वतः प्रमाण है' इसका प्रकृत तात्पर्य क्या है? गड्डलिकाप्रवाह में बहते जाना तथा सत्य की उपलब्धि (Realize) करना सम्पूर्णतः भिन्न बात है। ज्ञान के प्रामाण्य (Authenticity) तथा अप्रमाण्य को लेकर दार्शनिकों में विशेष मतविभिन्नता परिलक्षित होती है। तार्किक मत से ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही सिद्ध भले ही हों, किन्तु ये परतःसिद्ध हैं, इनमें से कोई भी मत स्वतःसिद्ध नहीं है। सांख्यमत से ऐसा नहीं है। उसके अनुसार प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही स्वतःसिद्ध हैं, इनमें से कोई भी परतःसिद्ध (अन्य द्वारा सिद्ध) नहीं है। पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त का मत है कि प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है जबकि अप्रामाण्य परतःसिद्ध होता है।[1]

प्रमाण का भाव है प्रामाण्य तथा अप्रमाण का भाव है अप्रामाण्य। प्रमाण कौन पदार्थ है? प्रमा अथवा प्रमिति—यथार्थज्ञान का (True Knowledge) का जो करण है, साधन है—वही प्रमाण है। प्रमिति अथवा यथार्थज्ञान का लक्षण क्या है? अनधिगत तथाभूत अर्थ के अवधारण को प्रमिति 'यथार्थज्ञान' कहते हैं। जो अधिगत—प्राप्त अथवा ज्ञात नहीं होता वह अनधिगत है। 'जो ठीक है जैसे' तथाभूत इस अर्थ का वाचक है। तथाभूत का अर्थ है प्रकृत अर्थ है जो जिसका, उसका वह अर्थ ही तथाभूत अर्थ। अज्ञात तथाभूत अर्थ का जो अवधारण है 'ज्ञान' वह प्रकाश है, वही है प्रमिति। जिसके द्वारा प्रमिति की उत्पत्ति होती है, जो यथार्थज्ञान का साधन है, वह है प्रमाण। कैसे प्रमिति अथवा यथार्थ ज्ञानोत्पत्ति होती है? अतथाभूत

---

1. "वेदस्य स्वतः प्रामाण्यं चोदनासूत्रे आचार्यैरेव उपपादितम्। तत्र बहुधा विवदन्ते वादिनः। प्रामाण्यम् अप्रामाण्यं च उभयं स्वत इति सांख्याः। उभयं परत इति तार्किकाः। प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं परत इति मीमांसकाः। अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्य परत इति सौगताः"—अथर्ववेदभाष्य, उपोद्घात।

ज्ञान का कारण क्या है? इस प्रश्नद्वय का समाधान प्राप्त करने के लिए पहले यह स्थिर करना होगा कि जानने (The act of knowing) का स्वरूप क्या है? 'जानना' क्रिया विशेष है। क्रिया की निष्पत्ति कारक से होती है। अतएव 'जानने' का स्वरूप स्थिर करने के लिए जो जानते हैं, जो ज्ञाता अथवा ज्ञान क्रिया के कर्ता हैं, जिसे जाना जाता है, जो ज्ञान क्रिया के व्याप्यकर्म हैं तथा जिसके द्वारा जाना जाय, जो ज्ञान क्रिया के साधकतम अथवा करण हैं, इनका तत्व अनुसन्धेय है। पाश्चात्य दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान क्रिया, तो ज्ञातृ एवं ज्ञेय इन दो से निष्पन्न[1] होता है। ज्ञान क्रिया की निष्पत्ति ज्ञातृ तथा ज्ञेय के अधीन है। दार्शनिकों में से अनेक करण को कर्ता कहते हैं। इसी कारण ये लोग ज्ञान क्रिया की निष्पत्ति में करण के क्रियाकारित्व को विशेषतः लक्ष्य नहीं करते। ज्ञेय अथवा विषय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष से चित्त में विषयों का जो प्रतिबिम्ब पतित होता है, हम उसे जानते हैं। अतः प्रात्यक्षिक प्रत्यय की (Cognition) निष्पत्ति में विषय तथा इन्द्रिय का सम्बन्ध तथा उसके द्वारा चित्त में विषय का प्रतिबिम्बपात अवश्य प्रयोजनीय है। वाह्य अर्थ अथवा विषय का इन्द्रियों द्वारा प्रतिबिम्ब ग्रहण (The copying or mirroring in the human consciousness the outer order of things or their existence in space and time), प्रात्यक्षिक ज्ञान निष्पत्ति का आद्य व्यापार है तथा चैतन्य प्रतिबिम्बित चित्छायापन्न अन्तःकरण द्वारा उसका विवेचन है अन्त्यव्यापार। चित्त भी जड़ पदार्थ है। इसलिए एक जड़ अन्य जड़ का प्रकाश कैसे करेगा? चित्त का धर्म है विषयाकार में आकारित हो जाना। चिन्मय पुरुष का प्रतिबिम्ब ग्रहण करके चित्त भी चेतनवत् हो जाता है। स्वच्छ दर्पण में सूर्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने से जैसे वह गृहादि में प्रकाश कर सकता है, उसी प्रकार से स्वच्छचित्त (स्वत्वगुणप्रधान चित्त) में पुरुष अथवा आत्मा का प्रतिबिम्ब पतित होने से वह विषय के प्रतिबिम्ब को प्रकाशित कर देता है। जब चित्त इन्द्रियों के सहयोग से विषयाकार में परिणत होता है, विषय विशिष्ट चित्तवृत्ति पुरुष में प्रतिफलित होती है, इसे ही बोध-प्रमा कहा गया है। बोध अथवा प्रमा चित्तवृत्ति का फल है। इसी कारण चित्तवृत्ति को प्रमाण अर्थात् प्रमा का करण कहते हैं। शुद्ध चैतन्य अथवा पुरुष (आत्मा) प्रमाता है। प्रमा का आश्रय है। चित्तवृत्ति प्रमाण है। अर्थ अथवा विषयाकार चित्तवृत्ति का पुरुष में प्रतिबिम्ब है प्रमा तथा प्रतिबिम्बित चित्तवृत्ति समूह का जो विषय है, वह है प्रमेय।

---

1. Since the human mind must consciously reproduce what actually exists, the act of knowing is conditioned in two ways : (a) Subjectively, by the essence and natural laws of the human mind, especially by those of the human powers of knowledge, (b) Objectively by the nature of what is to be known. —System of Logic By Dr. F.Ueberwrg, Pg. 3

सांख्य तथा पातंजल ने पुरुष के बोध को प्रमा कहा है। इसलिए सांख्यपातंजल मतानुसार चित्तवृत्ति ही प्रमाण है। प्रमाण है कारण। न्यायदर्शन में चित्तवृत्ति स्थानीय व्यवसाय ज्ञान ही (Immediate knowledge or perception) है प्रमा। अतएव इस मत से इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं। सांख्य पातंजल ने अनुव्यवसायस्थानीय (Mediate knoweldge or thought) पौरुष के बोध को प्रमा कहा है। अतएव इस मत से चित्तवृत्ति ही प्रमाण है। सांख्य पातंजलोक्त चित्तवृत्ति रूप प्रमाण न्यायशास्त्र में व्यवसायज्ञान स्थानीय कहा जाता है और यह प्रमा न्यायशास्त्र में अनुव्यवसायज्ञान स्थानीय है।

पाश्चात्य न्यायशास्त्र में Perception और Thought को क्रमशः चित्तवृत्ति (व्यवसायज्ञान) तथा प्रमा (अनुव्यवसायज्ञान का वाचक) कहा गया है।

शास्त्र ने प्रधानतः तीन प्रमाण अंगीकृत किया है—यथा, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश। उपमान, अर्थोत्पत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य इत्यादि प्रमाण के सम्बन्ध में यहाँ कहने का कोई प्रयोजन नहीं है। एक पदार्थ का ज्ञान होने पर अन्य पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वह है अनुमान। व्याप्ति के व्यभिचार के अभाव में (Invariable concomitance, universal accompainment of the middle term by the major) ज्ञान ही अनुमान का कारण है। साक्षात्कृतधर्मा (आप्त) का जो उपदेश है वह है आप्तोपदेश। अनुमान से जिन्होंने निखिल पदार्थ का तत्वज्ञान आयत्त किया है, समस्त वस्तुतत्व जिनको अभ्रान्तरूपेण निश्चित हो चुका है, रागादि से वशीभूत होने पर जो अप्रकृत बातें नहीं करते, भगवान् पतंजलिदेव उन्हें आप्त मानते हैं। वात्स्यायन ऋषि ने भी आप्त का यही लक्षण माना है।[1] सांख्यमत से योग्य शब्दजन्य ज्ञान ही आप्तोपदेश अथवा शब्दाख्य प्रमाण है। भगवान् जैमिनी भी ऐसा कह चुके हैं। प्रत्येक शब्द के साथ तत्बोध्य अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। प्रत्येक शब्द की तत्बोध्य अर्थबोधक स्वाभाविक शक्ति ही 'आप्ति' है। 'इस शब्द का यही अर्थ आप्त है' प्रकृत शब्दार्थज्ञ वृद्ध परम्परा में इस प्रकार से जगत् में शब्दार्थ का व्यवच्छेद होता है।[2]

कार्य होता है कारण गुण से। अतः कारण में दोष होने से कार्य में भी दोष हो जाता है। इन्द्रिय तथा विषय का पारस्परिक सन्निकर्ष है प्रत्यक्ष का कारण। अतः यदि इन्द्रियाँ दूषित न हों, विषय के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष यदि यथानियम घटित हो, चित्त भी यदि मलिन-दूषित संस्कारों से आवृत्त न हो, तब प्रत्यक्ष भी अभ्रान्त होगा। महर्षि कणाद इसी कारण कहते हैं कि इन्द्रिय तथा संस्कार के दोष से मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है।

---

1. ''आप्तोनाभानुभावेन वस्तुतत्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान्। रागादिवशादपि नान्यथावादीयः स इति चरके पतञ्जलि।''—मंजूषा, वात्स्यायन भाष्य भी देखें।
2. ''निजशक्तिर्व्युत्पत्या व्यवच्छिद्यते''—सांख्यदर्शन 5/43

जो ज्ञान व्यभिचारी है, जो ज्ञान ज्ञानविषय में स्थिर नहीं है, वही है मिथ्या ज्ञान। यह ज्ञान कदापि प्रमाण नहीं हो सकता। विपर्यय अथवा मिथ्याज्ञान प्रमाण क्यों नहीं है? योगसूत्र भाष्यकार भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि प्रमाण द्वारा बाधित होने के कारण विपर्यय तथा मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं हैं। प्रमाणज्ञान भूतार्थ विषय है। अर्थात् उसका विषय कदापि बाधित नहीं होता। प्रमाणज्ञान तथा अप्रमाण ज्ञान में विशेषतः यह देखा जाता है अप्रमाण ज्ञान प्रमाणज्ञान से बाधित हो रहा है। एक वस्तु को अन्य रूप से जानना ही विपर्यय है। भ्रम ज्ञान है। प्रथमतः मिथ्याज्ञान का उदय होता है। तदनन्तर यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होती है। तब पूर्वोदित भ्रम ज्ञान बाधित हो जाता है।

प्रमाण ज्ञान तथा अप्रमाण ज्ञान, स्वतन्त्रभाव से अपने-अपने कारण से उत्पन्न होते हैं। सत्यज्ञानोत्पत्ति का कारण क्या है? अथवा मिथ्याज्ञान ही किस कारण से जन्म लेता है? इन्द्रिय दोष तथा संस्कार दोष इसका कारण है। पातंजल दर्शन अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश (स्वाभाविक मरण त्रास), भ्रमरूप अविद्या को इन पाँच भागों में विभक्त करता है। अविद्या ही अस्मितादि का क्षेत्र है। अविद्या कौन पदार्थ है? अनादि मिथ्या संस्कार ही अविद्या शब्द का अर्थ है। अतः कहा जा सकता है कि मिथ्याज्ञान अथवा अविद्या ही अप्रमाण ज्ञान का कारण है—पूर्वभाव है। मिथ्या ज्ञान का नाश होते ही स्वयं ही सत्यज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। कोई असत् को सत् नहीं कह सकता। कह भी नहीं सकता। यदि ज्ञान में अपने विषय का अवधारण करने की स्वाभाविक एवं यथार्थ शक्ति न होती, तब कोई पदार्थ उसे कभी भी ऐसी शक्ति प्रदान नहीं कर सकता था ('नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते'—श्लोक वार्तिक)। इसीलिए पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त दर्शन ज्ञान के स्वतः प्रामाण्यवाद के पक्षपाती हैं। दुष्ट कारण का नाश होने पर सत्यज्ञान का स्वयंप्रकाश होता है। इनका यही उपदेश है।

ज्ञान के स्वतः प्रामाण्यादि के भिन्न-भिन्न मतसमूह का चिन्तन करने से ज्ञात होता है कि सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, सत्कारणवाद तथा असत्कारणवाद, ये ही हैं ज्ञानविषयक स्वतः प्रामाण्यादि मतसमूह के उत्पत्ति स्थान। असत् कभी सत् अथवा सत् कभी असत् नहीं हो सकता। सांख्यदर्शन ने इसी कारण से प्रामाण्य, अप्रामाण्य इन दोनों को स्वतःसिद्ध कहा है। (प्रामाणस्य स्वतस्त्वं नाम कार्यकारणादेव कार्येण सहउत्पत्तिः। ..... स्वतः असताम असाध्यत्वात् उभयं स्वत इति-अथर्ववेद भाष्य)। नैयायिकगण असत्कार्यवादी हैं। अतः वे दोनों को ही परतः सिद्ध बताते हैं।

महर्षि कपिल वेद के स्वतः प्रामाण्यवाद के स्थापनार्थ कहते हैं कि वेद में जो स्वाभाविक अथवा निज यथार्थ ज्ञान—जननशक्ति है, उसकी अभिव्यक्ति होते ही उसका स्वतः प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। केवल आप्तवाक्य होने के कारण इसका

स्वतः प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। ('निजशक्त्याभि व्यक्तः स्वतः प्रामाण्यम्' —सांख्यदर्शन, 5/51)

कार्यकारण से ही (यदि कोई प्रतिबन्धक न हो) कार्य के साथ कार्यशक्ति की उत्पत्ति होती है, इसे मानना ही होगा। वह्निगत दाहकशक्ति की उत्पत्ति वह्नि से ही होती है। अन्य कारण से नहीं होती। अतएव ज्ञान का स्वतः प्रामाण्यवाद ही वास्तविक वाद है। सत्यवाद है।

वेद को जिस कारण से स्वतः प्रमाण कहा है, उसका तनिक आभास मिला। विस्तारपूर्वक इस विषय की आलोचना न करने से, इस अतीव गम्भीर कथन की तात्पर्योपलब्धि नहीं हो सकती। यहाँ वेद के स्वतः प्रामाण्य के विषय में कुछ कहना हमारा मुख्य उद्देश्य कदापि नहीं है। सत्कार्यादि चतुर्विध वाद से जिस ज्ञान की उपलब्धि होती है, उसे समझाना ही हमारा प्रधान मन्तव्य है। ज्ञानोत्पत्ति के सम्बन्ध में शास्त्र से जो मतभेद है और जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो मतभेद है तथा जो मतभेद ज्ञान की उत्पत्ति के विषय में है, वह सब समान कारण जनित है, इससे यह सूचित होगा।

प्रशस्तपाद जगत् की सृष्टि तथा लय के सम्बन्ध में जो-जो कहते हैं, वह सब यदि वेद का सम्वादी है, तब वह सब सत्यरूपेण गृहीत होगा। अन्यथा उसे प्रमाण नहीं कहा जायेगा। वेद ही वास्तव में सत्यासत्य निर्वाचन का मानदण्ड है। वेद अपौरुषेय है, अतएव वेद में शब्दगत गुण-दोष नहीं रह सकता। पुरुष की बुद्धि के कारण वेद की प्रकृत अर्थोपलब्धि न होने से ही अप्रमाणज्ञान का जन्म होता है।

हमारा विश्वास है कि प्रशस्तपाद ने वेद के उपदेश को शिरोधार्य किया था। अब यह देखना है कि क्रमविकासवाद के साथ किस-किस विषय में जीव के जन्म सम्बन्धित शास्त्रीय उपदेश के साथ एकता नहीं है। जीव प्रलयकाल में स्व-स्व कर्मसंस्कार अथवा अदृष्ट के साथ विद्यमान रहते हैं, तथापि सृष्टि के समय पूर्वकर्मानुरूप शरीर ग्रहण करते हैं। परन्तु क्रमविकासवादी इससे सहमत नहीं हैं। वैषयिक सृष्टिवाद (Special Creation) क्रमविकासवाद का विरोधी है। वैशेषिक सृष्टिवाद का क्रमविकासवादी क्या अर्थ ग्रहण करते हैं? तथा ये लोग किस युक्ति से वैशेषिक सृष्टिवाद का खण्डन करते हैं?

वैशेषिक सृष्टिवाद का अनुमान है कि पृथ्वी में प्रत्येक अवान्तर जीवजाति पृथक्-पृथक् उत्पन्न होती है अथवा विशेष-विशेष जीवजाति से प्राकृतिक नियमानुसार जन्म लेती है। कुत्ते से कुत्ता उत्पन्न होता है। मनुष्य से मनुष्य का जन्म होता है। एक जातीय जीव ने अन्य जातीय जीव से विकास प्राप्त किया है, इसे वैशेषिक सृष्टिवाद स्वीकृति नहीं देता।

विद्वान् पण्डित स्पेन्सर अपने ग्रन्थ 'जीवविज्ञान' में यह प्रतिपादित करते हैं कि वैशेषिक सृष्टिवाद युक्तिविरुद्ध तथा असभ्योचित है। स्पेन्सर कहते हैं कि कोई

भी वेदज्ञ (Well Informed) व्यक्ति यह प्रश्न पूछने पर स्वयं को अपमानित अनुभव करता है कि क्या 'आप भारतवर्षीय लोगों के अथवा ग्रीक एवं हिब्रूगण के सृष्टिविषयक सिद्धान्त को अंगीकार करते हैं?'[1]

वैशेषिक सृष्टि को कभी किसी ने प्रत्यक्ष नहीं किया है, वैशेषिक सृष्टि का किसी ने कोई प्रत्यक्ष प्रमाण (Proof of an indirect kind) भी प्राप्त नहीं किया है। जब किसी अपूर्व जीवदेह की सृष्टि होती है, तब उसे शून्य से सृष्ट (Out of nothing) मानते हैं। क्या वैशेषिक सृष्टिवाद का यही अनुमान है? यदि ऐसा है तब भूत अथवा Matter की सृष्टि धारणा नहीं की जा सकती। (Creation of matter is inconceivable) 'Matter' की सृष्टि हुई है यह कथा विचार करने पर सत् अथवा विद्यमान के साथ असत् किंवा अविद्यमान का सम्बन्ध स्थापित करना होता है। सत् या विद्यमान के साथ असत् एवं अविद्यमान का सम्बन्ध नहीं हो सकता।[2] यदि यह अनुमान करें कि अपूर्व शरीरसमूह भौतिक पदार्थ अथवा उपादान से सृष्ट हुआ है, तब वह उसी सत्काल में सृष्ट नहीं हुआ है। पहले से ही अवस्थान्तर में विद्यमान परमाणुसमूह से विशेष-विशेष शरीरों का निर्माण होता है, तब विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि इस पर यह प्रश्न होगा कि एक प्रकार से सन्निवेशित परमाणुपुंज का किस प्रकार से पुनः अन्य भाव में सन्निवेश संघटित हुआ? असंख्य परमाणुओं से एक शरीर गठित होता है। ये सभी पूर्व में समीपवर्ती वायु तथा पृथ्वी से इतस्ततः विक्षिप्त से रहते हैं। ये विक्षिप्त घूमते परमाणुपुंज अकस्मात् पहले के संग को छोड़कर अन्य के साथ सम्मिलित होने के लिए दौड़ पड़ते हैं, उसके साथ यथा प्रयोजन रासायनिक संयोग से संयुक्त होते हैं तथा परस्परतः यथास्थान सन्निवेशित होकर भिन्न-भिन्न शरीरयन्त्र का निर्माण करते हैं, क्या वैशेषिक सृष्टिवाद का यही अभिप्राय है? क्या वैशेषिक सृष्टिवादी लोगों ने ऐसी युक्ति की शरण लेकर अपने मत की स्थापना की है? ऐसी युक्ति की सहायता लेने से इष्टसिद्धि नहीं होती। इस मत का सहारा लेने पर यह होगा कि जितनी संख्या में भिन्न-भिन्न परमाणु हैं, उनमें प्रत्येक की असंख्य विभिन्न दिक्वृत्ति का तथा विभिन्न परिणाम का अलौकिक प्रवर्तन किया गया है, ऐसी कल्पना करना होगा। किन्तु ऐसी कल्पनाओं से रहस्य का उद्घाटन अथवा रहस्यभेद नहीं होता, बल्कि गहनता तथा दुर्ज्ञेयत्व और बढ़ता रहेगा। क्योंकि प्रत्येक का जब यथोक्त

---

1. "Ask any well informed man whether he accepts the cosmology of the Indians or the Greeks or the Hebrews, and he will regard the question as next to insult."—The Principles of Biology, Vol I, Pg 419
2. The Principles of Biology, p. 420

प्रवर्तन (Impulse) देशविशेष में होना रूपान्तर में विद्यमान एक शक्ति का काम नहीं है, तब इससे यह सूचित होता है कि शक्ति भी सृष्ट पदार्थ है।

अब यह भी धारणा नहीं की जा सकती कि भूत की सृष्टि जैसे अविज्ञेय है, वैसे ही शक्ति की सृष्टि भी ज्ञान का विषय नहीं है। अतएव वैशेषिक सृष्टिवाद की किसी भी प्रकार से उपपत्ति नहीं होती। जो इस सिद्धान्त को मानते हैं कि प्रत्येक जीवजाति का शरीर ईश्वर के अधिष्ठातृत्व अथवा दैव माध्यस्थ (Divine Interpretation) से निर्मित है, वे व्यवहृत शब्द के अर्थों की यथोचित भावना नहीं करते हैं। जो ऐसा कहते हैं, उन्हें अपने कथन में ही विश्वास नहीं है। तब भी वे कहते हैं कि 'मैं विश्वास करता हूँ।' क्योंकि नियम है कि जिस विषय की उपलब्धि नहीं होती, जिसे बुद्धि का विषयभूत नहीं किया जा सकता, उस विषय में विश्वास-स्थापना कभी भी सम्भव नहीं है, विश्वास सदैव विश्वस्त पदार्थ के अनुभव से उत्पन्न होता है। 'विशेष-विशेष जीवजाति का शरीर दैव माध्यस्थ से निर्मित है' यह विश्वास अनुभवमूलक है ही नहीं।[1]

अब विद्वान् स्पेन्सर यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि 'ईश्वर विशेष-विशेष जीवजाति की सृष्टि करते हैं' इस मत के प्रतिष्ठित होने से ईश्वर की सर्वतोमुखी प्रभुता बाधित होती है। ईश्वर पर निष्ठुरता आदि का दोष प्रतिपन्न हो जाता है। यह स्पेन्सर ने प्रदर्शित किया है। संसार जीवन संग्राम का क्षेत्र है। यहाँ यह देखा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक का अभिभव करते हुए अपने-अपने सुख की व्यवस्था में सदा व्यस्त है। यह परस्पर को, एक-दूसरे को, अभिभव करने की चेष्टा आज की स्थिति नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि जब से यहाँ मनुष्य का निवास है, तभी से यह पृथ्वी रणभूमि बनी हुई हो, बल्कि प्राचीन जीवजाति का इतिहास (Palaeontology) कहता है कि यह सार्वभौम हत्याकाण्ड पृथ्वी पर बहुत पहले से चला आ रहा है। भूगर्भ की खुदाई से मिले अन्य जीवों का संहार करने में उपयोगी आयुध (Weapons) इसके प्रमाण हैं। जो भी हो, अतीत काल से ही बलवान दुर्बल का अभिभव करके जीता चला आ रहा है। इसका प्रचुर प्रमाण मिलता है। अब प्रश्न उठता है कि समस्त जीवजाति क्यों इस पारस्परिक हत्याकाण्ड में लगी है, इसका कारण क्या है? जीवों की ऐसी सृष्टि की गयी है कि उनमें एक-दूसरे का वध करना अनिवार्य है, इसका कारण क्या है? प्राय: प्रत्येक जीवजाति प्रतिवर्ष जिस परिमाण में सन्तान उत्पन्न करती है, उनमें से अधिकांश ही उम्र प्राप्त

---

1. "Those who entertain the proposition that kind of organism results from a divine interposition they do so because they refrain from translating words into thoughts, they do not really believe, but rather believe they believe." —The Principles of Biology, Vol I, Pg.421

होने से पहले ही कुपोषण, रोग अथवा प्रमाथ के चलते मृत हो जाते हैं, इसका क्या कारण है?

वैशेषिक सृष्टिवादियों का इसके उत्तर में कहना है कि ईश्वर ने जानबूझकर ऐसा नियम बनाया है अथवा उनमें यह शक्ति नहीं है कि इस विपर्यय का प्रतिषेध कर सकें। हे वैशेषिक सृष्टिवादीगण! आपको इन दोनों में से कौन-सा उत्तर मान्य है? ईश्वर की निर्मल प्रकृति को निर्दयता-दोष से दूषित करना अथवा उनके ईश्वरत्व अथवा सर्वशक्तिमतत्व को संकुचित करना।[1] विद्वान् स्पेन्सर इसके अनन्तर परिपिण्डाद् (परांगपृष्ट—Parasites) जीवसमूह की ओर दृष्टि प्रक्षेपण द्वारा वैशेषिक सृष्टिवाद की अनुपपत्ति का प्रदर्शन करते हैं। ईश्वर की कर्तृत्वसिद्धि में व्याघात प्रदर्शित करते हैं। ईश्वर ने जो इन अनगिनत जीवन का नाश करने वाले क्षुद्र, बृहद् परांगपृष्ट (Parasites) का सृजन किया है, उसका उद्देश्य क्या है? समस्त जीव जगत् के करीब बराबर ये हैं। क्या ईश्वर ने मनुष्य तथा जीवों को दुःख देने के लिए इनकी सृष्टि की है।[2] विद्वान् स्पेन्सर वैशेषिक सृष्टिवाद के जो सब दोष प्रदर्शित करते हैं, उन्हें संक्षेप में यहाँ विवेचित किया गया। अब वेदादि शास्त्रसमूह का वैशेषिक सृष्टि सम्बन्ध में क्या मत है, यह सुना जायेगा। यह भी देखना है कि पण्डित स्पेन्सर ने वैशेषिक सृष्टिवाद के प्रत्याख्यान के लिए जिस अनुपपत्ति का प्रदर्शन किया है, उनसे शास्त्र सिद्धान्त विचलित होता है, अथवा नहीं। यह भी देखना है कि क्या विद्वान् स्पेन्सर के युक्तिरूपी तीर, सत्यरूपी कवच से रक्षित शास्त्र के शरीर का भेदन करने में समर्थ होंगे? यह भी देखना है। पण्डित स्पेन्सर के युक्तिरूपी सारसमूह अन्यान्य देशों के अदृढ़, सुयुक्तिरूप प्राकार परिखा द्वारा सम्यक् रूप से अपरिवेष्ठित वैशेषिक सृष्टिवाद का दुर्ग भेद करने पर भी, मेरा यह विश्वास है कि सत्यगुप्ति द्वारा दृढ़ता से संरक्षित वेदादि शास्त्रोपदिष्ट वैशेषिक सृष्टिवाद के अंग को उनके युक्तिरूपी तीर स्पर्श भी नहीं कर सकते। शास्त्रीय सिद्धान्त समूह चिरकालपर्यन्त सुदृढ़ रूप से हिमालय के समान अचलभाव से स्थित रहेंगे। सत्य की जय अवश्यम्भावी है।

---

1. "How happens it that animals were so designed as to render this bloodshed necessary? How happens it that in almost every species the number of individuals annualy born is such that the majority die of starvation or by violence before arriving at maturity? ... Which alternative does he prefer? To cast an empulation on the divine character or to assert a limitation of the divine power?" —The Principles of Biology, Pg. 426
2. "Shall we say that those degraded creatures incapable of thought or enjoyment were created that they might cause human misery." —The Principles of Biology, Vol I, Pg. 429

पहले ऋग्वेद के मुख से विश्व की सृष्टि अथवा जीव के जन्म सम्बन्ध में जिन उपदेशों को सुना है, वेदमूलक दर्शनशास्त्रों ने विश्व की सृष्टि तथा लय के सम्बन्ध में जिन उपदेशों को दिया है, उसमें वैशेषिक सृष्टिवाद शास्त्रों द्वारा अनुमोदित है। किन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि वेदादि शास्त्रों ने वैशेषिक सृष्टिवाद का अभ्युपगम किया है, उन्होंने वैशेषिक सृष्टिवाद का आदर भी किया है। यद्यपि विद्वान् स्पेन्सर गम्भीर, चिन्तनशील तथा बहुश्रुत हैं, तथापि वे वैशेषिक सृष्टिवाद का यथार्थरूप नहीं देख सके। यदि वे इस वाद का यथार्थरूप देख सकने में सफल होते, उस स्थिति में उन्हें यह हृदयंगम हो जाता कि जिस क्रमविकासवाद के वे प्रतिष्ठाप्रार्थी हैं, वह क्रमविकासवाद कितना विकलांग है! तब उन्हें यह संकट न पड़ता कि सत् अथवा विद्यमान के साथ असत् अथवा अविद्यमान का भाव के साथ अभाव का सम्बन्ध कैसे किया जाये? सत्कार्यवादियों ने जिन युक्तियों से सत्कार्यवाद की स्थापना की है, विद्वान् स्पेन्सर ने वैशेषिक सृष्टिवाद का प्रत्याख्यान करने में उन्हीं सब युक्तियों की सहायता ली है, यह तो कहना ही होगा!

वेद तथा तन्मूलक शास्त्र ने यह कहीं स्वीकार नहीं किया है कि परमेश्वर ने शून्य से सृष्टि की है। वेद का कथन है कि विश्वतो चक्षु, विश्वतो मुख, विश्वतो बाहु, विश्वतस्पात् विश्वकर्मा परमेश्वर ने एकाकी अनन्यसहाय होकर धर्माधर्मबाहु द्वारा तथा अनित्य पतनशील पंचभूत से अथवा गतिशील परमाणुओं से विश्वसृष्टि की है। न्यायवैशेषिक ने इसी वेदोपदेश की व्याख्या की है। "जैसे कुम्हार मिट्टी से घट बनाता है, वैसे ही ईश्वर ने मिट्टी से विशेष-विशेष जीवसमूह का गठन किया है," प्राचीन हिब्रू जाति का यह अनुमान भी शास्त्रानुमोदित नहीं है। यदि विद्वान स्पेन्सर को यह ज्ञात होता, तब वे शास्त्रीय सृष्टिवाद को हिब्रूगण के सृष्टिवाद के समान अकिंचित्कर मानकर निश्चिन्त अथवा सुखी न हो जाते। सृष्टि के पूर्व जगत् असत नहीं था, यह नासदीय सूत्र में पहले कहा जा चुका है। प्रलयावस्था में जगत् परब्रह्म में नामरूप विनिर्मुक्त होकर अव्यक्त अवस्था में विद्यमान था। अतएव शून्य से सृष्टि हुई है, यह कथन वेद के विरुद्ध है। अब नासदीय सूत्र का यह कथन है कि प्रलयकाल में जगत्, सत्, विद्यमान नहीं था। (ना सदासीत्) इसका तात्पर्य यह है कि तब जगत् व्यक्त परिदृश्यमान स्थिति में नहीं था। अतएव यह स्पष्ट है कि वेद ने कदापि यह नहीं कहा कि प्रलयकाल में दृश्यमान पशु, पक्षी, कीट, पतंग-मनुष्य प्रभृति वस्त्र के पर्दे के पीछे ढँके थे, तदनन्तर सृष्टि के समय आवरण हटाकर एक साथ पर्दे के पीछे से जीवसमूह को बाहर कर दिया। ऋग्वेद ने बताया है कि प्रलयकाल में पृथिव्यादि चतुर्दश भुवन, आकाशादि भूतसमूह कुछ भी विद्यमान नहीं था।

विद्वान् स्पेन्सर दृश्यमान पृथ्वी तथा आकाश (तारोंभरा अन्तरिक्ष) के अतिरिक्त क्या अन्य किसी लोक के अस्तित्व को मानते हैं? क्या पृथ्वी के अतिरिक्त

अन्य लोक के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं? क्या विद्वान् स्पेन्सर यह मानने को प्रस्तुत हैं कि पृथ्वी के अतिरिक्त भी अन्य लोकों का अस्तित्व है जहाँ जीव निवास करते हैं? निश्चय ही सबका उत्तर नकारात्मक होगा। क्योंकि दूरबीन से जो प्रतिपन्न नहीं है, उसे मानने में वैज्ञानिकों को अपना अपमान प्रतीत होता है। विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि विश्वास से जिसकी भावना नहीं की जा सकती, जिसे हृदय में धारण करना असम्भव है, उसका, उस पर विंश्वास करना वास्तविक विश्वास नहीं कहा जायेगा। हम इनसे सविनय जिज्ञासा करते हैं कि जो तर्क विचारमूलक है, उसे हम जानते हैं। जो आप्तोपदेशमूलक है, उस पर भी हम विश्वास करते हैं। परन्तु तनिक विचार द्वारा प्रतीति होगी कि आप्तोपदेश ही ज्ञान की मूल प्रसूति है। क्योंकि तर्क विचार भी मूलतः आप्तोपदेश का आश्रय लेकर होता है। तर्कविचार का आलम्बन तर्क-विचार नहीं हो सकता। विश्वास सतत ज्ञान का पूर्ववर्ती है। यह ज्ञान की आद्यावस्था है। "जो अभी स्वयं को ज्ञान विज्ञानवान् मानकर अभिमान कर रहे हैं, जो आप्तोपदेश को प्रमाण नहीं मानते, श्रद्धा तथा विश्वासरहित होने पर उन्हें भी निरक्षर ही रहना होता।" क्या दार्शनिक है मिल्टन का यह कथन बर्बरोचित है?[1] शुक्लयजुर्वेद संहिता में कहा है कि व्रत तथा कर्म से दीक्षा मिलती है। योग्यता का विकास होता है, कृतकर्म की फलप्राप्ति होती है। श्रद्धा की उत्पत्ति होती है, जिससे सत्य प्राप्त होता है। श्रद्धा के अभाव में ज्ञानोदय नहीं होता। छान्दोग्य श्रुति में कहा है कि मनन के बिना विज्ञानोत्पत्ति नहीं होती, मनन के अभाव में किसी विषय का ज्ञान नहीं मिलता। मनन के अभाव में ज्ञान न मिलने की बात सत्य तो है, किन्तु मनन भी श्रद्धा के बिना नहीं हो सकता। श्रद्धा के अभाव में आस्तिक्य बुद्धि का उदय न होने पर कोई कभी भी मनन करने में प्रवृत्त नहीं होता। श्रद्धा कैसे उत्पन्न होती है? निष्ठा ही श्रद्धा का कारण है। निष्ठा का क्या निदान है? निष्ठा की उत्पत्ति कैसे होती है? कृति, इन्द्रियसंयम, चित्त की एकाग्रता ही निष्ठा का निदान है। कृति का निदान क्या है? सुखप्राप्ति ही कृति का निदान है। सुख न मिलने से कोई स्वेच्छा से कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। सुखप्राप्ति ही कर्मप्रवृत्ति का हेतु है। कृति होने से निष्ठा की स्वयं अभिव्यक्ति होती है। निष्ठा का जन्म होने से ही श्रद्धा का आविर्भाव होता है तथा श्रद्धा का आविर्भाव होने से सत्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है। उसके जानने के लिए पृथक् यत्न नहीं करना पड़ता।

---

1. "We know what rests on reason, but believe what rests on authority. But reason itself must at last rest on authority for the original data of reason do not rest on reason, but are necessarily accepted by reason on the authority of what is beyond itself."
—Reids Work, Pg. 700

प्रश्न उत्थित होता है कि पहले श्रद्धा होती है, तत्पश्चात् ज्ञान होता है अथवा पहले ज्ञान तब श्रद्धा? न जानने से श्रद्धा कैसे होगी? श्रद्धा न जन्मने से कर्म में प्रवृत्ति कैसे? जानने की इच्छा क्यों होगी? श्रद्धा शब्द की व्युत्पत्ति से इन प्रश्नों की मीमांसा हो जाती है। 'श्रत' शब्द 'सत्य' अर्थ का वाचक है। जो सत्य का आश्रय करता है, सत्य जिसका आलम्बन है, जो सत्य के अतिरिक्त कहीं अवस्थान न करे, वह है श्रद्धा। यही श्रद्धा का व्युत्पत्तिक अर्थ है। जिसे जो सत्य मानते हैं, उसके प्रति उनकी श्रद्धा का जन्म होता है। जो अनृत या मिथ्यारूप विनिश्चित होता है, कोई भी उसमें श्रद्धावान् नहीं होता। सत्य क्या है? आत्मा ही परमार्थतः सत्य पदार्थ है, अतः जिसकी आत्मा है, उसमें ही श्रद्धा है। किसे आत्मा नहीं है? सभी को आत्मा है। सर्वव्यापक आत्म का अवाप्ति स्थल कहाँ है? आत्मा सर्वव्यापक है, तथापि इसका विकास सर्वत्र पूर्णभाव से नहीं है। उपाधि की शुद्धि-अशुद्धि के अनुसार आत्मा के विकास का तारतम्य होता है। अतएव उपाधि की शुद्धि तथा अशुद्धि के अनुसार श्रद्धा का तारतम्य होगा, यह सुखबोध्य है। 'मैं हूँ' यह विश्वास स्वाभाविक है, सहज है। जिसका अहंज्ञान जिस परिमाण में प्रसारित होता है, उसकी श्रद्धा भी उसी मात्रा में प्रसारित होती है। जिसकी आत्मा अथवा आत्मा के प्रतिबिम्ब से युक्त चित्त जिस पदार्थ को ग्रहण नहीं कर पाता, उस पदार्थ में उसकी श्रद्धा नहीं होती।

सत्व अथवा चित्त, रजः तथा तमः गुण से संकुचित हो जाने के कारण आत्मा का प्रतिबिम्ब पूर्णरूप से ग्रहण कर सकने में असमर्थ हो जाता है और इसलिए उस प्रकार के चित्त वाले पुरुष का स्थूलप्रत्यक्षगम्य पदार्थ के अतिरिक्त किसी सूक्ष्म पदार्थ के अस्तित्व में विश्वास उत्पन्न ही नहीं होता। जो जिस भाव से भावित होता है, वह उसी भाव को जान लेता है। (To know is to become) अतएव उनकी श्रद्धा उसी भाव में रहती है। अतः बिना श्रद्धा ज्ञान नहीं होता, यह बात भी सत्य है और बिना जाने श्रद्धा नहीं होती, यह भी झूठ नहीं है। यदि मध्याकर्षण, ताड़ित शक्ति, एक्स-रे (X-Rays) इत्यादि पदार्थों के अस्तित्व में श्रद्धा न जन्म लेती, विशिष्ट प्रतिभा में इनका अस्तित्व सूक्ष्म रूप से प्रतिबिम्बित नहीं होता, तब इन सबके आविष्कारार्थ न्यूटन, फैंकलीन, फैराडे आदि वैज्ञानिक इतना परिश्रम क्यों करते? श्रद्धा भी प्रकृति भेद से भिन्न-भिन्न होती है। प्रतिभा विशेष से श्रद्धा का वैशिष्ट्य होता है। वेद ने जो कुछ कहा है, संकीर्ण दृष्टिकोण से अप्राकृतिक, असम्भव तथा असभ्योचित कल्पना का विजृम्भण प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वह ऐसा नहीं है। पहले विवेचित हो चुका है कि आप्तोपदेश ही श्रेष्ठ प्रमाण है। आप्तोपदेश, शब्द, वेद के समानार्थक है।

साक्षात् कृतधर्मा पुरुष का जो उपदेश है, वही है आप्तोपदेश। अतएव सत्यज्ञान मात्र ही है आप्तोपदेशमूलक। वह कभी भी मिथ्या नहीं हो सकता।

हैमिल्टन की यह उक्ति अत्यन्त सारपूर्ण है कि तर्कविचार मूलतः आप्तोपदेश का ही आश्रय लेकर स्थित है। 'पृथ्वीलोक के अतिरिक्त कोई लोकान्तर नहीं है', इस वाक्य का यह अर्थ है कि जिसे मैं जान नहीं सकता, जो हमारे यौक्तिक सीमा के बहिर्भूत है, उसके अस्तित्व को मैं नहीं मानता। वह मेरे समक्ष असद्रूप है। इसी कारण वेद ने श्रद्धाविहीन को वेद सुनाने से मना किया है।

विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि भूत अथवा मैटर की सृष्टि अविज्ञेय है। इसकी धारणा करना असाध्य है। वेद का कथन है कि प्रलयावस्था में आकाशादि भूतसमूह भी विद्यमान नहीं थे। वेद ने परमाणु को सृष्टि पदार्थ माना है। पंचभूतों का उत्पत्तितत्व भी वेद में व्याख्यात है। आधुनिक वैज्ञानिकों में से कुछ यह मत मानते हैं कि परमाणु ही सृष्टि पदार्थ है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव वेदादिशास्त्र जिस अर्थ में सृष्टि शब्द का व्यवहार करते हैं, उसे याद रखना उचित है। पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर जब शक्ति को ही अखिल दृश्यमान पदार्थ का मूलतत्व कहते हैं, तब मैटर को सृष्टि पदार्थ (यहाँ सृष्टि शब्द का शास्त्रोक्त अर्थ लेना होगा) कहने से विद्वान् स्पेन्सर असहमत क्यों?

वेदोपदेश है कि भोग्यप्रपंच की तरह भोक्तृप्रपंच भी अर्थात् जीव वृन्द भी प्रलयकाल में विद्यमान नहीं थे। इसका तात्पर्य यह है कि प्रलयावस्था में जीवसमूह सूक्ष्मभाव से अव्यक्तावस्था में विद्यमान थे। जिसकी क्रिया तथा गुण का व्यपदेश नहीं होता, वह असत् है। वेद ने यहाँ असत् शब्द के इसी अर्थ का व्यवहार किया है।

वैशेषिक सृष्टि को कभी किसी ने प्रत्यक्ष नहीं किया है। वैशेषिक सृष्टि का परोक्ष प्रमाण भी कभी प्राप्त नहीं हुआ—विद्वान् स्पेन्सर के इन सब कथन का अभिप्राय क्या है, वह समझ में नहीं आ रहा है। कुत्ते से कुत्ता, वानर से वानर तथा मनुष्य से मनुष्य जन्म ग्रहण करते हैं। यह भी हम साधारण ज्ञान से जानते हैं। वानर से मनुष्य का जन्म होते क्या किसी ने देखा है? प्रकृति तत्वानुसन्धायी कहते हैं कि कुत्ता जाति ने व्याघ्र जाति से अवतरण किया है। इसी प्रकार शृगाल ने सरीसृप (Reptiles) से अवतरण किया है। क्या क्रमविकासवादीगण ने व्याघ्र से कुत्ता अथवा सरीसृप से शृगाल अथवा पक्षी को अवतरित होते देखा है? इसके उत्तर में वे यह कह सकते हैं कि एक जाति से अन्य जाति में जो परिणति होती है, वह क्रमशः होती है। नियम का अतिक्रमण करके नहीं होती। इसलिए वानर से मनुष्य का अवतरण प्रत्यक्ष प्रमाण से कैसे सिद्ध होगा? तब वैशेषिक सृष्टिवादीगण क्या यह नहीं कहेंगे कि सृष्ट पदार्थ कैसे अपनी सृष्टि का प्रत्यक्ष करेगा? क्या सृष्ट मनुष्य आद्य वैशेषिक सृष्टि का प्रत्यक्ष कर सकेगा, जो उसके जन्म से हजारों-लाखों वर्ष पूर्व हुई थी? क्या वैशेषिक सृष्टिवादी, क्या क्रमविकासवादी, दोनों के लिए अनुमान (Hypothesis) ही एकमात्र आलम्बन है?

जीवतत्वज्ञ अध्यापक क्लास (Dr. C. Claus), जात्यतर परिणाम को, एकजातीय जीव से क्रमविकास के नियमानुसार अन्य जीव के अवतरणवाद (The theory of Descent) को अनुमानमूलक ही बोल गये हैं, इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता।

"एक भाव में सन्निवेशित परमाणुपुंज का किस प्रकार पुनः अन्यभाव में सन्निवेश संघटित हुआ"—"भूत की सृष्टि जैसे अविज्ञेय है, शक्ति की सृष्टि भी वैसे ही ज्ञान का अविषय है। विद्वान् स्पेन्सर के द्वारा गठित इस प्रकार के आक्षेपों का परिहार करना शास्त्र द्वारा कदापि दुःसाध्य नहीं है।

शास्त्र कहते हैं कि कर्म विचित्रता ही सृष्टि विचित्रता का हेतु है। कर्मसमूह सूक्ष्मावस्था में जाते हैं, किन्तु उनका नाश नहीं होता। वे संस्काररूप से अथवा अदृष्ट के रूप से विद्यमान रह जाते हैं। सांख्य ने कर्म के आकर्षण को सृष्टि का कारणान्तर कहा है। "प्राणिगण द्वारा पिछले कल्पों में किये गये अन्तःकरण में समवेत कर्म भावी प्रपंच के बीज हैं। कर्म संस्कार (कर्मवासना) जब फलोन्मुख होता है। तब सर्व कर्मफल देने वाले, सर्वसाक्षी कर्माध्यक्ष परमेश्वर में तभी सृष्टि की इच्छा होती है।" अतः यह वेद का उपदेश है कि पूर्व कर्मवशात् ही यह सृष्टि वैचित्र्य होता है। "शब्द ब्रह्म में एकत्व की अविरोधिनी, परस्परतः भिन्न आत्मभूता शक्ति विद्यमान है।" यहाँ शक्ति शब्द कारणात्मभूत संस्कारवती माया अथवा कर्म का वाचक है। विज्ञान ने भौतिक शक्ति समूह के इतरेतर सम्बन्ध तथा अन्योन्याश्रय वृत्तिकत्व को अब प्रत्यक्ष किया है। क्रियाशील अथवा प्रवृत्ति शक्ति (Energy of Motion) की संस्काररूप में सूक्ष्मावस्था में अवस्थानयोग्यता है, इसे स्वीकार न करने से प्राकृतिक परिणाम तथा उसके नानाविधत्व की उपपत्ति नहीं होती। अणु सम्मूर्च्छन में अणुसमूह द्वारा घनीभाव धारण का आपेक्षिक नित्यत्व, रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया, स्फटिक विपरिणाम, उद्भिद् तथा जैव शरीर की उत्पत्ति, ये सभी हैं क्रियाशील शक्तिरूप में उन अवस्थाओं में अवस्थान योग्यतापेक्ष। विद्वान् स्टैलो की इन सब बातों का तात्पर्य विचार करने से प्रतीति होती है कि अदृष्ट अथवा पूर्व संस्कार ही परमाणुसमूह को यथा प्रयोजन भिन्न-भिन्न रूप से सन्निवेशित करता है। विद्वान् स्टैलो इससे सहमत हैं।

रासायनिक पण्डित कुक (Cooke) ने हाईड्रोजन, ऑक्सीजन प्रभृति को मूलभूत नहीं कहा है। इनके अनुसार परमाणुसमूह ईश्वर की इच्छाशक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में सन्निवेशित तथा नियामित होते हैं। ये स्वतन्त्र नहीं है। परमेश्वर की इच्छाशक्ति ही प्रकृति है और अनादि कर्मसंस्कारवती माया तथा प्रकृति एक ही पदार्थ है।

विद्वान् स्पेन्सर का कथन है कि "जितनी संख्या के भिन्न-भिन्न परमाणु हैं, उनमें से प्रत्येक को असंख्य विभिन्न दिक्वृत्तिक तथा विभिन्न परिमाण में अलौकिक प्रवर्तन विशिष्ट किया गया है, यह कल्पना करनी होगी।"

क्रमविकासवादियों का अभ्युपगम करने से क्या इन सभी अनुपपत्तिसमूह से छुटकारा प्राप्त हो सकेगा? "सामान्यभाव का अस्थायित्व (Instability of Homogenous) तथा आगन्तुक अथवा नैमित्तिक शक्ति के क्रियासमूह का गुणन (Multiplication of the effects), इन नियमों से अविशेष अवस्था से विविध विचित्र जगत् का परिणाम हो रहा है तथा हो चुका है।" जो ऐसे सिद्धान्त के स्थापनार्थ प्रयत्नरत हैं, जो स्पष्ट स्वर में पूर्व कर्म अथवा धर्माधर्म को अथवा ईश्वर के अधिष्ठातृत्व को नहीं मानते, जो विचित्र विश्व के जन्मादि षड्विकारों के रहस्य का भेदन करने के लिए सचेष्ट हैं, क्या ऐसे वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक परमाणुओं की सर्वप्रकार परिणामसाधन की योग्यता मानने से विमुख हो सकते हैं? जिन कई आपत्ति को प्रस्तुत करके विद्वान् स्पेन्सर ने वैशेषिक सृष्टिवाद के प्रत्याख्यान का प्रयत्न किया है, क्या क्रमविकासवाद उन आपत्तियों से रहित है?

गति तथा कर्म (Motion) तथा भूत एवं भौतिक पदार्थ का अविराम विभाग तथा सम्प्रविभाग (Distribution and Redistribution) होता रहता है। इनमें जो अविराम विभाग तथा सम्प्रविभाग हो रहा है, उसके कारण उत्तरोत्तर उन्नत जीवों का प्रादुर्भाव हो रहा है, आकर्षण तथा विप्रकर्षण (Attraction and Repulsion) रूपी शक्तिद्वय की क्रिया के कारण क्षुद्र, बृहत् सभी प्रकार का जागतिक परिणाम लयताल से (नियम से) निष्पन्न हो रहा है। विद्वान् स्पेन्सर ने क्रमविकास के स्वरूप-निरूपण करते समय जो-जो कहा है, यही है उसका निगलित अर्थ। यही है स्पेन्सर द्वारा व्याख्यात क्रमविकासवाद का साधारण सूत्र।

आकर्षण तथा विप्रकर्षण, ये परस्परतः विरुद्ध कर्म हैं। एकरूप तथा एकजातीय शक्ति से कभी भी परस्परतः विरुद्ध दो कर्म नहीं हो सकते। यहाँ जिज्ञासा होती है कि प्रत्येक परमाणु आकर्षण-विकर्षणात्मक है। प्रत्येक परमाणु में यह शक्ति समभाव से विद्यमान है अथवा कोई परमाणु आकर्षण धर्मयुक्त है, कोई परमाणु विप्रकर्षण शक्तियुक्त है?

विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि ये दोनों शक्ति सार्वभौमभाव से विश्वतः अन्योन्यामिथुनवृत्तिक सहवर्त्ती (Universally Co-existent) हैं। इन द्विविध शक्ति के तारतम्य में गति का दिक् (The direction of motion) परिवर्तित हो जाता है। गति का भेद होता है। आकर्षणात्मक तथा विप्रकर्षणात्मक ये शक्तियाँ ही वास्तव में सर्वत्र क्रिया करती हैं। तब भी प्रायः एकजातीय शक्ति इतनी प्रबलता से क्रिया करती है कि उसकी प्रबलता के कारण अन्य जातीय शक्ति का क्रियाफल समझ में ही नहीं आता। अतएव जो कुछ भी हो, गति अथवा कर्ममात्र ही आकर्षण-विकर्षणरूपी द्विविध शक्तियों की अन्योन्याभिभव चेष्टा का फल है।

ये दोनों शक्तियाँ सार्वभौमभावेन अन्योन्यमिथुनवृत्तिक, सहवर्ती हैं। ये कभी भी परस्परतः वियुक्त नहीं होतीं। यह पता चल गया कि गति तथा कर्ममात्र ही

अन्योन्यमिथुनवृत्तिक इन दोनों शक्तियों की अन्योन्यभावित्व चेष्टा का फल है, किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि एक ही परमाणु देश तथा कालभेद से आकर्षणधर्मी तथा विप्रकर्षणधर्मी होता है अथवा कतिपय आकर्षणधर्मी तथा कतिपय विप्रकर्षणधर्मी परमाणु हैं? क्या निमित्त कारणभेद से एक ही परमाणु का कभी आकर्षणधर्मी तथा कभी विप्रकर्षणधर्मी होना सम्भव है अथवा नहीं है? क्या 'क' परमाणु अपने से समान दूरी वाले 'ख' परमाणु का आकर्षण तथा 'ग' परमाणु का विप्रकर्षण कर सकता है? यह स्वीकार करना होगा कि जब आकर्षण तथा विकर्षण परस्परतः विरुद्ध धर्म हैं तथा जब ये एकाकी होकर परस्परतः विरुद्ध कर्म नहीं कर सकते हैं, तब यह मानना ही होगा कि कतिपय परमाणु स्वभाव से ही आकर्षण धर्मात्मक हैं तथा कतिपय स्वभावतः विप्रकर्षण धर्म वाले हैं। जिसकी जो प्रकृति तथा स्वभाव है, उसका वही धर्म तथा शक्ति है। धर्मी अथवा द्रव्य (Substance) का धर्म ही स्वभाव किंवा प्रकृति है। 'क' परमाणु का जो स्वभाव है—प्रकृति है, वह कदापि उसका त्याग नहीं करेगा। स्वभाव अनपायी है। स्वभाव का नाश अर्थात् (Substance) द्रव्य का नाश। द्रव्य का नाश नहीं होता, अतः स्वभाव का भी नाश नहीं होता। यदि 'क' का स्वभाव है आकर्षण, तब वह सर्वत्र, सर्वदा आकर्षण ही करेगा। कभी भी विप्रकर्षण नहीं करेगा। स्वभाव (Nature) स्वाधीन है। वह पराधीन तथा अन्यापेक्ष नहीं है। 'क' परमाणु का स्वभाव 'ख' अथवा 'ग' परमाणु की अपेक्षा नहीं करता। अन्य की क्रिया के कारण स्वभाव का वेग (Intensity) कम अथवा अधिक भले ही हो, किन्तु उसका परिवर्तन नहीं होता। आकर्षणात्मक भूत (Matter) विप्रकर्षणात्मक तथा विप्रकर्षणात्मक भूत कभी भी आकर्षणात्मक नहीं होगा। इसलिए यहाँ यह प्रतिपन्न हो जाता है कि एकरूप कारण से अन्यरूप विरुद्ध कर्म हो ही नहीं सकता, या तो आकर्षण कर्म होगा अथवा विप्रकर्षण कर्म। कभी आकर्षण तो कभी विप्रकर्षण ऐसा नहीं होगा।

एक ही द्रव्य दूरत्व की ह्रास वृद्धि से आकर्षण-विप्रकर्षण रूप द्विविध कर्म करते हैं, ये दोनों परस्परतःविरुद्ध कर्म हैं। रासायनिक आकर्षण शक्ति के तत्वचिन्तन से उपलब्धि होगी कि एक वस्तु अन्य एक वस्तु का आकर्षण करती है तथा वही एक वस्तु अन्य दूसरी वस्तु का विप्रकर्षण भी करती है। इसलिए यहाँ प्रश्न है कि यह कहना कहाँ तक सत्य है कि आकर्षणात्मक द्रव्य कभी भी विप्रकर्षणात्मक नहीं हो सकता।

केवल जड़ जगत् में ही क्यों, मनुष्यादि जीवसमूह में भी यह दृष्टिगोचर होता है कि एक ही व्यक्ति एक को चाहता है, जबकि वही व्यक्ति अन्य से द्वेष करता है। यही नहीं, एक व्यक्ति एक समय जिसे सुनयनों से देखता है, अन्य समय उसे विषमदृष्टि से देखने लगता है। जैसे एक समय जो रुचिकर है, वही दूसरे समय अरुचिकर प्रतीत होता है। जैसे जड़ द्रव्य में दूरत्व के वर्गानुसार आकर्षण शक्ति का

ह्रास होता है, मनुष्य में भी उसी प्रकार से वर्गानुसार आकर्षण शक्ति का ह्रास होने लगता है।

यह निश्चित है कि स्वभाव का कभी भी अपाय नहीं होता। यह सत्य है कि दूरत्व की ह्रास वृद्धि से आकर्षण की क्रिया में ह्रास वृद्धि अवश्य होती है, किन्तु आकर्षण शक्ति कभी भी विप्रकर्षण शक्ति नहीं हो सकती। सांयौगिक वस्तुसमूह (Compound Substance) में परस्परतः विरुद्ध कर्म होते देखा जाता है, यह सत्य है, किन्तु वह परस्परतः विरुद्ध शक्तियों का फल है। एक जातीय शक्ति का फल कदापि नहीं है। एक ही विशुद्ध अथवा मूलभूत शक्ति कभी भी एक साथ परस्परविरुद्ध आकर्षण तथा विकर्षण कर्म नहीं करती। विरुद्ध शक्ति की क्रिया से स्वभाव की क्रिया के वेग में परिवर्तन होता है, तथापि स्वभाव का अन्यथाभाव अथवा नाश नहीं होता। दूरत्व के कारण कभी भी आकर्षण धर्म विप्रकर्षण धर्म में परिवर्तित नहीं हो सकता। दूरत्व के कारण केवल क्रिया के वेग में (Intensity) परिवर्तन होता है। तथापि यह परिवर्तन अनित्य अथवा निमित्तक (Accidental thing) है। इस विवेचना से प्रतिपन्न होता है कि यहाँ धर्मी के स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता। धर्मी का स्वभाव जैसा था, वैसा ही रह जाता है। (The nature of the agent still remaining the same)।

विद्वान् वसकोविस (Boscovich) के मत से आकर्षण तथा विप्रकर्षण (Attraction and Repulsion) भिन्न प्रकृति का कार्य नहीं है। इनका सिद्धान्त है कि एकभूत ही आकर्षणधर्मी तथा विप्रकर्षणधर्मी हो सकता है। इनका यह अनुमान विचार द्वारा सत्य नहीं लगता। प्रश्न उठता है कि आकर्षणधर्मी भूतसमूह यदि चिरकालपर्यन्त आकर्षण में ही रहें, कभी भी विप्रकर्षणधर्मी न हों तब जो भौतिक वस्तु आकर्षण धर्मात्मक अणु की समष्टि है, उनके सम्बन्ध में यह मानना ही होगा कि वे स्थानावरोधक (Impenetrable) नहीं होते। क्योंकि स्थानावरोधकता विप्रकर्षण धर्म का कार्य है। सांख्य तथा पातंजलदर्शन तभी कहते हैं कि कार्यमात्र ही त्रिगुण परिणाम हैं, त्रिगुणात्मक हैं। भगवान् वेदव्यास योगसूत्र के भाष्य में गुणत्रय के स्वरूप निरूपणार्थ कहते हैं कि सत्वादि गुणात्रय में से प्रत्येक के अंश द्वारा प्रत्येक का अंश उपरक्त है। सत्वगुण का प्रकाशांश—रजोगुण का क्रियांश तमोगुण के प्रतिबन्धकांश द्वारा, रजोगुण का क्रियांश सत्वगुण के प्रकाशांश तथा तमोगुण के प्रतिबन्धकांश द्वारा तथा तमोगुण का प्रतिबन्धकांश सत्वगुण के प्रकाशांश तथा रजोगुण के क्रियांश द्वारा उपरक्त है। योगसूत्र भाष्य में यही कहते हैं—

"एते गुणाः परस्परोपरक्त प्रविभाग्यः।"

गुणत्रय परिणामी, परिणामस्वरूप तथा संयोग विभागधर्मी है। ये परस्परतः एक-दूसरे का आश्रय लेकर मूर्तिलाभ करते हैं। गुणत्रय परस्पर एक-दूसरे के

विरोधी हैं। प्रतिद्वन्द्विशक्ति के द्वारा ही प्रतिद्विन्द्विशक्ति का विजृम्भण (Manifestation) होता है। सत्वादि गुणत्रय की इस प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता न रहने से कभी भी किसी पदार्थ का स्फुरण अथवा ह्रास वृद्धि नहीं हो सकती। सत्वादि गुणत्रय परस्पर सम्मिलित भले ही हो जायें, इससे उनमें साङ्कर्य उत्पन्न नहीं होता, एकता प्राप्त नहीं होती। इनके अपने-अपने स्वभाव की विच्युति भी नहीं होती। इतरव्यावर्तक लक्षण से इनकी पृथकता स्पष्टतः अनुभूत भी होने लगती है। गुणत्रय के परस्पर अगांगीभाव से उत्पन्न द्रव्य का प्रकाश सत्वगुण का, क्रिया अथवा प्रवृत्ति रजोगुण का तथा प्रतिबन्धकता (Resistance) तमोगुण का कार्य है। भगवान् व्यासदेव के इस उपदेश से यह ज्ञात होता है कि विद्वान् वसकोविस (Boscovich) का यह अनुमान सत्य नहीं है कि आकर्षण तथा विप्रकर्षण भिन्न प्राकृतिक धर्मीय स्वभाव नहीं हैं।

हाईड्रोजन, ऑक्सीजन आदि वास्तव में मूलभूत नहीं हैं। ये त्रिगुण के कार्य हैं। कर्मभेद तथा उसका संस्कार ही सृष्टि के वैचित्र्य का हेतु है। विद्वान् स्पेन्सर ने अस्पष्ट अथवा स्पष्टरूपेण यह स्वीकार तो किया ही है कि कर्मभेद तथा उसके संस्कार ही सृष्टि की विचित्रता के कारण हैं। लेकिन शास्त्र ने जिस अनादि कर्मसंस्कार तथा अदृष्ट के अस्तित्व को माना है, विद्वान् स्पेन्सर उसे नहीं मानते। अनादि कर्मसंस्कार को स्वीकार करना तथा 'कर्म अनादि' इसका मर्म जान लेना, दोनों ही वास्तव में सुसाध्य नहीं है। शास्त्र की बात को यथायथरूप से उच्चारण करने मात्र से शास्त्र के प्रकृत अर्थ का मर्म ज्ञात नहीं हो जाता। जिसकी आदि नहीं है (Which is without beginning) उसका अन्त कैसे होगा? हो ही नहीं सकता। अतः जीव अनादि है, तब उसकी मुक्ति की सम्भावना कहाँ है? एक ओर कर्म के अनादित्व को मान लेने पर दूसरी ओर ईश्वर के अस्तित्व को नकारने का क्या प्रयोजन? कर्म के अनादित्व का स्वरूप-चिन्तन करने में प्रवृत्त सत्यानुसन्धायी चिन्तनशील पुरुष के मन में ऐसा प्रश्न उदित हुए बिना नहीं रहता।

जब शास्त्र ने कर्म को अनादि कहा है, तब इसे सृष्ट (साधारणतः इसका जो अर्थ माना जाता है उस अर्थ में) कैसे कहा जाये? ईश्वर कर्म के स्रष्टा नहीं हैं। शक्ति भी शक्तिमान से अलग नहीं है। अतएव यह कहना कि 'सर्वशक्तिमान ईश्वर ने शक्ति की सृष्टि किया है' शास्त्र की दृष्टि से बालकोचित उक्ति है। यदि विद्वान स्पेन्सर लिंगदेह के अस्तित्व को यथायथ रूप से उपलब्ध कर सकते, तब उनमें इस आशंका का उदय न होता कि "प्रत्येक भिन्न-भिन्न रूप प्रवर्तन (Impulser) जब स्थान अथवा देश विशेष में विद्यमान शक्ति का कार्य नहीं है, तब शक्ति के सृष्टितत्व को स्वीकार करना ही होगा।"

शास्त्र का उपदेश है कि जीव जो कर्म करता है, उसका संस्कार उसके लिंगदेह में लग्न हो जाता है। लिंगदेह में लग्न भिन्न-भिन्न संस्कार ही भिन्न-भिन्न स्थूल शरीर के कारण हैं।

ईश्वर को यदि विशेष-विशेष जीवसमूह का सृष्टिकर्ता कहा जाये, तब उसे निष्ठुर, अव्यवस्थित चित्त तथा ससीम शक्ति वाला मानना ही पड़ेगा। क्योंकि यदि वह दयामय होता, यदि जीव-कल्याण ही उसका जगत्-सृष्टि का उद्देश्य होता, तब वह जगत् को सुखमय करता। तब संसार समरांगण के समान अशान्ति की लीलाभूमि न होता। तब प्रत्येक जीव प्रत्येक का संहार अथवा अभिभव करके अपने-अपने सुख-संवर्धन तथा आहार-संग्रह का प्रयास न करता। तब कोई भी जीव अकाल कवलित न होता। यदि ईश्वर होता, तब वह प्राण संग्राहक, विविध रोगोत्पादक परांगपृष्ट जीवों की सृष्टि न करता। तब जितने भी जीव जन्म लेते, उनमें से आज की तरह वयस्क होने के पूर्व ही अधिकांश न मर जाते। ईश्वर जीव की संख्या के अनुसार आहार की व्यवस्था करता। संख्या के अनुसार आहार-व्यवस्था न होने के कारण ही यह संसार रणभूमि बन गया है। जीवसमूह आहार-संग्रहार्थ अविराम मारामारी, काटाकाटी कर रहे हैं। बलवान दुर्बल पर अत्याचार करता है। जो जीव को इतना कष्ट देते हैं, वे मंगलमय कैसे? यदि कहें कि ईश्वर प्राकृतिक स्रोत को बाधा नहीं दे पाते, जीव को कर्मानुसार फल देते हैं, तब यह मानना होगा कि वे सर्वशक्तिमान नहीं हैं। जो यह कर सकें, परन्तु वह न कर सकें, ऐसे को सर्वशक्तिमान कैसे कहा जाय? जो कर्म के अधीन फल देते हैं, उनकी प्रतिभा तथा प्रभुता सर्वतोमुखी कैसे? विद्वान् स्पेन्सर की इन आशंकाओं को शास्त्र कैसे दूर करता है, यह देखना है।

वेदोपदेश है कि ईश्वर धर्माधर्मरूप बाहुद्वय से विश्वजगत् की सृष्टि करते हैं। जगत्कार्य के उपादान कारण पंचभूत तथा परमाणु हैं। निमित्त कारण है सृज्यमान पदार्थसमूह का धर्माधर्म, अविद्या, काम तथा कर्म। यही वेदोक्त सृष्टि होती है। अविद्या-अज्ञान-माया से ही कामोत्पत्ति कही गयी है। 'इसे पाना होगा' ऐसा जो विपरीत ज्ञान है, अभिलाषा है, उसे ही काम कहा है। काम विहत होकर क्रोधरूपेण परिणत हो जाता है। काम के बिना भोग ग्रहणात्मक कर्म प्रवृत्ति ही नहीं होती। जो कोई जो कुछ करता है, सब काम द्वारा चेष्टित है। काम ही सब कर्मों का तथा संसार का मूल है।

महर्षि गौतम इन सब श्रुति के उपदेशों की स्वप्रणीत न्यायदर्शन में व्याख्या करते हैं। न्यायदर्शन में कहा गया है कि वाक्, प्राण, मन तथा शरीर के आरम्भ को प्रवृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति भी पुण्य तथा पापभेद से द्विविध है। दोष प्रयुक्त होकर पुरुष वाचिक, मानसिक तथा कायिक पाप में प्रवृत्त होता है। दोष कौन पदार्थ है। प्रवर्तना (Impulses) ही दोष का लक्षण है। प्रवृत्ति से ही दोष लक्षित होता है। महर्षि गौतम ने दोष को त्रिधा विभक्त किया है। यथा—राग-द्वेष तथा मोह। अनुकूल पदार्थ की अभिलाषा है—राग। प्रतिकूल पदार्थ से जो विराग है—वह है द्वेष। मिथ्याज्ञान

(भ्रम बुद्धि) ही मोह नामक पदार्थ है। अविद्या-काम-कर्म, ये संसार के हेतु कहे गये हैं। जड़विज्ञान जड़जगत् के कर्म का स्वरूप वर्णन करता है। जड़जगत् में जो भी कर्म अनुष्ठित होता है, वह राग तथा विराग (Attraction and repulsion) रूपी द्विविध धर्म तथा शक्ति से ही होता है। यह वैज्ञानिकों का मत है। विद्वान् स्पेन्सर ने भी राग तथा विराग को संसार कारण माना है। सबकुछ धर्माधर्म का ही कार्य है। व्यक्त तथा व्याकृत पदार्थ मात्र ही धर्माधर्म का फल है। जो जैसा कर्म करते हैं, वे वैसा ही फल पाते हैं। धर्म अथवा शुभ कर्म का फल है उन्नति सुख। अधर्म अथवा अशुभ कर्म का फल है अवनति, दुःख। संसार में उन्नत तथा अवनत, सुखी एवं दुःखी, इस प्रकार के द्विविध जीव को हम देखते हैं। यहाँ निरतिशय दरिद्रता के पार्श्व में विपुल ऐश्वर्य की छवि तथा बलवान के पार्श्व में अति हीनबल की स्थिति है। विद्वान् तथा धार्मिक के कमनीय पार्श्व में मूर्ख तथा पापासक्त का भीषण रूप प्रतिफलित होता रहता है। स्वस्थ के पार्श्व में व्याधिग्रस्त की प्रतिकृति नयनगोचर होती है। संसार में ऐसा व्यक्ति नयनगोचर नहीं होता जो दुर्गतजन का प्राणस्वरूप, असहाय का सहाय हो। जिसके हृदय में हिंसा-द्वेष की अपवित्र छाया भी कभी न पड़े। अन्य को क्लेश देकर स्वयं सुख-सन्दर्शन की योजना करने वाले ऐसे हेय स्वार्थ वालों की संख्या भी अल्प नहीं है। केवल जीवराज्य में ही नहीं, वृक्ष, गुल्म, तरु, लता, तृण में भी ऐसा ही वैषम्य देखने को मिलता है। उद्भिद् में भी सभी समान आयु वाले नहीं होते। इस समय जो वृक्ष उन्नत मस्तक होकर गगनस्पर्श को उद्यत हैं, अगले क्षण वज्राघात से उनकी शाखा-प्रशाखा दग्ध हो जाती है। कोई वृक्ष अपने गुणों के कारण आदर का पात्र बनता है, जबकि कोई अन्य वृक्ष समूल उत्पाटित कर दिया जाता है। कोई वृक्ष जीवनदायक सुस्वादु फल प्रसव करता है, कोई वृक्ष जीवन संहारक हलाहल का उत्पादन करता है।

बिना कारण कोई कार्य नहीं होता। अतएव स्वीकार करना होगा कि संसार की इस विषमता का अवश्य कोई कारण है। क्या ईश्वर ने ऐसी व्यवस्था की है कि जीव निरन्तर दुःख पाता रहे? यदि जीव को दुःख देना ही ईश्वर का उद्देश्य है, तब वे जीव की जीवन-रक्षा के लिए सूर्य, चन्द्र, अग्नि, अनल, सलिल, आकाश, फल मूल इत्यादि की सृष्टि ही न करते। तब सन्तान भूमिष्ट होकर कैसे जीवन धारण करता? जननी के स्तन से यथासमय दुग्ध भी न निकलता। अहा! जिधर नेत्र घुमाता हूँ, उधर ही विधाता की अपार करुणा का परिचय मिल जाता है। उनका प्रत्येक कार्य जीव कल्याणार्थ है। यदि जीव को दुःख देना ही उनका उद्देश्य होता, तब क्या संसार के उपेक्षित, अनाथ, दरिद्र यह कहकर उनका चरणाश्रय न लेते—"दयामय, तुम्हारे अतिरिक्त मेरा कोई नहीं है"। चिकित्सकों द्वारा प्रत्याख्यात, व्याधिवेदना से अधीर व्यक्ति ऐसी स्थिति में रोगमुक्ति हेतु क्या उनका आश्रय लेता? दयामय ने

धार्मिक हेतु सुख की तथा अधार्मिक हेतु दुःख की व्यवस्था की है। धार्मिक सुखी है तथा अधार्मिक दुःखी है।

अधर्म ही रोगसमूह के आविर्भाव का कारण है। अधर्म के बिना अन्य किसी कारण से अशुभोत्पत्ति नहीं होती। धर्म का ह्रास होने से पृथिव्यादि भूतनिचय का तथा गुणसमूहों का ह्रास होने लगता है। इसलिए तत्जन्य शस्यादि के स्नेह, वैमल्य, रस प्रभृति के वीर्य का ह्रास हो जाता है। पृथिव्यादि भूतों की विकृति के कारण रोगोत्पादक जीवाणुओं का आविर्भाव होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि धर्म की ग्लानि तथा अधर्म के अभ्युत्थान से ही रोगोत्पत्ति होती है और यही है दुखाविर्भाव का हेतु। अधार्मिक का क्लेश देखकर जीव धार्मिक हो जाये। यह ज्ञान दृढ़ हो कि धर्म का फल है सुख। अधर्म का फल है दुःख। दयामय ने इसीलिए विविध सुख-दुःख का आयोजन किया है। परांगपृष्ट जीव (जीवाणु) पृथ्वी पर सर्वत्र हैं, यह सत्य भी है, किन्तु ये सभी आश्रयदाताओं का अनिष्ट नहीं कर सकते? वर्तमान समय में प्रतीच्य नैदानिक सुधीवर्ग में अनेक विश्वास करते हैं कि मसूरिका, सन्निपातिक ज्वर, प्लेग, यक्ष्म, रक्तातिसार, विसूचिका प्रभृति व्याधिसमूह भिन्न-भिन्न जीवाणु (Bacillus) से उत्पन्न होते हैं। मसूरिकादि व्याधिसमूह भिन्न-भिन्न जीवाणुओं से उत्पन्न होता है कि नहीं, यह इसके विचार का उपयुक्त स्थल नहीं है। तब भी जिज्ञासा होती है कि रोग कारण यथोक्त जीवाणु प्रकृति में सर्वदा विद्यमान हैं, अथवा ये समय-समय पर आविर्भूत होते हैं। यदि यह कहें कि सर्वदा विद्यमान हैं, तब प्रश्न होगा कि जब कारण सदा विद्यमान है, तब कार्य सर्वदा क्यों नहीं होता? जिस प्लेग द्वारा कुछ वर्ष पूर्व भारत विशेषतः क्षतिग्रस्त हुआ था, उस प्लेग के कीटाणु इतने समय क्या कर रहे थे? एक ही घर में दस व्यक्ति हैं, उनमें से 5 इस रोग से कालकवलित हो गये, 5 लोग बच गये, इसका क्या कारण है? प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) अथवा स्वाभाविक रोग प्रतिषेध के सामर्थ्य को (Natural Immunity) इसका कारण मान लेने से भी जिज्ञासा विनिवृत्त नहीं होती।

अतः धर्माधर्म ही इसका कारण प्रतीत होता है। यही सिद्धान्त अव्याप्ति प्रभृति दोषों से मुक्त है। तभी सांख्य पातंजल दर्शन कहते हैं कि प्रकृति धर्माधर्म की मुखापेक्षा करके विविध विचित्र परिणाम का साधन करती है। चरक-सुश्रुत-पुराण-इतिहास-तन्त्र-वेद इत्यादि के पाठ से ज्ञात होगा कि कलियुग में ही प्रभारक रोगों का प्रादुर्भाव होता है। इससे पूर्व आधि-व्याधि, भय, शोक इत्यादि का विशेष प्रादुर्भाव नहीं होता। यदि शास्त्र के इस सिद्धान्त पर विश्वास-स्थापन हो जाये, तब कहना होगा कि ईश्वर जीव के धर्माधर्म के अनुसार ही उसके सुख-दुःख की व्यवस्था करते हैं। उनका प्रत्येक कार्य जीव के कल्याण के लिए है। यदि जीव को

दुःख देना ही उनका मन्तव्य होता, तब त्रेता तथा द्वापर एवं सत्ययुग में भी प्रभारक रोगों का आविर्भाव होता।

क्रमविकासवादी कहते हैं कि योग्य का परित्राण तथा अयोग्य का संहार प्राकृतिक नियमान्तर्गत है। किन्तु इन्होंने यह विवेचित नहीं किया है कि कौन योग्य है और कौन अयोग्य? धर्म ही योग्यता का तथा अधर्म ही अयोग्यता का कारण है। क्रमविकासवादी जड़ प्रकृति को जिस पद पर स्थापित करते हैं, आस्तिकगण चैतन्याधिष्ठित प्रकृति अथवा ईश्वर को उस पद पर प्रतिष्ठापित करते हैं। क्रमविकासवादियों की प्रकृति है यदृच्छाचारिणी, जबकि शास्त्रोक्त प्रकृति है चैतन्याधिष्ठित नियमानुसारिणी। क्रमविकासवाद का अनुसरण करने से जीव का परिशेष जड़त्व में परिणत होता है। शास्त्र का अनुवर्तन करने से जीव स्वरूप में, अपने चिन्मय भाव में प्रतिष्ठित होता है। चिरशान्ति निकेतन में प्रवेश करने में पारग हो जाता है। इसलिए मुमुक्षु जीव के लिए नास्तिक क्रमविकासवाद की शरण लेना कथमपि उचित नहीं है।

ईश्वर जो किसी को सुखी तो किसी को दुःखी करते हैं, किसी को विद्वान् तथा किसी को मूर्ख बनाते हैं, किसी को आस्तिक तो किसी को नास्तिक वृत्ति देते हैं, इसमें उनमें सामान्य लोगों की भाँति राग-द्वेष की उत्पत्ति कारण नहीं है। उनका निर्मल स्वभाव यथावत् रह जाता है। उनमें पक्षपातित्व अथवा निष्ठुरत्व प्रतिपन्न नहीं होता, ईश्वर सापेक्ष हैं, वे धर्माधर्म की अपेक्षा करके सृष्टि करते हैं, सृज्यमान प्राणिगण की धर्माधर्म सृष्टि वैषम्य का हेतु है। इसमें ईश्वर का कोई दोष नहीं है। जीव के कर्मानुरोध से वे जगत् को वैचित्र्यमय करते हैं। इससे उनके स्वातंत्र्य की हानि नहीं होती। वे पर्जन्य के समान हैं। जैसे पर्जन्य बीज, यवादि का साधारण कारण है, वैसे ही वे देव-मनुष्यादि सृष्टि के साधारण कारण हैं। जैसे बीजगत् विचित्र धर्म अथवा शक्ति उनकी विचित्रता के असाधारण हेतु हैं, उसी प्रकार जीव के कर्म उसके वैषम्य के असाधारण हेतु हैं। ईश्वर की सर्वतोमुखी प्रभुता कभी बाधित नहीं होती। धर्माधर्म तथा प्रकृति ईश्वर के अंग हैं। उनकी ही शक्ति है, अतएव धर्माधर्म तथा प्रकृति का अनुवर्तन करना अथवा स्वीय इच्छानुरूप कार्य करना एक ही बात है। लौकिक राजा साधु पर अनुग्रह करते हैं तथा दुष्ट का निग्रह करते हैं। अपने ही नियम का अनुवर्तन करते हैं, इसीलिए उनकी स्वाधीनता क्या बाधित हो जायेगी?

स्वीय अंग क्या आत्मा का व्यवधायक, संकोचक होता है? स्वतंत्र का अर्थ है आत्मवश। जो आत्मवश कार्य करते हैं, वे कभी परतन्त्र नहीं होते। इसके अनन्तर यह सुनना है कि वेदशास्त्र में वैशेषिक सृष्टिवाद का स्वरूप क्या है?

वेदादिशास्त्र का पाठ करने से विदित होता है कि जगत् भोक्तृ तथा भोग्य सम्बन्धात्मक है। ऋग्वेद ने आकाशादि पंचभूत को सुधा-अन्न अथवा भोग्यरूप से

निर्देश किया है। ऋग्वेद के अनुसार सृष्ट पदार्थ समूह में कतिपय 'रेतोधा' अर्थात् बीजभूत कर्म के विधाता-कर्ता तथा भोक्ता हैं तथा कतिपय भोग्य हैं। जीवसमूह कर्ता तथा भोक्ता है तथा आकाशादि भूतपंचक तथा पदार्थजात भोग्य है। भोग्य भावसमूह को वेद ने अवर कहा है तथा भोक्तृभाव समूह को उत्कृष्ट माना है। क्रिया मात्र ही क्रमानुसार निष्पन्न होती है। अतएव जगत् का सृष्टि-कार्य भी इस नियम का अतिक्रमण करके सम्पन्न नहीं होता। यह निश्चित है। क्रियामात्र ही कर्मानुरूप सम्पन्न नहीं होती, इसका कारण क्या है? श्रुति का कथन है कि सृष्टि काल में सत्य, ज्ञान तथा अनन्तरूप आत्मा से प्रथमतः आकाश की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर उससे क्रमशः वायु, वायु से तेज, तेज से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। पंचभूत की अभिव्यक्ति के इस क्रम का तत्व-चिन्तन करने से विदित होता है कि सभी भूतसमूह एक ही आत्मशक्ति के काल तथा अदृष्टकृत भिन्न-भिन्न परिच्छेद के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। रसायनवेत्ता क्रुक्स के अनुसार प्रोटाईल नामक पदार्थ में गति (Motion) उत्पन्न होने से तेजः अथवा तड़ित्संज्ञक शक्ति विशेष (Force Allied to Electricity) की अभिव्यक्ति होती है। तदनन्तर उसकी चक्रगति अथवा आवर्त से हाईड्रोजन आदि परमाणुओं का क्रमशः विकास होता है। इस वाक्य के साथ उपरोक्त श्रुत्युक्त भूतसमूह आविर्भाव क्रम में कितनी एकता तथा भिन्नता है, इसका चिन्तन करना होगा। पतंजलिदेव कहते हैं कि परिणाम की भिन्नता ही प्रत्येक परिणामक्रम की भिन्नता का कारण है। परिणाम मात्र ही गुणत्रय से साधित होता है। गुणत्रय है अन्योन्याभिभव-वृत्तिक। तमोगुण की बाधा को अतिक्रम किये बिना रजोगुण की प्रवृत्ति शक्ति प्रकटित नहीं हो सकती और रजोगुण को अभिभव किये बिना सत्वगुण के प्रकाश की अभिव्यक्ति नहीं होती। विरुद्ध बल की बाधा का अतिक्रमण ही क्रिया का रूप है। अतएव सभी क्रिया क्रमशः होती है। क्रम है काल का धर्म (क्रमोहि धर्मः कालस्य) इस वाक्य का तात्पर्य है कि क्रियामात्र ही क्रमशः निष्पन्न होती है, क्योंकि खण्डकाल तथा क्रिया एक ही पदार्थ है। (Time follows motion—Successive transmission).

ऋग्वेदसंहिता के अनुसार सूर्योदय के अनन्तर उसकी रश्मि जैसे युगपत् सर्वत्र व्याप्त हो जाती है, व्याप्ति क्रिया का कर्म रहने पर भी वह परिलक्षित नहीं होता, उसी प्रकार अविद्या, काम तथा कर्म से आकाशादि की उत्पत्ति चपला प्रकाश के समान अत्यन्त त्वरित वेग से होने के कारण, वहाँ क्रम प्रतिपत्ति रहने पर भी वह (वेग के कारण) परिलक्षित नहीं होता।

यद्यपि परिणाम मात्र ही क्रमशः होता है, किन्तु परिणाम का क्रम अथवा ताल एकरूप नहीं रहता। गुणत्रय के तारतम्य से परिणाम क्रम में तारतम्य होता है। वहाँ द्रुत, मध्य तथा विलम्बित यह त्रिविध भेद है। आकाश से वायु की उत्पत्ति रूप

परिणाम का क्रम तथा वायु से तेज की उत्पत्ति रूप क्रम एक प्रकार का नहीं है। मनुष्य का जन्मादि परिणाम जिस क्रम से होता है, गौ-अश्व इत्यादि का जन्मादि परिणाम ठीक उसी क्रम से नहीं होता। एकजातीय जीव अथवा वृक्ष में भी आन्तर तथा वाह्य प्रकृति के भेद से परिणाम क्रम में कुछ-कुछ भिन्नता पाई जाती है। स्वीकार करना ही होगा कि परिणाम धर्माधर्माधीन है। कलम लगाया पौधा जितना शीघ्र फल देता है, बीज बोकर उगाया वह पौधा शीघ्र फल नहीं देता।

ऋग्वेद में कहा है कि विश्वजगत् यज्ञात्मक पटस्वरूप है। जैसे पट अथवा वस्त्र तन्तुसमूह से निर्मित उत (woven) होता है, यज्ञात्मक विश्वजगत् पट उसी प्रकार तन्तुसमूह से निर्मित होता है। ऋग्वेद ने विश्वजगत् को यज्ञात्मक पट क्यों कहा है। इसे समझने के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि यज्ञ कौन पदार्थ है। यज्ञ शब्द का उच्चारण करने से जो इसे प्रज्वलित अग्नि में घृतादि निक्षेप स्वरूप अनर्थक असभ्योचित कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते, उनके समक्ष 'विश्वजगत् यज्ञात्मक पटस्वरूप' इस श्रुति वचन का मूल्य अत्यल्प है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यज्ञ को यज्ञतत्वविद् तथा वेदप्राण ऋषिगण जिस दृष्टि से देखते हैं, उस दृष्टि से यज्ञ को देखने वाले आज भारत में परिलक्षित नहीं होते (हो सकता है कि कहीं गुप्तभाव से हों)। वेद का उपदेश है कि यज्ञ से विश्वजगत् की सृष्टि हो सकी है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि शुक्रशोणित रूप में परिणत भुक्तान्न से भूतसमूह की उत्पत्ति होती है। पर्जन्य से अन्नोत्पत्ति होती है और पर्जन्य की उत्पत्ति होती है यज्ञ से। जिस कर्म से यज्ञ समुद्भूत होता है, ब्रह्म या वेद से उसकी उत्पत्ति कही गयी है। वेद अक्षर ब्रह्म अथवा परमेश्वर से समुद्भूत हैं। आदिसर्ग में प्रजापति ने यज्ञ के साथ प्रजावर्ग की सृष्टि करके यह आदेश दिया था कि तुम वेदोपदिष्ट इस यज्ञरूप धर्म का आश्रय लेकर क्रमशः समृद्ध हो जाओ। यज्ञ से अभीष्ट सिद्धि करें। यह तुम लोगों के लिए इष्ट कामधुक् हो जाये। जो व्यक्ति जगच्चक्र प्रवर्तक यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करता, वह है पाप जीवन, इन्द्रियों का सेवक। वह वृथा जीवन धारण करता है। (द्रष्टव्य श्रीमद्भगवद्गीता)

इसलिए कहा जा सकता है कि वेद ने जो यह कहा है कि यज्ञ से विश्वजगत् सृष्ट है, यज्ञ को जो विश्वजगत् का धारक कहा गया है, भगवान् कृष्ण ने जो यज्ञ को अविकल ऐसी दृष्टि से देखा है, सर्वाभीष्ट साधक, जगच्चक्र प्रवर्तक यज्ञ केवल अग्नि में घृत छोड़ना मात्र ही नहीं है।

वेदादिशास्त्र में यज्ञ शब्द सर्वव्यापक परमेश्वर (विष्णु) के वाचकरूप से (यज्ञो वै विष्णुः—कृष्ण यजुर्वेदसंहिता, 3/5/2) इष्टप्राप्ति के हेतुभूत कर्म के बोधकरूप में सर्वजगत् की कारणभूता शक्ति के रूप में (अथर्ववेद संहिता द्रष्टव्य) वायु अथवा शक्ति सातत्य की क्रियाशक्ति (Actual Energy) बताने के लिए तथा

आन्तर एवं वाह्य व्यापार के वाचक रूप में व्यवहृत है। कृष्णयजुर्वेद, शुक्लयजुर्वेद तथा अथर्ववेदसंहिता में कहते हैं कि 'हे यज्ञ! तुम स्वप्रतिष्ठार्थ यज्ञ नामक विष्णु को प्राप्त हो जाओ। फलदानार्थ यज्ञपति अथवा यजमान को प्राप्त हो जाओ तथा स्वनिष्पत्ति के लिए स्वकारणभूता वायु की क्रियाशक्ति को प्राप्त हो जाओ।' यहाँ वायु शब्द को यहाँ की वायु नहीं समझना चाहिए। बृहदारण्यक तथा तैत्तरीय श्रुति में तथा उनके भाष्य में वायु शब्द का तात्पर्य है शक्ति सातत्य (Persistence of Force and Conservation of Energy)।[1] जो भगवद्गीता का अध्ययन करते हैं, वे द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ के तत्व से अवगत हैं। इन यज्ञों को द्रव्ययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ रूप भागद्वय में विभक्त किया गया है। भगवान् कहते हैं कि द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। अथर्ववेद संहिता का भी यही मत है।[2] यज्ञ शब्द शास्त्र में जिस अर्थ में व्यवहृत है, उसे कहा गया। यज्ञ शब्द का यह अर्थ सुनकर 'विश्वजगत् यज्ञ से प्रसूत हुआ', यह कथा सारगर्भ है, क्या यह नहीं कहा जा सकता? शक्ति सातत्य (Persistence of force) को जो जगत् के कारणरूप में अवधारित करने को प्रस्तुत हैं, क्या उन्हें यज्ञ अथवा वायु की क्रियाशक्ति को जगत् का कारण कहने में कोई बाधा होगी? सृष्टि तथा लय यान्त्रिक व्यापार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, जिनका यह अनुमान है, वे भी जगत् को द्रव्यमय यज्ञ की मूर्ति है, जगत् Motion से अभिव्यक्त है, इसे बिना आपत्ति के स्वीकार कर लेंगे। वैष्णव! क्या यज्ञ ही विश्वजगत् का कारण है, इसे शिरोधार्य किये बिना रह सकोगे? वेदादिशास्त्र 'यज्ञ' पदार्थ का जो व्यापक रूप प्रदर्शित करते हैं, उसमें सभी को उस सारगर्भित वाक्य का पालन करना होगा कि यज्ञ ही जगत् का कारण है। तनिक चिन्तन से प्रतिपन्न होगा कि रासायनिक परिणाम, भौतिक परिणाम, जैव व्यापार, मानस व्यापार सभी वास्तव में यज्ञ ही है। वेदों में यह विशद तथा व्यापक रूप से वर्णित है। वेद दर्शनों का दर्शन, विज्ञानों का विज्ञान, ज्ञानीगण का प्राण, योगी का हृदयवल्लभ, भक्त का प्राणाराम तथा कर्मी का प्राणबन्धन है!

ऋग्वेद में कहा है कि आकाशादि भूतरूप तन्तुसमूह द्वारा सर्गात्मक (सर्ग सृष्टि का अव्यक्तभाव से व्यक्तावस्था में आगमन होने से आत्मा जिसका स्वरूप है) यज्ञ पट विश्वतः विस्तृत है, वह ब्रह्मा की आयुपर्यन्त अवस्थान करता है। प्रजापति के प्राणभूत

---

1. "यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा।"

—अथर्ववेद संहिता, 7/9/102, यजुर्वेदसंहिता, 8/21/22

तथा

"स्वां योनिं स्वकारणभूतां वायोः क्रियाशक्तिं गच्छ"—महीधर

"योनिः कारणं सर्वजगत्कारणभूता पारमेश्वरीशक्तिः"—अथर्ववेद संहिता भाष्य

2. "यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।

अस्तिनु तस्मादो जीयो यद् विहव्येनेजिरे"—अथर्ववेदसंहिता

विश्वसृक् (जो विश्वसृष्टि करे) देवगण उक्त सर्गात्मक यज्ञपट का वयन (बुनकर) करके चेतन भोक्तृप्रपंच तथा अचेतन भोग्यप्रपंच के सर्जनपूर्वक विस्तृत सत्यलोक में प्रजापति की उपासना करते हैं (उपास्य के समीप होना=उपासना)। उनके समीप उनका आश्रय लेकर विद्यमान रहते हैं।[1] ऋग्वेद के इन सब वाक्य का मर्मग्रहण करने से प्रतीति होगी कि यज्ञ ही जगत् है। चेतन तथा अचेतन, ये द्विविध पदार्थ यज्ञसम्भूत हैं। आयुः, काल, मनः, यह सब भी यज्ञप्रसृत है। अतएव यह अवश्य कहना है कि यज्ञ शब्द से वेदादिशास्त्र किस पदार्थ को लक्ष्य करता है, उसे हृदयंगम करने के लिए प्रथमतः विश्वजगत् के वैज्ञानिक तथा दार्शनिकों द्वारा निरूपित सर्वप्रकार कारणतत्व का अनुसन्धान, परीक्षण तथा विचार करना होगा। विश्वजगत् के अव्यक्त तथा व्यक्तावस्था सम्बन्धित वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों द्वारा लिखित इतिहास को निविष्टचित्त से श्रवण तथा स्मरण करना होगा। तदनन्तर वेदभक्त वेदज्ञ पुरुषों से स्वप्लाक्षर, आपातदृष्टि से स्पष्ट प्रायः प्रतीयमान, अतिमात्र गाम्भीर्य तथा प्रमेय बाहुल्य कारण से दुरवगाह, विश्वतोमुख, सारवान्, वैदिक उपदेश समूह का मर्मग्रहण पथ जानना होगा। वेदार्थ परिग्रह समर्थ प्रतिभा की उपासना करना होगा।

विज्ञान (Science) यथाशक्ति इतःस्ततः व्याप्त परमाणु भाव में अवस्थिति रूप अनुमिता आद्यावस्था से इसके परिशेष में परिज्ञेय एक पिण्डीभूत आकृति सम्प्राप्ति की वर्णना की चेष्टा करता है, यह पहले कहा जा चुका है। वेद का कथन है कि प्रजापति के प्राणभूत विश्वसृक् देवगण पंचभूतरूप सूत्रसमूह द्वारा प्रकृष्ट चेतन भोक्तृप्रपंच का तथा अपकृष्ट निकृष्ट अचेतन भोगप्रपंच का सृष्टि-कार्य करते हैं। भोक्तृ-भोग्यात्मक जगत् को स्थूल अथवा व्यक्तावस्था में लाते हैं। यज्ञात्मक जगत् प्रजापति के सकाश से उत्पन्न हुआ है। प्रजापति किसे कहते हैं? परमात्मा से आविर्भूत, परमात्मा से सृष्ट हिरण्यगर्भ ही प्रजापति है। प्रजापति अथवा हिरण्यगर्भ परमात्मा के प्रथम पुत्र हैं। माता-पिता के संयोग के अभाव में पुत्रोत्पत्ति नहीं होती। अतएव प्रश्न है कि इनके माता-पिता कौन हैं? अथर्ववेद का कथन है कि अखिल जगत् के अधिष्ठान परब्रह्म पिता हैं तथा चित् प्रतिबिम्बिता मूल प्रकृति ही माता है।[2] चित्प्रतिबिम्बिता मूल प्रकृति क्या परमात्मा से भिन्न है? इस सम्बन्ध में वेद का उत्तर है नहीं! ये परमात्मा से अभिन्न हैं। माता कभी भी पिता से अलग होकर अवस्थान नहीं करतीं। लौकिक दृष्टि से माता-पिता का भेद दृष्टिगोचर होने पर भी दोनों अभिन्न हैं, यह प्रतिपन्न होता है। 'अदिति ही स्वर्ग, अन्तरिक्ष, माता-पिता है और वह

1. "यो यज्ञो विश्वतस्तस्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयापवयेत्यासते तते॥"—ऋग्वेदसंहिता, 8/130/1

2. "स वेद पुत्रः पितरं स मातां स सुनुर्भुवत् स भुवत् पुनर्मय"—अथर्ववेद
तथा "तस्य पिता सकलजगदधिष्ठानं परंब्रह्म माता चित्प्रतिबिम्बिता मूलप्रकृतिः"
—अथर्ववेद संहिता भाष्य

स्वयं ही पुत्र भी है'। अदिति का अर्थ है अखण्डनीया। इससे भी यह सूचित होता है कि कार्य कारण से अलग नहीं है।

पहले कहा जा चुका है कि वेदोक्त हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति तथा सांख्योक्त महत्तत्व एक ही पदार्थ है। यज्ञ ही है विश्वसर्जन का उपाय। इसीलिए प्रजापति यज्ञ की सृष्टि करते हैं। प्रजापति के द्वारा यज्ञसृष्टि हो जाने पर विश्वस्रष्टा देवगण भी विश्व के सर्जनार्थ यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्त हो जाते हैं। प्रजापति यज्ञ की सृष्टि करते हैं और विश्वस्रष्टा देवगण उस यज्ञ का अनुष्ठान करने में प्रवृत्त हो जाते हैं, इसका अभिप्राय क्या है?

वायु की क्रियाशक्ति 'यज्ञ' शब्द का एक अर्थ है। श्रुति-पाठ से ज्ञात होता है कि यहाँ सूत्रात्मा ही वायु शब्द से लक्षित है। सूत्रात्मा अर्थात् जो विश्वजगत् को धारण करते हैं, जो जगत् की क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति है। 'प्रजापति यज्ञ सृष्टि करते हैं' का अर्थ है प्रजापति ने क्रियाशक्ति को व्यक्तावस्था में लाकर शान्तावस्था (Potential State) को त्यागकर क्रियमाण अवस्था (Kinetic State) प्राप्त किया। प्रजापति के प्राणभूत देवगण हैं विश्वसृक्। प्राणस्वरूप देवगण का तात्पर्यार्थ है प्रजापति से बहिर्गत रश्मि अथवा शक्तिसमूह। ऋग्वेद ने इनको प्रजापति का 'मयूख' रश्मिभूत कहा है (इमे मयूखा उपसेदु)। जो विश्वाकार में परिणत अथवा विवर्तित होता है, जो विश्व कारण है, वही विश्व का स्रष्टा है। प्रजापति की रश्मि अथवा शक्तिसमूह ही विश्वाकार धारण करती हैं। अतएव प्रजापति की प्राणभूत रश्मि अथवा शक्तियों को विश्वसृक् कहा गया है। प्रजापति के प्राणभूत रश्मियों की गतिवृत्ति तथा क्रियाव्याप्ति ही इनका यज्ञानुष्ठान है। यज्ञ करने के लिए प्रमा (प्रमाण-इयत्ता) प्रतिभा (देवता जिनके लिए हवि दी जाती है), निदान (आदिकारण—अप्रवृत्त का प्रवर्तक फल), आज्य (घृत), परिधि, छन्दः (छन्दः के बिना यज्ञ नहीं होता, यह क्रियामात्र की ताल है। 'All motion is rhythmical') एवं उकृथ, प्रउग् का प्रयोजन है। इनके बिना यज्ञ नहीं होता। जगत् सब अभिव्यक्त नहीं है, तब जगत् के अन्तःपाती यज्ञ के उपकरण भूत पदार्थ का कैसे प्राप्त होना सम्भव है? अतएव प्रश्न उठता है कि जब जगत् सृष्टि के भी पहले प्रजापति के प्राणभूत विश्वसृक् देवगण यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं, तब वे प्रमादि यज्ञीय उपकरण कहाँ से लाते हैं (जबकि सृष्टि ही नहीं हुई है)?[1]

ऋग्वेद का कथन है कि द्रष्टव्य प्रजापति के मुख से गायत्री छन्दः के साथ प्रथमतः अग्नि का आविर्भाव हुआ। तैत्तरीय संहिता तथा कृष्णयजुर्वेद में कहा है कि प्रजापति ने प्रजा-सृष्टि की इच्छा की। उनके मुख से अग्नि देवता तथा गायत्री छन्दः

---

1. ''कासीत् प्रमात् प्रतिभा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुकथं यद्वेवादेवमयजन्त विश्वे''—ऋग्वेदसंहिता, 8/130/3

की उत्पत्ति हुई। गायत्री तथा अग्नि देवता के आविर्भाव के उपरान्त उष्णिक् छन्दः के साथ सविता देवता का आविर्भाव हुआ। तदनन्तर अनुष्टुप् छन्दः के साथ सोम का, बृहती छन्दः के साथ बृहस्पति का उदय हुआ। अब विराट् छन्दः के साथ मित्रावरुण देवता का, तदनन्तर त्रिष्टुप् छन्दः के साथ इन्द्र का, तदनन्तर जगती छन्दः के साथ विश्वे देवतागण का विकास कहा गया है। इसी छन्दः समूह के योग से ऋषि-मनुष्यादि की सृष्टि हो सकी है। यजुर्वेद का पाठ करने से विदित होगा विश्वजगत् अग्न्यादि देवता तथा गायत्र्यादि छन्दों से सृष्ट हो सका है। विश्वजगत् छन्दः का परिणाम है, इस गम्भीरार्थक वेदोपदेश का मर्म आजकल हृदयंगम कर सकना असम्भव है, यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। क्रमविकासवाद के प्रतिष्ठापक स्पेन्सर "गति (Motion) एवं भूत तथा भौतिक पदार्थसमूह के अविराम विभाग तथा सम्प्रविभाग (Distribution and Redistribution) से विविध विचित्र जगत् परिणाम हो रहे हैं" यह कहते हैं। जो इस कथन का एकाग्रचित्त से चिन्तन करते हैं और जिनका गणित, भूततन्त्र, रसायनतन्त्र, शरीरविज्ञान, उद्भिद् विद्या, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, ज्योतिष वाग्-विज्ञान, व्याकरण इत्यादि से विशेष परिचय है और जिनके हृदय में स्वभावतः वेद के प्रति भक्ति है, जो सत्यदर्शनार्थ व्याकुल हैं, जो यथाशास्त्र योगाभ्यास करते हैं, मेरा विश्वास है कि वे ही वेदोपदिष्ट सृष्टितत्व के मूल्य को जान सकते हैं। भौतिक जगत् में हम जिन सब विभिन्न पदार्थों को देखते हैं, जो रासायनिक परीक्षण से प्रतिपन्न होते हैं, वे पदार्थ अमिश्र भूतों के संयोग से उत्पन्न होते हैं। एक भौतिक वस्तु का अन्य भौतिक वस्तु से धर्मगत भेद का कारण क्या है, जानने का प्रयत्न करने पर ज्ञात होगा कि उनके घटकावयव की संख्या, जाति तथा सन्निवेशगत भेद ही उनको परस्परतः भिन्न धर्माक्रान्त किये रहता है। मेन्डलीफ, लोथर मेयर प्रभृति रासायनिकों ने अनुमान किया है कि काल तथा परिमाणविक गुरुत्व भेद ही भूत तथा भौतिक पदार्थसमूह के सभी भेदों के कारण हैं।

भगवान् पतंजलि देव ने 'क्रम का अन्यत्व ही परिणाम का कारण' है, यह बतलाया है। इस स्वप्लाक्षर उपदेश से इस प्रश्न का सुसमाधान हो जाता है कि क्रम के अन्यत्व का धर्माधर्म अथवा पूर्वकर्म संस्कार तथा गुणत्रय ही कारण है। परमाणु कल्पनातीत सूक्ष्म होने पर भी, इनका जो भार है, उसे पारमाणविक गुरुत्व (Atomic weight) कहते हैं। प्रत्येक भूत अथवा अमिश्र पदार्थ का (Elements) जो अंश अथवा मात्रा अन्य के साथ रासायनिक संयोग से संयुक्त होता है, सांयौगिक पदार्थ का उत्पादन करता है, रासायनिक पण्डित उसे ही भूत अथवा अमिश्र पदार्थ के रासायनिक संयोग का एकक अंश—परिणाम (unit quantity of chemical combination of each element) कहते हैं। रसायनशास्त्र में

कहा गया है कि उक्त सांयौगिक एकक अंश ही (Combining proportion) परमाणु नाम से लक्षित हुआ है। पारमाणविक गुरुत्व की संख्या के अनुपात (Proportion) के अनुसार भूत अथवा रूढ़ पदार्थ समूह में परस्पर रासायनिक संयोग होता है। इसी कारण उक्त संख्या को वे लोग सांयौगिक संख्या अथवा सांयौगिक गुरुत्व (Combining number or weight) कहते हैं। पारमाणविक गुरुत्व के किसी गुणित (Multiple) द्वारा रासायनिक सम्मिलन संघटित होता है, साथ ही गुणिक भेद से भिन्न-भिन्न सांयौगिक पदार्थ की सृष्टि होती है। वस्तु के क्षुद्रतम तथा अविभाज्य अंश को परमाणु संज्ञा से संज्ञित किया गया है।

अविभाज्य अंश का भग्नांश नहीं हो सकता। अतः जब दो रूढ़ पदार्थ रासायनिक सम्मिलन में उपस्थित होते हैं, तभी उनमें से एक का परमाणु अन्य के एक, दो अथवा उससे अधिक परमाणुओं के साथ सम्मिलित हो जाता है। 'पारमाणविक गुरुत्व की संख्या के अनुपात के अनुसार रासायनिक संयोग होता है' रसायनशास्त्रोक्त रासायनिक संयोग के इस नियम का तत्वानुसन्धान करने से ज्ञात होता है कि "विश्वजगत् छन्दः का परिणाम है। छन्दः का भेद ही भिन्न-भिन्न धर्माक्रान्त यौगिक पदार्थों की उत्पत्ति का हेतु है।" यह शास्त्रोपदेश ही उक्त नियम की आविष्कार प्रसूति है। रूढ़ पदार्थ समूह का जो धर्मगत भेद है, वह उनके पारमाणविक गुरुत्व के भेद के मात्रानुसार ही होता है। उसके प्रतिप्रादनार्थ मेन्डलीफ ने चतुर्दश रूढ़ पदार्थों के पारमाणविक गुरुत्व की ह्रास वृद्धि के दृष्टान्त को प्रस्तुत किया है। वे चतुर्दश रूढ़ पदार्थ है—लिथियम, वेरिलियम, वोरण, कार्बन, नाईट्रोजन, ऑक्सीजन, फ्लोरीन, सोडियम, मैगनेशियम, एल्यूमीनम, सिलिकॉन, फॉस्फोरस, सल्फर तथा क्लोरीन। मेन्डलीफ कहते हैं कि प्रत्येक सप्तम रूढ़ पदार्थ के साथ प्रायः प्रथम का अनेकांश में धर्मगत सादृश्य परिलक्षित होता है। लीथियम के साथ सोडियम का, वेरिलियम के साथ मैगनीशियम का, वोरन के साथ एल्यूमिनम का, कार्बन के साथ सिलिकॉन का, नाईट्रोजन के साथ फास्फोरस का, ऑक्सीजन के साथ सल्फर का धर्मगत सादृश्य है।

प्रत्येक सप्तम के साथ प्रथम के धर्मगत सादृश्य होने का क्या कारण है, इसे आज तक नहीं जाना जा सका। सप्तच्छन्द का तत्व यथायथ भाव से परिज्ञात हो जाने पर मेन्डलीफ रसायनशास्त्र का समधिक उन्नति विधान कर सकते हैं। पिंगलाचार्य का छन्दः सूत्र पाठ करने से विदित होगा कि गायत्र्यादि सप्तच्छन्दः में से प्रत्येक के आर्षादि अष्ट प्रकार भेद हैं। साथ ही सप्तच्छन्दः में प्रत्येक का प्रत्येक के साथ संख्यागत विशेष सम्बन्ध है। देवी गायत्री की अक्षर संख्या 1, उष्णिक की 2, अनुष्टुप् की 3, बृहती की 4, पंक्ति की 5, त्रिष्टुप की 6, जगती की 7। देवी गायत्री छन्द समूह में जैसे क्रमशः 1-1 अक्षर की वृद्धि होती है, आसुरी गायत्र्यादि में एक-

एक करके क्रमशः संख्या का ह्रास होता है। आसुरी गायत्री की अक्षर संख्या है 15, किन्तु आसुरी जगती की अक्षर संख्या है 9, इसका कारण क्या है? चिन्तनीय है।

छन्दः वेद के षडङ्ग में से एक अंग है। छन्दः वेद का पादस्वरूप है (छन्दः पादौ तु वेदस्य—पाणिनीयशिक्षा)। जिसके द्वारा गमन करा जाये, जो गमन क्रिया निष्पत्ति का यन्त्र अथवा करण है, वही पाद है। सूर्यसिद्धान्त नामक ज्योतिष ग्रन्थ में कहा है कि त्रिलोक्यात्मक, विश्वमयरथ में संवत्सरात्मक (द्वादशमासात्मक) चक्र तथा गायत्र्यादि सप्तछन्दो रूप अश्व संयोजित करके अनिरुद्ध अथवा सविता नित्य पर्यटन करते हैं।[1] छन्द को जिस कारण से वेद का पादस्वरूप कहा गया है, इससे उसका आभास मिल जाता है। छन्द के ज्ञान के बिना वेद का ज्ञान नहीं मिलता। छन्द के ज्ञान के बिना जगत् का अथवा गति का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता।

सित, सारंगादि, सप्तवर्ण, षड्ज आदि सप्तस्वर, सप्त व्याहृति, ये सभी गायत्र्यादि सप्तछन्दः के कार्य हैं। सप्तछन्दः के कारण इनके भी सप्तविध भेद हैं। सप्तछन्दः से ही सप्तशरीर धातु का निर्माण हुआ है। पिंगलाचार्य षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषादरूपी सप्तस्वर को भी सप्तछन्दः का रूप बताते हैं। (स्वराः षड्जादयः—छन्दसूत्र)। जो शिक्षा, व्याकरण तथा प्रातिशाख्य का अध्ययन करते हैं, वे उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित तत्व जानते हैं। गान्धर्ववेद में जो षड्जादि सप्तस्वर का उल्लेख है, वह है वेदोक्त उदात्तादि तीन स्वर का रूप। निषाद तथा गान्धार उदात्त है। ऋषभ तथा धैवत अनुदात्त है तथा षड्ज, मध्यम तथा पंचम स्वरित है।[2] उदात्त गायत्र, अनुदात्त त्रैष्टुभ तथा स्वरित जागत है। ब्राह्मणादि वर्णभेद भी छन्दोभेद के कारण हुआ है। वेद तथा वेदांग पढ़ने से यह ज्ञात हो जाता है।

ब्राह्मणादि वर्णभेद केवल मनुष्यों में ही नहीं, दैव, तिर्यक्, उद्भिद्, एक प्रकार से समस्त सृष्ट पदार्थ में हैं। सप्तच्छदः, सप्तस्वर, सप्तवर्ण, सप्तलोक, सप्तधातु सभी सप्त हैं। किसी प्राकृतिक नियम से विश्वजगत् के प्रत्येक पदार्थ का सामान्यतः सप्तविध भेद है। सत्यानुसन्धित्सु का उसे जानने के लिए सचेष्ट होना ही उचित है। 'शास्त्र की सभी कथा कल्पनामूलक है' जो इस मत को मानते हैं, जो विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी का आदर नहीं करते। उन्हें सप्त संख्या का तत्व जानना होगा। ऑक्सीजन से उत्पन्न विविध सांयौगिक पदार्थ (various oxides) में ऑक्सीजन की सांयौगिक मात्रा के अनुपात की ओर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि ऑक्सीजन की सांयौगिक मात्रा का अनुपात इस प्रकार है—1, 2, 3, 4, 5, 6 तथा

---

1. "रथेविश्वमये चक्रं कृत्वा सम्वत्सरात्मकम्, छन्दांस्यश्वाः सप्तयुक्ताः पर्यटत्येष सर्वदा"
—सूर्यसिद्धान्त

2. "गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्तषड्जादयः स्वराः। त एव वेदे विज्ञेयास्त्रयः उच्चादयः स्वराः"
—याज्ञवल्क्य-कृत शिक्षा

7। अतः कहता हूँ कि विज्ञान के पूजकों को भी सप्त संख्या का अनुसन्धान करना होगा। सांख्य ने महत्, अहंकार तथा पंचतन्मात्र, इन सप्तसंख्यक तत्व को प्रकृति-विकृति कहा है। ऋग्वेद संहिता में भी इन सप्ततत्व को ही विश्वप्रपंच का बीज तथा कारणभूत कहा है।

शुक्लयजुर्वेद संहिता में त्वक्, चक्षु, कर्ण, रसना, घ्राण, मनः तथा बुद्धि—इन सप्त ऋषि की, इन्द्रिय तथा प्राण की गणना की गयी है। कहा गया है "सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्" (शुक्लयजुर्वेद)। ग्रह कितने हैं? इसका शास्त्रीय उत्तर है सात। भगवान् पराशर ने ग्रहों की गणना में राहु-केतु को नहीं लिया है। अग्नि आदि सात देवता तथा गायत्री आदि छन्द के अनुसार ही ग्रहगण को सात संख्यक माना गया है। रस, रक्त, मांस, भेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र ये सात धातु हैं। इसीलिए कहा है कि सात संख्या का तत्वानुसन्धान अवश्य कर्तव्य है। तभी हमारी धारणा है कि वेदोक्त सृष्टितत्व अति सारगर्भित है।

वेदोपदिष्ट सृष्टितत्व के तात्पर्य का परिग्रह करना कितना दुःसाध्य व्यापार है, इसका धीमान् पाठकगण विचार करें। वेद को जो मनुष्यजाति की अर्धसभ्यावस्था का विकास प्राप्त पदार्थ कहते हैं और उपेक्षा करते हैं, वे कितने मानवीय प्रतिभा वाले हैं?

भौतिक राज्य भिन्न-भिन्न छन्दः का परिणाम है। वह भी छन्द भेद से है। वेद ने उद्भिज्, देव, तिर्यक्, मनुष्यादि जीवसमूह के भेद को छन्दः का ही भेद माना है। वेद ने यह भी बताया है कि पंचभूत के किस-किस छन्दः से चेतन-अचेतन, भोक्तृ-भोग्य पदार्थजात का जातिभेद हुआ है। यही नहीं, जीवजगत् की अस्थि, मांस, शिरा, धमनी, स्नायु, पेशी, यकृत, फुफुस प्रभृति शरीर विधान अथवा यन्त्रसमूह भिन्न-भिन्न छन्दः के परिणाम हैं, वेदपाठ से यह भी ज्ञात होता है। जीवजाति में कौन जीवजाति का किस जीवजाति के साथ आकारादि धर्मसम्बन्ध में अल्प-विस्तर सादृश्य है, आधुनिक क्रमविकासवादियों ने उसका तत्वानुसन्धान किया है। यही नहीं वेद पाठ से ज्ञात होता है कि देह, इन्द्रिय, मनः इत्यादि भी पंचमहाभूत के भिन्न-भिन्न छन्दः से उत्पन्न हैं। साथ ही छन्द का सादृश्य ही उनके आकारादि तथा क्रियागत सादृश्य का कारण है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकगण रसायनतन्त्र, भूततन्त्र, गणित, ज्योतिष, उद्भिद्विद्या, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि विज्ञानों की यथाशक्ति उन्नति कर रहे हैं। आधुनिक प्रतीच्य वैज्ञानिकों के समीप मैं इसी कारण अपरिशोधनीय ऋण से बद्ध हूँ। मैं यह कहता हूँ कि इन्होंने मनुष्य जन्म के अनेकतः कर्तव्य साधन किये हैं। इसलिए इन्हें शत सहस्र बार धन्य-धन्य कहने के लिए प्रस्तुत हूँ, किन्तु यह अवश्य कहना होगा कि ये अभी भी वेद का प्रकृतरूप नहीं देख सके। वेद समुद्रोत्थित विज्ञानामृत का

पान करके ऋषिगण ने अमरत्व का लाभ किया है। वे अणिमादि अष्ट विभूति सम्पन्न हो गये हैं। प्रतीच्य वैज्ञानिक आज भी उस विज्ञानामृत का पान कर सकने में समर्थ नहीं हो सके। अनेक कहते हैं "वेदादि का पाठ करने से अनेक सूक्ष्मतत्व का सधूमिक (धूम्राच्छादित) रूप देखा जा सकता है, यथारीति विज्ञान का अनुशीलन न करने से इन सभी सूक्ष्मतत्व का संवाद मिलना प्रशंसनीय है, प्राचीन लोग की कल्पना शक्ति विज्ञान के समीप तक जा पहुँची है, यह विस्मयजनक भी है।" जो ऐसा मत प्रकाश करते हैं, उनके लिए मुझे कहना है कि वे आज भी सम्पूर्णतः यह नहीं जान सके कि वेद की कल्पना सीमा कहाँ तक है। यदि वे यह जान जाये तो हतबुद्धि हो जायेंगे। वेद का कहना है कि देवता, छन्दः, मन्त्र तथा ऋषितत्व सम्यग्रूपेण जानकर जो वेदोपदेशानुसार साधना करेंगे, वे भूत तथा भौतिक पदार्थ के ऊपर आधिपत्य प्राप्त कर सकेंगे। प्रकृति उनकी आज्ञा का पालन करेगी।

वेद के उपदेश को हम जिस भाव से सुनते हैं, वेदभक्त ऋषिगण उसे उस भाव से कदापि नहीं सुनते थे। वे वेद को सत्यमय जानते हैं। वे वेद की बातों को विश्वासपूर्वक मानकर वेदोक्त साधना द्वारा मर्त्यधाम में रहते हुए देवताओं के समान अघटनघटनापटीयसी शक्तियुक्त हो जाते थे। जब तक विश्वास करने की प्रतिभा का जन्म नहीं होगा, तब तक ये सब बातें उन्मत्त का प्रलाप बोध ही लगेंगी। अलौकिक पदार्थ में विश्वास-स्थापन का सामर्थ्य भी छन्दविकास से प्राप्त होता है। मनः में जिस छन्दः के गठित होने पर सूक्ष्मतत्व जिज्ञासा का स्वभावतः (स्वच्छन्दतः) उदय होता है, आप्तोपदेश को श्रेष्ठ मानकर उसके प्रति आदर का भाव आता है, वह अनुकूल छन्दः है। जिसके मनः में ऐसा छन्द गठित नहीं है, उनमें सूक्ष्मतत्व जिज्ञासा का उदय ही नहीं होगा। आप्तोपदेश को वे कभी श्रेष्ठ प्रमाणरूपेण ग्रहण ही नहीं कर सकते। किस छन्दः से किस पदार्थ की सृष्टि हुई है, किंस सृष्ट पदार्थ की अधिष्ठात्री देवता कौन है, जिनमें यह जानने की स्वभाव की प्रेरणा से इच्छा हुई है उनको मैं तैत्तरीय संहिता, ऋग्वेद संहिता, शुक्लयजुर्वेद संहिता, अथर्ववेद संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, दैवत ब्राह्मण, षडविंश ब्राह्मण, शिक्षादि वेदांग समूह तथा यथाविधि गुरु की सेवाजनित स्थिति में इन सभी शास्त्र का अध्ययन करके उपदेश देता हूँ।

विश्वदेवगण यज्ञ द्वारा विश्वजगत् की सृष्टि करते हैं। यज्ञ ही विश्वजगत् के विकास का उपाय है, इन सबको समझने की चेष्टा भी की जा रही है। पुरुषसूक्त में कहा जा रहा है कि आदिपुरुष से विराट् अथवा ब्रह्माण्ड देह की उत्पत्ति हुई। इस ब्रह्माण्डदेह का अधिकरण करके उस देह के अभिमानी एक अनिर्वचनीय पुरुष स्वयं आविर्भूत हो गये। आविर्भूत होकर इन्होंने देव, तिर्यक् तथा मनुष्य इन त्रिविध जीवभाव को प्राप्त किया। जीवभाव प्राप्त होने के पश्चात् इन्होंने भूमि की सृष्टि की

तथा सप्तधातु द्वारा जीवों के शरीर का निर्माण किया।[1] पशु-पक्षी से कीट-पतंगपर्यन्त जीवगण को तिर्यक् जाति कहते हैं। ये तमोगुणप्रधान प्रकृति के कार्य हैं। अतः तामस हैं। ये आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानते। मनुष्य जाति रजःप्रधान प्रकृति से उत्पन्न है। मनुष्यगण किंचित् ज्ञान तथा धर्म में प्रवृत्त रहते हैं। मनुष्य जाति तिर्यक् जाति की अपेक्षा उत्कृष्टतम है। देवजाति सत्वगुणप्रधान प्रकृति से उत्पन्न है। ब्रह्मा इन त्रिविध जाति के जीवगण की पूर्व-पूर्व कर्मानुसार सृष्टि करते हैं। इस बात का क्या अर्थ है "देव, तिर्यक् तथा मनुष्य इन त्रिविध जीवभाव प्राप्त होने पर इन्होंने भूमि की सृष्टि की।" इसका क्या तात्पर्यार्थ है।[2] यहाँ भूमि शब्द की सृष्टि करने के अनन्तर विधाता ने जीवों के पुर (शरीर) का निर्माण किया। यहाँ व्यवहृत पुर शब्द सप्तधातु द्वारा निर्मित भोगायतन देह का वाचक है। जो सप्तधातु द्वारा पूर्ण हो, वह है पुर। (पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुरिति पुरः शरीराणि)। नृसिंहतापनीयोपनिषद् के उत्तर भाग में जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो उपदेश है, यहाँ उसे सुनना आवश्यक है। सायण तथा महीधर उद्धृत मन्त्र का भाष्य करते समय नृसिंहतापनीयोपनिषत् का स्मरण करते हैं। इस उपनिषद् में कहा है कि सभी जीव सर्व अवस्था में सर्वमय हैं। कारण सभी जीव सन्मात्रकारण हैं तथा पृथिव्यादि जातिमात्र के कारणात्मक व्याप्त हैं। यदि सभी जीव सर्वावस्था में सर्वमय न होते, तब कदापि असत् सत् न होता। क्योंकि कारण, स्थूल तथा सूक्ष्म ये तीन शरीर हैं। अविद्या अथवा प्रकृति ही कारणशरीर है। यही कारणशरीर कर्मवशात् भिन्न-भिन्न लिंगशरीर में परिणत हो जाता है। जब लिंगशरीर परिच्छिन्न स्थूल शरीर ग्रहण करता है, तब उसे संकोच की प्राप्ति होती है। जीव सर्वावस्था में सर्वमय है, किन्तु शरीर के अभ्यासवशात् स्वयं को परिच्छिन्न अथवा अल्प मानने लगता है।

हिरण्यगर्भ अथवा प्रजाप्रति अपञ्चीकृत (सूक्ष्म) भूतसमूह से इन्द्रियसमूह, ब्रह्माण्डदेह, अग्नि आदि देवगण तथा अन्नमयादि पंचकोश का निर्माण करके उसमें प्रवेश करते हैं और अमूढ़ होकर भी मूढ़वत्, अपरिच्छिन्न होकर भी परिच्छिन्नवत् इस मायिक व्यवहार का निष्पादन करते हैं कि मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं देवता हूँ, इस प्रकार के मायिक व्यवहार का निष्पादन करके मिथ्यारूप परिच्छेदाभिमान द्वारा वर्तमान रहते हैं।[3] इस विवेचना से यह कियदंश में हृदयङ्गम हुआ। नृसिंहतापनीयोपनिषद् के उपदेश को सुनकर जो प्रश्न उठना सम्भव है, मैं उन

1. "सप्तमिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि"—ऋक्संहिता भाष्य
2. "तस्माद्विराड जायत विराजो अधिपूरुषः।
सजाता अत्यविच्यत पश्चाद्भूमिमथोपुरः"—ऋग्वेद संहिता, 8/90/5
3. "सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः सर्वमयाः सर्वावस्था सु तथाप्यल्पाः स वा एष भूतानिन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च प्रविश्यान्मूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव"—नृसिंहतापनीयोपनिषत्

सबका समाधान यथास्थान करूँगा। जीवजन्म सम्बन्धित साधारण उपदेश सुना। अब यह श्रवण करना है कि किस जीव की किस क्रम से उत्पत्ति होती है।

वेद का मत है कि यज्ञपुरुष ने देवगण के मानसयोग से परितृप्त होकर उस सर्वहूत यज्ञ से प्रथमतः समस्त भोग्यवस्तु का उत्पादन किया। तदनन्तर वायव वायुदैवत अरण्य पशुसमूह की सृष्टि की। तदनन्तर ग्राम्य पशुसमूह की सृष्टि की। इसके अनन्तर ब्राह्मणादि मनुष्य की सृष्टि की। ब्राह्मणादि मनुष्यगण के सृष्टित्व में प्रवृत्त होकर वेद प्रथमतः प्रश्न करते हैं ''देवगण सृष्टि के लिए मानसयोग को विस्तृत करके जब अमोघ संकल्प द्वारा विराट् पुरुष के विराट् शरीर का उत्पादन करते हैं, तब वह विराट् शरीर कितने प्रकार का कल्पित होता है। विराट् का शरीर कितने अंग द्वारा पूर्ण होता है? कौन पदार्थ उस शरीर का मुख होगा? कौन पदार्थ बाहुयुगल होगा? कौन पदार्थ उरुयुगल होगा? तथा कौन पदार्थ पदयुगल होगा?''

यहाँ वेद स्वयं प्रश्नकर्ता है तथा स्वयं ही उत्तर देने वाला भी है। मन्त्र में सामान्य प्रश्न तथा विशेष प्रश्न किया गया है। मन्त्र के प्रथमार्द्ध में पहला प्रश्न है 'सामान्यभाव में विराट् शरीर कितने प्रकार का कल्पित है?' शेषार्द्ध में 'कौन पदार्थ विराट् पुरुष का मुख होगा?' इत्यादि चार प्रश्न किये गये हैं। विराट् पुरुष तथा विराट् शरीर, इन दोनों का क्या अर्थ है? समष्टि पुरुष तथा समष्टि जीव (देवता से लेकर कीट-पतंगपर्यन्त जीव) इस विराट् पुरुष के तथा समष्टि शरीर देवशरीर से लगाकर कृमि कीटपर्यन्त समस्त जीव शरीर विराट् शरीर के वैराजरूप के वाचक हैं। पुरुष तथा शरीर-सृष्टि के ये दो अंग हैं। इसलिए विराट् सृष्टितत्व का उपदेश करते समय विराट् पुरुष की उत्पत्ति, आविर्भाव, विराट् शरीर के वैराजरूप की उत्पत्ति का उपदेश आवश्यक है। पुरुषसूक्त के प्रथम मन्त्र में विराट् पुरुष के आविर्भाव का उपदेश है। लिंगशरीर तथा स्थूलशरीर की विवेचना हो चुकी है। विराट् शरीरोत्पत्ति की व्याख्या करते समय इन द्विविध शरीर की व्याख्या करना कर्तव्य है। इसी कारण से वेद ने विराट् पुरुष के लिंगशरीर तथा स्थूलशरीर के उत्पत्तितत्व का उपदेश दिया है। देवगण ने ब्राह्मण को विराट् का मुखरूप कहा है। क्षत्रियत्व जाति विशेष को पुरुष का बाहुयुगल रूप, वैश्य को उरुयुगल रूप तथा शूद्र की कल्पना पुरुष के पादयुगल रूप में की गयी है।[1] विराट् पुरुष का कौन पदार्थ मुख हुआ? इत्यादि चारों प्रश्नों का उत्तर देने के अनन्तर वेद कहते हैं कि प्रजापति के मन से चन्द्रमा की, चक्षु से सूर्य की, मुख से इन्द्र तथा अग्नि की, प्राण से वायु की, नाभि से अन्तरिक्ष की, मस्तक से द्युलोक की, पादयुगल से भूमि की, श्रोत्र से दशों दिशाओं

---

1. ''यत्पुरुषं वदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्या किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥''
''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्वाहू राजन्यः कृतः। उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।''
—पुरुषसूक्त

की उत्पत्ति हुई है।[1] तैत्तरीय संहिता अथवा शुक्लयजुर्वेद के सप्तम काण्ड में कहा गया है कि प्रजापति ने प्रजा सृष्टि के लिए इच्छुक होकर सृष्टि साधन अग्निष्टोम यज्ञ का अनुष्ठान किया। इसके अनुष्ठान से उनके मुख से संकल्प द्वारा प्रथमतः देवताओं में अग्नि की, तदनन्तर छन्दः में गायत्री की, तदनन्तर ब्राह्मण की तथा पशुओं में सबसे पहले अज (बकरे) की सृष्टि हुई। मुखजनित सृष्टि होने के कारण यह वक्ष्यमाण सृष्टि से श्रेष्ठ है। इसके अनन्तर बाहुद्वय से इन्द्र की तथा त्रिष्टुपछन्द की तथा मनुष्यों में क्षत्रिय की सृष्टि की और पशुओं में मेष (भेड़) की सृष्टि की।[2]

इन्द्रादि बाहुद्वय से उत्पन्न होने के कारण अधिक सामर्थ्य वाले हैं। इसके अनन्तर मध्य तथा उदर से विश्वदेवगण, जगत्ीच्छन्द, वैश्य जाति तथा गाय की सृष्टि की। विश्वेदेवगण, जगत्ीच्छन्दः ये अन्नाधार उदर से उत्पन्न होने के कारण भोग्य हैं। वैश्यगण वाणिज्य से धनसम्पादक होने से भोग्य हैं, गाय सकल क्षीरादिसम्पादन द्वारा भोग्य है। इसके अनन्तर पादयुगल से अनुष्टुप् छन्द का, क्षुद्र का तथा अश्व का उदय हुआ।

यथोक्त सृष्टितत्व का तात्पर्य उपलब्ध करना हमारे लिए (अपनी वर्तमान प्रतिभा की स्थिति में) असम्भव है। दर्शनशास्त्र में भी सृष्टि की कथा है, किन्तु वह आलंकारिकभाव से आवृत नहीं है। उस पर इस प्रकार के अविज्ञेय रूपकों का आवरण नहीं है। चेतन अधिष्ठान के बिना अचेतन कभी भी कोई कर्म नहीं कर सकता। कार्यमात्र ही चेतन कर्तृक है। अतएव विश्वकार्य के कोई चेतन कर्ता हैं। ईश्वर परमाणुपुंज से जगत्-सृष्टि करते हैं अथवा चैतन्याधिष्ठिता त्रिगुणात्मिका प्रकृति से विश्वजगत् का सर्वपरिणाम होता है। इन सब बातों को किस प्रकार से चिन्तन का विषय बनाया जाय? पूर्वकर्म संस्कारों को चिन्तनरूप से लिया जा सकता है, किन्तु यह सब क्या है? इनका तात्पर्य परिग्रह कैसे सम्भव होगा? आजकल जो वेद का आदर इस कारण करते हैं कि यह प्राचीन काल का है अथवा हमारे पूर्वजों की कीर्ति है, वे भी क्या सहजज्ञान से अर्थशून्य रूप से उपलभ्यमान इन सभी वाक्यों का तात्पर्य समझा सकते हैं? समझा सकना तो दूर की बात है, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे स्वयं इसे समझ सकें! पण्डित स्पेन्सर कहते हैं— "प्रत्येक जीव-जाति का शरीर ईश्वर के अधिष्ठातृत्व अथवा दैव माध्यस्थ (Divine interposition) से निर्मित है" जो ऐसे सिद्धान्त को मानते हैं, वे

---

1. "चन्द्रमा मनसो जात श्चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखारग्निरजायत॥"
"नाभ्यां आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यांभूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथालोकाँ अकल्पयन्।"
—पुरुषसूक्त

2. "प्रजापतिरकामयत् प्रजायेयेति स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत तदग्निर्दै वातान्वसृज्यत् गायत्रीच्छन्दो रथन्तरं साम ब्राह्मणो मनुष्याणामजः पशूनां तस्मात्तु मुखतो ह्यसृजन्तो..."
—कृष्णयजुर्वेद संहिता, 7/1/1

व्यवहृत शब्दों के अर्थ की भावना नहीं कर पाते, उनकी योग्यता अथवा आप्ति विचार से विमुख है। वे वास्तव में जो कुछ कहते हैं, उसी में उनका विश्वास नहीं है, तब भी कहते हैं कि मुझे विश्वास है।[1]

जिस विषय की उपलब्धि हो ही नहीं सकी है, उस पर विश्वास स्थापित करना कभी सम्भव नहीं है। विश्वास सदैव विश्वास पदार्थ के अनुभव से ही होता है, वह अनुभवमूलक है। यह कभी भी अनुभवमूलक नहीं है कि "विशेष-विशेष जीव-जाति का शरीर दैव माध्यस्थ से निर्मित है", क्योंकि हम इसका अनुभव कर ही नहीं सकते। विद्वान् स्पेन्सर आगे कहते हैं कि असभ्य मनुष्य यह धारणा बना लेते हैं कि प्रत्येक विस्मयावह व्यापार पृथक्-पृथक् शरीरी द्वारा किया गया है। ऐसे विश्वास से ही बहुदेवतावाद का जन्म हो सका है। प्रकृति के भिन्न-भिन्न अधिष्ठातृ देवादि हैं, यह धारणा मनुष्यमात्र में असभ्य स्थिति में विद्यमान रही है। अनुसन्धान से यह स्पष्ट हो जायेगा। विद्वान् स्पेन्सर जो कुछ कह रहे हैं, उसमें कोई सार नहीं है। असभ्यावस्था में मनुष्य प्रत्येक विस्मयपूर्ण घटना को दैव माध्यस्थ अथवा ईश्वर अधिष्ठातृत्व को ही कारण मान लेता है, क्या यह झूठ है? यह मिथ्या नहीं है, तब भी जिज्ञासा होती है कि असभ्यावस्था में मनुष्य जिस विस्मयजन घटनाक्रम का कारण दैव माध्यस्थ को मान लेता था, उसका कारण क्या है? कार्यकारण ज्ञान की अपूर्णता ही उसका कारण है। असभ्य लोगों का कार्यकारण ज्ञान नितान्त अपरिपुष्ट था, वे सूक्ष्मदर्शी नहीं थे। ऐसी स्थिति में उनका व्याप्तिज्ञान संकीर्ण होना स्वाभाविक-सा है। इसी कारण वे सभी कार्य के कारण को स्पष्टतः नहीं देख सके। इसी से सभी कार्य को वे देवता अथवा सूक्ष्म चेतनाओं द्वारा किया मानने लगे। इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर हो सकता है?

अब अन्य प्रश्न उत्थित होता है कि "मनुष्य जाति की असभ्य अवस्था में ऐसा विश्वास था" क्या इस वाक्य से यह सिद्धान्त नहीं हो सकता कि "मनुष्य जाति की सभ्यावस्था में अब ऐसा विश्वास नहीं है।" जिसके रहने पर जो है, उसके न रहने पर वह नहीं है, यदि यह सत्य है, तब यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि असभ्यावस्था में जो था, अब वैसा सभ्यावस्था में नहीं है। और यह सिद्धान्त न्यायसंगत भी है। असभ्यावस्था का विश्वास सभ्यावस्था में भी एकबारगी तिरोहित नहीं हो जाता, इसका कारण क्या है? नितान्त बर्बरावस्था के लोगों में से केप्लर

1. "We all know that the savage thinks of each striking phenomenon or group of phenomena, as caused by some seperate personal agent; that out of this conception there grows up a polytheistic conceptions in which these minor personalities are variously generalized into detiespresiding over different divisions of nature; and that there are eventually further generalized." —Principles of Biology, Vol 1, Pg. 418

(Kepler) को अनेकांश में सभ्य कहना होगा। केप्लर प्रभृति विद्वानों ने भी चेतन पुरुष के अधिष्ठातृत्व को स्वीकार किया है। केप्लर की यह धारणा है कि ग्रहगण अपनी-अपनी कक्षा में नियामक चेतन-पदार्थ द्वारा घृत हैं (Kepler assumed guiding spirits to keep the planets in their orbits)। विद्वान् ग्रैभ (Grab) ने कहा है कि जितने भी निविष्ट चित्त से पदार्थों का अनुसन्धान किया जाये, उतनी ही दृढ़ प्रतीति होती है कि भूत (Matter) क्या है, भौतिक शक्ति क्या है, कौन पदार्थ है जिसे नाश करना सम्भव नहीं है, किस कार्य के मूल कारणानुसन्धान का ज्ञात होना सम्भव नहीं है, तब यह मानना पड़ता है कि ईश्वरेच्छा ही निखिल कार्य का मूलकारण है, सृष्टि ईश्वर की कृति है।[1]

अध्यापक टेट तथा व्यालफोर्ट स्टुअर्ट अपने ग्रन्थ Unseen Universe में कहते हैं कि व्यक्त जगत् का परिणाम चैतन्याधिष्ठित अव्यक्त के द्वारा होता है। क्रमविकासवादी वेल्स भी ईश्वरेच्छा को ही मूल शक्तिरूप मानते हैं। रासायनिक विद्वान् कुक का विचार पहले ही कहा जा चुका है। अतएव मानना होगा कि सभ्यावस्था में असभ्यावस्था का विचार अन्तर्हित नहीं हो जाता। यही नहीं, प्रतीच्य वैज्ञानिकों के ग्रन्थ-पाठ से यह विदित होगा कि एक सुसभ्य व्यक्ति में भी अवसर आने पर असभ्योचित विश्वास, बर्बरावस्था का संस्कार जाग उठता है। विद्वान् हक्सले को 15 वर्ष पूर्व यह विश्वास था कि अचेतन अथवा जड़ प्रोटोप्लाज़्म से प्राण की अभिव्यक्ति हुई है यह कदापि सम्भव नहीं है। उन्होंने प्राणपन से इसके समर्थन में प्रमाण भी एकत्र किये। परन्तु 15 वर्ष के उपरान्त उन्होंने मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार किया कि "प्राण जड़ शक्ति का ही परिणाम है।" विद्वान् स्पेन्सर भी क्या सभ्योचित विश्वास को अटल रूप में धारण करने में समर्थ हो सके? क्या असभ्य काल का संस्कार उनके सभ्यतासंस्कृत हृदय में बीच-बीच में नहीं जागा? क्या उन्होंने बीच-बीच में अतार्किक भाव से यह स्वीकार नहीं किया कि "क्रमविकासवाद की जड़ वैज्ञानिक दृष्टि प्रतिभातरूप जड़वादात्मक नहीं हैं। हम जड़वादी नहीं है"। अतएव इस वाक्य को अव्यभिचारी नहीं कह सकते कि "प्रत्येक विस्मयावह व्यापार का दैव माध्यस्थक रूप से अवधारण, ईश्वर कर्तृत्व विश्वास स्थापन, केवल असभ्यावस्था में ही किया गया"।

असभ्यावस्था में भी जैसे असभ्योचित ज्ञान तथा विश्वास का एकबारगी तिरोधान नहीं होता, उसी प्रकार राग-द्वेषरहित सत्यसन्ध होकर खोज करने से प्रतीति

---

1. "In all phenomena, the more closely they are investigated, the more we convinced that humanly speaking, neither matter nor force can be created or annihilated, and that an essential cause is unattainable. Causation is the will, creation the Act of God."
—Corelation of Forces, Pg. 218

होगी कि असभ्यावस्था में भी चरम-सभ्योचित ज्ञान-विश्वास क्वचित् विद्यमान था। क्रमविकासवादी विद्वान् वेल्स प्रभृति विद्वान् स्पष्टतः मानते हैं कि धर्म, नीति तथा दर्शनजनित उन्नति जितनी प्राच्यदेशों में हुई थी, वर्तमान काल में इस सुसभ्यावस्था में भी नहीं हो सकी है।[1] वेद से प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त ही नहीं होता। मोक्षमूलर प्रभृति पण्डितों ने यह स्वीकार किया है। वेदपाठ से ज्ञात होगा कि उसमें जो उच्चतम दार्शनिक सिद्धान्त वाक्य सन्निवेशित हैं, वर्तमान काल का कोई भी दार्शनिक उनके सम्पूर्ण मर्म को भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। तदनन्तर विज्ञान में भी विमलरूप वेद ही परिलक्षित होता है। तभी कहता हूँ कि विद्वान् स्पेन्सर ने जो कहा है, वह असार न होने पर भी व्यभिचारदोष दूषित है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, महत्तत्व के कार्य अथवा धर्म हैं। महत्तत्व निरतिशय सत्वगुणप्रधान प्रकृति का परिणाम है। महत्तत्व में रजः तमः गुण अथवा शक्तिद्वय के उपरागवशात् क्षुद्रधर्म, अज्ञान अथवा संकीर्ण ज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य इत्यादि का कारण हो जाता है। अतएव संस्कार की मलिनता के कारण बुद्धि मलिन होती है। दृष्टिशक्ति स्थूल में ही निबद्ध हो जाती है। कार्यमात्र का कारण है, यह विश्वास सहज है। इस सहज विश्वास के कारण लोक में कार्य के कारणानुसन्धान की प्रवृत्ति का उदय होता है और अपनी-अपनी प्रतिभा के आधार पर विविध सिद्धान्तों का जन्म होता है।

एमेनुअलकान्ट प्रभृति कतिपय दार्शनिकों ने इस बात को स्वीकार किया है किन्तु मिल, स्पेन्सर, वेन आदि इसे नहीं मानते। जो बात मिल आदि विद्वान् नहीं मानते उसे कान्ट प्रभृति मानते हैं, इसका क्या कारण है? क्या ये कान्ट से अधिक सभ्य हैं, क्या इनका ज्ञान कान्ट प्रभृति प्राग्भवीय संस्कार वादीगण से अधिकतर परिपुष्ट तथा व्यापकतर है? अथवा अन्य कोई कारण है? स्पेन्सर कहते हैं कि प्राचीन ज्ञान पुरातन संस्कार प्रायः सत्यभूमिक नहीं हैं। (Early ideas are not usually true ideas)। इन्होंने जो सिद्धान्त किया है, वह अपरिपुष्ट बुद्धि व्यक्तिविशेष हो अथवा जातिविशेष वाला हो, उस सिद्धान्त के साथ सत्य का कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं, इसकी अवधारणा के लिए उनका पुनः-पुनः परीक्षण

---

1. "Taken in connection with the great intellectual power of the ancient Greeks, which Mr. Galton believes to have been for above that of the average of any modern nation and the elevation, at once intellectual and moral, displayed is the writings of Confucious, Zoroster and the Vedas, they point to the conclusion that, while in material progress there has been a tolerably steady advacnce, man's intellectual and moral development reached almost its highest level in a very remote post."
—Natural Selection and Tropical Nature
by A.W. Wallaee, Pg. 437-452

आवश्यक होता है। यदि ऐसा नहीं होता तब किसी नूतन तथ्य की खोज ही न होती और ज्ञान की वृद्धि भी सम्भव नहीं होती। पौरुष के बोध अथवा प्रमा (Thoughts) के साथ प्रमेय विषय तथा अर्थ का (Things) सम्मेलन ही, एकीकरण ही ज्ञान की उन्नति है। चित्तवृत्ति के साथ अर्थक्रिया के संवाद (Harmony with things) से प्रामाण्य का विनिश्चय होता है। इससे यह प्रतिपन्न होता है कि आद्यपौरुष का बोध सबको होता है। यदि सर्वतोभावेन अर्थक्रिया से संगति नही है तो न हो, नितान्त सामान्यभाव की संगति तो है। यदि जो कुछ कहा गया है, उसका प्रमाण भी आवश्यक है, तब प्रत्येक विज्ञान का इतिहास उसका यथेष्ट प्रमाण प्रस्तुत करे। पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर कतिपय प्राचीन ज्ञान-विश्वास के दृष्टान्तरूपेण प्रतिपादन की चेष्टा करते हैं कि प्राचीन ज्ञान विश्वास प्रायः अपरिपुष्ट हैं। प्रायः भ्रमात्मक है और अर्थक्रिया का विसंवादी है।

प्राचीन लोगों के खगोल संस्थान (Structure) सम्बन्धित ज्ञान भ्रान्त हैं, तत्सम्बन्धित उत्तरकालीन सिद्धान्त क्रमशः सत्य के निकट है। पृथ्वी की प्रकृति सम्बन्धित प्राचीन लोगों की धारणा भ्रान्त है। यह प्राचीन भ्रान्त धारण सभ्यता की प्रथमावस्था में विद्यमान थी। प्राचीन लोगों का रूढ़ पदार्थ तथा मूलभूत विषयक विश्वास भ्रम-प्रमाद परिकल्पित है। भौतिक पदार्थ समूह के रासायनिक संयोग-वियोग तथ्य कुछ समय पहले सुन्दररूप से परिज्ञात हो सके हैं। यन्त्रविज्ञान, शरीरविज्ञान प्रभृति प्राकृतिक विज्ञान में प्राचीन ज्ञान से नवीनता है कि वे प्रकृष्ट उन्नति का विधान करते हैं। अतः प्राचीन लोगों का वैशेषिक सृष्टिवाद भी भ्रान्त धारणा है, क्या यह नहीं कहा जा सकता? जिनका स्थूलविषयक ज्ञान इतना अपरिपुष्ट है, इतना भ्रमात्मक है, वे लोग किसी स्थूलविषयक ज्ञान को भी परिपुष्ट नहीं कर सकते हैं, तब वे सूक्ष्म विषयक अभ्रान्त सिद्धान्त की खोज करेंगे, क्या ऐसा विश्वास है? जिनका प्रत्यक्ष इतना संकीर्ण है, इतना व्यभिचारी है, उनके परोक्षविषयक ज्ञान को इतना अव्यभिचारी कैसे कहा जाये?

यह सब पण्डित स्पेन्सर की उक्ति है। इनके इस कथन से ज्ञात होता है कि कान्ट प्रभृति दार्शनिक विद्वान् जो सहज ज्ञान के (Innate ideas) अस्तित्व में विश्वास करते हैं, ज्ञान की अपरिपुष्टि ही उसका हेतु है। विद्वान् स्पेन्सर 'प्राचीन लोगों का ज्ञान विश्वास भ्रान्त है' इस नियमानुसार कान्ट के ज्ञान विश्वास को भ्रान्त बता सकते हैं, किन्तु टैट, बैलफोर स्टुअर्ट, कुक, वायलेस, वील, मार्टिन, ग्रीन प्रभृति तो प्राचीन नहीं हैं। ये तो स्पेन्सर से हाथ मिलाते हैं, हैन्डशेक करते हैं, अतः आधुनिक हैं, तब इन लोगों ने क्यों चेतन अधिष्ठातृत्व को माना है? इन लोगों ने क्यों इच्छाशक्ति को सभी शक्ति के मूलरूप से अवधारित किया है? "प्राचीनगण का ज्ञान विश्वास ही भ्रान्त है" इस बात को माना, किन्तु वर्तमान में विज्ञान का अध्ययन

तथा अध्यापन करने में लगे टैट प्रभृति नवीन वैज्ञानिकों के मन में असभ्योचित विश्वास ने स्थान क्यों पाया? सभ्यता की विमल वायु का सेवन करते-करते समय-समय पर असभ्यता की भ्रान्त दुर्गन्धमय वायु का सेवन करने की इच्छा इन विद्वानों को क्यों हो गयी? जो भी हो, विद्वान् स्पेन्सर के सिद्धान्त अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषयुक्त हैं। क्रमविकासवाद के समर्थक विद्वान् वेल्स कहते हैं कि पृथ्वी के प्राय: सभी देश आंशिक सभ्यता तथा बर्बरता के पर्याय क्रम से आवर्तन करते हैं।[1]

पण्डित वेल्स ने जो सम्भव है वह कहा, किन्तु जो होना सम्भव है, वह क्यों सम्भव है, यह नहीं बताया। भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था यह है कि वह प्राचीन अवस्था से अवनत है, इस पर विश्वास करना ही होगा। अभ्युदयशील पाश्चात्य कोविद्कुल के प्रसाद भोजन पूर्वक नवीन क्षितितमन्य भारतवासीगण पूर्व पुरुषों को असभ्य कह रहे हैं, बर्बर कहते हैं, तथा उनसे स्वयं को सम्मुन्नत मानते हैं। किन्तु अणुवीक्षण, दूरदर्शनादि यन्त्रों की सहायता के बिना हमारे पूर्वपुरुषों ने प्राकृतिक विज्ञान की जैसी उन्नति का विधान किया था, वर्तमान उन्नतमय भारत सन्तानगण अणुवीक्षणादि यन्त्र की सहायता से क्या आज तक उनके सहस्रांश की भी उन्नति कर सके हैं? प्राचीनों के गम्भीरार्थक, स्वल्पाक्षर उपदेश समूह का यथायथभाव से तात्पर्य समझ सकने में वर्तमान काल के कितने उन्नतिमन्य भारतवासी सक्षम हैं? क्या वैसे एक भी प्रतिभाशाली ने वर्तमान में जन्म लिया है? ताजमहल के कार्य में दोष दिखलाने वाले लोग तो अनेक मिल सकते हैं, किन्तु उसके जैसे एक पत्थर को यथास्थान लगाने में सक्षम लोग शायद विरल हैं। जो यूरोपीय विद्वान् ज्योतिष की उन्नति में हिन्दुओं के प्राधान्य को स्वीकार करने में असहमत हैं, उनको मानना होगा कि इसी 3101 वर्ष पूर्व, अर्थात् कलिकाल के प्रारम्भ में भारतीय ज्योतिर्विदों ने पर्यवेक्षणपूर्वक यह सब गणना कर ली थी, वह आज भी विद्यमान है। वेली नामक फ्रांस के ज्योतिर्विद् कहते हैं कि हिन्दुओं ने जो ज्योतिष ग्रन्थ 5000 वर्ष पूर्व प्रणीत किया था, वह आज भी प्राप्त है। उसके पठन से यह विदित होता है कि उस काल में भी हिन्दू जाति ने उस शास्त्र में विशेष उत्कर्ष प्राप्त किया था। केशिन, प्लेफेयर प्रभृति विख्यात पाश्चात्य विद्वानों ने इस मत का पोषण किया है। किम्बहुना, कोई-कोई इसका अपलाप भी करते हैं।

वेन्टली नामक ब्रिटिश ज्योतिर्विद ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि प्राय: 3290 वर्ष पूर्व जब ग्रीस में ज्योतिष का सूत्रपात भी नहीं था, तभी हिन्दुओं ने चन्द्र के 27 नक्षत्रों का निरूपण कर दिया था। यूरोप में जो विषय मात्र 200 वर्ष पूर्व परिज्ञात हो

---

1. "Thus in almost every part of the globe there may have been a long succession of partial civilizations, each in turn succeded by a period of Barbarism."

—Natural Selection and Tropical Nature, pg. 432

सका है, वह भारत में दो सहस्र वर्ष से भी पूर्व से प्रकाशित पाया गया है। इन लोगों ने विदेशी होकर भी सत्य की खोज के लिए जैसा श्रम किया है, क्या वैसा श्रम पितृद्वेषी, स्वदेश के प्रति ममताविहीन, परपिण्डाद, शिक्षितमन्य भारतीयों में से कोई एक भी करेगा? भगवान् ने गुणानुसार ही सुख-दुःख की व्यवस्था की है। पाश्चात्य देश के सत्यसन्ध, ज्ञानपिपासु, स्वदेशप्रियतादि विविधगुणयुक्त शौर्यवीर्यसम्पन्न, स्वधर्मनिष्ठ को सर्वसाक्षी, सर्वकर्मफलप्रद भगवान् ने तभी पृथ्वी का शासनभार दिया है। ऋग्वेदसंहिता से ज्ञात होता है कि अत्रिकुल में उत्पन्न ऋषिगण गणित द्वारा सूर्यग्रहण-विषयक समीचीन ज्ञान लाभ कर चुके थे।[1] अतएव भारत में गणित की समधिक उन्नति अति प्राचीन काल से है, यह निसन्दिग्ध है। प्राचीन सूर्यसिद्धान्त नामक ग्रन्थपाठ से ज्ञात होता है कि अव्यक्त गणित, त्रिकोणमिति प्रभृति का जो भारतवर्ष में स्मरणातीत काल से अनुशीलन हो रहा है, यह प्रतिपन्न होता है। विद्वान् स्पेन्सर का यह मत कि जो प्राचीन है, वही भ्रान्त है, सत्यभूमिक नहीं है। इसे समझाने के लिए यह संक्षिप्त तथ्य प्रस्तुत किये गये। भारतवर्ष में भूततन्त्र (Physics), रसायनतन्त्र, चिकित्सा विज्ञान की कितनी उन्नति हो चुकी थी, यह कहना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। अतः यहाँ इस विषय में अधिक नहीं कहना है।

वेद से जीवन जन्म सम्बन्ध जो-जो उपदेश मिला है, उसका तात्पर्य जानने के लिए आत्मा, परमात्मा, लिंगदेह, देवता, कर्म, छन्दः का स्वरूप क्या है, वह पहले जानना आवश्यक है। पौरुष का बोध तथा प्रमा के साथ अर्थ का सम्मेलन, एकीकरण प्रामाण्य विनिश्चय का उपाय अवश्य है। किन्तु ये सब विषय स्थूल प्रत्यक्ष के विषयीभूत नहीं होते। उनका ज्ञान तब कैसे अवधारित हो? यदि स्थूल प्रत्यक्ष का जो विषय नहीं है, उसे अंगीकार करना सभ्यता के नियम से विरुद्ध न हो, तब यदि उन्नति प्रार्थी द्वारा उनका तत्वानुसन्धान प्रयोजनीय माना जाये, तब उनके स्वरूपावधारण का उपाय जानना आवश्यक है। प्रेक्षावान का यह कर्तव्य है कि वह परीक्षण करके तभी सत्य तथा मिथ्या का निर्णय करे। क्या विद्वान् स्पेन्सर ने यथोचित परीक्षण से यह सब सिद्धान्त उपनीत किया है कि लिंगशरीर नहीं है, देवता का अस्तित्व प्रमाणविरुद्ध है, देहातिरिक्त आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना असभ्यावस्था के लोगों का नियम है?

मेरा विश्वास है कि विद्वान् स्पेन्सर आदि जड़ैकत्ववादी विद्वान् प्रागुप्त आत्मादि समूह का परीक्षण किये बिना यह सिद्धान्त बना बैठे कि उनका अस्तित्व असम्भव है। यह पहले विवेचित हो चुका है कि अलौकिक पदार्थ के अस्तित्व पर विश्वास करने की योग्यता छन्द से विकास प्राप्त होने पर आती है। छन्द के भेद से

---

1. "यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन्"—ऋग्वेदसंहिता, 4/4/1

विकास प्राप्त होकर ज्ञान, विश्वास, प्रवृत्ति सभी प्रतिभानुसार भिन्न-भिन्न आकार धारण करते हैं। जिन्होंने विश्वास करने की योग्यता लेकर जन्मग्रहण किया है, वे ही विश्वास कर सकते हैं। उससे अतिरिक्त पदार्थ पर विश्वास-स्थापन उनके लिए असम्भव है। विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि विश्वास अनुभवमूलक है। जिसका अनुभवन नहीं होता, उस पर विश्वास करना वास्तविक विश्वास नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विश्वास अनुभवमूलक है। अनुभव के बिना जो विश्वास होता है, वह वास्तव में विश्वास नहीं है। वह केवल आभासमान विश्वास है। यह शास्त्र कहते हैं। तब विद्वान् स्पेन्सर ने अनुभव का जो अर्थ किया है, उसकी तुलना में शास्त्र ने वैसा संकीर्ण अर्थ नहीं किया है।

नैयायिकों ने बुद्धि (उपलब्धि-ज्ञान) को अनुभूति तथा स्मृति इन दो भागों में विभक्त किया है। अनुभूति को 4 भागों में विभक्त किया है प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शब्दज। अनुभव शब्द की व्युत्पत्ति से इनका स्वरूप सुन्दर रूप से निर्णीत हो जाता है। 'अनु' पूर्वक 'भू' धातु के उत्तर में 'अप' प्रत्यय लगाने से अनुभव पद सिद्ध होता है। 'भू' धातु प्राप्त्यर्थक भी है तथा प्राप्त्यर्थक धातु ज्ञानार्थक भी है। 'अनु' शब्द यहाँ पर पश्चादर्थवादी है। अनुभव अतः 'पाश्चात्य प्रकाश' इस अर्थ का वाचक है। 'पश्चात्' शब्द अपर शब्द के उत्तर में प्रथमा, पंचमी अथवा सप्तम्यर्थ 'आति' प्रत्यय लगाने से सिद्ध हो जाता है (पश्चात्। पाणिनि 5/3/32)। अपर, पर, पूर्व, ये सभी आपेक्षिक शब्द हैं। पूर्व की तुलना में 'अपर'—अपर। अतएव अनुभव शब्द की व्युत्पत्ति से प्रतिपन्न होता है 'हम जो अनुभव करते हैं। वह बुद्धि का विषय'। तार्किकगण भाषान्तर में इस बुद्धिस्थ संस्कार को ही, चित्त में इस पूर्वतर अधिष्ठान के प्रकाश को ही, निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं। कान्ट इसी को प्राग्भवीय संस्कार (A priori element in all knowledge) कहते हैं।

किसी द्रव्य के साथ हमारी इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर जैसी क्रिया होती है, अध्यवसायिनी बुद्धि उसे तद्रूप निश्चित करती है। बुद्धि से उस कर्म का संस्कार लग्न रहता है। उक्त द्रव्य के साथ इन्द्रियों की पुनः सम्बन्धजनित क्रिया पूर्वानुभूत क्रिया के समान होती है। तब बुद्धि के द्वारा उसका स्वरूप निश्चित होने पर हम समझ पाते हैं कि यह अमुक द्रव्य है। इसलिए 'यह इस प्रकार का है' तथा 'इस प्रकार का नहीं है' यह सब बुद्धिस्थ संस्कार अथवा प्रतिभा द्वारा ही निश्चित होता है। इसीलिए भर्तृहरि कहते हैं कि सभी अपनी-अपनी प्रतिभा से यह सिद्धान्त बनाते हैं कि 'यह ऐसा है'। ज्ञान, विश्वास, विवेक, धर्माधर्मादि वृत्ति इत्यादि की नियन्त्री प्रतिभा ही है। वही व्यवस्थापिका है। प्रतिभा से ही जाति तथा व्यक्तिगत ज्ञान-विश्वासादि व्यवस्थापित होते हैं। वाह्यपदार्थ नहीं अपितु विज्ञान ही एकमात्र सत्य है, जिन्होंने ऐसी प्रतिभा के साथ जन्म लिया है, वे ही विज्ञानवादी (Idealist) हैं।

'जड़ पदार्थ के बिना अन्य कोई पदार्थ नहीं है', जो ऐसी प्रतिभा लेकर जन्मे हैं, वे जड़वादी हो जाते हैं। जिन्होंने ऐसी प्रतिभा के साथ जन्म लिया है कि ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु है, उससे अलग कुछ नहीं है, सच्चिदानन्दमय ब्रह्म ही विश्वजगत् के उपादान हैं, वे ही निमित्त कारण हैं, वे अद्वैत ब्रह्मवाद के पक्षपाती हो जाते हैं। फलतः सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, सत्कारणवाद, असत्कारणवाद, ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रमाणवाद, स्वतः प्रामाण्य और स्वतः अप्रमाण्यवाद, परतः प्रामाण्य एवं परतः अप्रामाण्यवाद, परतः प्रामाण्य तथा स्वतः अप्रामाण्यवाद इत्यादि सभी वाद भिन्न-भिन्न प्रतिभामूलक हैं। सत्वादि गुणत्रय के पृथक्-पृथक् छन्दः के परिणाम से पृथक्-पृथक् वादों का आविर्भाव होता है।

जिस कारण से वाह्य प्रकृति में विचित्रता होती है, आन्तर प्रकृति में भी उसी कारण से विचित्रता हो जाती है। जिन्होंने गीतापाठ किया है, वे सत्वादि गुणभेद से मत और ज्ञान के भेद के तथ्य को जानते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—जो ज्ञान द्वारा सर्वभूत में, ब्रह्मादि स्थावरान्त पदार्थसमूह में एक अव्यय, अपरिणामी भाव को, एक अखण्ड वस्तु को देखते हैं, नाना नाम तथा रूपान्तर भेद के कारण विभक्त, भिन्न-भिन्न रूप में उपलभ्यमान पदार्थजात में जो ज्ञान द्वारा एक अविभक्त भाव को अद्वितीय अखण्डैकरस परमात्मा परिग्रह जानकर उसमें रत रहते हैं, ऐसे एकात्म्य ज्ञानी को सात्विक जानो। सत्वगुणाधिक्य से विभक्त में अविभक्त भाव का, विशेष में सामान्य का (Identity amidist diversity) आविष्कार हुआ है। अध्यापक जेवन्स सात्विक ज्ञान को ही Science शब्द से लक्ष्य करते हैं। जिस ज्ञान द्वारा[1] सर्वभूत में पृथकत्व हेतु पृथक्-पृथक् नानाभाव हो जाता है—वह राजस है। यही भेदबुद्धि का कारण है। जिस ज्ञान द्वारा एक ही कार्य की कृत्स्नवत् समस्त अथवा परिपूर्णवत् विवेचना हो, देह तथा दृश्यमान जगत् को ही आत्मा माना जाये, यह कहा जाये कि जड़शक्ति के अतिरिक्त ईश्वर नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, व्यक्ति ऐसे अभिनिवेश से युक्त हो, जो ज्ञान अहेतुक हो—जिसमें शास्त्रादि, आप्तवचन आदि हेतु न हो, जो ज्ञान उपपत्ति-युक्ति से शून्य हो, परमार्थिक आलम्बनरहित हो, अल्प विषय अल्पफल हो, वह है तामस ज्ञान। यह तमोगुणाधिक्य से विकसित होता है।

तामस ज्ञान वाला व्यक्ति लौकिक के अतिरिक्त किसी अलौकिक पदार्थ के अस्तित्व को हृदय में धारण नहीं कर सकता। लौकिक कर्म के अतिरिक्त स्वर्गादि प्रापक, मोक्षप्राप्ति के हेतु भूत किसी कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त नहीं होता। श्रीभगवान् सात्विक, राजस तथा तामस ज्ञान का प्रदर्शन करते समय जो कुछ कह गये हैं, उसके तात्पर्य का परिग्रह करने से इस प्रश्न की सुन्दर मीमांसा होगी कि 'मतभेद का कारण

1. श्रीमद्भगवद्गीता—18/20-22

क्या है?' अद्वैत, द्वैत, जड़ैकत्ववाद, विज्ञानेकैत्ववाद इत्यादि वाद समूह त्रिगुणभेद से आविर्भूत हैं, यह ज्ञात हो जायेगा। अतः जिनकी जैसी प्रतिभा है, वे उसी प्रकार का कर्म करे, यह स्थिर है।

अलौकिक पदार्थ के अस्तित्व के कारण में सभी को विश्वास नहीं होता, यह ज्ञात हो गया। अधिष्ठात्री देवता, लिंगदेह, पूर्व कर्म संस्कार, ये सभी अलौकिक पदार्थ हैं। लौकिक प्रत्यक्ष के बाहर के पदार्थ के अस्तित्व में विश्वास करने की योग्यता जिनमें नहीं है, उनको इसके अस्तित्व के सम्बन्ध में विश्वास करा सकना कदापि सम्भव नहीं है। अधिष्ठातृ देवताओं के अस्तित्व में विश्वास न होने पर वेदादिशास्त्र में व्याख्यात सृष्टितत्व के तात्पर्य को यथायथरूप में उपलब्ध नहीं किया जा सकता।

न्याय-वैशेषिक-सांख्य-वेदान्त इत्यादि दर्शनशास्त्र में सृष्टितत्व की व्याख्या की गयी है। पाश्चात्य दार्शनिक भी सृष्टितत्व का यथाशक्ति विवरण देते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी वेद अथवा पुराण के समान रूपकादि आलंकारिक आवरण का व्यवहार नहीं करते। आलंकारिक आवरण का व्यवहार करके वेद-पुराण ने सृष्टितत्व को और भी दुर्बोध्य क्यों किया है, अब इसके समाधान की चेष्टा की जायेगी। रूपकादि आलंकारिक आवरण के व्यवहार से वेद तथा पुराण में सृष्टितत्व को और दुर्बोध्य कर दिया है, ऐसा क्यों? दार्शनिक तथा वैज्ञानिकों ने इस तत्व के लिए अलंकार का आश्रय न लेकर विशदभाव से व्याख्या की है, ऐसा क्यों? इस प्रश्न के समाधान के लिए कि वेदादिशास्त्र में सृष्टितत्व की व्याख्या हेतु रूपकादि अलंकार का व्यवहार क्यों किया है, इसका कारण ज्ञात करने के लिए यह विवेचना आवश्यक है कि अलंकार कौन पदार्थ है, अलंकारशास्त्र के आविर्भाव का क्या कारण है? अलंकार प्रधानतः कितने प्रकार के हैं? अब पहले यह जानना आवश्यक है कि दर्शन तथा विज्ञान जिस प्रकार से पदार्थ तत्व की व्याख्या करते हैं, उससे वेद तथा पुराण के पदार्थ तत्व व्याख्यान की रीति का किस अंश में पार्थक्य है, पहले इसे जानना तथा स्मरण करना आवश्यक है।

विज्ञान ने जगत् के सृष्टितत्व की व्याख्या करने में प्रवृत्त होकर इस स्वतःसिद्ध विषय का स्मरण किया है कि जो सत् है, वास्तव में विद्यमान है, उसका नाश असम्भव है तथा जो असत् है, वास्तव में है ही नहीं, उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। विज्ञान ने शक्तिसातत्य (Persistence of force) ''सत का नाश नहीं होता'' इस सत्यमूलक को माना है। 'सत का नाश असम्भव है' इस ज्ञान का उदय कैसे होता है? यह ज्ञान स्वतःसिद्ध अथवा परतःसिद्ध है, परीक्षालब्ध है, इसका द्विविध उत्तर मिलता है। द्विविध उत्तर क्यों। स्वतःसिद्ध का अर्थ है आत्मनः सिद्ध। जो अपने आप निष्पन्न है। आत्मनः सिद्ध। 'स्व' शब्द आत्मा, इस अर्थ का वाचक है। जो 'स्व' अथवा आत्मा से सिद्ध है, वह है स्वतःसिद्ध। किम्बहुना स्वतःसिद्ध

का अर्थ क्या है? यह जानने के लिए आत्मा कौन पदार्थ है, यह जानना आवश्यक है। जो सर्वगत, सर्वव्यापक है, जो नित्य है, वह आत्मा है। आत्मन् शब्द का यही है व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ। सर्वगतत्व, सर्वव्यापकत्व, अखण्डैकरसत्व 'आत्मन' शब्द का अर्थ अवश्य है, किन्तु सात्विक ज्ञान के बिना राजस अथवा तामस ज्ञान से 'आत्मन्' शब्द के इस व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ का परिग्रह नहीं हो सकता। राजस तथा तामस ज्ञान विभक्त ज्ञान का भेदबुद्धि का द्योतन कराता है। सात्विक दृष्टि से आत्मपर अर्थात् आत्मा से भिन्न पदार्थ का अस्तित्व प्रतिभात ही नहीं होता। इसीलिए ज्ञान के स्वतः प्रामाण्यवाद की उत्पत्ति हुई है। जो राजस है, उनके ज्ञान को स्वतःसिद्ध नहीं कहा जा सकता। सत्व, रजः तथा तमः, इन गुणत्रय के भेद से ज्ञान विश्वास का जो भेद है, उसे पहले विवेचित किया गया है।

जिनकी दृष्टि में आत्मा सर्वव्यापक है, जिनकी दृष्टि में आत्मा से अलग पदार्थ स्तर का अस्तित्व जिनके सत्वमय ज्ञान में पातित ही नहीं होता, वे सभी कार्य को स्वतःसिद्ध ही कहते हैं। ऐसा कहना ही उनके लिए प्राकृतिक है। जिनकी दृष्टि में आत्मा सर्वव्यापक नहीं है, "आन्तर तथा वाह्य स्वरूपतः भिन्न नहीं है" जो यह नहीं समझ पाते, वे द्वैतवादी हैं। द्वैतवादियों में भी गुणत्रय के तारतम्य से तथा इनके प्राधान्य अथवा अप्राधान्यवशात् कई भेद परिलक्षित होते हैं। द्वैतवादियों में कुछ यह मानते हैं कि स्वतःसिद्ध पदार्थ हैं, वे यह भी मानते हैं कि कार्यमात्र का कारण है, जो वास्तव में सत् है उसका नाश नहीं होता इत्यादि मानव में जो सहज स्वतःसिद्ध है, उसे स्वीकार करते हैं। 'आत्मा नित्य अपरिणामी है, अतः इन लोगों में 'सत् का नाश नहीं होता' यह विश्वास होता है। जगत् में यदि नित्य किंवा अपरिणामी पदार्थ न रहता, तब किसी को भी अपरिणामी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। पण्डित स्पेन्सर ने प्रत्यक्ष के अविषय सर्वकार्य के कारण, आदि अन्तरहित, अपरिच्छिन्न सत्ता को (An unconditioned Reality, without begining or end) नित्य कहा है। आत्मन् शब्द के व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ तथा पण्डित स्पेन्सर के यथोक्त लक्षणयुक्त शक्ति पदार्थ में आपात् दृष्टि से अनेकतः समान होने की प्रतीति होती अवश्य है, किन्तु जब तक पण्डित स्पेन्सर उक्त पदार्थ को चिन्मय नहीं समझ लेते, तब तक उनके द्वारा लक्षित शक्ति एवं शास्त्र व्यवहृत आत्मन् शब्द अत्यन्त भिन्न प्रतीत होगा। इन्होंने शक्ति को अविकार हेतु तथा विकार हेतु इन दो प्रधान भाग में विभक्त किया है। विकार हेतु शक्ति इनके मत से क्रियमाण तथा स्थितिशील (Actual and Potential) है। इन्होंने आत्मा के सन्मात्र रूप की किंचित् व्याख्या की है, किन्तु उनके चिन्मय भाव के स्वरूप सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं कहा है।

असत् की उत्पत्ति तथा सत् का नाश कभी भी नहीं हो सकता। यह बात वैज्ञानिकों ने कही तो है, किन्तु जिज्ञासा होती है कि क्या वे इस सत्य के व्यापक

रूप को देखते हैं? जो कुछ उत्पन्न होता है, वह पहले सूक्ष्मरूपेण विद्यमान था, क्या वे ऐसा कहते हैं? निश्चय ही नहीं कह पाते। ऋग्वेदसंहिता में कहा गया है कि प्रलयकाल में जगत् नामरूप रहित होकर परमब्रह्म में अवक्तावस्था में विद्यमान था। वेदपादाश्रित दर्शनसमूह इस वेदोपदेश की ही व्याख्या करते हैं। आस्तिक तथा वेदपादाश्रित दर्शन के सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद तथा सत्कारणवाद पारस्परिक रूप से एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, इसका वर्णन पहले किया गया है। विज्ञान ने आकर्षण विकर्षणात्मक शक्तिद्वय को सृष्टि तथा लय का कारण कहा है। विज्ञान की आकर्षण तथा विप्रकर्षण शक्ति वेदादि शास्त्रोक्त रजः तमः रूप गुणद्वय अथवा शक्तिद्वय की परिच्छिन्न मूर्ति है। विज्ञान ने रजः तथा तमः का कुछ विवरण प्रदान अवश्य किया है, किन्तु सत्वगुण के स्वरूप निरूपणार्थ विशेष प्रयत्न नहीं किया है। विज्ञान यदि त्रिगुणात्मिका प्रकृति तथा चैतन्यरूपी पदार्थद्वय के स्वरूप का चिन्तन वैसे करता जिस गम्भीरता से शास्त्र ने किया है, तब उसके समक्ष शास्त्रोपदेश दुर्बोध्य कदापि न रहता। वेदादि शास्त्र के उपदेश हैं कि विश्व जगत् की कारण है चैतन्याधिष्ठित शक्ति। चैतन्य तो सर्वव्यापक है। ऐसा कोई स्थान है ही नहीं, जहाँ चैतन्य की व्याप्ति न हो! इसलिए प्रत्येक परमाणु का स्पन्दन देवकृत है, प्रत्येक परमाणु का स्पन्दन चैतन्य के अधिष्ठान के कारण होता है, यह कथा प्रमाणविरुद्ध क्यों होगी?

पुराणपाठ से पाठक यह जान सकते हैं कि पुराण ने रजः को सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, तमः को संहारकर्त्ता रुद्र तथा सत्व को पालनकर्त्ता जगत्पति विष्णु कहा है। ये त्रिदेव ही त्रिगुण हैं। ये तीनों अन्योन्यमिथुन, अन्योन्याश्रयी हैं। क्षणकाल के लिए भी इनका वियोग नहीं होता। ये एक-दूसरे का त्याग नहीं करते। रजोगुण ब्रह्मा का तात्पर्यार्थ है, रजोगुणाधिष्ठित चैतन्य ही ब्रह्मा है। वेद ने इन्हें ही हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति कहा है। पुराण की कथा वेद का ही अनुवाद है। मैत्र्युपनिषद् में कहते हैं कि एक चिदात्मा ही उपाधि के कारण गुणत्रय के प्रकटित प्राधान्य वशतः ब्रह्मादि की संज्ञा से संज्ञित हुए। संकल्प (यह मेरा कर्तव्य है, ऐसी मनोवृत्ति—मानस विकार अथवा कर्म), अध्यवसाय (कर्तव्य विषय का स्वरूप-साधन तथा फल, इस सबके अवधारण वाली बुद्धिवृत्ति, बौद्धविकार अथवा कर्म) तथा अभिमान (मैं इसमें समर्थ हूँ), यह तीनों अचेतन मृत शरीर में परिदृष्ट नहीं होता। यह सब जीवित शरीर में ही परिलक्षित होता है। जब मृत शरीर में संकल्पादि नहीं होते तथा जब केवल सप्राणदेह में इनका अस्तित्व मिलता है, तब संकल्पादि शरीरातिरिक्त पदार्थ विशेष का सद्भाव लिंगदेहादि विलक्षण पदार्थों के अस्तित्व का प्रमाणक यह प्रतिपादित करता है कि संकल्पादि से भिन्न अन्य पदार्थ भी हैं।

श्रुति का कथन है कि प्रजापति (विराट् शरीराभिमानी देव) तथा विश्व (व्यष्टि शरीराभिमानी जीव) इनके संकल्प, अध्यवसाय तथा अभिमान से इनके ही

अस्तित्व प्रमापक संकल्पादि द्वारा अधिष्ठातृ देवता के संकल्प का सद्भाव प्रमाणित होता है। प्रजापति प्रभृति देवगण सत्वगुण परिणाम में प्रतिबिम्बित चिदात्मा के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। सत्वगुण परिणाम में ही चिदात्मा की विशेष अभिव्यक्ति होती है। सत्वगुण में रजः तथा तमः गुणद्वय के सम्पर्क के तारतम्यानुसार चिदात्मा के आविर्भाव का तारतम्य होता है। ज्ञान शक्ति—क्रियाशक्ति—ऐश्वर्य, धर्म इत्यादि की ह्रासवृद्धि होती रहती है। देवता वस्तुतः एक हैं, परन्तु अधिष्ठान तथा उपाधि भेद से वे प्रधानतः त्रिधा विभक्त हो जाते हैं। तामस उपाधि में अधिष्ठान करने से वे रुद्र हैं। राजस उपाधि में अधिष्ठान के कारण ब्रह्मा हैं तथा सात्विक उपाधि में अधिष्ठान से वे विष्णुनाम से अभिहित हैं। यद्यपि तामस, राजस, सात्विक तीन सामान्य उपाधि है, तथापि गुणत्रय के परिणामभेद के तारतम्य से नानात्व भेद के कारण उपाधि में भी नानाविधत्व हो जाता है। श्रुत्यादिशास्त्र पाठ करने से विविध अधिष्ठात्री देवता का नाम सुनने में आता है। जो शास्त्र के प्रकृत मर्म की उपलब्धि की प्रतिभा लेकर पृथ्वी में नहीं आये हैं (अर्थात् वैसी प्रतिभा बिना जिनका जन्म हुआ है), वे शास्त्रपाठ करके उसमें बहु:देवताओं का संवाद पाकर विस्मित हो जाते हैं। वैदिक आर्यों की उपेक्षा करते हैं, वे यह सिद्धान्त बनाते हैं कि असभ्य बर्बर जैसे अग्नि-सूर्य-जल-पृथिवी-वायु-वरुण-चन्द्र-तरु-लता इत्यादि की पूजा करता है, उसी तरह हिन्दू भी इन अचेतन पदार्थजात की उसी कारण से पूजा करते हैं। डारविन प्रभृति पण्डितों ने इसी कारण से देवतावादी व्यक्तिमात्र को बर्बर श्रेणी के अन्तर्गत माना है। कोई चाहे जो कहे, जो करे, प्रतिभा ही उस समुदाय का मूल है।

मेरा विश्वास है कि बर्बर असभ्य जिस युक्ति से प्रत्येक विस्मयजनक घटना को देवताकृत मानते हैं, वैदिक ऋषि तथा आचार्य उसी बुद्धि से अधिष्ठातृ देवता के अस्तित्व को नहीं मानते। असभ्यों का देवताज्ञान एवं वैदिक ऋषि तथा आचार्यगण का देवताज्ञान एक रूप है, जिनकी इस प्रकार की धारणा है, उनकी प्रतिभा नितान्त तामसी है। बिना परीक्षा किये, विशेष तत्वानुसन्धान किये बिना, झट से किसी प्रकार के सिद्धान्त को बना लेना प्रेक्षावान तथा सभ्य शिरोमणियों के लिए उचित नहीं है। "राग-द्वेष से मलीमस चित्त में सत्य का स्वरूप यथायथ भाव से प्रतिच्छवित नहीं होता।" इस अमूल्य शास्त्रोपदेश का स्मरण करके अनेक क्षेत्र में विशेष लाभ होगा। बर्बर लोग देवता के स्थान पर वृक्षादि दृश्यमान शरीर को ही लक्ष्य करते हैं। क्या वैदिक ऋषि तथा आचार्यगण ऐसा करते हैं?

युक्तिकुशल आधुनिक विद्वान् कहते हैं कि नितान्त असभ्यावस्था में मनुष्य ऐसा ही करते थे। वेद के प्रारम्भ काल में देवता का अर्थ था दृश्यमान अग्नि आदि को देवतारूप में लक्षित करना, तत्पश्चात् सभ्यता का ईषत् विकास होने पर देवता-ज्ञान ने अन्य विकसित रूप धारण किया। स्थूल के अन्तर में देवता है, यह विश्वास

होने लगा और आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक देवताओं की रूपभेद से कल्पना की गयी। इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने पर प्रस्तावित विषय से दूर जाना पड़ेगा, इसीलिए निरस्त होता हूँ। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक रूप से जितने प्रकार के भाव हैं, वेदादि के अध्ययन से उतने प्रकार के देवताओं का संवाद प्राप्त होता है। देवता कितने हैं, इस प्रश्न का ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, अथर्ववेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, उपनिषद् आदि शास्त्र जो उत्तर देते हैं, उसका चिन्तन करने से देवताविषयक शास्त्रीय उपलब्धि से विस्मित होना पड़ता है। मैत्र्युपनिषद् कहता है कि एक ही देव उपाधि के कारण प्रथमतः त्रिधा हो गये, तदनन्तर अष्टधा, तदनन्तर एकादशधा, द्वादशधा होकर अपरिमितधा (अनगिनत) हो गये। प्राण, आदित्य, सनक्षत्रचन्द्र तथा पंचभूत—यह अष्टधा। 11 इन्द्रिय को अधिष्ठान करके एकादशधा इत्यादि। एक आत्मा ही अन्तर में साक्षी, प्रमातृ तथा कर्तृरूप से, वही बाह्यतः ईश्वर काल तथा देवतारूप से विभावित है।

आत्मा ही भूतसमूह का अधिष्ठाता है। इन्द्रियों का, प्राण का, मनः, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त का अधिष्ठाता है, साथ ही इनका नियामक भी है। चालक भी यही है। अचेतन पदार्थ बिना चेतन अधिष्ठान का आश्रय लिये कोई कार्य नहीं कर सकता। इस अतीव गुर्वर्थ शास्त्रोपदेश का तात्पर्य क्या है, वैदिक आर्य जाति किसकी उपासना करती थी, देवता कौन पदार्थ है, यह सब चिन्तनीय है। विकलांग प्राकृतिक निर्वाचनवाद उसी दिन पूर्ण तथा परिपुष्ट अंगों वाला होगा। जैसे इतस्ततः स्पन्दमान नदियों के सरित्पति के साथ मिलने के पश्चात् उनका पृथक्-पृथक् नामरूप नहीं रह जाता, वे एक अखण्ड समुद्राकार में परिणत हो जाती हैं, उसी प्रकार वेदादि में वर्णित सुविशाल प्राकृतिक निर्वाचन वादर्णव के सहित सम्मिलित होकर एकाकार होगा।

वैज्ञानिक पण्डितगण में से जिन्होंने "चैतन्याधिष्ठित अव्यक्त से व्यक्त जगत् का परिणाम होता है" यह कहा है, वे प्रत्येक कार्य की एक-एक अधिष्ठातृ देवता को क्यों स्वीकार नहीं करेंगे। मैत्र्युपनिषद् का कथन है कि ईशान, शम्भु, भव, रुद्र **तमः प्रधान मायोपाथिक परमात्मा** के वाचक हैं। प्रजापति, विश्वसृक्, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, रजः प्रधान मायोपाधिक परमात्मा के वाचक हैं। शान्ता, विष्णु, नारायण शुद्ध सत्वप्रधान मायोपाधिक परमात्मा के वाचक हैं। देवता कौन पदार्थ है? यह न जानने से वेदोपदिष्ट सृष्टितत्व का मूल सम्यक् भाव से उपलब्ध नहीं होगा। शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, शुक्लयजुर्वेदसंहिता, अथर्ववेद का पाठ करने से त्रयस्त्रिंशत देवताओं का संवाद मिलता है।

विज्ञान ने सृष्टितत्व समझाते समय शक्ति सातत्य, आकर्षण तथा विप्रकर्षण, परमाणु को ही प्रधानतः लक्ष्य किया है। कर्म संस्कार जो सृष्टि का कारण है अन्ततः सृष्टि वैचित्र्य का हेतु है, यह तथ्य विज्ञान को अंगीकार करना ही होगा। वैज्ञानिकों

में से कोई-कोई लिंगदेह के अस्तित्व को मानते हैं। इसकी चर्चा आगे होगी। विज्ञान किसी वस्तु का आद्यन्त अनुसन्धान नहीं करता। किस व्यक्ति अथवा वस्तु ने परमाणुपुंज तैयार किया है, उन्हें विविध इतरेतर कार्यकारिणी आश्चर्यभूत शक्ति भी दिया है, उसे जानने की चेष्टा में विज्ञान आज भी कृतकार्य नहीं है। व्यक्तजगत् की आद्यावस्था में अथवा अव्यक्तावस्था में परमाणु परस्परतः दूरवर्ती थे, तदनन्तर किसलिए अथवा किस रूप में वे परस्परतः परस्पर का आकर्षण करने में प्रवृत्त हो गये? विज्ञान ने इन सब प्रश्नों के समाधानार्थ सचेष्ट होना व्यर्थ समझा है। जीव की प्रथमाभिव्यक्ति कैसे हुई है, विज्ञान उसका उत्तर देने के लिए प्रस्तुत नहीं है। एक बार विज्ञान कहता है कि अप्राण से सप्राण की उत्पत्ति हो सकना असम्भव है। वहीं दूसरी बार कहता है कि जीवोत्पत्ति पहली बार अप्राण अथवा जड़ से ही हुई है। व्यक्ति अग्नि तथा जल द्वारा वाष्प प्रस्तुत करता है। उपयुक्त यन्त्र से वाष्प का यथा प्रयोजन निरोध करके वाष्प यन्त्र के माध्यम से गति अथवा कर्म की उत्पत्ति कराता है, तदनन्तर उससे संयुक्त पहिया (रथ) द्रुतवेग से चलने लगते हैं। किन्तु उसे प्रयोजनानुसार स्टेशनों पर रोकना ड्राइवर का काम है। जो इस पूरी प्रक्रिया का कारणानुसन्धान नहीं करते तथा वाष्पबल एवं उसके कार्य को ही चिन्तन का विषय बना लेते हैं, जो यह नहीं सोचते कि केवल वाष्पबल ही उन पहियों को इच्छानुसार नहीं चला सकता, जो यह विचार नहीं करते उन्होंने केवल वाष्परथ के चालन व्यापार की मध्यावस्था को ही परिक्षणीय रूप से स्वीकार किया है, वे तो अनायास यह निष्कर्ष निकाल लेंगे कि जड़ वाष्पबल ही इंजन को द्रुतवेग से एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाने का कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है। उनके चिन्तन निष्कर्ष के अनुसार यह इंजन किसी चेतन व्यक्ति की मुखापेक्षा किये बिना केवल अपने वाष्पबल से एक देशान्तर से अन्य देशान्तर में द्रुत वेग से जा सकता है!

इसी प्रकार विश्वसृष्टि के अनुसन्धान में प्रवृत्त होने पर जो यह मानते हैं कि परमाणु निद्रा से जागकर दीर्घकालीन विच्छेद के अनन्तर आत्मीयगण से (अन्य परमाणुओं से) मिलने के लिए व्यग्र होकर एक-दूसरे के निकट भाग रहे हैं और इस अवस्था को जो लोग आदिरूप मान रहे हैं तथा अपनी प्रतिभाविशेष की प्रेरणा से इस प्रकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं कि जड़ प्रकृति की आपेक्षिक साम्यावस्था ही जीव का परम पुरुषार्थ है और प्राण, मनः, बुद्धि, चैतन्य भी जड़ शक्ति का कार्य है, पृथ्वी लोक से भिन्न अन्य लोक की सत्ता नहीं है, लोकान्तर का अस्तित्व ही नहीं है, मनुष्य से अधिक विकसित कोई जीव देवतादि नहीं है, वे अनायास यही कह सकते हैं कि चेतन पुरुष के अस्तित्व को स्वीकार कर लेना, अधिष्ठातृ देवता के अस्तित्व को स्वीकार कर लेना असभ्य तथा बर्बरोचित कृत्य है, उनकी उद्देश्यहीन अचेतन प्रकृति चेतन की मुखापेक्षा किये बिना स्वभावतः विविध परिणामसाधन कर सकेगी, बिना बाधा ऐसा मत वे प्रकाशित करते रहे हैं।

वेद विश्वजगत् के आद्यन्त स्वरूप का प्रदर्शन करते हैं। उनके मत से जीव जड़शक्ति का कार्य नहीं है, चेतन की प्रेरणा के बिना अचेतन कोई भी क्रिया नहीं कर सकता। चैतन्याधिष्ठित प्रकृति अथवा ईश्वर के द्वारा ही विश्व की सृष्टि-स्थिति तथा लयकृत्य सम्पादित होता है। प्रलयकाल में जीवसमूह पूर्वकल्प में अनुष्ठित कर्मसमूह के संस्कार अथवा अदृष्ट के साथ प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। वेद से आविर्भूत पुराण तथा दर्शनादि शास्त्रसमूह भी विज्ञान की तरह केवल प्रकृति की मध्यावस्था का तनिक विवरण देकर सन्तुष्ट नहीं हो जाते, इन्होंने प्रकृति के आद्यन्त स्वरूप का यथासम्भव विशदरूप से वर्णन किया है। अतएव वेदादि शास्त्रोपदिष्ट सृष्टितत्व के साथ विज्ञानविवृत्त सृष्टितत्व की—किस रूप से एकता अथवा सामंजस्य की अपेक्षा की जा सकती है?

तैत्तरीय संहिता अथवा कृष्णयजुर्वेद तथा ऐतरेय ब्राह्मण की भाष्य भूमिका में पूज्यपाद सायणाचार्य यह बतलाते समय कि वेद किसे कहते हैं, वेद के विषय, प्रयोजन तथा सम्बन्ध, वेदाध्ययन का अधिकारी कौन, यह सब समझाते हैं और कहते हैं कि "यह ग्रन्थ इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार का उपाय बतलाता है। अलौकिक उपाय बतलाना इसका विषय है। इसका बोधन ही वेद का प्रयोजन है। ऐसा बोधार्थी ही वेद का अधिकारी है। जो अनिष्ट परिहार तथा इष्टप्राप्ति के अलौकिक विधान को जानना चाहते हैं, उनके साथ वेद का सम्बन्ध उपकार्य-उपकारक का है।" इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार का तात्पर्य क्या है? जो लोकप्रसिद्धि प्राप्त है, वह लौकिक है और जो इससे अतिरिक्त है, अर्थात् स्थूलप्रत्यक्ष अथवा तन्मूलक अनुमानादि प्रमाण से नहीं जाना जाता, वह है अलौकिक। प्रत्यक्ष तथा अनुमान (Experience and reasoning) को लोग ज्ञान का, किसी तथ्य के आविष्कार का (Discovery of truth) प्रधान उपाय अथवा साधन मानते हैं। ऐसे प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा जो जाना नहीं जाता, जो इनका अविषय है, उसे किस प्रमाण से जाना जा सकेगा? वेद ही लौकिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के अगम्य पदार्थ तत्वावधारण का एकमात्र प्रमाण है। इस वाक्य का क्या आशय है? हम उक्त वाक्य का क्या आशय है, यह बतलाना चाहते हैं। आपाततः शास्त्रोक्त दृष्टि से वैशेषिक सृष्टिवाद तथा प्रतीच्य क्रमविकासवाद की एक समालोचना करना आवश्यक है।

शास्त्रोक्त वैशेषिक सृष्टिवाद तथा क्रमविकासवाद की संक्षिप्त समालोचना—विद्वान् स्पेन्सर वैशेषिक सृष्टिवाद का जो दोष दिखला गये हैं, उसे पहले कहा जा चुका है। वैशेषिक सृष्टिवाद की अनुपपत्ति प्रदर्शनार्थ उन्होंने जिस युक्ति के तीर का प्रयोग किया है, वह सत्यकवच से रक्षित वेदादि शास्त्रोक्त वैशेषिक सृष्टिवाद का अंगस्पर्श भी नहीं कर सका है। इसके प्रतिपादनार्थ दो-एक बातें कहता हूँ। कार्यमात्र ही उपादान तथा निमित्त, इन दो कारणों से उत्पन्न होता है। उपादान तथा

निमित्त, इनकी भेदाभेद दृष्टि से द्वैतवाद तथा अद्वैतवाद का उदय हुआ है। आस्तिक दार्शनिकों में अन्य विषयों में मतभेद रहने पर भी सभी सृष्टि प्रलय परम्परा के अनादित्व को मानते हैं। पूर्व सृष्टि में कृत कर्मसमूह प्रलयकाल में संस्कारात्मा में विद्यमान रहते हैं, यह बात सभी आस्तिक दार्शनिक एकमत से मानते हैं। कर्म की विचित्रता ही सृष्टि की विषमता का कारण है। आद्य सृष्टि में इनके (महाप्रलय के अनन्तर जो सृष्टि होती है) मत से पुण्य-पापापेक्ष चैतन्याधिष्ठित प्रकृति धर्माधर्म की मुखापेक्षा करके सृष्टि करती है। प्रलयकाल में कर्मसमूह संस्कारात्मा में विद्यमान रहते हैं, अतः ईश्वर में पुण्य-पाप सापेक्षत्व भी उपपन्न हो जाता है।[1] छान्दोग्य श्रुति का कथन है कि इहलोक में जीवगण जिन-जिन कर्मों के कारण व्याघ्र-सिंह-वृक्, वराह-कीट-पतंग-दंश-मशक[2] आदि जिस-जिस जाति को प्राप्त करते हैं, वह-वह कर्म ज्ञान वासनांकित होकर प्रलय के अनन्तर पुनः सृष्टि काल में तत्तद्भावेन आविर्भूत होता है। भगवान् मनु ने इस श्रुत्युपदेश की व्याख्या में कहा है कि ईश्वर पूर्वकल्पकृत् कर्मानुसार प्राणिगण की सृष्टि करते हैं। पूर्वकल्प में जिस जीव ने जैसा कर्म किया है, तद्रूप कर्मानुसार जिस जाति में जन्म लेना उचित है, उस जीव का उसी जाति में उत्पादन कराते हैं। शुभ कर्मवशात् जीव को देव मनुष्यादि जाति तथा अशुभ कर्म से तिर्यगादि योनि मिलती है। व्याघ्रादि सभी जाति का जात्योचित कर्म निर्दिष्ट है। पुनः-पुनः सृष्ट होने पर भी जीव स्व-स्व जात्यनुरूप कर्म करते हैं।

जो जीव जिस जाति में जन्म लेते हैं, वे जीव उसी जाति के अनुरूप कर्म करते हैं, उससे भिन्न कर्म कदापि नहीं कर सकते। उनका ज्ञान, प्रवृत्ति कदापि ईश्वरीय मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकती। केवल चेतन पदार्थ ही नहीं, अचेतन पदार्थ समूह भी अपनी-अपनी विशिष्ट प्रकृति के अनुसार कर्म करते हैं। यह भी स्वभाव का अतिक्रम नहीं कर सकते। वसन्तादि ॠतुगण जैसे अपने-अपने अधिकारबल से अपने ॠतु के अनुसार वातावरण में चिह्न उत्पन्न करते हैं (अर्थात् वर्षा में जल बरसना, शीत में हिमवत् ठण्ड पड़ना आदि), उसी प्रकार से शरीरधारी पुरुष भी अपने[3]-अपने कर्म को प्राप्त होते हैं। शास्त्रोक्त वैशेषिक सृष्टिवाद का यही अर्थ है। यहाँ विकासवाद का आशय क्या है, उसे भी याद करना होगा।

---

1. "न कर्मविभागादिति चेन्नानादित्वात्"—वेदान्तदर्शन, 2/1/35
2. "त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा की टो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तथा भवान्ते"—छान्दोग्यश्रुति
3. "यस्तु कर्माणि यस्मिन् सन्ययुङ्क्त प्रथमंविभुः।
स तदेव स्वयम्भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥"
"हिंसो हिंस्त्रे मृदुः क्रूरे धर्माधर्मवृतानृते, यदस्य सोऽदधात् सर्गे ततस्य स्वयमाविशत्॥ यथर्तु लिङ्गानृतवः स्वयमेवर्त्तुपर्यये। स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः"—मनुसंहिता

एवोल्यूशन (Evolution) शब्द का मूल अर्थ है अभिव्यक्ति। (The act of unfolding or unrolling) एक सूक्ष्म अथवा बीज भावेन विद्यमान कारणात्मा में अवस्थित वस्तु का क्रमविकास व्यापार समझाने के लिए पहले Evolution शब्द का व्यवहार किया गया है, किन्तु आधुनिक क्रमविकासवाद है सूक्ष्म अथवा बीजभाव से विद्यमान वस्तुसमूह का विकास। इवोल्यूशन शब्द का यह अर्थ ग्रहण करने का मन नहीं होता। जो अभिव्यक्त होता है, वही सूक्ष्मभावेन अवस्थान करता है, आधुनिक इवोल्यूशनवाद के इस प्रकार के अर्थ का पोषण करने का कोई कारण परिलक्षित नहीं होता। यहाँ इवोल्यूशन शब्द उन्नति Progress के पर्यायरूप में ही व्यवहृत है। अधस्तन से ऊर्ध्वगमन ही Evolution शब्द का व्यावहारिक अर्थ है। क्रमविकासवादीगण के मत से उन्नति ही प्रकृति का नियम (Progress is the Law of Nature) है। एक जातीय जीव क्रमविकास नियमानुसार नाना जाति में परिणत हुआ है और हो रहा है। क्रमोन्नतिवाद ही युक्ति अथवा विज्ञानसम्मत वाद है। क्रमोन्नतिवादी किस प्रमाण से इस सिद्धान्त में उपनीत हो सके हैं?

स्थूलप्रत्यक्ष तथा तन्मूलक अनुमान को क्रमोन्नतिवादियों ने प्रमाण माना है। इसके द्वारा ही वे सभी सिद्धान्त स्पष्ट करते हैं। परिवर्तन तथा परिणाम जगत् का धर्म है, यह स्थूलप्रत्यक्ष से प्रमाणित हो जाता है। उन्नति तथा अवनति शब्दद्वय परिवर्तन वाचक हैं। एकरूप परिवर्तन को हम उन्नति या अन्यरूप परिवर्तन को हम अवनति कहते हैं। ऊर्ध्वगति=उन्नति। अधोगति=अवनति। ये दोनों परिवर्तन के वाचक हैं। कृष्णयजुर्वेद संहिता, ताण्ड्य महाब्राह्मण इत्यादि से विदित होता है कि प्रेति अथवा प्रकृष्ट गति को ही वेद धर्म कहता है।[1] प्रेति अथवा प्रकृष्ट गति ही उन्नति शब्द का तात्पर्यार्थ है। सांख्यकारिका में कहते हैं कि धर्म से ऊर्ध्वगमन तथा अधर्म से अधोगमन होता है। ज्ञान ही अपवर्ग (मुक्ति) का तथा तत्वज्ञानाभाव बन्धन का कारण है।[2] महर्षि कणाद भी कहते हैं, जिससे अभ्युदय (उन्नति) तथा निःश्रेयस (Highest good) सिद्ध होता है, वह धर्म है।[3] पृथ्वी में मनुष्य ही जैव उन्नति स्त्रोत का विश्रामस्थल है। उन्नति प्रकृति का नियम है। इस प्रतिज्ञा वाक्य की परीक्षा करने में हमें सर्वप्रथम देखना होगा कि उन्नति तथा प्रकृति एवं नियम, इनका अर्थ क्या है? तदनन्तर विचार करना होगा कि "उन्नति ही प्रकृति का नियम है" इस वाक्य के उद्देश्य (subject) के साथ विधेय की संगति उपपन्न होती है अथवा नहीं। इस वाक्य में जो सकल पद जुड़े हैं, वे योग्यता, आकांक्षा तथा आसक्तियुक्त

---

1. "आह देवा वै क्षयो देवेभ्य एवं यज्ञं प्राह प्रतिरसि धर्माय त्वा धर्मजिन्वेत्याह मनुष्यो वै धर्मो"
—कृष्णयजुर्वेद संहिता
2. "धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्य धर्मेण। ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः"
—सांख्यकारिका
3. "यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" —वैशेषिक दर्शन

हैं? आभ्यन्तर तथा वाह्य अर्थ का वाचक होता है। जिस शब्द के साथ जिस अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, उस शब्द को यदि उसी अर्थ में व्यवहार किया जाये, तब वह यथार्थ ज्ञानोत्पत्ति का कारण हो जाता है। ऐसा शब्दज्ञान ही प्रमाणरूपेण गृहीत होता है। नागेशभट्ट कहते हैं कि जहाँ आभ्यन्तर अर्थ का वाह्य अर्थ के साथ संवाद है, संगति है, वहाँ उस शब्द को प्रमाण कहते हैं। जहाँ आभ्यन्तर अर्थ से वाह्य अर्थ का विसंवाद उपलब्ध होता है, वहाँ उस शब्द को प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतएव यह उपपत्ति होती है "यह शब्दप्रमाण नहीं है" अथवा यह ज्ञान प्रमाण नहीं है।[1]

हमें उन्नति तथा अवनति ये दो शब्द श्रुतिगोचर हैं। अब जिज्ञासा है कि अवनति शब्दबोध्य आभ्यन्तर अर्थ के साथ वाह्यार्थ का संवाद है, अथवा नहीं है, अवनति शब्दबोध्य अर्थ अथवा ज्ञान अवास्तविक है, आकाश कुसुमवत् अवास्तविक है, वैकल्पिक है अथवा यह वास्तविक है? वाह्यजगत् में अवनति पदबोध्य अर्थ का रूप हम देख पाते हैं अथवा नहीं? अवनति शब्द प्रमाण है अथवा अप्रमाण, यह स्थिर करने के लिए वाह्यजगत् के जितने प्रकार के भाव हमें इन्द्रियगोचर होते हैं। उनके परिणाम अथवा परिवर्तन से उनकी गति का तत्वानुसन्धान करना होगा। भौतिकराज्य, उदभिद्राज्य, संकीर्ण चेतनराज्य एवं विशिष्ट चेतनराज्य प्रकृति के चतुर्विध पर्व हैं। यह चतुर्विध सोपान हमें इन्द्रियगोचर होता है। अतएव अवनति शब्दप्रमाण है या अप्रमाण, यह स्थिर करना होगा। इस चतुर्विध प्राकृतिक पर्व का परिवर्तन अथवा गणित तत्वानुसन्धान अब कर्तव्य है।

भौतिक राज्यादि के चतुर्विध प्राकृतिक पर्व के मध्य उत्तरोत्तर को पूर्व-पूर्व से साधारणतः उन्नत माना जाता है। भौतिक जगत् से उद्भिद् जगत् को, उद्भिद् से संकीर्ण चेतन प्राणिगण को, संकीर्ण चेतन प्राणियों से विशिष्ट चेतन मनुष्य को उत्कृष्ट मानते हैं, उसका कारण क्या है? श्रुति आदि शास्त्रों से इसके उत्तर को प्राप्त किया है, पहले उसे बतला कर तब प्रतीच्य दार्शनिक एवं वैज्ञानिकों ने जैसा इसका समाधान किया है, वह निवेदित होगा।

ऐतरेय आरण्यक में कहते हैं कि जगत् सच्चिदानन्दमय ब्रह्म अथवा परमात्मा का कार्यभूत है। कार्य तो कारण के अनुरूप होता है, अतएव अखिल जागतिक पदार्थ सत्वादि त्रिविध ब्रह्म स्वभाव विशिष्ट है। पंचदशी में कहते हैं कि सत्ता-चैतन्य तथा सुख, परब्रह्म का स्वभाव इन तीन प्रकार का है। मृत् पाषाणादि जड़ पदार्थ में केवल सत्ता अभिव्यक्त होती है। अन्य दो चैतन्य तथा सुख अभिव्यक्त नहीं

1. "यत्र ह्यभ्यन्तरार्थस्य वाह्यार्थेन संवादः स शब्दः प्रमाणं विसंवादं त्वप्रमाणमिति व्यवस्था एवमेवायं शब्दः प्रमाणं न वेत्यादेरिदं ज्ञानं प्रमाणं न वेत्यादेश्चोपपत्तिः" —मंजूषा

होता। घोर तथा मूढ बुद्धिवृत्ति में सत्ता तथा चैतन्यरूप स्वभावद्वय का विकास रहता है। शान्त वृत्ति में ये तीनों ही प्रकाशित होते हैं। इसे मिश्र ब्रह्मज्ञान कहा गया है।[1] सच्चिदानन्द ब्रह्म के कार्यभूत निखिल जागतिक पदार्थ सत्तादि त्रिविध ब्रह्मस्वभावयुक्त अवश्य हैं, किन्तु सकल पदार्थ में सत्ता, चैतन्य तथा सुखरूप त्रिविध ब्रह्मस्वभाव अभिव्यक्त नहीं होता। अचेतन मृत् पाषाणादि में आत्मा की सत्ता ही आविर्भूत होती है। उनमें चित् तथा आनन्द अभिव्यक्त नहीं होता। औषधि, वनस्पति की तुलना में श्वासरूप प्राणधारी जीवों में आत्मा का अधिक आविर्भाव होता है। औषधि, वनस्पति में जीवात्मा का किंचित् विकास देखा जाता है, वह मृत पाषाणादि में दृष्ट नहीं होता। प्राणभूत जंगम जीवसमूह में चित्त है। औषधि, वनस्पति में नहीं है। पुरुषगण में जो प्रज्ञासम्पन्न हैं, उनमें विवेकशक्ति ने समधिक विकास प्राप्त किया है। जो लोकालोकदर्शी हैं, इहलोक-परलोक, दोनों का दर्शन पाते हैं, मर्त्यशरीर में रहते हुए भी जो अमृतत्व लाभ की इच्छा रखते हैं उनकी आत्मा का सर्वाधिक विकास हुआ है।[2]

ऐतरेय श्रुति के इस वाक्य "अचेतन मृत (मिट्टी) पाषाणादि में आत्मा की सत्ता ही आविर्भूत होती है, उनमें आत्मा के शेष स्वभावद्वय की अभिव्यक्ति नहीं होती" इत्यादि का अभिप्राय क्या है? 'सत्ता' शब्द से श्रुति का क्या तात्पर्य है? जो विद्यमान है, वह सत् है। सत् का भाव है सत्ता। सत्ता तथा शक्ति एक ही पदार्थ है। शक्ति विकारात्मिका तथा अविकारात्मिका रूप से द्विविध है। इन्हें परिच्छिन्न तथा अपरिच्छिन्न भी कह सकते हैं। श्वेताश्वतर श्रुति ने कहा है कि परब्रह्म की शक्ति सत्व, रजः तथा तमः, इन गुणत्रय से आवृत्त, निगूढ़ होकर परब्रह्म की जगत् कारणभूत क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति, बल अथवा इच्छाशक्ति इत्यादि विविध शक्ति विद्यमान हैं। सर्वशक्तिमान अद्वितीय परमेश्वर जब इस शक्ति द्वारा विवर्तित होते हैं, तब तद्रूप प्रकाश होता है। देव-मनुष्यादि के शरीर में परब्रह्म की चैतन्यशक्ति की उपलब्धि होती है। वायु में स्पन्दनशक्ति की, प्रस्तर आदि में काठिन्यशक्ति की, जल में द्रव्यशक्ति की, अग्नि में दाहिकाशक्ति की, आकाश में शून्यशक्ति की, नश्वर पदार्थों में विनाशशक्ति की सत्ता प्रकाशित होती है। इस प्रकार सर्वत्र परब्रह्म की

1. "सत्ता चित्ति सुखञ्चेति स्वभावा ब्रह्मणस्तय:।
मृच्छिलादिषु सत्तैव . व्यज्यते नेतरद्वयं॥
सत्ताचितिद्वयं व्यक्तं धीवृत्याघोरमूढयो:।
शान्तवृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितं॥" —पञ्चदशी

2. "तस्य य आत्मानमाविस्तारं वेदाश्नुते हाविर्भूय औषधिवनस्पतयो यच्च किञ्च प्राणभृत् स आत्मानविस्तारं वेदौषधिवनस्पतिषु चित्तमितरेषु पुरुषेत्वेवाविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेदश्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीप्सत्येवं सम्पन्न"—ऐतरेय आरण्यक

शक्ति प्रकाशित होती है। जैसे कारणावस्था में एक क्षुद्र अण्ड में संक्षिप्त भाव से एक प्रकाण्ड सर्प रहता है अथवा अणुमात्र बीज में लता, पुष्प, शाखा, तना तथा जड़ आदि वृहत् वृक्ष के सम्पूर्ण अवयव सूक्ष्मरूपेण अवस्थित रहते हैं, उसी प्रकार कारणावस्था में यह समस्त जगत् परब्रह्म में सूक्ष्मतः विद्यमान है। इसी प्रकार से भूमि में सर्वप्रकार के वृक्ष बीज रहने पर भी, उसमें से कोई देश तथा कालविशेष में अंकुरित हो जाता है, वैसे ही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में विद्यमान शक्तिसमूह में इसी प्रकार कभी कदाचित् किसी जगत् की अभिव्यक्ति हो जाती है।

कार्य से शक्ति अनुमित होती है। बीज से अंकुर उत्पन्न होता है। बीज से अंकुर उत्पन्न होते देखकर हम यह अनुमान करते हैं कि बीज में अंकुरोत्पादिका शक्ति सूक्ष्मभावेन विद्यमान थी। यह हृदयंगम होता है बीज में अंकुर उत्पादिका शक्ति रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति के लिए निमित्तान्तर की अपेक्षा है। यह अपेक्षा न रहती तब बीज सर्वदा ही अंकुरोत्पादन करने में सक्षम होता है। बीज सब सर्वदा अंकुरोत्पादन नहीं कर सकता, तब यह स्वीकार करना ही होगा कि उसके अंकुरोत्पादन में कोई अज्ञात शक्ति प्रतिबन्धकतः विद्यमान है। पंचदशी में कहा है—

"शक्तेः कार्यानुभेयत्वादकार्ये प्रतिबन्धनं।
ज्वालतोग्नेरदाहे स्यान् मण्डादिप्रतिबंद्धता।"

मृत पाषाणादि में ब्रह्म के सत्ता स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ सत्ता शब्द से श्रुति ने तमोगुणप्रधान त्रिगुण को ही लक्ष्य किया है। भौतिकराज्य तमोगुणप्रधान है। उद्भिद् राज्य रजः एवं तमोगुणप्रधान है। चेतनराज्य सत्वगुण प्रधान है। गुणत्रय के तारतम्यानुसार त्रिगुणमयी प्रकृति के सामान्यतः 4 पर्व होते हैं। प्रत्येक पर्व के मध्य में गुण वैषम्य के कारण जो अनेक प्रकारभेद होता है, वह सुखबोध्य है। सांख्यदर्शन से ज्ञात होता है कि सत्वगुण के आधिक्य को विकास तथा तमोगुण के प्राधान्य को अवनति कहते हैं। श्रुतिवचन से सांख्य के इस उपदेश में कोई विरोध नहीं है। गुणत्रय अन्योन्यावृत्तिक हैं, ये परस्पर एक-दूसरे को अभिभूत करने का प्रयास करते रहते हैं। परिणाम प्रकृति का स्वभाव है, इस उक्ति का तात्पर्य जानने के लिए पहले यह स्मरण रखना होगा कि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्व-रजः-तमः की प्रतिद्वन्द्विता अथवा अन्योन्याभिभव चेष्टा के बिना परिणाम नहीं हो सकता। जब प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, गुणत्रय जब अन्योन्याश्रय वृत्तिक हैं, तब सत्वगुण के आधिक्य को उन्नति एवं तमोगुण के आधिक्य को अवनति कहते हैं। ऐसी स्थिति में शास्त्रदृष्टि से 'उन्नति ही प्रकृति का नियम है' यह उक्ति सत्य नहीं हो सकती। प्रकृति में सर्व प्रकार परिणामसाधन की योग्यता है। प्रकृति देवशरीर का प्रसव कर सकती है। नर-नारी का उत्पादन कर सकती है। वह तिर्यक योनि का भी निर्माण करने में समर्थ है। भूत-भौतिक पदार्थ उसी से उत्पन्न होते हैं। प्रकृति ने ही

इन्द्रियाँ-प्राण-मनः तथा बुद्धि का प्रसव किया है। प्रकृति के आपूरण से ही सभी प्रकार के जात्यन्तर परिणाम साधित होते हैं। यह सत्य है कि वह सभी प्रकार के परिणामों का साधन कर सकती है, तथापि सर्वत्र सर्व प्रकार के परिणाम का साधन नहीं करती। प्रकृति धर्माधर्म की मुखापेक्षा करके परिणामसाधन करती है। श्रुति ने भी कहा है कि पुण्य-अपुण्य कर्म ही यथाक्रमेण उत्कृष्ट तथा निकृष्ट गति किंवा उन्नति एवं अवनति के कारण हैं।[1]

जिस धर्माधर्म को अथवा पुण्य-पाप को श्रुत्यादि शास्त्रसमूह यथाक्रमेण उन्नति तथा अवनति का कारणरूप निर्देश करते हैं, उसके स्वरूप को जाने बिना उन्नति-अवनति के शास्त्रोक्त कारण का तात्पर्य हृदयंगम नहीं हो सकेगा। सात्विक कर्म धर्म है तथा राजसिक एवं तामसिक कर्म अधर्म है। धर्माधर्म केवल त्रिगुण का कार्य है। प्रकृति कर्मसंस्कारानुरूप परिणामसाधन करती है—यही है इस वाक्य का तात्पर्य कि "प्रकृति धर्माधर्म मुखापेक्षा पूर्वक परिणामसाधन करती है"। गुणत्रय के तारतम्य से, इनके भागवैषम्य के कारण जितने प्रकार के परिणाम संघटित होते हैं, प्रकृति अनादिकाल से उसी प्रकार का परिणामसाधन करती है।

विश्व ब्रह्माण्ड में स्थावर, जंगम, चेतन, अचेतन, क्षुद्र बृहत्, जितने भी प्रकार के पदार्थ परिलक्षित होते हैं, वे सभी त्रिगुण के कार्य हैं। इनके भेद से जागतिक पदार्थों के अनन्त भेद हो गये हैं। परमेश्वर त्रिगुण की रस्सी से समस्त जगत् को पकड़े रहते हैं। यह बन्धनरज्जु त्रिगुणात्मिका शक्ति है। श्रुति का कथन है कि सर्ववशी परमपिता भूरादि ब्रह्मलोक तक निखिल ब्रह्माण्ड को सेतु के समान पकड़े रहते हैं। जिससे निखिल लोकमर्यादा छिन्न न हो, व्यवस्था का विपर्यय न हो, कोई नियम को तोड़ न सके। परमेश्वर जिसके द्वारा सेतु के समान विश्व ब्रह्माण्ड को पकड़े रहते हैं, वह है सत्वादि गुणत्रय अथवा शक्तित्रय। इसीलिए शक्तित्रय को गुण कहा गया है।[2] महाभारत में कहा गया है कि दिवस-रजनी-पक्ष-मास-ऋतु-वर्ष-सन्धि-दान-यज्ञ-लोक-देवता-विद्या-गति-काल-धर्म-प्राण रूप से जगत् में जो भी पदार्थ विद्यमान हैं, सभी त्रिगुणात्मक हैं। गुणत्रय के पर्यायक्रम से सभी वस्तु में प्रवृत्त हो जाते हैं। दिवस आदि सभी पदार्थ त्रिविध हैं।[3]

---

1. "पुण्यौ वै पुण्येन कर्मणा भवन्ति पापः पापेनेति"—बृहदारण्यकोपनिषत्
2. "एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसं भेदाय"—बृहदारण्यकोपनिषत्
3. "अहस्त्रिधा तु विज्ञेयं त्रिधा रात्रिर्विधीयते।
   मासार्द्धमास वर्षाणि ऋतवः सन्धयस्तथा॥
   त्रिधा दानानि दीयन्ते त्रिधा यज्ञः प्रवर्तते।
   त्रिधा लोकास्त्रिधादेवास्त्रिधाविद्यास्त्रिधागतिः॥
   पर्यायेण प्रवर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा।
   यत किञ्चिदिह लोकेऽस्मिन् सर्वमेते त्रयोगुणाः॥" —महाभारत—अश्वमेधिक पर्व

सत्वादि गुणत्रय कभी पृथक् रूप से अवस्थान नहीं कर सकते। ये अविच्छिन्न रूप से बुद्धिगोचर होते हैं। जहाँ सत्वगुण विद्यमान है, वहीं रजोगुण प्रवृत्त होता है और जब तक तमः तथा सत्व प्रकाशित हों अर्थात् जब तक दोनों विद्यमान हैं तब तक रजः प्रकाशित होता है। संघात वृत्तिक—संहत स्वभाव गुणत्रय परस्परतः मिलित होकर लोक व्यवहार निष्पादित करते हैं। गुणत्रय परस्परतः सहायमूर्ति ग्रहण करते हैं, विजृम्भित होते हैं। परस्परतः एक-दूसरे के विरोधी हैं। ये एक-दूसरे के अनुवर्ती भी हैं।[1] विष्णुपुराण में कहा है कि संकोच-गुणत्रय का साम्य तथा विकास-गुणक्षोभ, प्रकति की इस द्विविधावस्था को यथाक्रमेण लय तथा सृष्टि शब्द से अभिहित किया गया है। संकोच तथा विकास इन अवस्था द्वयोपेत प्रकृति (प्रधान) को पुरुषोत्तम से भिन्न नहीं कह सकते। विष्णु क्षोभक है। प्रकृति है क्षोभ्य।[2]

महाभारत ने जगत् में जो कुछ भी विद्यमान है उसे सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद से त्रिविध बताया है, इसका अभिप्राय क्या है, इसका चिन्तन करने से विदित होता है कि प्रत्येक जागतिक पदार्थ की आपेक्षिक उन्नत तथा अवनत स्थिति है। एक से तुलना में हम उत्कृष्ट तथा अपकृष्ट कहते हैं। भूलोक की तुलना में भुवलोक, भुवलोक की तुलना में स्वर्लोक उत्कृष्ट है। मनुष्य की तुलना में देवगण उत्कृष्ट हैं। भूलोक में सात्विक, राजसिक तथा तामसिक परिणाम के कारण देशादि की उन्नत-अवनत-नीच-उच्च अवस्था है। भूर्लोक में स्वर्ग, नरक, सुर-असुर हैं। विश्वब्रह्माण्ड भी त्रिगुणात्मक है। इसे जो मानते हैं, वे देश, काल, मनः, बुद्धि इत्यादि के सात्विक, राजसिक, तामसिक भेद निर्वाचन में जो प्राकृतिक है उसे भी अंगीकृत करते हैं। कृतयुग आदि युगभेद भी त्रिगुण के भेद के कारण होते हैं। सत्वगुण जब प्रबल है, मनः-बुद्धि-इन्द्रियाँ जब सात्विक हैं, तब सत्ययुग चल रहा है।[3] त्रेतायुग सामान्यतः रजोगुणप्रधान है। द्वापरयुग साधारणतः रजः तथा तमः दोनों गुण से युक्त है तथा कलियुग सामान्यतः तमोगुणप्रधान है। सत्वगुण प्रधानता में देश-काल की, मनः-बुद्धि की भौतिक प्रकृति की एक रूप अवस्था रहती है। तमोगुण प्राधान्य में अथवा रजोगुण प्राधान्य में इनकी अन्य रूप अवस्था रहती है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पुरुष अथवा जीव की निद्रा, उसका परित्याग, उत्थान तथा सञ्चरण यह चतुर्विध स्थिति है। निद्रादि चतुर्विध अवस्था एक-दूसरे से क्रमशः उत्कृष्ट हैं। निद्रा में कलि, परित्याग में द्वापर, उत्थान में त्रेता तथा संचरण में सत्ययुग है। ऐतरेय ब्राह्मण

---

1. "नैव शक्या गुणां वक्तुं पृथक्त्वैनैव सर्वशः। अविच्छिन्नानि दृश्यन्ते रजः सत्वं तमस्तथा। अन्योन्यमथ राज्यन्ते ह्यन्योन्यं चार्थजीविनः। अन्योन्यमाश्रयाः सर्वे तथाऽन्योन्यनुवर्तिनः"
—महाभारत, अश्वमेधपर्व
2. "प्रभूतश्च यदासत्वं मनोबुध्यान्द्रियाणि च। तथा कृतयुगं विद्यात्..."—गरुड़ पुराण
3. "स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः। स सङ्कोच विकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः"
—विष्णु पुराण

का उपदेश है कि उपविष्ट पुरुष का सौभाग्य जैसा था वैसा ही रहता है। उद्योग के अभाव के कारण उसमें वृद्धि नहीं होती, उपवेशन (बैठा रहना) छोड़कर उत्थानशील पुरुष के सौभाग्य की वृद्धि (वाणिज्यादि उद्योग से) हो जाती है।

शयान (सोये) पुरुष का सौभाग्य भी सुप्त हो जाता है। विद्यमान धन के रक्षणादि की चिन्ता न करने से उसका भी विनाश होता है। सौभाग्यवर्द्धन के लिए देश-देश पर्यटनशील का सौभाग्य दिनोंदिन बढ़ता जाता है। इस प्रकार अत्यल्प चिन्तन से ही शक्ति की यह चतुर्विध अवस्था हमें दृग्गोचर होती है। किसी जागतिक पदार्थ का अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आगमन अपिच व्यक्त से अव्यक्त अवस्था में गमन, शक्ति की शयनादि चतुर्विध उपरोक्त अवस्था के अतिरिक्त हम और क्या देखते हैं? यह सब गुणत्रय का ही कार्य है। प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से यह प्रतिपन्न नहीं होता कि उन्नति ही प्राकृतिक नियम है। जीवविज्ञान (Biology) का अध्ययन करने से विदित होगा कि यहाँ प्राणशक्ति के जन्मादि षड्विकार का ही वर्णन करते हैं। मानव जन्म ग्रहण करते हैं, विद्यमान रहते हैं, वृद्धि तथा विपरिणाम प्राप्त करते हैं तत्पश्चात् क्षीण होते-होते नष्ट हो जाते हैं। अकेले मानव ही क्यों, सभी उत्पत्तिशील पदार्थ मात्र ही जन्मादि षड्विकार के आधीन हैं। ज्योतिषशास्त्र ग्रहादि के जन्म, स्थिति वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय तथा नाश इन 6 विकारों के तत्व निरूपण का प्रयत्न करता है। ग्रहगण अभिव्यक्त होते हैं, कुछ काल अवस्थान करते हैं, वृद्धि तथा विपरिणाम प्राप्त करते हैं, अपक्षीण होते हैं, होते-होते अन्तर्हित हो जाते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। आदित्यादि ग्रह तथा उपग्रह की यह स्थिति है कि वे भी दिनोंदिन परिवर्तित हो रहे हैं। वैज्ञानिकों का कथन है कि सविता की सन्तपिनी शक्ति दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। मनुष्य भी इन 6 परिणामों के अन्तर्गत है। उसका जन्म होता है, बाल्यावस्था, क्रमशः यौवनावस्था आती है, वृद्धि तथा विपरिणाम प्राप्त होता है, तदनन्तर प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था, अन्त में कालकवलित! पिता की अपेक्षा कहीं पुत्र सर्वविषय में उन्नत देखा जाता है, तथापि इससे विपरीत दृष्टान्त का भी अभाव नहीं है। विद्वान् धार्मिक सबलदेह पिता के पापप्रवण, रुग्ण शरीर समाजकलंक पुत्र होते हैं। इतिहास पुराण से ज्ञात होगा कि कभी भारत की सुख-समृद्धि स्वर्ग का भी उपहास उड़ाती प्रतीत होती थी। आज उसकी क्या विपन्न दशा है। यह सब देखकर यह ज्ञात होता है कि ''उन्नति ही प्रकृति का नियम है'' यह सिद्धान्त सत्यभूमिक नहीं है।

चरकसंहिता में कहा गया है कि अधर्म ही रोगाविर्भाव का कारण है। अधर्म से ही रोगोत्पत्ति होती है। अन्य किसी कारण से अशुभोत्पत्ति नहीं होती। त्रेतायुग में धर्म त्रिपाद रह जाता है। उसका एकपाद हीन हो जाता है। इससे शस्यादि का स्नेह, वैमल्य, रस, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव का एकपाद प्रनष्ट हो जाता है। शस्यादि का

गुणक्षीण होने पर प्रनष्ट गुणपाद आहार-विहार से शरीर का सत्ययुग के समान उपष्टम्भन नहीं हो पाता। धातु साम्य द्वारा यथापूर्व पोषण, पालन, क्षतिपूरण द्वारा साम्यसंरक्षण नहीं हो पाता। इसलिए देखा जाता है कि धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान ही रोगोत्पत्ति का मूल कारण है। प्राणिगण की आयु (Duration of life) क्षीण होती जाती है। धर्म तथा अधर्म प्राकृतिक कार्य हैं। अधर्म अवनति का कारण है। इसलिए अवनति शब्दबोध्य आभ्यन्तर अर्थ के साथ बाह्यार्थ का विसंवाद नहीं है, अतएव उन्नति एवं अवनति को प्राकृतिक कहकर अंगीकार करना होगा। "प्रकृति धर्माधर्मानुसार विविध विचित्र परिणामसाधन करती है" इसका तात्पर्य है कि प्रकृति अनादि धर्माधर्म संस्कारवशात् कर्म करती है। यह स्थिर है कि अणु-परमाणु कितनी संख्या में परस्परतः सन्निकट होकर जो वस्तु उत्पन्न करते हैं, वह वस्तु क्या होगी। जैसा कर्म करने पर जिस प्रकार की भोगायतन देह होना उचित है वे वैसा ही कर्म करने के लिए तदनुरूप ही देह प्राप्त करेंगे। यही बात समझाने के लिए पतंजलिदेव ने कहा है कि धर्माधर्म अपेक्षमाणा प्रकृति के आपूरण के लिए सुर शरीर का नहीं, तिर्यक् इत्यादि के शरीर तथा इन्द्रिय का प्रकृति परिणाम होता है। धर्म की आतिशयता से नर-नारी का शरीर सुरदेह में परिणत हो सकता है। अधर्म की अधिकता से मनुष्य को पशु शरीर की प्राप्ति हो जाती है।

भगवान् पतंजलिदेव कर्म को सामान्यतः शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल तथा अशुक्ल एवं कृष्ण—इन 4 भागों में विभाजित करते हैं। केवल हिंसा प्रभृति कुकार्यरत दुरात्मगण का जो कर्म है, वह पापकर्म है। उसे कृष्णकर्म कहा गया है। जो कर्म बहिःसाधन साध्य है, जो कर्म (परपीड़ा एवं परानुग्रह दोनों से अलग-अलग युक्त है) पाप तथा पुण्य, दोनों का जनक है उसे शुक्लकृष्ण कर्म कहते हैं। तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान आदि जो कर्म बहिःसाधनाधीन नहीं हैं, जो शुद्ध मन से ही निष्पन्न होते हैं, जिस कर्म निष्पत्ति में अन्य को कोई पीड़ा नहीं होती, वे कर्म केवल पुण्यजनक हैं, उन्हें शुक्ल कर्म कहा है। क्षीण क्लेश, चरमदेह (जिन्हें शरीर पुनः नहीं धारण करना होगा) संन्यासी-योगी का जो कर्म है, वह न तो पापजनक है न पुण्यजनक ही है, उसे अशुक्ल-अकृष्ण कर्म कहा गया है। इन सब कर्मों से जब जाति, आयुः तथा भोगरूप विपाक होता है, तब ये विपाक के अनुकूल संस्कारों का उद्‌बोधन करते हैं। अन्य प्रकार के संस्कार तब चित्त में अव्यक्त अवस्था में विद्यमान रह जाते हैं। जिस कर्म से देव शरीर गठित होगा, वह है स्वर्ग प्राप्ति जनक, उस कर्म में नारक, पशु, पक्षी, मनुष्य प्रभृति के जन्मों वाले संस्कार का उद्‌बोध नहीं होता। केवल देव शरीर के उपयुक्त संस्कारों का ही उद्‌बोध होता है। नारक कर्म संस्कार का उद्‌बोध स्वर्गच्युति के अनन्तर होता है।

कायिक-वाचिक-मानसिक कर्म से धर्माधर्म की उत्पत्ति होती है। सत्कार्य का फल है सुख एवं असत्कार्य का फल है दुःख। सदसत् कर्मफल सर्वत्र अगले

क्षण ही अपने-अपने सुख-दुःखात्मक फल को जन्म नहीं दे सकते। स्वर्ग-नरकादि में बहुत काल के अनन्तर उनका भोग होता है। भोगकाल में सदसत् कर्म नहीं रहता, तथापि बिना कारण कोई कार्य नहीं होता। इसलिए स्वीकार करना होगा कि कर्म करने में चित्त में अथवा आत्मा में संस्काररूप धर्माधर्म विद्यमान रहता है। इस अदृष्ट (धर्माधर्म से) ही से यथासमय सुखदुःखरूप फलोत्पत्ति होती है। यथोक्त अदृष्ट नामक पदार्थ को अंगीकार किये बिना जगत् विचित्रता अथवा सृष्टि की विषमता को निर्निमित्त कहना पड़ेगा। कतिपय कर्म तथा अदृष्ट मिलित होकर एक प्रकार की जाति, आयुः तथा भोग कारण हो जाते हैं। मरणोपरान्त जो कर्म समष्टि प्रबलरूप से फलदानोन्मुख होती है, उसे प्रारब्ध कहते हैं। फलोन्मुख कर्म (प्रारब्ध) स्व-स्व विपाक (जाति, आयु एवं भोग) जन्माता है। उपयोगी संस्कारों का उद्‌बोध कर देता है। प्रत्येक जात्युचित भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिभा अथवा संस्कार है। जो जीव जिस जाति में जन्म लेता है, वह बिना सिखाये अपने आप जात्युचित कर्म करने लगता है। चित्त में सभी जात्युचित् संस्कार लग्न रहते हैं, यथा प्रयोजन उनका उद्‌बोध होता है। जब प्रयोजन नहीं होता, तब वे प्रसुप्त भाव से अवस्थान करते हैं। एक-एक जातीय कर्मसमष्टि में एक-एक रूप का जन्म होता है। मानव जन्म तथा मार्जार जन्म में प्रापक कर्म निश्चित रूप से एक नहीं है।[1] जातीय कर्म कैसी जाति, आयु भोग का जनक है, वह निश्चित है।

धर्म-अधर्म-सुख-दुःख तथा राग-द्वेष, संसारचक्र में ये 6 अर हैं। धर्म से सुख तथा अधर्म से दुःखोत्पत्ति होती है। सुख से राग एवं दुःख से द्वेष का जन्म होता है। प्रयत्न उत्पन्न होने पर मनुष्य का मनः, वाक् प्रभृति शरीर से परिस्पन्दमान होकर अन्य का उपकार अथवा अपकार करने लगता है। इससे पुनः धर्म अथवा अधर्म की व्युत्पत्ति होती है। उससे सुख-दुःख का एवं राग-द्वेष का जन्म होता है। इस भाव से षडर (6 अरा वाले) संसारचक्र का परिभ्रमण होने लगता है। अविद्या इस संसार की नेत्री है। परिचालक है। वही समस्त संसार का मूलकारण है। मूल का नाश होने से वासना का नाश होता है। वासना-नाश से भवनिरोध हो जाता है।[2] जब तक संसार कारण अविद्या का नाश नहीं हो जाता, तब तक जीव को प्रागुक्त त्रिविध कर्मानुसार उच्चावच जन्मग्रहण करना होगा। अतएव मनुष्य जन्म के पश्चात् पश्ववादि जाति नहीं मिलती, इसका कोई प्रमाण नहीं है। यदि यह प्रमाण मिल जाये कि मनुष्य कभी भी पश्वादि जाति पापक कर्म नहीं करेगा, करना सम्भव नहीं है, तब यह प्रमाणित हो जायेगा कि मनुष्य जन्मोपरान्त पश्वादि जाति प्राप्त नहीं होती!

---

1. ''कर्मा शुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधामितरेषाम्।''—पातंजलदर्शन
''ततस्तद्विपाकानुगुणानमेवाभिर्व्यक्तिर्वासनाम्॥''—वही
2. ''हेतुफला श्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तद्‌भावः''—पातंजलदर्शन

जो जैसा कर्म करेगा, प्रकृति उसको उसी प्रकार कर्मफलभोग के लिए उपयुक्त देह प्रदान करती है। यह तथ्य युक्तिसंगत है।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों में से कोई-कोई पुनर्जन्म, लिंगदेह तथा मनुष्य से उत्कृष्ट जीववृन्द के अस्तित्व को मानते हैं। तथापि वे यह विश्वास नहीं करते कि मानवात्मा कभी पश्वादि जीवदेह में प्रत्यावर्तन कर सकता है। इस मत के स्थापनार्थ वह कहते हैं कि आत्मा बहुविध देह में निवास करते-करते क्रमोन्नति के नियमानुसार मनुष्यदेह को प्राप्त करता है। अब उस आत्मा की अधोगति नहीं हो सकती। जिस आत्मा ने पहले इन सब देहों को अतिक्रम कर लिया है, उसका पुनः उसी में प्रत्यावर्तन क्यों होगा? इनके मत से जीव की अवनति (Retrogression) नहीं है। मानवीय आत्मा के इतर जीवजातित्वप्राप्तिवाद के प्रति इन्होंने एक तीव्र कटाक्ष किया है। पश्वादि इतर जीवगण मनुष्य से निकृष्ट हैं। मनुष्य से इनका ज्ञान अत्यल्प है। अतएव इनमें धर्माधर्म (Merit or demerit) नहीं रह सकता। अधर्म के कारण मनुष्य की क्रमोन्नति का स्रोत अवरुद्ध हो सकता है, किन्तु उसे इतर जीव जातित्व प्राप्ति नहीं होती। वह मानव देह में ही अशुभ कर्मफल भोगेगा।[1]

वेदादि शास्त्र का उपदेश है कि मानुष कर्मदोष इतर जीव-जाति में आरोहण करता है, यहाँ तक की उद्भिद् पर्यन्त तक में। ऐतरेय आरण्यक तथा ऋग्वेद संहिता में कहते हैं कि जो परम पुरुषार्थ कामी हैं, वे ज्ञान तथा कर्म दोनों का आश्रय लें। ये दोनों पुरुषार्थ के साधन हैं। इन द्विविध वैदिक मार्ग से प्रमादवशात् कभी भी भ्रष्ट नहीं होना चाहिए। जो नास्तिक इन दोनों आम्नायमार्ग का अतिक्रमण करते हैं, वे पराभूत होते हैं, पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाते हैं। वैदिक मार्ग के अतिक्रमणजनित पाप के फलभोगार्थ कतिपय पुरुष आकाश में विचरणशील काग-गृद्ध आदि पक्षी शरीर को प्राप्त करते हैं। कतिपय पुरुष वनगत् वृक्ष तथा व्रीहि-यवादि औषधि रूप में परिणत होते हैं। कतिपय भूबिल में रहने वाले कराल सर्पादि शरीर प्राप्त कर लेते हैं।[2] छान्दोग्यश्रुति में कहा है कि जो रमणीय चरण, पुण्यकर्मा हैं, जो कौर्य, अनृत

---

1. "Our system differs from the old oriential conception, which was embrased by the Egyptians, the Greeks, and the Druids. In our denial that the human soul can ever return to the body of an animal we believe that the human soul has already passed through this probation, and that it never can be renewed... The oriential dogma of the metampsychosis misapprehended the gread law of progress, which is, on the contrary the foundation of our doctrine." —The day after Death, P.P. 252-253
2. ''प्रजा हि तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे। बृहद्धतस्थीभुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश''—ऋग्वेदसंहिता, 6/90/14

तथा ''प्रजा ह तिस्त्रः आत्यायमीयुरिति या वै ता इमाः प्रजातिस्त्रः अत्यायमायं स्तानीमानि वयांसि बङ्गावगधाश्वेरपादाः''—ऐतरेय आरण्यक

तथा मायावर्जित है, वे रमणीय योनि प्राप्त करते हैं। वे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य योनि में जन्म लेते हैं। जो पापकर्मा हैं, जो अशुभ कर्म संस्कार वाले हैं, वे धर्म सम्बन्ध वर्जित जुगुप्सित योनि में जन्म लेते हैं। वे अपने-अपने कर्मानुसार श्वयोनि, शूकरयोनि, चाण्डालादि निकृष्ट योनि में जन्म लेते हैं। ज्ञान तथा कर्मरूपी पुरुषार्थ साधन के द्विविध मार्ग में सभी द्विजाति शुद्ध ज्ञान अथवा केवल कर्ममार्ग का आश्रय लेते हैं। उनकी जो गति होगी, उसका भी श्रुति ने स्पष्ट वर्णन किया है।

जो केवल इष्टापूर्त्तादि कर्म की सेवा करते हैं, जो विद्यासेवी नहीं हैं, वे घटीयन्त्र के समान पुनः-पुनः यथाकर्मानुसार चन्द्रादि लोक में आरोहण करते हैं और पुण्यक्षय हो जाने पर पृथ्वी पर जन्म लेते हैं। जो ज्ञान तथा कर्म में से किसी का आश्रय नहीं लेते, वे दोनों से परिभ्रष्ट होकर दशक, मशक, कीट प्रभृति असकृदावर्ती जीव योनि पाते हैं। उन्हें भूलोक में अविराम जन्म-मरण चक्र में पड़ना होगा।[1]

मनुष्य का इतर जीव जाति में अवरोहण वेदोक्त है। जो वेदसम्मत है, वेदमूलक स्मृत्यादि का भी अभिमत है, वही वरणीय है। भगवान् मनु कहते हैं कि मनः, वाक् तथा शरीर, शुभाशुभ कर्म निष्पत्ति के जो तीन साधन हैं, इनके द्वारा किये कर्म का फलभोग भी ये तीन करते हैं। मन द्वारा कृत शुभाशुभ कर्म का फल मन भोगता है। वाक द्वारा किये सुकृत तथा दुष्कृत का फल वाक् भोगता है। कायिक शुभाशुभ कर्म फल भोग भी काया द्वारा होता है। यदि कोई मनुष्य बाहुल्यता से शारीरिक अशुभ करता है और पुण्यांश स्वल्प है, तब उसे स्थावरत्वप्राप्ति होती है। अशुभ वाचिक कर्म से तिर्यक् योनि तथा अशुभ मानस कर्म से निकृष्ट मनुष्य जाति में जन्म होता है।[2]

ज्योतिष में वियोनि जन्म ज्ञान सम्बन्धित अनेक उपदेश हैं। वियोनि कहते हैं तिर्यक्, पक्षि, स्थावरादि में उत्पत्ति को। वराहमिहिर आचार्य-कृत बृहज्जातक ग्रन्थ में उक्त है कि यदि द्विरस (द्वादश) भाव में जातक का क्षीण चन्द्रमा अवस्थित है, यदि द्वादश भाग वियोनि संज्ञ हो, वीर्यरहित शुभग्रह यदि बलवान इत्यादि क्रूरग्रह से युक्त है, शनि तथा बुध केन्द्रस्थ है तब वियोनि जन्म का योग है। ज्योतिष पाठ से यह ज्ञात होता है कि कैसे ग्रहसमावेश से कौन योनि मिलेगी। बृहज्जातक में कहा है

---

1. "तदय इह रमणीयचरणा अभ्यासोह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ स इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनं वा चाण्डालयोनिं वा"—छान्दोग्योपनिषद्
2. "मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मांनसैरन्त्यजातिताम् ॥" —मनुसंहिता

कि किस-किस ग्राहिक शक्ति के आधिक्य से किस वृक्ष की उत्पत्ति होती है।[1] इन सभी शास्त्रों के उपदेश को वर्तमान काल के उन्नतमन्य पुरुष के पास यह सब शुद्ध कल्पना का विजृम्भण बोध माना जायेगा तथा उपेक्षित किया जायेगा। जो भी हो, आशा की जाती है कि एक दिन इसके गुरुत्व तथा प्रयोजनीयता को लोग यथायथरूपेण उपलब्ध कर सकेंगे। जो परलोक विद्वेषी हैं, जिनकी दृष्टि में मात्र यह पृथ्वीलोक सत्य है, वृक्ष तत्वविषयक शास्त्रोपदेश समूह उनके द्वारा भी समादृत होगा, चिकित्सा विज्ञान के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

वेद तथा तन्मूलक शास्त्र के स्थान पर स्थूलप्रत्यक्ष तथा अनुमान को जो अधिकतर प्रमाण मानते हैं, उद्धृत शास्त्रोपदेश उन्हें हृदयग्राही नहीं होगा। जो यह मानते हैं कि मनुष्य से इतर जाति में मनुष्य मृत्यु के उपरान्त अवरोहण नहीं कर सकता, वे वास्तव में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा इस निर्णय तक नहीं पहुँचे हैं। स्व-स्व प्रतिभा की प्रेरणा ने ही उनको ऐसा मत ग्रहण कराया है। युक्ति प्रिय व्यक्ति को कोई बात बताने के पहले लौकिक युक्ति का व्यवहार आवश्यक हो जाता है। क्रमोन्नति ही प्रकृति का नियम है। अतः जो आत्मा जिस अवस्था का अतिक्रमण करके आ रहा है, उस आत्मा की पुनः वही अवस्था की प्राप्ति युक्तिविरुद्ध है। जो यह मत मानते हैं कि मनुष्य अन्य जीव योनि में जन्म नहीं ले सकता, उनकी भी यही ऐसे मत का समर्थन करने की युक्ति है। 'उन्नति ही प्रकृति का नियम है' इस प्रतिज्ञा वाक्य का परीक्षण करने के लिए पूर्व में उक्त किया गया है कि पहले उन्नति, प्रकृति तथा नियम, इन शब्दत्रय के अर्थ को स्थिर करना होगा। तदनन्तर इनके पारस्परिक नियत सम्बन्धों को उपपन्न करना होगा कि वे उपपन्न हैं अथवा नहीं। उन्नति का अर्थ है उर्ध्व नेति—उर्ध्वगमन। उर्ध्व शब्द बोध्य अर्थ का ज्ञान अधः शब्द बोध्य अर्थ का ज्ञानापेक्ष है। प्रकृति (Nature) कौन पदार्थ है? प्रकृति शब्द का अर्थ है 'जिससे अथवा जिसके द्वारा कुछ कृत हो, प्रकृष्ट रूप से करने का भाव, जो प्रकृष्ट रूप से कार्य सम्पादन अथवा परिणामसाधन करे।' शास्त्र से इन अर्थों की प्राप्ति हुई है।

उपादान कारण समझाने के लिए प्रकृति शब्द का व्यवहार शास्त्र ने अनेक स्थल पर किया है। प्रकृति के आपूरण (अनुप्रवेश) के कारण जात्यन्तर परिणाम होता है। भगवान् पतंजलि देव ने यहाँ प्रकृति शब्द का उपयोग उपादानकारण बताने के लिए किया है। अभिधान में गुणसाम्य, अमात्यादि, स्वभाव, योनि, लिंग, पौरवर्ग, ये सब प्रकृति शब्द के अर्थ हैं। चाहे जितने अर्थ में यह व्यवहृत हो, जो प्रकृष्टरूपेण क्रिया अथवा परिणामसाधन करे, जिसके द्वारा अथवा जिससे कुछ कृत हो, यह व्युत्पत्ति ही तत् समुदाय का मूल है। प्रकृति शब्द प्रकृत रूप से शक्ति अथवा कारण

---

1. "क्रूरग्रहैः सुवलिमिर्विरलैश्च सौभ्योः चतुष्टयगते तदवेक्षणाद्वा।
चन्द्रोपगद्विरसभागसमानरूपं सत्यं वदेदयदिभवेत् स नियोनिसंज्ञः ॥"—बृहज्जातक

का समानार्थक है। नेचर (Nature) शब्द के अर्थ के साथ प्रकृति पद के यथोक्त अर्थ में अनेक सादृश्य है।[1] उपादानकारण अथवा कार्य शक्ति समूह ही नेचर शब्द का अर्थ है।[2] कर्म द्वारा हम शक्ति का अनुमान करते हैं। क्रिया अथवा कर्म के अतिरिक्त इन्द्रियाँ हमें शक्ति का स्वरूप नहीं दिखला सकतीं। इन्द्रियों से हम जो जानते हैं, वह कार्य (Effect) है। वेद में कर्म के लिए शक्ति पद का प्रयोग दृष्ट होता है। भगवान् यास्क शक्ति को कर्म के वाचक के रूप में ग्रहण करते हैं। कर्म के स्वरूप का चिन्तन करने से हमें ज्ञात होता है कि कर्म मात्र ही प्रकाशशील सत्व, क्रियाशील रजः तथा स्थितिशील तमः से निष्पन्न होता है। अतः शास्त्र ने प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहा है। कर्म का उद्देश्य क्या है? बिना प्रयोजन कोई कर्म नहीं होता। अतएव कर्ममात्र सप्रयोजन है। इप्सिततम की प्राप्ति के लिए कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। अप्राप्त प्राप्तव्य को पाने के लिए सभी कर्म करते हैं। प्रकृति कर्म क्यों करती है? यह उसका स्वभाव है। अप्राप्त प्राप्तव्य को पाने के लिए सभी कर्म करते हैं। यहाँ यह जानना है कि अप्राप्त को पाने के लिए कर्म किया जाता है, यह ठीक है, प्रकृति को क्या प्राप्तव्य है, जिसके लिए वह कर्मरत होती है? प्रकृति क्षण मात्र के लिए भी परिणामशून्य होकर नहीं रहती, इसका कारण क्या है? बाधा (Resistence) के बिना गति अथवा कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु ज्ञातव्य है किसके द्वारा प्रकृति बाधित होती है? प्रकृति शब्द गुणसाम्य का बोधक है। त्रिगुण की साम्यावस्था ही प्रकृति शब्द का मूलार्थ है। इस साम्यावस्था में विक्षोभ से क्रिया अथवा कर्म होता है जिसे सृष्टि कहते हैं। गुणत्रय के साम्य तथा वैषम्य अवस्था प्राप्ति का कारण क्या है? विद्वान् स्पेन्सर क्रमविकास के स्वरूप का वर्णन करते समय कहते हैं कि साम्यभाव का अस्थायित्व (Instability of Homogeneous) एवं आगन्तुक अथवा नैमित्तिक शक्ति के क्रियासमूह के गुणन, अभ्यसन (Multiplication of the effects), इन दो नियमों के द्वारा ही क्रमविकास (Evolution) संघटित होता है। अन्योन्य मिथुन वृत्तिक (Universally co-existent) आकर्षण तथा विकर्षण शक्ति के कारण क्षुद्र-बृहत् सर्व प्रकार के जागतिक परिणाम ही निर्दिष्ट ताल—लय में सम्पन्न होते हैं। जब आकर्षण शक्ति का प्रादुर्भाव और विप्रकर्षण शक्ति का अभिभव होता है, तब जगत् अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आगमन करता है और जब विप्रकर्षण शक्ति का

---

1. लैटिन Natus शब्द से Nature शब्द उत्पन्न है। इसका अर्थ है उत्पन्न, प्रसूत।
2. "The powers concerned to produce existing phenomena, whether in the total or in detail, the agencies which carry on the processes of the creation, the total of all finite agencies and forces as disconnected from a creating or ordering intelligence, often conceived of as a single and seperate force."

प्रादुर्भाव होता है तब आकर्षण शक्ति का अभिभव होता है। तब जगत् क्रमशः व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था में प्रवेश करता है। विद्वान् स्पेन्सर के इन सभी वाक्यों के तात्पर्य का परिग्रह करने से ज्ञात होगा कि यह सब सांख्य दर्शन की प्रतिध्वनि है। सांख्य कहता है कि सत्वादि गुणत्रय प्रकृति स्वरूप हैं। ये प्रकृति के धर्म नहीं हैं।[1] श्रुति तथा स्मृति पाठ करने से जाना जाता है कि गुणत्रय प्रकृति के धर्म तथा तत्स्वरूप हैं। उनका यह उभयरूप ही वर्णित है। अतएव जिज्ञासा होती है कि भगवान् कपिल तब सत्वादि गुणत्रय के प्रकृति धर्मत्व का प्रतिषेध क्यों करते हैं? विज्ञानभिक्षु स्वप्रणीत सांख्य प्रवचन भाष्य में जिज्ञासा समाधानार्थ कहते हैं कि सत्वादि गुणत्रय के प्रकृति कार्यत्वादि वचन समूह 'पृथ्वी से द्वीप की उत्पत्ति होती है' इस वाक्य से समान अंशतः प्रकाशादि कार्योपहित अभिव्यक्त्यादि को ही समझाया गया है। सत्वादि गुणत्रय यदि प्रकृति का धर्म है तब जानना होगा कि क्या यह प्रकृति का कार्यरूप धर्म अथवा आकाश के वायुवत् संयोगमात्र हेतु नित्यधर्म है? एक प्रकृति से द्रव्यान्तर के संग के बिना विचित्र गुणत्रय की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतएव गुणत्रय को प्रकृति का कार्यरूप धर्म नहीं कहा जा सकता। नित्य सत्वादि गुणत्रय के अन्योन्य संगम द्वारा ही जब विचित्र कार्य की उत्पत्ति होती है तब गुणत्रयातिरिक्त प्रकृति की कल्पना निरर्थक है।[2]

प्रकृति (प्रधान) की प्रवृत्ति का क्या प्रयोजन है? निष्प्रयोजन प्रकृति की प्रवृत्ति होती है, यदि यह कथा स्वीकार की जाये, तब मोक्ष की अनुपपत्ति हो जायेगी। अतएव प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रयोजन है। यह मानना होगा। सांख्यदर्शन का सिद्धान्त है कि प्रकृति स्वतः सृष्टि भले ही करती है, तथापि उसका यह सृष्टि-कार्य निष्प्रयोजन नहीं है। पुरुष के भोग तथा अपवर्गार्थं प्रकृति सृष्टि करती है। प्रकृति की सृष्टि परार्थ पुरुष के निमित्त है।[3] प्रधान (प्रकृति) स्वतः सृष्टि करती है, अपिच प्रकृति की इस स्वतः सृष्टि का प्रयोजन है पुरुष का भोग और अपवर्ग यह सुना, यहाँ यह जानना है कि विचित्र सृष्टि का कारण क्या है? जगत् इतना वैषम्यपूर्ण क्यों है? कर्म अथवा धर्माधर्म की विचित्रता ही सृष्टि का कारण है।[4] प्रधान (प्रकृति) से सृष्टि होती है, यह जाना किन्तु प्रलय का कारण क्या है? एक ही कारण से सृष्टि तथा प्रलय, यह दो विरुद्ध कार्य कैसे संघटित होता है? त्रिगुणमयी प्रकृति के सत्वादि गुणत्रय के साम्य तथा वैषम्य के कारण एक ही प्रकृति से सृष्टि तथा

---

1. "सत्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्"—सांख्यदर्शन, 6/39
2. "सत्वादिभ्योऽन्योन्यसङ्गेन विचित्र सकल कार्योपपत्तौ तदातिरिक्त प्रकृतिकल्पनावैयर्थ्य-मिति" —सांख्यप्रवचन भाष्य
3. "अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुङ्कुमवत्"—सांख्यदर्शन, 6/40
4. "कर्म वैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्"—सांख्यदर्शन, 6/41

लयरूप विरुद्ध कार्य भी संघटित होता है।[1] प्रकृति मूढ़ा है, प्रकृति अचेतना है, यह हमारा भोगसाधन है, इस प्रकार का प्रतिसन्धान अथवा ईक्षण सम्भव नहीं होता। अतः शुद्ध अचेतन प्रकृति द्वारा किस प्रकार से सृष्टि लयरूप विरुद्ध कार्यद्वय संघटित होते हैं? इसके उत्तर में सांख्यदर्शन का कथन है कि प्रकृति स्वभावतः संस्कारवशात् सृष्टि तथा लयकार्य सम्पादित करती है। अनादि कर्मसंस्कार ही, अनादि कर्म का आकर्षण ही प्रकृति की प्रवृत्ति का कारण है। सर्गादि में प्रकृति क्षोभक कर्म की अभिव्यक्ति कालविशेष मात्र से होती है। तद्उद्बोधक कर्मान्तर की कल्पना करने पर अनवस्था प्रसंग होता है। इसीलिए सांख्यदर्शन कालविशेष को ही सर्गादि में प्रकृतिक्षोभक कर्म की अभिव्यक्ति का निमित्त कहते हैं। 'काल प्रकृति क्षोभक कर्म की अभिव्यक्ति का निमित्त है' इसका क्या तात्पर्य है? सत्व, रजः तथा तमः अन्योन्याभिभव वृत्तिक है। ये एक-दूसरे के अभिभव का प्रयत्न करते रहते हैं। सत्वादि गुणत्रय अन्योन्याभिभववृत्तिक है। इसलिए गुणत्रय का पर्यायक्रम में अभिभव तथा प्रादुर्भाव होता रहता है। कभी सत्वगुण प्रबल है तथा रजः तथा तमः दुर्बल है। कभी रजोगुण प्रबल है तथा सत्व एवं तमोगुण क्षीण हो चुका है। क्रम ही काल का धर्म है। (क्रम=Succession)। अतएव सत्वादि गुणत्रय द्वारा पर्यायक्रम में परस्परतः एक-दूसरे के अभिभव की चेष्टा से प्रत्येक परिणाम निर्दिष्ट नियमानुसार होता है।

काल कार्य मात्र का साधारण निमित्त कारण है। जिस निमित्त से असाधारण उपादान तथा निमित्तकारण द्वारा कार्य की निष्पत्ति क्रमानुसार होती है, जो चिर क्षिप्रादि व्यवहार का हेतु है, जो परत्वा-परत्व बुद्धि का कारण है, वह काल नामक पदार्थ कार्यमात्र का साधारण निमित्त कारण है।[2] भर्तृहरि तथा नागेशभट्ट इसीलिए कहते हैं कि समस्त विकार अथवा कार्य शक्ति के कारणगर्भ में विद्यमान रहने पर भी, उन्हें काल की अपेक्षा करना पड़ता है। अखिल विकार अथवा कार्यशक्ति काल के प्रतिबन्ध तथा अनुज्ञा की वशवर्ती है। काल जब उन्हें कार्य करने का अवसर देता है, तब ये कार्य करते हैं। काल जब निषेध करता है, तब ये निवृत्तिक्रिय हो जाते हैं। कार्यशक्ति के काल की क्रमवत मात्रा के द्वारा प्रविभज्यमान होने से विकारगत भेद की उपलब्धि होती है। परत्वापरत्व बुद्धि का उदय होता है। परतन्त्र जन्मादिमयी शक्तियों के स्वतन्त्र कालशक्ति के प्रतिबन्ध तथा अनुज्ञा द्वारा परिच्छिन्न होने से उनका क्रमवती रूप उपलब्ध होता है। एकरूप शक्ति से कर्म निष्पन्न नहीं होता। कर्म का रूप जानने के लिए परस्पर विरोधिनी त्रिविध शक्ति का रूप दृष्टिगोचर होता है। बाधातिक्रमण ही कर्म का रूप है। प्रतीच्य विज्ञानी आकर्षण तथा विप्रकर्षणरूपी

---

1. "साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्"—सांख्यदर्शन, 6/42
2. देखें जयन्त भट्ट-कृत 'न्यायमंजरी'

शक्तिद्वय को कर्मनिष्पत्ति के तथा परिवर्तन संघटन के कारणरूप में अवधारित करते हैं। जब बाधातिक्रमण कर्म का रूप है तब यह सुखबोध्य है कि प्रवृत्ति तथा प्रतिबन्धक शक्ति के बल के तारतम्य से कर्म की निष्पत्ति द्रुत-मध्य तथा विलम्बित क्रम से होना ही प्राकृतिक है। परिणाममात्र ही जब अन्योन्याभिभववृत्तिक सत्वादि गुणत्रय के कार्य हैं, तब सभी परिणाम क्रमपरिणामी होंगे, यह निश्चित है और परिणाम मात्र के क्रमपरिणामी होने पर भी सभी परिणाम का क्रम समान नहीं होगा। द्रव्य के अदृष्ट (पूर्व कर्म संस्कार) अथवा धर्माधर्म संस्कार के परिणाम क्रम की भिन्नता अवश्यम्भाविनी है। 'परिणाम मात्र ही क्रमपरिणामी है' तथा 'गतिमात्र में ताल है' (All motion is rhythemical)। हमारा विश्वास है कि इन वाक्यद्वय के समानार्थक वाक्य 'सकल क्रियायें ताल-ताल में निष्पन्न होती हैं' यही इस विवेचना का प्रकृत अर्थ है। आविर्भाव के अनन्तर तिरोभाव, उसके पश्चात् स्थिति। परिणाम मात्र ही त्रिविध विकार की समष्टि है। आविर्भाव, स्थिति तथा तिरोभाव प्रभृति परिणामत्रय कालाधीन हैं। जिस क्रिया से आविर्भावादि परिणामत्रय द्रुत-विलम्बित-मध्य इस प्रकार कालवच्छेद से निष्पन्न होता है, वह पहले से निर्दिष्ट है। अग्नि तथा सोम का, गुणत्रय का अथवा पंचतन्मात्र का जिस ताल में स्पन्दन होने से जिस प्रकार के भावविकार का आविर्भाव हो रहा है, उस ताल के स्पन्दन होने से चिरकाल तक उसी प्रकार के भावविकार का आविर्भाव हो रहा है तथा होगा।

रासायनिक संयोग की नियमावली (The Law of Chemical Combination) 'गतिमात्र की निर्दिष्ट ताल है' इस साधारण नियम के ही अन्तर्भूत है। 'जगत् गुणत्रय का अथवा परमाणु अथवा पंचतन्मात्र का स्पन्दन मात्र है। स्पन्दन के तारतम्य के कारण से विविध पदार्थ की उत्पत्ति होती है। स्पन्दन के निर्दिष्ट ताल तथा छन्दः हैं। नियम का अतिक्रमण करके कोई कार्य नहीं होता, कार्यमात्र ही निर्दिष्ट नियमाधीन है' इत्यादि तथ्य प्राकृतिक नियम (Law of Nature) के नाम से अभिहित हैं। ये ही रसायनतन्त्र, भूततन्त्र, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, ज्योतिष (भूगोल तथा खगोल) प्रभृति भिन्न-भिन्न विज्ञान शाखाओं में व्याख्यात नियमनिचय की मूलभित्ति हैं।

गणना में पहले किसी को आदिरूप बनाकर गणना करनी होती है। इसका कारण क्या है? जो सांख्यात अथवा गणित है, वह क्रिया अथवा कार्य पदार्थ (Function) है, वह आद्यन्तयुक्त है। वह उपक्रम (Beginning) से अपवर्ग अथवा अवसान (End) पर्यन्त पूर्वापरीभूत भावविकार है। अतएव किसी क्रिया किंवा भावविकार का स्वरूपावलोकन करने में किस क्रिया अथवा कार्य पदार्थ की गणना करनी होगी उसके आद्यन्त स्वरूप का दर्शन प्रयोजनीय है। उसकी पूर्वापरांशशून्य अवस्था विशेष को (Independent Variable) एककरूप में ग्रहण करना कर्तव्य है।

पूर्वापरीभूत भावविकार समूह में जिस भावविकार में अन्य पूर्ववर्ती भाव लक्षित नहीं होता, उसे 'आदि' कहते हैं। जिसका अन्य परिवर्तीभाव बुद्धिगोचर नहीं होता, उसे 'अन्त' कहते हैं। गणना करते समय किसी को तो आदिरूपेण ग्रहण करना ही होगा। एकक (Unit) की मात्रा के अनुसार अखिल गणनीय अथवा संख्येय पदार्थ की सभी क्रियाओं का मान अवधारित होता है। भगवान् यास्क 'क्रिया कौन पदार्थ' यह बतलाते समय कहते हैं कि उपक्रम अथवा आरम्भ (Beginning) से अवसान पर्यन्त (End) पूर्वापरीभूत भाव ही क्रिया है। भगवान् यास्क के कतिपय अक्षरात्मक उपदेश के गर्भ में जगत् चित्र विद्यमान है। क्रिया मात्र ही जगत् का स्वरूप है तथा वह त्रिगुणात्मक है, इसे पहले कहा गया है। गुणत्रय अन्योन्याभिभवावृत्तिक हैं। ये पर्यायक्रमेण आविर्भूत तथा अभिभूत होते हैं। गुणत्रय के पर्याय क्रम से आविर्भाव-तिरोभाव का ज्ञान है क्रियाज्ञान। क्रिया का क्रम 1-2-3 इत्यादि संख्या से लक्षित होता है। एकरूप परिणाम अथवा एकरूप त्रिगुण विकार को हम 1 कहते हैं। प्रवृत्ति-प्रतिबन्ध-प्रकाश इन तीन शक्ति के अन्योन्याभिभव चेष्टा से भिन्न रूप क्रिया हो जाती है। प्रत्येक क्रिया त्रिगुणात्मक है। तब कोई परिणाम सात्विक है, कोई है रजोगुणप्रधान। कोई है तमोगुणप्रधान। इन गुणत्रय के प्राधान्य तथा अप्राधान्य का भी नियम है।

सर्गादि से प्रकृतिक्षोभक कर्म की अभिव्यक्ति कालविशेष मात्र में होती है, इस वाक्य का अभिप्राय क्या है, यह कथा किस अभिप्राय से ग्रथित है, उसे जान लेने से अर्थ करने में सुविधा होगी।

शास्त्र ने काल को अखण्ड दण्डायमान तथा कलनात्मकरूपी भागद्वय में विभक्त किया है। जैसे यहाँ काल को दो भागों में बाँटा गया है, उसी प्रकार विद्वान् आईजक न्यूटन ने काल को भागद्वय में विभक्त किया था। अखण्ड काल को न्यूटन सातत्य अथवा अपरिच्छिन्न स्थितिशीलता के समानार्थ रूप में तथा कलनात्मक काल को क्रिया विशिष्ट-क्रिया परिच्छिन्न सातत्यरूपेण अवधारित करते हैं।[1]

महाभाष्यकार भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि अखण्ड दण्डायमान काल भिन्न-भिन्न क्रियोपाधियुक्त होकर भिन्न-भिन्न रूपेण प्रतीयमान होता है। काल एक रूप से क्रियायुक्त हो एकरूप क्रियापरिच्छिन्न होकर दिवसरूपेण, एकरूप क्रियायुक्त होकर रात्रिरूप से, एकरूप क्रियायुक्त होकर मासरूप से, एकरूप क्रियायुक्त होकर वत्सररूप से, एकरूप क्रियायुक्त होकर युगरूप से विशेषित होता है। किसी विषय को जानने का नाम है परिच्छिन्न करना। जब तक किसी क्रिया अथवा परिणाम का

1. विद्वान् साली का टाइम पदार्थ सम्बन्धित उपदेश देखें—
"Absolute time and mathematical time of itself and from its own nature flows equally without regard to anything extend, and by another name is called durations by means of motion.
—The Principle Book I, Vol. I, p. 9

आद्यन्त दर्शन नहीं होता, आद्यन्त दर्शन न होने पर भी जब तक उसका आद्यन्त हमारी बुद्धि में नहीं आता, तब तक वह परिज्ञात नहीं होता। हम उसे जान नहीं सकते। संवेदन (Consciousness) चित्त को एक भाव से अन्यभाव की प्राप्ति कराने वाला है। यह पौर्वापर्यात्मक है। ("Consciousness would almost seem to consist in the break between one state of mind and the next, just as an induced current of electricity arises from the beginning or the ending of the primary current"—The Principles of Science, Page 4) भगवान् वेदव्यास स्वप्रणीत योगसूत्र भाष्य में क्रम को क्षण प्रतियोगी तथा परिणाम के अवसान द्वारा ग्राह्य कहा है। परिणाम का अन्त देखकर अवधार्य कहा है। क्रिया अथवा परिणाम का ज्ञान आद्यन्त ज्ञानात्मक है। क्षण कलनात्मक काल का पूर्वपराशून्य अभेद्य भाग है। (Independent Constant) भाग है। यही उसका अभिप्राय है।[1] दिवाकर की रश्मियों के पड़ने से अन्धकार के तिरोधानरूप परिणाम को आदिरूप से तथा उनके पुनरागमन परिणाम को अन्त्यरूप से ग्रहण करने को काल का परिणाम 'दिन' कहते हैं, इससे काल परिच्छिन्न तथा खण्डित हो गया। इसी प्रकार सूर्य के अस्त से लेकर पुनः उदय तक का काल है। सूर्य के अस्त को आदिकाल मानकर उसके पुनरोदय को अन्त्यकाल मानने से इस बीच के काल को रात्रिरूप से परिच्छिन्न किया गया। इसी तरह ग्रहों की क्रिया तथा गति के आधार पर अखण्ड दण्डायमान काल का विभाग करके काल के अवयव गठित किये गये हैं। क्रिया समष्टि ही मुहूर्तादि काल है। वास्तव में क्रिया की समष्टि नहीं हो सकती। असंख्य क्रियाभिव्यक्ति एकत्र स्थिर भाव से अवस्थान नहीं करती, तथापि हम अपनी बुद्धि से क्रमजात क्रियासमूह की अभिन्नरूप से समष्टिरूप से कल्पना करते हैं।

अतः कतिपय क्रिया अथवा परिणाम समष्टि मुहूर्तरूप से, कतिपय क्रिया अथवा परिणाम समष्टि युगरूप दिनरूप से, कतिपय मासरूप से, कतिपय संवत्सर रूप से, कतिपय क्रिया अथवा परिणाम समष्टि रात्रिरूप से कल्पित होती है। न्याय वैशेषिक मत से काल एक अतिरिक्त पदार्थ है। यह नित्य पदार्थ है, उपाधिभेद से क्षणादि महाप्रलयान्त तक व्यवहार का हेतु हो जाता है, अर्थात् जाना जाता है। संख्या

1. "The perfect representation of time involves a combination of the two kinds of representation just described. Time is for us a succession of events having individually and collectively a certain duration just as we only clearly intuit a certain length of space or distance, when this is marked off or defined by two tangible or visible objects, so the distinct representation of any duration involves that of two defining points, a beginning and an end." —Outlines of Psychology, 6 Edition. Pg 262

परिणाम, पृथकत्व, विभाग ये कालगुण हैं। काल स्वभावतः एक है, तथापि औपाधिक भेदवशात् इसका नानात्व में व्यपदेश हो गया है। सर्वकार्य का आरम्भ, उपक्रम, क्रियाभिनिवृत्ति, परिसमाप्ति, स्थिति, निरोध, इन सब के उपाधिभेद के कारण काल का भेद कल्पित है।

कलनात्मक काल सत्वादि गुणत्रय के परिणाम विशेष से भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है। गुणत्रय स्वभावतः पर्यायक्रम से आविर्भूत तथा अभिभूत हो जाते हैं। रजोगुण का जब प्रादुर्भाव होता है, तब सृष्टि प्रारम्भ होती है और तमोगुण की अधिकता के कारण लय परिणाम प्रारम्भ हो जाता है। मैत्र्युपनिषद् के अनुसार चिदात्मा से प्रेरित तमोगुण की विषमत्वप्राप्ति ही रजोगुण तथा रजोगुण की विषमत्वप्राप्ति ही सत्वगुण है। साम्यावस्था से वैषम्यावस्था में आगमन तथा वैषम्यावस्था से साम्यावस्था में गमन, गुणत्रय का स्वभाव है। प्रकृति अनादि कर्म अथवा धर्माधर्म संस्कार वाली है। धर्माधर्म संस्कार समूह की विचित्रता के कारण प्रकृति विचित्र परिणामसाधन करती है। यहाँ 'उन्नति प्रकृति का नियम है' इस वाक्य की यथार्थ परीक्षा करना है।

विद्वान् स्पेन्सर प्रभृति क्रमोन्नतवादी सुधीवर्ग उन्नति के नियम तथा कारण के (Progress; its law and cause) स्वरूप के अप्रदर्शनार्थ जो कुछ कहते हैं, पहले उसका स्मरण करना होगा, तदनन्तर शास्त्र में उन्नति नियम तथा उसके कारण के सन्दर्भ में जो उपदेश है, उसे समझकर, तब उन्नति विषयक प्रतीच्य तथा प्राच्य मत की तुलनात्मक समालोचना करनी होगी।

उल्फ (Wolf), गाथ (Goethe), वनवार (Vonbaer) प्रभृति जर्मन विद्वानों ने अनुसन्धान द्वारा प्राप्त किया है कि "बीज का वृक्षरूप अथवा अण्ड कुसुम (ovum) की जीवाकृति में विपरिणति, अविशेष अथवा एकरूप संस्थान की विशेष अथवा नानारूप संस्थानत्व प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।" प्रत्येक वृक्षबीज अथवा अण्ड कुसुम (ovum) आद्यावस्था में विधान तथा रासायनिक संयोग मिश्रण सम्बन्ध में एकरूप रहता है। उसका द्विधा संविभाग ही विपरिणाम का प्राथमिक पर्व है। यह है विपरिणाम का प्रारम्भ। इस प्रकार क्रमशः संविभाग (Differentiations) से उद्भिद् अथवा जैव शरीर का गठन हो जाता है। अविशेष तथा एकरूप अवस्था से विशेष अथवा नानारूप अवस्था प्राप्त करना ही उन्नति है। पृथ्वी का विपरिणाम, उद्भिद् तथा जैव देहों का विपरिणाम, राज्य, शिल्प, वाणिज्य, भाषा, साहित्य, विज्ञान तथा कला का विपरिणाम, समाज का विपरिणाम इत्यादि सभी विपरिणाम अविशेष की विशेषत्व प्रगति से संघटित होते हैं। विश्वजगत् के अनुसन्धान योग्य आद्य परिणाम से लगाकर आधुनिक सभ्यता परिणामपर्यन्त परिणाम के स्वरूप की पर्यालोचना करने से यह सप्रमाण हो जाता है

कि उन्नति तत्वतः अमिश्र भाव का नाना जात्यन्तर परिणाम है अथवा व्यामिश्रभाव धारणात्मक है।

नैहारिक सिद्धान्त (Nebular Hypothesis) यदि सत्य है, तब "सौर जगतोत्पत्ति अथवा विकास पद्धति, एक जाति से नाना जात्यन्तर परिणाम, असंकीर्ण अथवा अभिश्रभाव से संकीर्ण अथवा व्यामिश्रभाव धारण ही उन्नति का स्वरूप है," इन सभी इस सिद्धान्त के समर्थक एक दृष्टान्त का उपकल्पन-संयोजन करते हैं, यह कहना होगा।[1] नीहारावस्था में एक जातीय, अविशेष आकाश दिग्व्याप्त उपादान था। उक्त एकजातीय अथवा अविशेष उपादान की सर्वत्र घनत्व (Density) की ताप तथा अन्यान्य भौतिक धर्मीय समानता थी। इसी अविशेष अथवा एकजातीय पदार्थ का संविभाग होने से इसकी साम्यावस्था की विच्युति हो गई तथा जाति भेद का प्रारम्भण होने लगा। इसी अवस्था से, इस कल्पित अविशेष नीहार संघात के आन्तर एवं वाह्य (दोनों) का युगपत घनत्व, ताप इत्यादि धर्म का वैलक्षण्य अथवा भेद (Contrast) होने लगा, अपिच उसमें सर्वत्र चक्रगति (Rotatary Motion) की प्रवृत्ति हो गयी। इस चक्रगति से केन्द्र की दूरी के अनुसार वेग में तारतम्य हो गया। नीहार संघात के इस प्रकार के संविभाग (Differentiations) की जब क्रमशः संख्या और परिमाण में वृद्धि होने लगी, तब सूर्य तथा अन्य ग्रह, उपग्रह अभिव्यक्त होने लगे। इनमें तापादि भौतिक धर्म, क्रिया, आकृत्यादि में अनेक वैलक्षण्य हैं, जिसे सब जानते हैं। इस नैहारिक सिद्धान्त की उपपत्ति का प्रदर्शन करने में, आज भी वैज्ञानिकों को अनेक बाधा आ रही है। वे यह स्थिर नहीं कर पा रहे हैं कि यह सत् सिद्धान्त है, अथवा नहीं। अभी भी इस सिद्धान्त को लेकर विस्तृत संशय है।

इसी कारण विद्वान् स्पेन्सर नैहारिक सिद्धान्त पर अधिक निर्भर न रहकर अनेक निःसन्दिग्ध दृष्टान्तों का आश्रय लेकर, यह प्रतिपादन करने की चेष्टा करते हैं कि अविशेष द्वारा विशेष-विशेष भाव की प्राप्ति ही उन्नति का स्वरूप है तथा अविशेष से विशेष का प्रारम्भण ही प्रकृति का नियम है। पृथ्वी में प्रथमतः जलमय पदार्थ का संघात था, इसे सभी स्वीकार करते हैं। पृथ्वी के पृष्ठदेश में कई मील नीचे अभी भी अति उष्ण तरल पदार्थ की स्थिति है। पृथ्वी पर पहले एकजातीय अतिउष्ण तरल पदार्थ का अस्तित्व था। जब भूमण्डल जलमग्न था तथा इसमें इतना

---

1. "Nevertheless we can not but think that, scanty as they are, the facts, taken altogether, tend to show both that the more homogeneous organisms have been evolved in the later geologic periods and that life in general has been more heterogeneously manifiested as time has advanced. Let us cite, in illustration, the one case of vertibra. The earliest known vertebrate remains are those of fishes are the most homogeneous of the vertebrata later and more hetrogeneus are repteils and birds."

—Progress, Its Law and Causes, H. Spencer

ताप था कि उसमें किसी जीव के जीवन की सम्भावना ही नहीं थी। उत्तरोत्तर ताप का अपगम होने से पृथ्वी ने अविशेष भाव त्यागकर विशेष भाव धारण किया। जियोलॉजिस्ट विद्वान् स्तर के गुणन (Multiplication) को ही पृथ्वी की विशेष-विशेष भावप्राप्ति का कारण कहते हैं। पृथ्वी की उच्चता में भी विशेष परिवर्तन होने लगा। अत्युच्च हिमगिरि (Andes) से लेकर क्षुद्रतर पर्वत पुरातन हैं। ऋतु, जल, वायु इत्यादि में भी क्रमशः वैलक्षण्य, परिवर्तन होने लगा। आज भी हो रहा है। पहले भूमि पर उद्भिद् का उद्भव हुआ। सूर्य का ताप तथा आलोक ही इनकी उत्पत्ति तथा वृद्धि का कारण है। जब ये निर्जीव हो जाते हैं, तब सूर्य के आलोक से तथा ताप से शुष्क होकर गलकर मिट्टी के साथ मिश्रित होकर नानाविध खनिज पदार्थ बन जाते हैं। एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका प्रभृति देशों में पर्वत, ह्रद, नदी, द्वीप, अन्तरीप, प्रभृति के परिणाम की पर्यालोचना करने से उपलब्धि होगी कि अविशेष भाव से विशेषभाव की प्राप्ति ही उन्नति का कारण है।

विद्वान् स्पेन्सर ने भौतिक जगत् में क्रमशः अविशेष का विशेष-विशेष भाव में जो परिणाम हो रहा है, एक जाति नाना जाति में परिणत हो रही है, इसका प्रतिपादन करके यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि उद्भिद् तथा जीव जगत् भी नियमाधीन है। साथ ही अविशेष भावविशेष भाव की प्राप्ति करता रहता है।

विद्यमान प्रत्येक उद्भिद् तथा जैव शरीर का विपरिणाम जिस असंकीर्ण भाव अथवा अमिश्रभाव से संकीर्ण तथा व्यामिश्रभाव प्राप्ति के रूप में हो रहा है, यह प्रमाणसिद्ध है। अभी भी यह निःसन्दिग्धरूपेण प्रमाणित नहीं हो सका है कि प्राचीन उद्भिद् अथवा जीवगण व्यामिश्र संस्थान विशिष्ट थे। जो भी हो, विविध यन्त्र संकुल उद्भिद् तथा जैव शरीर की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत, अर्वाचीन है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जीवाभिव्यक्ति का काल जितना आगे खिसकता गया, उतनी ही जातिभेद वृद्धि जीवों में होने लगी। काशेरुक (Vertebrate) जीवों में मत्स्य ही प्रथम अभिव्यक्ति है। वही सबसे अधिक असंकीर्ण विशिष्ट है। मत्स्य से सरीसृप तथा सरीसृप से स्तनपायी जीव तथा पक्षिजाति में भेद तथा विशिष्टता अधिक परिलक्षित होती है। स्तनपायी में से मनुष्य का आविर्भाव सबसे आधुनिक है।[1]

---

1. "Nevertheless we can not but think that, scanty as they are, the facts, taken altogether, tend to show both that the more hetrogeneous organisms have been evolved in the later geologic periods and that life in general has been more hetrogeneously manifiested as time has advanced. Let us cite, in illustration, the one case of vertibra. The earliest known vertibrate remains are those of fishes; and fishes are the most homogeneous of the vertibrate. Later and more hetrogeneous are reptiles and birds."
—Progress, Its Law and Causes, By H. Specner

जीवविज्ञानवेत्ता डॉक्टर क्लास (Dr. C. Claus) कहते हैं कि अवयव संस्थान तथा गर्भव्याकरणगत तुलना, प्रत्येक जीव जाति की अभिव्यक्ति अनन्य निरपेक्ष अथवा स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक जीव जाति की अभिव्यक्ति में जीवगण के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध से यह अनुमान है कि यह अनेकतः सम्भाव्य, सत्य संकाश है। कीट से ही क्रमशः उच्चतर जीवसमूह की अभिव्यक्ति हो सकी है।[1] जीवविज्ञान जीव जाति को प्रधानतः 9 श्रेणी में बाँटता है। प्रोटोजोआ (Protozoa) नीचतम तथा प्राथमिक है। काशेरुक (Vertibrate) अन्त्य जीव जाति है।[2]

अविशेष तथा एक जातीय जीव से नाना जातीय जीव का क्रम क्रमशः अभिव्यक्त हुआ है। कोई भी जीव अनन्य सम्बन्ध नहीं है। कोई भी जीव विशेषतः सृष्ट नहीं है। क्रमोन्नतिवादी इसके प्रतिपादनार्थ जन्य संस्थान अथवा आकृति-विज्ञान (Morphology), गर्भव्याकरण (Embryology), उत्खातद्रवविज्ञान (Palxontology), भूविद्या (Geology) इत्यादि विज्ञानाविष्कृत तथ्यों का आश्रय लेते हैं। संस्थान अथवा आकृतिविज्ञान (Morphology) क्रमोन्नतिवाद का प्रतिष्ठापक्ष में कैसे सहाय्य करेगा?

जीवविज्ञान के जिस अंश में संस्थान अथवा आकृति का तत्व वर्णित है, उसे संस्थान अथवा आकृतिविज्ञान (Morphology) नाम से तथा जिस अंश में उसका क्रियातत्व वर्णित है, उसे जीवकर्मविज्ञान (Physiology) नाम से लक्ष्य किया गया है। आकृतिविज्ञान शरीर से संस्थान विद्या (Anatomy) के अन्तर्गत है। जैव शरीर के अंग-प्रत्यंग का तत्वानुसन्धान करने से ज्ञात होगा कि जीवों में संस्थानगत तथा अंग प्रत्यंगगत साम्य है। कशेरुकायुक्त प्राणियों के हाथ, पैर तथा मस्तिष्क के संस्थान अथवा अवयव व्यूह के वैशेषिक धर्म सम्बन्ध प्रभृति का भेद उपलब्ध होने पर विदित होगा कि वह सामान्यतः एकरूप ही है। एक श्रेणी के प्राणी के अंग-प्रत्यंग अथवा शारीरयन्त्र से अन्य प्राणी के शारीरयन्त्र में कुछ न कुछ भेद होता है। पृथक्-पृथक् कर्म करना तथा भिन्न प्रकार का जैव व्यापार सम्पादन इस भेद का कारण है। मछली के Fin, पक्षी के पंख, चतुष्पद जन्तुओं के पूर्वांग तथा मनुष्य के

---

1. "Like wise the results of anatomical and embryological camparison have rendered it probable that the types are by no means absolutely independent, but are subordinated to one another in more or less close relation that especially the higher groups are genetically to be derived the worms."
—Zoology, By Claus, Vol. I, Page 138.
2. "We consider it, under such cirsumstances, conventent in the present state, to distinguish nine types as the chief division.''
—Ibid

बाहु में जो समान अस्थियाँ विद्यमान हैं, उससे विदित होता है कि कुछ समानता है। तब भी उनमें ह्रस्वत्व दीर्घत्वादि धर्म के कारण भिन्नता रहती है। इसमें सन्देह नहीं।[1]

जीव के गर्भ व्याकरण का तत्वानुसन्धान करने से प्रमाणित होता है कि एक जातीय जीव क्रमोन्नति के नियमानुसार विविध जाति में परिणत होते हैं। मनुष्य तो पूँछ से विहीन है, गाय आदि को सींग क्यों है? मनुष्य, हाथी, अश्व आदि को सींग नहीं है, क्या कारण है? इस प्रश्न का भी क्रमोन्नतिवादीगण ने क्या उत्तर प्रदान किया है? यन्त्र का व्यवहार न करने से वह क्षीणवीर्य हो जाता है। सभी यन्त्रों में जो पहले क्रियाशील था, वह क्रमशः अथवा हठात् निष्क्रिय हो जाता है? ऐसी स्थिति में कई वंश बीत गये, वे क्रमशः क्षीण होते-होते अन्त में अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। डॉक्टर क्लास कहते हैं कि प्राथमिक यन्त्र (Rudimentory organs) जो हैं, ये सभी स्थल पर व्यवहार विरहित, सर्वथा व्यापारशून्य हो जाते हैं। ऐसा हम निष्कर्षपूर्वक स्वीकार नहीं कर सकते। वंश परम्परा का अभ्यास न होने के कारण प्राणिगण में पहले जो यन्त्र थे, वे क्रमशः लुप्त होने लगे। इसके प्रतिपादनार्थ डारविन कहते हैं कि श्रृंगविहीन प्राणिगण के अतीत वंश (पूर्वजों में) में जो श्रृंग थे, लांगूलविहीन जीवों के पूर्वजों को लांगूल था, इसकी परीक्षा से यह प्रतिपन्न होता है कि जिन-जिन स्थान से जो-जो यन्त्र विलुप्त हैं, वहाँ विलुप्त यन्त्रों का चिह्न अवश्य विद्यमान रहता है।[2]

भूतत्ववित् विद्वानों ने पृथ्वी के भिन्न-भिन्न स्तर के परीक्षण द्वारा क्रमोन्नतिवाद की प्रतिष्ठा में अनेक सहायता की है। पूर्व में जो जीववंश था, अब उसमें से बहुत विलुप्त हो गये हैं। पृथ्वी की किस अवस्था में जीवाविर्भाव हुआ था, कब मनुष्य की प्रथम अभिव्यक्ति हुई है, भूतत्वानुसन्धानी इस सम्बन्ध में अनेक सन्धान देते हैं।

---

1. "In the fin of the whale, in the wing of the bird, in the anterior limb of the quadruped, and in the human arm it can be shown that there are present the same bones, here short and broad and immoveably connected, there elongated and joined in different ways to allow of corresponding movements, sometimes with every part full developed, some times simplied in one way or another, and partly or entirely rudimentary".
—Zoology, By Dr. Claus, page. 156

2. "Organs which were formerly functional have gradually or even suddenly become functionless as a result of adaptation to special conditions of life and through want of excercise, have after the lapse of generations become weaker and finally aborted or degraded".
—Zoology, Page, 156

तथा

"We have plenty of cases of rudimentary organs in our domestic productions as the stamp of a tail in tailless breeds the vestige of an ear in earless breeds the re-appearence of minute dangling horns in homless breeds of cattle." —Origin of Spicies, Page 451

इनकी बातों पर निर्भर होकर मनुष्य के प्रथमाभिव्यक्ति काल सम्बन्ध में क्रमोन्नतिवादी लोगों ने जो सिद्धान्त बनाया है, इस समय उस पर अनेक का यह मत है कि यह सिद्धान्त सत्यभूमिक नहीं है। पण्डित वेल्स के ग्रन्थ Natural Selection के अध्याय 'The Antiquity of Man in North America' को देखें।

क्रमोन्नतिवादीगण की दृष्टि में उन्नति का जो रूप है, उसे इस ग्रन्थ में यथा प्रयोजन निवेदन किया गया है। अब उन्नति के कारण तथा नियम के सम्बन्ध में इनका क्या अनुमान है, इस अविशेष से विशेष-विशेष भावप्राप्ति का उन्नति का स्रोत कब स्थगित होगा, अथवा किसी एक अवस्था में उपनीत होकर जीव के ऐसे परिणाम का निरोध होगा, इन सबका क्रमविकासवादियों ने जो समाधान किया है, उसे संक्षेप में यहाँ बताया जायेगा। आपाततः इन विद्वानों ने जिस युक्ति का आश्रय लिया है, उनकी यथा प्रयोजन परीक्षा भी करनी है।

प्राकृतिक निर्वाचन ही उन्नति का कारण है। प्राकृतिक निर्वाचन के सम्बन्ध में पहले भी कुछ कहा गया है। प्राकृतिक निर्वाचन के स्वरूपचिन्तन पूर्वक हमें यह ज्ञात हो गया है कि उन्नति हुए बिना स्वसत्ता संरक्षित नहीं होती, जीवन के युद्ध में विजय नहीं मिलती, बाधा अथवा दुःख दूर नहीं होता। अतः उन्नत होना प्रयोजनीय है। प्रकृति योग्य का परित्राण करती है तथा अयोग्य अथवा दुर्बल का, उपयुक्त साधनविहीन का विनाश कर देती है। जीव को यह ज्ञात है कि उन्नत अथवा प्रकृष्ट साधनसम्पन्न हुए बिना वंश का विस्तार नहीं होगा, जीव सुखी नहीं होगा। अन्य को मार-काटकर अन्य के मुख से आहार छीनकर अपना उदर नहीं भर सकेगा। जीव को ऐसा उपदेश प्रदान करते हैं। जीव इसीलिए उन्नत होने की चेष्टा करता है। प्रकृति से उपयुक्त साधन संग्रह करने के लिए यत्नवान् हो जाता है।

गाय, बकरी, भैंस, हिरन प्रभृति को शृंग की आवश्यकता के कारण उनको शृंग मिला है। अश्व, व्याघ्र, सिंह, हाथी, वानर आदि को सींग का प्रयोजन नहीं है, अतः उन्हें सींग नहीं निकलता, सींग रहना उन्नति है अथवा सींग न रहना उन्नति है? पूँछविहीन जीव की उत्पत्ति पहले है अथवा बाद में? किसी की पूँछ बड़ी तो किसी की छोटी क्यों? किस जीव का उद्भव पहले हुआ है, किस जीव जाति का स्थान किस जीव जाति ने छीन लिया है? यह सब क्रमोन्नतिवादी ही जानें, हम यह सब नहीं समझ सकते। सींग-पूँछ आदि देने की शक्ति भी प्रकृति की ही है, इसे छीन लेने की शक्ति भी उसी की है। तब वह किसी को यह देती है तथा किसी से यह छीन क्यों लेती है? जो प्रकृतिगर्भ से ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न प्रकृति का अभिप्राय समझ लेने में समर्थ हैं, उसके दुर्भेद्य रहस्य का उद्घाटन करने में क्षमवान् हैं, वे यह स्वीकार करेंगे कि प्रकृति में उच्चावच सभी प्रकार के पदार्थ प्रसव की सामर्थ्य है। सर्वशक्तिमयी प्रकृति की शक्ति किसके द्वारा नियामित होती है? उसने इतर जीवों की

सृष्टि से पहले ही मानव की सृष्टि क्यों नहीं की? जो सभी अणु-परमाणु-कोष मानव देह उत्पन्न करने में परस्पर संयोजित होते हैं, क्या वे उस समय प्रकृति के पास नहीं थे? यदि नहीं थे तो क्यों नहीं थे?

प्रतीच्य वैज्ञानिकों में से सभी स्वीकार करते हैं कि अण्डकुसुम (ovum) शुद्ध कोषात्मक (Nothing but simple cell) है। विद्वान् वेल्स कहते हैं कि जीव की विपरिणाम रीति का पर्यवेक्षण करके चिन्तनशील पुरुष भी विस्मित हो जाता है। मोलस्क (Mollasc), मेढक (Frog) तथा स्तनपायी प्राणी वर्ग आपात दृष्टि से एकरूप आद्यकोष से जन्म लेते हैं। कुछ काल तक सदृश परिणाम द्वारा अभ्युदित भी होते हैं, किन्तु तदनन्तर किसी नियम, किसी शक्ति से अत्यन्त व्यामिश्र अथवा संकीर्णता से कुटिल अथवा वक्रमार्ग से अस्खलित पद से विपरिणत हो जाते हैं, हम इस विस्मय से पूर्णत: अनजान हैं।[1]

अतएव ज्ञातव्य है कि कोषों में यदि रासायनिक अथवा भौतिक धर्मगत् पार्थक्य नहीं है, तब किसी कोष से सींगयुक्त प्राणी, किसी कोष से पूँछ वाले प्राणी, किसी कोष से बिना पूँछ के जीव क्यों पैदा होते हैं? कोष की संख्या के तारतम्यानुसार जीव की उन्नति अथवा अवनति होती है, यदि इस बात को स्वीकार करें तब भी चित्त शान्ति नहीं पाता। हस्ति, व्याघ्र, सिंह के शरीर में जितने कोष हैं, क्या उनसे अधिक कोषों से मानुष देह गठित है? मानुष की बुद्धि वृत्ति ने पश्वादि की बुद्धि वृत्ति से अधिक विकास प्राप्त किया है, मनुष्य जो हिताहित विवेक वाला है, लोकालोकदर्शी है, क्या कोष की संख्या का तारतम्य इसका हेतु है? आधुनिक क्रमोन्नतिवादीगण के उपदेश को सुनकर हमें तृप्ति नहीं होती (हो सकता है हमारी प्रतिभा मलिन है इस कारण!)। मस्तिष्क के गुरुत्व (Weight of the Brain) के साथ जो प्राणियों की बुद्धि वृत्ति के तारतम्य का सम्बन्ध है, उसे स्वीकार किया, किन्तु जिस कोषसमूह से मस्तिष्क का गठन होता है, वही कोष जब शरीर के अन्य अंगों का भी उपादान है, घटकावयव है, तब वह कोष मस्तिष्कस्थ होकर जिस-

---

1. "The ovum, in its young condition is obviously nothing but a simple cell"—Comparative Embryology, By F.M. Blymour, Vol. I, P. 19

   तथा रसेलवेल्स की उक्ति "No thoughtful person can contemplate without amazement the phenomena presented by the development of animals. We see the most diverse forms—a molluse, a frog, and a mammal-arising from apparently identical primitive cells, and progressing for a time by very similar initial change, but thereafter each pursuing its highly complex and often circuttous course of development with unerring certainity, by means of laws and forces of which we are totally ignorent."

जिस कर्म का निष्पादन करता है, वही कर्म मस्तिष्क के अतिरिक्त शरीर के अन्य भाग में स्थित होकर क्यों नहीं करता?

कोष को प्रतीच्य वैज्ञानिकों ने सजीव पदार्थ का सांस्थानिक एकक (Structural unit of living things) कहा है। नीचतम जीव अथवा उद्भिद् समूह एक कोषात्मक है (unicelluar)। उच्चतम जीव तथा उद्भिद्गण भी प्रथमतः एक कोषात्मक थे। मनुष्य के अण्ड कुसुम (ovam) एक प्रतिरूपक कोष (A typical cell) के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।[1] सभी कोष (पूर्व में कहा जा चुका है) परिस्पन्दन शक्ति, निर्जीव पदार्थ के आशोषण की शक्ति तथा रासायनिक क्रिया द्वारा उसे सजीव में (Protoplasm) बदलने की शक्ति, वर्द्धित होने की शक्ति, निःस्त्रवण शक्ति (Power of Secretion) तथा प्रजनन शक्ति से युक्त हैं। रासायनिक शारीरविज्ञान (Chemical Physiology) ने परीक्षण द्वारा स्थिर किया है कि जल तथा काठिन्य द्रव्य से स्नायविक संस्थान का निर्माण होता है। स्नायुविधान में पृथक्-पृथक् देश में जलीयांश की मात्रा भिन्न-भिन्न है। श्वेत पदार्थ (White matters) से धूसर पदार्थ में जल परिणाम अधिक होता है। स्नायविक संस्थान के कठिन उपादानों को प्रोटीड (Proteds), अल्बूमीनिड्स (Alunainoids), फासफोराइज्ड उपादान (Phosporised Constituents), सेरिब्रीन (Cerebrins), कोलेस्ट्रीन (Cholestrin), एक्सट्रैक्टिव्ज़ (Extractives), जिलेटिन तथा फैट (Gelatin and Fat), प्रभृति कई श्रेणियों में विभक्त किया गया है। जो भी हो, कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, फास्फोरस, ऑक्सीजन, ये स्नायविक संस्थान के प्रधान उपादान हैं। कोषसमूह शरीर में भिन्न-भिन्न यन्त्र का निर्माण करते हैं। मत्स्यादि जीवसमूह में देह तथा मस्तिष्क के गुरुत्व में जो तारतम्य है, उसका कारण है प्राकृतिक निर्वाचन। सभ्य मनुष्य जाति के मस्तिष्क का गुरुत्व असभ्य अथवा जड़मति (Savages or Iditos) के मस्तिष्क के भार से अधिक होता है। डॉक्टर वेल्स का कथन है कि स्थूल प्रमाण से यूरोपीय मस्तिष्क का भार 49 आउन्स है। जबकि निग्रो के मस्तिष्क का वजन 44 आउन्स है। केवल मस्तिष्क के भार का आधिक्य ही बुद्धि शक्ति का आधिक्य नहीं है। इस नियम से भी अनेक व्यभिचार हैं।[2]

क्रमविकासवादी विद्वान् प्राकृतिक निर्वाचन को सभी परिणाम के कारणरूप से अवधारित करते हैं। वे शास्त्रोपदेश तथा प्रकृति धर्माधर्म की मुखापेक्षा करके उच्चावच परिणामसाधन करते हैं। पूर्व शरीर में कृत कायिक, वाचिक तथा मानसिक शुभाशुभ कर्म संस्कार द्वारा प्रेरित भूतसमूह से वर्तमान शरीर मिलता है, पूर्वकर्म के भेद से शरीर का भी भेद होता है। जैसे पूर्वकर्म शरीरोत्पत्ति के निमित्त कारण हैं, उसी प्रकार से भिन्न-भिन्न अवयव की रचना में जिन अणुओं का विशेष-विशेष भाव

1. Chemical Physiology and Pathology, Halliburton, Page 183
2. Human Phystology, Waller, Page 521

से सन्निवेश होता है, उसका भी पूर्वकर्म (अदृष्ट) कारण है। सुश्रुत ने कहा है कि जो सत्वभूयिष्ठ शास्त्रबुद्धि वाले हैं, पूर्वजन्म में शास्त्रभावना से जिन्होंने कालक्षेप किया है, वे इस जन्म में पूर्वजन्म को याद रखने वाले जातिस्मर होते हैं। जीव जिस कर्म से प्रेरित होता है, पुनर्जन्म में वही पाता है। पूर्वजन्म में जिस गुण का अभ्यस्त होता है, इस जन्म में भी उसे वे ही गुण मिलते हैं।[1] केवल सुश्रुत ने ही नहीं, वेदाश्रित तथा वेदमूलक शास्त्रों ने ऐसा मत प्रदर्शित किया है।

सत्वगुण का समधिक विकास होने पर, अधर्म का संस्कार मन्द हो जाने पर मनुष्य जातिस्मर होता है, ऐसा ऋग्वेद संहिता में भी वर्णन है। वेदभक्त ऋषि, योगी जिस साधना से जातिस्मर होते थे, शास्त्रपाठ से उसका सन्धान मिल जायेगा। जातिस्मर पुरुष की कथा को ही इन प्रश्नों के समाधानार्थ प्रमाण मानना चाहिए कि पुनर्जन्म होता है कि नहीं, मनुष्य कर्मदोष से इतर जीवयोनि में जन्म लेता है अथवा नहीं, इत्यादि। स्थूल प्रत्यक्ष के अविषय पदार्थ के तत्वावधारण में इससे अस्खलनशील, प्रमादाक्षम, निश्चित उपाय और क्या हो सकता है? फलस्वरूप अदृष्ट अथवा पूर्वकर्म संस्कार स्वीकार न करने से, केवल प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा इस प्रश्न का उत्तर कैसे मिलेगा कि सृष्टि वैचित्र्य का क्या कारण है?

अध्यापक क्लाज जर्मन देश के प्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक विद्वान् हैं। ये क्रमोन्नतिवाद के पक्षपाती हैं। इन्होंने प्राकृतिक निर्वाचनवाद को सर्वापेक्षा युक्तिसंगत माना है। वैशेषिक सृष्टिवाद इनकी दृष्टि में युक्तिविरुद्धरूपेण प्रतिभात होता है। फिर भी ये यह कहने को बाध्य हो गये कि सृष्टि के पुनः-पुनः होने के 'वाद' के प्रत्याख्यान से यदि वहाँ प्राकृतिक विपरिणाम अथवा क्रमोन्नतिवाद को प्रतिष्ठापित किया जाये, तब जीव के प्रथमाभिव्यक्ति तत्व के स्वरूप की व्याख्या करना होगा। क्रमोन्नतिवाद की वर्तमान अवस्था में इन सबकी यथोचित व्याख्या नहीं हो सकती। जीव जगत् की अनेक विस्मयजनक घटना में से जीव की प्रथमाभिव्यक्ति का तत्व हमारे सामने पहेली के समान है। हम आज भी इस रहस्य का भेदन करने में सक्षम नहीं हैं। हो सकता है कि भविष्य में तत्वानुसन्धानीगण इस रहस्य का उद्भेद करें।[2]

---

1. "भविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः। भवन्ति सत्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मराः नराः। कर्मणा चोदितोयेन तदाप्नोति पुनर्भवे, अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये ताने भजते गुणान्।"—सुश्रुत
2. "If the theory of repeated acts of creation be rejected and the process of natural development be established in its place, there is still the first appearances of organisms to be accounted for and especially the defenite course which the evolution of the complicated and more highly developed organisms has taken has to be explained. In the many wonderful phenomena of the organic world amongst others in the origin of man in the deluvial of tertiary period, we have a riddle the solution of which must retain for future investigators." —Zoology, page 179

वैशेषिक सृष्टिवाद के प्रत्याख्यान द्वारा तत्परिवर्त में क्रमोन्नतिवाद के स्थापनार्थ जो युक्तियाँ प्रदर्शित की गयी हैं, उनके द्वारा वेदादि में व्याख्यात वैशेषिक सृष्टिवाद की भित्ति और भी सुदृढ़ होगी। सुदृढ़ है भी!

जीव देह के संस्थानगत सादृश्य में क्रमोन्नतिवादीगण 'एक जातीय जीव से जो असंख्य जीवों की अभिव्यक्ति हो गयी है,' उसका प्रमाणरूप से आश्रय लेते हैं। शास्त्र के उपदेश से शरीर भोगायतन है। पुण्य-अपुण्य के कर्मभोग के लिए ही शरीर उत्पन्न है। पूर्वकृत कर्म संस्कार लिंगदेह में, चित्त अथवा आत्मा में लग्न हो जाता है। पूर्व शरीर में जो जीव जैसा कर्म करता है, उस जीव का लिंगदेह, चित्त तथा आत्मा तदुपयुक्त स्थूल शरीर प्राप्त करता है। जैसा कर्म वैसी देह। गुणत्रय के तारतम्य से जैसे कर्म होते हैं, वैसा ही भोगायतन देह मिलना प्राकृतिक नियम है। देह के प्रत्येक यन्त्र की उत्पत्ति गुणत्रय की भिन्न-भिन्न मात्रा अथवा छन्द के अनुसार होती है। यह निश्चित रहता है कि कर्म से प्रेरित परमाणु कितनी संख्या में किस भाव से सम्मूर्च्छित होकर किस यन्त्र का निर्माण करेंगे। अस्थि की उत्पत्ति प्रधानतः संसर्गवृत्ति (Attractive or aggregative) शक्ति की क्रिया से होती है। आकृतिगठन की पर्यालोचना करने से ज्ञात होगा कि आकर्षण तथा विप्रकर्षण शक्ति के तारतम्य से प्रतिपूर्वकर्म ही कारण है। कर्म की स्थूलता से कर्मफलभोगायतन दैहिक यन्त्र समूह भी तत्समान तत्तुल्य होंगे। कर्म की विचित्रता से देह की विचित्रता होती है।

हमारे पूर्व कर्म के साथ अन्य एक व्यक्ति के पूर्व कर्म का सादृश्य है, तब हमारी देह के साथ उसकी भी देह का सादृश्य होगा। क्योंकि जैसे कर्म के फलभोगार्थ मैंने जैसी देह पायी है, अन्य भी वैसा कर्म करके वैसी ही देह प्राप्त करेगा। वैसे कर्म से प्रेरित होकर परमाणु अथवा कोषसमूह अस्थि का निर्माण करते हैं, वैसे कर्म से प्रेरित होकर परमाणु अथवा कोषसमूह स्नायु, शिरा, धमनी, पेशी, फुफ्फुस, हृतपिण्ड, वृक्क, मस्तिष्क, यकृत, प्लीहा आदि शरीर-यन्त्रों का उत्पादन करेगा, यह निश्चित है। वेदादिशास्त्र पाठ करने से स्थूल, सूक्ष्म (लिंग) तथा कारण, इन त्रिविध शरीर का संवाद प्राप्त होता है। स्थूलादि त्रिविध शरीर के समीचीन ज्ञान के बिना किसी पदार्थ का तत्वज्ञान पूर्णरूप से अर्जित नहीं होता। 'वैशेषिक सृष्टिवाद तथा क्रमोन्नतिवाद में से कौन वाद सत्य है', जो शुद्ध सत्यानुत्सन्धित्सा से प्रेरित होकर यह स्थिर करते हैं, उनको त्रिविध शरीर का ही तत्वानुसन्धान करना होगा। जब तक चित्त राग-द्वेष विवर्जित नहीं होगा, तब तक प्रतिभा विमल नहीं होगी और प्रतिभा की विमलता के अभाव में कोई भी शुद्ध सत्य का रूपदर्शन नहीं कर सकेगा।

राग-द्वेष से अपहत चित्त वाले अपनी मलिन प्रतिभा के कारण प्राकृतिक नियम के अनुसार यह भ्रान्त धारणा बनाते हैं कि लिंगदेह अथवा सूक्ष्म शरीर वास्तव में नहीं है। बालकोचित बुद्धि से ही लिंग (सूक्ष्म) देह का अस्तित्व प्रतिभात होता

है। जो इस मत का पोषण करते हैं कि सूक्ष्म अथवा लिंगदेह नहीं है, उनका इस मत को पोषण करने का कारण क्या है? चिन्तन करने से ज्ञात होता है कि जो स्थूल प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, उसके मत का वह लोग पोषण नहीं करते, क्योंकि उनकी उसी प्रकार की प्रतिभा तथा संस्कार ही उनसे ऐसा कराते हैं। अतः कहता हूँ कि प्रतिभा की विमलता के अभाव में विशुद्ध सत्यरूप ज्ञाननेत्र नहीं खुलते। जो स्थूल इन्द्रियगम्य है, वह सूक्ष्म पदवाच्य नहीं है। स्थूल इन्द्रियगम्य नहीं है, यह कहकर वे सूक्ष्म पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। ऐसा मानने वालों की प्रतिभा मलिन है। वे पुनर्जन्मादि सूक्ष्म पदार्थों का प्रत्याख्यान करते रहते हैं। श्रुति ने इसीलिए कहा है कि जो लोकालोक को देखने की क्षमता नहीं रखते वे चेतन नहीं हैं, आसन्न चेतन हैं।

पंचकोषों के (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय) स्वरूपदर्शन के अभाव में शरीर, मनः तथा आत्मा के तत्व का यथायथ ज्ञान सम्भव नहीं है। प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोष ही सूक्ष्मशरीर है अथवा सूक्ष्म उपाधि है। कारण शरीर तथा आनन्दमय कोष एक सामग्री है। लिंगदेह के साथ स्थूल सम्बन्ध (स्थूल देह का सम्बन्ध अन्नमय कोष का सम्बन्ध) होना जन्म है। इसका विच्छेद ही मरण है। लिंगदेह जिस प्रकार कर्मसंस्कार द्वारा वासित होता है, जीव को वैसा ही शरीर मिलता है। अन्नमय कोष तामस है। तमोगुणाधिक्य से इसकी उत्पत्ति होती है। यह तामसिक होने से जाड्यबहुल है। प्राणमय कोष रजोगुण बहुल होने से राजस है, अतः प्रवृत्ति तथा क्रियाशक्ति प्रधान है। मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय सत्वगुण प्रधान कहे गये हैं। सात्विक हैं। गुणत्रय भेद से ही विविध जीवाविर्भाव होता है और होता जा रहा है। हमारे शरीर में ज्ञानशक्ति, परिचालनशक्ति तथा पोषणशक्ति की क्रिया होती है। जब हमारे शरीर में यह त्रिविध शक्ति की क्रिया है, तब शरीरयन्त्र भी प्रधानतः त्रिविध हैं। पोषण तथा प्राणनक्रिया एक ही पदार्थ है। हमारे शरीर में समासतः पोषणयन्त्र, परिचालकयन्त्र तथा ज्ञानशक्तियन्त्र रूप त्रिविध यन्त्र समष्टि है।

परिपाकयन्त्र, श्वासयन्त्र, शोणित संचालनयंत्र तथा समुत्सर्गयन्त्र, ये सभी पोषणयन्त्र विभागान्तर्गत कहे गये हैं। पाश्चात्य नरशरीर विज्ञान का अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि नरदेह में जो यन्त्र हैं, उन्हें 7 श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—यथा परिपाकयन्त्र, श्वासयन्त्र, शोणित संचालनयन्त्र, समुत्सर्गयन्त्र, प्रजननयन्त्र, पैशिक संस्थान अथवा परिचालनयन्त्र, स्नायव संस्थान अथवा नियामकयन्त्र। विसर्ग-आदान-विक्षेप, इन क्रिया त्रय से देह की रक्षा होती है। जिस शक्ति से शरीर घृत होता है, श्रुति ने उसे प्राणशक्ति कहा है। शरीर जब विसर्ग, आदान तथा विक्षेपरूपी क्रिया से घृत होता है, तब प्राणशक्ति विसर्ग, आदान तथा विक्षेपरूपी त्रिविध क्रियात्मिका है। पाश्चात्य नरशरीर विज्ञानी कहते हैं कि सप्राण देह के

धारणार्थ केवल आदान एवं विसर्ग क्रिया होती है। डॉ. वैलर, लाण्डोई, हालिवर्टन प्रभृति शरीरविज्ञानी आदान क्रियात्मक संविधानात्मिका (Constructive), सम्पूरणात्मिका (Integrative Synthetic) इत्यादि नाम की तथा विसर्ग क्रिया को अपक्षयकारिका (Destructive), विश्लेषणात्मिका (Analytic) इत्यादि की संज्ञा प्रदान करते हैं।

मनुष्यशरीर में जो कुछ कर्मसम्पादनार्थ गठित हो रहा है, उन सब कर्मनिष्पत्ति के लिए जितनी संख्या में तथा जितने प्रकार के यन्त्र का प्रयोजन है, हमारे शरीर में उतने संख्यक, उतने प्रकार के यन्त्र हैं। आदान, विसर्ग तथा विक्षेप, त्रिविध व्यापार विशिष्ट प्राणन कार्य प्राणिमात्र में साधारण है। दो साधारण जैवकर्म हैं—स्वसत्ता संरक्षण तथा वंशविस्तार। इन दोनों कर्म के साधनार्थ जो यन्त्र आवश्यक हैं, जीवमात्र में वे विद्यमान हैं। देह में ज्ञान, परिचालन तथा पोषण ये यथाक्रमेण सत्वादिगुणत्रय के कार्य हैं। ज्ञान-सत्वगुण। परिचालन-रजोगुण। पोषण-तमोगुण। जगत् के प्रत्येक पदार्थ जब त्रिगुण परिणाम हैं, जब गुणत्रय अन्योनमिथुन वृत्तिक हैं, अन्योन्याश्रयवृत्तिक हैं, तब कोई भी जागतिक पदार्थ शुद्ध तामस, निरवच्छिन्न राजस अथवा केवल सात्विक नहीं हो सकता। तब तामस में भी सत्व तथा रजः स्वल्प परिमाण में हैं। पोषण, परिचालन तथा ज्ञानयन्त्र भी इतरेतराश्रयी हैं। परिचालन तथा पोषण के यन्त्र भी इतरेतराश्रयी हैं। परिचालन तथा पोषण के अभाव में ज्ञानशक्ति निष्क्रिय हो जाती है। इसी कारण अति निकृष्ट जीव में भी ये त्रिविध यन्त्र रहते हैं। जिस कोष (Cell) को नरशरीर विज्ञानी सजीव पदार्थ का सांस्थानिक एकक कहते हैं, वह भी त्रिगुणात्मक है।

अध्यापक मैकलिस्टर (Macalister) कहते हैं कि प्रोटोप्लाज़्म ही बाह्यशक्ति कर्तृक प्राणन व्यापार के निष्पादन तथा बलविसर्गार्थ उत्तेजित होता है। अनन्य सहाय एक प्रोटोप्लाज़्म प्राण धारणोपयोगी सर्व प्रकार का कर्म निष्पादन करने योग्य है। तब जीव जाति की उन्नति विषयक वृद्धि तथा विपरिणाम विकार जनक पृथक्करण व्यापार आरम्भ होता है। अनेक सेल को शरीर निष्पत्ति का श्रमभार दिया जाता है। इससे तज्जन्य कोषात्मक शरीर विधान के एक अंश में संकोचनशीलत्व का आधिक्य होने से पेशी गठित होती है और अन्य अंश कोषों के स्तर पृष्ठ में संवेदन योग्यता समुपचित तथा समाहित होती है। हमारा विश्वास है कि इससे कोष त्रिगुण के भाववैषम्य से जन्मलाभ करते हैं। संस्कार विशिष्ट गुणत्रय यथा प्रयोजन भिन्न-भिन्न यन्त्र का निर्माण करते हैं। इस सिद्धान्त का मूल्य अधिक है, एकरूप कारण से कभी भी सम्पूर्णतः भिन्न रूप कार्य नहीं होता।

निम्न श्रेणी के बहुकोषात्मक जीवों का पैशिक तथा स्नायव कार्य बाह्यत्वक् कोषों (Ectodermal Cell) द्वारा निष्पादित होता है तथा इसी कारण से उक्त कोष

स्नायव पैशिक कोष (Neuro muscular cell) नाम से अभिहित होते हैं। उच्च श्रेणी के जीव संघ की संस्कार ग्रहण तथा संचरण शक्ति केवल निर्दिष्ट अंग के ऊपरी भाग के कोषसमूह में परिच्छिन्न रहती है। इन सभी को स्नायुकोष कहा जाता है।[1] उच्च श्रेणी के जीवसंघ की संस्कारग्रहण तथा संचारणशक्ति केवल निर्दिष्ट अंग के ऊपरी भाग के कोषों में परिच्छिन्न रहती है, इसका कारण क्या है? प्रतीच्य वैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में क्या कहा है?

समान कारण से समान कार्योत्पत्ति होती है। कारणभेद से ही कार्यभेद होता है। सर्वांश में समान कारण से कभी भिन्न रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अस्थि, पेशी, शिरा, धमनी, वृक्क, आमाशय, पक्वाशय, लसीका, कण्डरा, मांस, मेद, मज्जा, स्नायु, यकृत, फुप्फुस, हृदय, मस्तिष्क, उण्डुक, मूत्राशय, गर्भाशय इत्यादि शारीरयन्त्रसमूह कारण है कोष (Cell)। मनुष्य की अस्थि प्रभृति यन्त्रसमूह की उत्पत्ति जिस कोष नामक पदार्थ से होती है, वानरादि इतर जीवों की अस्थि आदि शारीरिक यन्त्र समूह भी अविशेष कोष से उत्पन्न होते हैं। अस्थियों में जो वैलक्षण्य है उसे भी स्वीकार करना होगा। सर्वांश में यह कहना है कि समान कारण से कभी भी भिन्न रूप कार्य नहीं उत्पन्न होता। अत: स्वीकार करना होगा कि एक अविशेष कोष नामक पदार्थ से अस्थि आदि भिन्न-भिन्न कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। जिस कोष से वानर ने जन्म लिया है, ठीक उसी कोष से मनुष्य अथवा अन्य प्राणी की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।[2] अणुवीक्षण यन्त्र से कोषसमूह की विशिष्टता न पकड़ी जा सकने पर भी रासायनिक परीक्षण से उनके व्यावर्तक धर्म की उपलब्धि न होने पर भी, उनमें सूक्ष्म वैधर्म्य है, यह अनुमान करना होगा। अणुओं की संख्या तथा जातिगत समानता रहने पर भी शुद्ध सन्निवेश (Arrangement) के भेद के कारण भौतिक तथा रासायनिक

---

1. "In animals of a higher grade, the capacity of receiving and transmiting impressions becomes limited to the cells of a certain part of the surface only and these, which are called nervo cells, become differentiated from the cells of the muscular system, although co-rrelative to them in function."

—Human Anatomy, Macalister, Page 49

2. डॉक्टर वील कहते हैं—"Although there may be no physical or chemical difference, we know that the life history of these several forms is very different, while the results of their living are sufficient to prove that they must have been diverse from the very first.'' —Protoplosm or Matter, Pg. 285

तथा

"I do not however, admit as a tact that the resembalance at the time selected is very great. By careful examination not cell prepared specimens. Any accurate observer would be able to point out many strong points of difference even at this early.''

धर्म सम्बन्ध से सम्पूर्ण पृथक् वस्तुसमूह की उत्पत्ति होती है। शरीरयन्त्र समूह पंचभूत की भिन्न-भिन्न ताल से, भिन्न-भिन्न छन्द के स्पन्दन से उत्पन्न होते हैं। कुम्भकार जिस प्रकार से घटशरावादि निर्माण के पूर्व मन ही मन घटाकृति तथा उसके आकार की कल्पना करता है, उसे चित्रित करता है, उसकी मानस कल्पना जिस प्रकार से मृत्तिका में संक्रमित होकर मृत्तिका को घटादि के आकार में आकारित करती है, उसी प्रकार लिंगदेह के भिन्न-भिन्न छन्द के स्पन्दन पंचभूत में अथवा हाईड्रोजन आदि में संक्रमित होकर भिन्न-भिन्न शरीरयन्त्र का निर्माण करते हैं।

देह के यन्त्र अर्थात् यकृत-फुफ्फुस-मस्तिष्क-हृदय-उण्डूक-वृक्क, स्नायु, पेशी—धमनी आदि पंचभूतों के भिन्न-भिन्न छन्द हैं। सुश्रुत कहते हैं कि अंग-प्रत्यंग की उत्पत्ति में जो गुणसमूह विद्यमान रहते हैं, वे सब गर्भ के धर्माधर्म निमित्तज हैं। लिंग देह में संस्कार के सादृश्यानुसार एक जातीय जीव के साथ अन्य जातीय जीव के स्थूलदेह के यन्त्र का अथवा बाह्य आकृति का सादृश्य रहना निश्चय ही प्राकृतिक है। जीवधर्म तो जीवमात्र का स्वाभाविक धर्म है। अथवा साधारण धर्म है। जीव का शरीर प्रकृति अथवा पंचभूतों से उत्पन्न होता है। उद्भिद् के शरीर तथा पाषाणादि भी प्रकृति अथवा पंचभूतों से उत्पन्न होते हैं। जिस कर्म से प्रेरित होकर भूतसमूह जीवशरीर का निर्माण करते हैं, वृक्षादि शरीर निर्माण काल में वह निश्चय ही तद्रूप कर्म द्वारा प्रेरित नहीं होता। प्रत्येक जीव जाति के शरीरोत्पादन का कर्म भी पृथक् है। जिस कर्म द्वारा व्याघ्रदेह उत्पन्न होता है, तद्रूप कर्म से कुत्ता, बिड़ाल अथवा हाथी उत्पन्न नहीं होते। वानर से मनुष्य देह का इतना सादृश्य है, उतना अन्य पशुओं से सादृश्य लक्षित नहीं होता। इसी कारण वानर से मनुष्य का क्रमविकास हुआ है, अर्थात् वानर ही क्रमशः विकसित होते हुए मनुष्य बना है, इस प्रकार के सिद्धान्त के उपनीत होने का कोई अव्यभिचारी हेतु नहीं है। यह स्वीकार करना होगा कि वानर देहोत्पादक कर्म के साथ मनुष्य के देहोत्पादक कर्म का कुछ सादृश्य है, यह स्वीकार किया जाता है, किन्तु इससे यह कैसे प्रमाण हो गया कि वानर से मनुष्य का विकास क्रमशः हुआ है? जिस कर्म हेतु से मानवदेह निर्मित होता है, वानर के जन्म से पूर्व वैसा कर्म संस्कारावस्था में नहीं रहता। यदि यह प्रमाणित हो जाय कि वानर जन्म के पूर्व वैसा कर्म संस्कारावस्था में नहीं था, तब यह अवश्य मानना होगा कि वानर से ही मनुष्य का जन्म है। किन्तु क्या यह सप्रमाण होगा?

यदि गुणत्रय को नित्य स्वीकार किया जाये, इन्हें ही सर्वप्रकार के शरीर का उपादानकारण मान लिया जाये, यदि यह मान लिया जाये कि प्रकृति अनादि कर्मसंस्कारवती है, तब वानर देहाभिव्यक्ति के पूर्व मनुष्य देह की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, यह किस प्रमाण से प्रतिपन्न होगा? प्रकृति को यदि सर्वशक्तिमती कहकर अंगीकार किया जाये, तब क्या ऐसे अनुमान को दोषमुक्त कहना युक्तिसंगत नहीं है? यदि प्रकृति नित्या है, तब यह मानना होगा कि उसके कर्म भी नित्य हैं। इसका

कारण यह है कि परिणाम ही प्रकृति का धर्म है। प्रकृति कभी भी परिणामशून्य होकर अवस्थान नहीं करती। कल्पित नैहारिक अवस्था ही उनकी दृष्टि में प्रकृति का आदि है, अर्थात् उसके पूर्व प्रकृति नहीं थी, कर्म नहीं था, इस वर्तमान सृष्टि के पूर्व कभी भी जगत् सृष्टि नहीं थी, अथवा यदि थी भी, तब उस पूर्व सृष्टि में जिन जीवों ने जन्म लिया था, वे पुनः प्रकृति गर्भ में, परमाणु अथवा जड़शक्तिरूप में विलीन हो गये। जिनकी ऐसी धारणा है कि जिस कर्म से कीट उत्पन्न होता है, जीव प्रसव में प्रवृत्ता प्रकृति को प्रथमतः वैसे ही कर्म करना होगा। तब प्रकृति पहले कीट प्रसव किये बिना अन्य जीव का प्रसव नहीं कर सकेगी। सर्वशक्तिमती होने पर भी ऐसा सामर्थ्य उसमें नहीं है। जिनका यह मत है, वे अनायास ही यह कह सकते हैं कि एक जातीय जीव से क्रमशः नाना जातीय जीव की उत्पत्ति हुई है। वे यह भी कह सकते हैं कि वनमानुष से मनुष्य का जन्म हुआ है। उनके मत से वनमानुष की उत्पत्ति के पूर्व मनुष्य की अभिव्यक्ति असम्भव है।[1]

शास्त्र ने प्रकृति को नित्या कहा है। संकोच तथा विकास प्रकृति का स्वभाव है। अतएव सृष्टि तथा प्रलय पर्यायक्रमेण आर्वतन करते रहते हैं। शास्त्र ने इसीलिए सृष्टि तथा लय का अनादित्व माना है। पूर्व सृष्टि में किये कर्मसमूह प्रलयकाल में संस्कारावस्था में रहते हैं। शास्त्र ने इसी कथन को अभ्युपगम किया है। आधुनिक विज्ञान ने प्रवृत्ति शक्ति का संरक्षण तत्व (Conservation of Energy) वास्तव में शास्त्रोपदिष्ट यथोक्त कर्मतत्व का ही परिच्छिन्न रूप है। जिस प्रकार के कर्म से प्रेरित होकर भूतसमूह जिस प्रकार के जिस-जिस स्थूलदेह का निर्माण करते हैं, उस-उस कर्म का संस्कार प्रकृति में चिरकाल विद्यमान रहता है। जब तक मुक्ति साधन ज्ञान का उदय नहीं होता, तब तक जीव को कर्मानुसार उच्चावच परिणाम स्रोत में बहना पड़ेगा। सिंह, व्याघ्र, हस्ति, कुक्कुर, श्रृगाल, वानर, कीट, पतंग, पक्षी, सरीसृप, सुर, नर इत्यादि जीव सत्व, रज, तम के भिन्न-भिन्न छन्द से उत्पन्न होते हैं। कर्मभेद ही सृष्टि का कारण है। वेद ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, वत्सर, नक्षत्र, ग्रह, वाक्, मनः, गो, अश्व, छाग इत्यादि सर्व प्राकृतिक पदार्थ को छन्दः कहा है। गुणत्रय के जिस-जिस छन्द में, जिन-जिन ताल के स्पन्दन में, जिस-जिस जीवदेह की, उद्भिद की,

1. "It is endeed very remarkable that evolutionists who are always on the look out for points of resemblance between different living beings, should manifiest the strangest in desposition to acknowledge the likeness of different kinds of living matter to one another. How it is that he who takes pleasure in showing the likeness between man and apes, and in compairing them, bone with bone, muscle with muscle, and brain with brain. Does not appear to be much interested in the fact that the living matter of all parts of the body of man is indistinguishable from that of animals below him"? —Protoplasm or Matter and Life, Pg. 282

भूत तथा भौतिक पदार्थों की अभिव्यक्ति होती है, उस सम्बन्ध में यह निश्चित है कि प्रकृति के गर्भ में सभी प्रकार के छन्द विद्यमान हैं। इसीलिए छान्दोग्य श्रुति में कहा गया है कि इहलोक में जीवगण जिस-जिस कर्म के कारण व्याघ्र, सिंह, वृक, वाराह, कीट, पतंग, दंश, मशक इत्यादि जाति प्राप्त करते हैं, उनका वह कर्म ज्ञान तथा वासनांकित होकर प्रलयोपरान्त पुनः सृष्टि में उसी रूप में आविर्भूत हो जाता है।

एक जातीय जीव के देहयन्त्र के साथ यदि अन्य जातीय जीव के देहयन्त्र में अनेकतः सादृश्य है, तब उनमें पौर्वापौर्य सम्बन्ध है। उनमें एक जातीय जीव अन्य जातीय जीव से अभिव्यक्त हो रहा है, इस प्रकार के सिद्धान्त की स्थापना के लिए कोई उचित उक्ति अथवा युक्ति समझ में नहीं आती। विपरिणाम प्राप्त अथवा विकसित अंग-प्रत्यंग जीवगण में दैहिक संस्थानगत जो साम्य उपलब्ध हो रहा है, उससे कोष (Cells) समूह में जो अधिकतर सादृश्य है, उसे मानना ही पड़ेगा। भिन्न-भिन्न जीवों के कोष का परीक्षण करने से (अणुवीक्षण यन्त्र से अथवा रासायनिक विधि से अथवा दोनों से) वैज्ञानिक, भौतिक तथा रासायनिक धर्मगत किसी प्रकार के वैलक्षण्य का अनुभव कर सकने में समर्थ नहीं हो सके। अतः सभी जीवों से सभी जीव आविर्भूत हो सकते हैं, इस अनुमान में आपत्ति क्या है? क्रमोन्नतिवादी जीवों की भ्रूणावस्था की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं। डॉक्टर वील ने इस सम्बन्ध में जो कहा है, उसे ध्यान में रखना होगा।

जीव से जीव की उत्पत्ति होती है, निर्जीव से सजीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्रमोन्नतिवादीगण इस मत का अवलम्बन लेते हैं। ये लोग यादृच्छिक उत्पत्ति (Spontaneous Generation) वाद के विरोधी हैं। विद्वान् डारविन कहते हैं कि मेरी दृष्टि से भी जीव बहुपूर्ववर्ती कतिपय जीवों के कुलक्रमागत हैं। कोई जीव विशेषतः सृष्ट नहीं है।[1] जीव की प्रथमाभिव्यक्ति कब और कैसे हो सकी है, इस सम्बन्ध में पण्डित डारविन ने कुछ भी नहीं कहा है। अध्यापक ओवुन (Owen) कहते हैं कि जीवोन्नति स्रोत बहुमुख तथा विचित्र है। अतएव प्राणीगणं को साधारणतः उनके उत्कर्ष के तारतम्य से श्रेणीकृत नहीं किया जा सकता। यथायथ भाव से जैव उन्नति पर्व समूह के आनुपर्व्य का निर्वाचन असम्भव है। अनेक जीव जाति मानो एक ही पर्व पर है, यह बोध होता है।[2] डॉक्टर वील कहते हैं कि

1. "I, view all beings, not as special creations, but as the lineal discendants of some few beings which lived long before the first bed of the cambrain system was deposited."

—Origin of Species, pg. 402, Darwin.

2. "Animals in general cannot be arranged in a series proceeding from less to more perfect in any way, so many, in different, natural series, being on a par."

—Life of Professor Owen, part-I, pg 252

क्रमोन्नतिवाद के प्रतिष्ठापक अब क्या कतिपय पूर्ववर्ती जीवों का अस्तित्व मानने को बाध्य हैं क्या?

मनुष्य का जन्म अनेक इतर जीव योनि में चक्र संक्रमण के अनन्तर होता है। अतएव जिज्ञासा होती है कि जीव क्रमशः उन्नत होते-होते मनुष्यत्व को प्राप्त होता है, इस मत के साथ क्या शास्त्र का ऐक्य मान सकते हैं? बृहन्नारदीय पुराण में कहा है कि समस्त जीव कर्मपाश से नियन्त्रित कर्मफल का भोग अवश्य करने के लिए विवश हैं। जो जैसा जिस प्रकार का कर्म करेगा, उसे वैसे उसी प्रकार का फलभोग करना ही होगा। यह जीव की नियति है। कर्मपाश द्वारा नियन्त्रित होकर सभी जन्तु स्वर्गादि पुण्य स्थान में पुण्यभोग करते हैं, अथवा नरकादि में अतीव दुःख का पापफल अनुभव करते हैं। कर्मावसान होने पर इस लोक में आते हैं। सर्वमय विकल मृत्युबाधा संयुक्त स्थावरादि में जन्म लेते हैं। वृक्ष-लता-गुल्म-तृण-गिरि आदि स्थावर नाम से अभिहित है। स्थावरत्व प्राप्त होकर भी ये मुहूर्त मात्र भी सुख नहीं पाते। प्राकृतिक पीड़न में इनको तभी भी निरन्तर प्रपीड़ित होना पड़ता है। वर्षा, आँधी, वज्राघात, दावानल आदि विविध उपसर्गों द्वारा इनका प्राणसंहार होता है। तदनन्तर कृमि होकर सदा यातना भोगते हैं। क्षण में जन्म, क्षण में मृत होते हैं। बलवान प्राणी द्वारा दी जा रही पीड़ा के निवारण में अक्षम तथा शीतवातादि क्लेश से अभिभूत होकर, क्षुद्बाधित होकर मलमूत्रादि में संरक्षण करने की अतीव यातना उठाते हैं।

इसके अनन्तर पशु योनि मिलती है। कभी मांस तो कभी कन्दमूलादि से जीवन चलाते हैं। बलवान से बाधित होकर परपीड़ापरायण हो जाते हैं। वन्य पशुयोनि की यह स्थिति है। तदनन्तर ग्रामवासी गाय आदि पशु कुल में जन्म होता है। यहाँ भी कुछ सुख नहीं मिलता। स्वजाति वियोग, बोझ ढोना, पाश बन्धन, ताड़न सदा दुःखप्रद होता है। इस प्रकार अनेक योनि संचरण के अनन्तर मनुष्य जन्म मिलने की आशा होती है।[1]

ऐतरेय आरण्यक का पाठ करने से भी क्रमोन्नत पर्व का संवाद मिलता है। अप्राण स्थावर, सप्राण स्थावर, संकीर्ण चेतन अथवा विशिष्ट चेतन, इन चतुर्विध पर्व की कथा का यहाँ अंकन है। इस आरण्यक में भोगाधिष्ठान के गो, अश्व, पुरादि शरीर का, भोगकरण का, वह्नि आदि देवताओं से अधीष्ठित वाक् चक्षु आदि का तथा भोग्य वर्ग की सृष्टि का उपदेश है। भोगाधिष्ठान गवादि शरीरसमूह में मनुष्य का शरीर ही पर्याप्त भोगाधिष्ठान है, यह समझाने के लिए श्रुति ने कहा है कि इन्द्रियाभिमानी देवतागण परमेश्वर द्वारा सृष्ट होकर समुद्र के समान अत्यन्त विराड्देह में प्रपतित हैं। तत्पश्चात् परमेश्वर अखिल इन्द्रिय तथा उसके देवताओं के अधिष्ठान भूत विराड्देह में क्षुधा-पिपासा संयोजित कर देते हैं। यह संयोजन करने

1. बृहन्नारदीय पुराण, अध्याय 30

पर विराड्देह में प्रपतित इन्द्रियाभिमानी देवगण परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि "इस अतिविस्तीर्ण विराड्देह में हम प्रतिष्ठालाभ करने में समर्थ नहीं हैं। जिस अल्पशरीर में प्रतिष्ठित होकर हम देह को पर्याप्त भोजन दे सकें, हमें उस आयतन का शरीर प्रदान करिये।" परमेश्वर इन्द्रियाभिमानी देवताओं के इस प्रार्थना वाक्य को सुनकर उनको गोदेह प्रदान करते हैं। वे गोदेह प्राप्त कर परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि "यह गोदेह हमारे लिए उपयुक्त नहीं है। हमारे भोगार्थ पर्याप्त आयतन नहीं है।" तब परमेश्वर उनके लिए पुरुष (मनुष्यदेह) प्रदान करते हैं, जिससे वे अत्यन्त सन्तुष्ट होकर कहते हैं कि 'आपने इस बार हमारे लिए उपयुक्त देह प्रदान किया।'[1] देवगण प्रजापति के परमेश्वर के सारभूत कार्य हैं।

वे परमेश्वर के सारभूत कार्य क्यों हैं? वे सात्विक हैं, इसलिए देवगण को परमेश्वर का सारभूत कार्य कहा गया। मनुष्य में राजसत्व तथा गवादि में तामसत्व के कारण ये सारभूत कार्य नहीं हैं। देवतागण का सारभूत कार्य है वृष्टि, वृष्टि का सारभूत कार्य है औषधि, औषधि का सारभूत कार्य है अन्न, अन्न का सारभूत कार्य है रेतः, रेतः का सारभूत कार्य है प्रजा, प्रजा का सारभूत कार्य है हृदय, हृदय का सारभूत कार्य है मनः (ज्ञानशक्ति), मनः का सारभूत कार्य है वेदरूपा वाक्। उसका भी सारभूत कार्य है अग्निहोत्रादि कर्म। पूर्वजन्म में जिसने वेदोपदिष्ट अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान किया है, वे इस जन्म में वेदोक्त कर्मानुष्ठान तथा ब्रह्मोपासन करके ब्रह्मज्ञान के योग्य माने जाते हैं। निरतिशय सुकृति के अभाव में ऐसा जन्म नहीं होता। मनुष्य के अतिरिक्त कोई भी जीव ब्रह्मोपासना करके ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव मनुष्य का महत्व सिद्ध है।[2]

मनुसंहिता में प्राकृतिक परिणाम को सात्विक, राजसिक तथा तामसिक रूप भागत्रय में विभक्त करके तदनन्तर सात्विकादि त्रिविध भाग में से पुनः उत्तम, मध्यम तथा अधम रूप विभाग संयोजित किया है। सात्विक व्यक्ति देवत्व पाते हैं, राजस को मनुष्य की तथा तामसिक को पशु-पक्षी आदि की योनि मिलती है।[3] सत्वादि गुण के कारण ही त्रिविध गति है। यह पुनः देशकालादि भेद से, संस्कार हेतुभूत

---

1. "ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतं स्तमशनापिपासाभ्याममन्बवार्जत् ता ए-नमब्रुवन्नायतमन्नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदायेति ताभ्योगामानयता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं वतेति पुरुषो वाव सुकृतं"...ऐतरेय आरण्यक (इसका सायण भाष्य भी देखें)
2. "अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापते रेतो देवा देवानां रेतो वर्षं वर्षस्य रेत औषधयः औषधीनां रेतऽन्नमन्नस्य रतो रेतो रेतसारेतः प्रजः प्रजानां रेतो हृदयं हृदयस्य रेतो मनो मनसो रेतावाक् वाचोरेतः कर्म तदिदं कर्मकृतमयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः"

—ऐतरेय आरण्यक (इसका भी सायण भाष्य देखें)

3. मनुसंहिता, द्वादश अध्याय

कर्मभेद से, उत्तम-मध्यम तथा अधम होती है। वृक्षादि स्थावर, सूक्ष्म प्राणी कीट कृमि से लेकर तनिक स्थूल प्राणी, मत्स्य, सर्प, कूर्म, तथा मृग (जंगली तथा पालतू पशु), ये तामस अधम गति हैं। हस्ति, घोड़ा, सिंह, व्याघ्र, शूकर, असभ्य जंगली मनुष्य, ये हैं तामस मध्यम गति। चारण, सुपर्ण, दाम्भिक पुरुष (जो छलपूर्वक धर्माचरण करते हैं), राजस इत्यादि हैं तामस उत्तम गति। झल्ल, मल्ल, नट, शस्त्रजीवी, ये हैं राजस अधम गति। अभिषिक्त राजा, जनपद शासनकर्ता, क्षत्रिय जाति मात्र, राजपुरोहित, वादयुद्धप्रधान, ये हैं राजस मध्यमगति। गन्धर्व, गुह्यक, विद्याधर, अप्सरा, ये हैं राजस उत्तमगति। वानप्रस्थ, यति, ब्राह्मण, पुष्पकादि विमान में घूमने वाले, ये हैं सात्विक अधम गति। यागशील ऋषि, वेदादि विग्रह विशिष्ट देवता, ध्रुवप्रभृति ज्योतिर्गण, पितृगण, साध्यगण, इत्यादि हैं सात्विक मध्यगति। ब्रह्मा मरीचादि सृष्टिकर्ता, धर्म के अधिष्ठाता देवता, महत्तत्व तथा अव्यक्त हैं, सात्विक उत्तम गति।

विष्णुपुराण के अनुसार परमेश्वर सृज्य पदार्थों की सृष्टि में (ब्रीहियवादि की उत्पत्ति में जैसे पर्जन्य निमित्त है वैसे ही) सृज्य शक्ति ही, समुदायजन्य पदार्थ की परिणाम शक्ति ही, सृष्टि का मुख्य कारण है। कारणात्मा में विद्यमान सूक्ष्मभाव में अवस्थित वस्तुसमूह स्व-स्व परिणाम शक्ति से ही स्थूलरूपता प्राप्त करते हैं। सृज्य पदार्थजात तो स्थूलरूप परिणाम के लिए अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आगमनार्थ एकमात्र निमित्त कारण के बिना और कुछ की अपेक्षा ही नहीं करता।[1] जो केवल प्राकृतिक निर्वाचन को ही परिणाम के एकमात्र कारणरूप से अवधारित करते हैं, उनके लिए इस शास्त्रोपदेश के तात्पर्य को ग्रहण करना कर्त्तव्य है। क्या यह बात युक्तिसंगत है कि प्रकृति ही धर्माधर्म के आधार पर धर्माधर्म संस्कारानुरूप परिणामसाधन करती है? हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं कि शरीरी पदार्थ समूह परिवर्तित हो सकता है, जो केवल उनके संस्थान अथवा अवयवों के सन्निवेशानुसार नहीं है। परिवर्तनशील वस्तु समूह का संकल्पानुसार भी परिवर्तन संघटित होता है।[2] तभी विचार आता है कि शास्त्र का महत्व अभ्युदयशील प्रतीच्य विद्वानों द्वारा भी यथायथरूप से ख्यापित होगा।

विष्णुपुराण में प्राकृत, वैकृत तथा प्राकृत-वैकृत, इन त्रिविध सृष्टि का उल्लेख है। परमेश्वर पहले महत्तत्व सृष्ट करते हैं। तत्पश्चात् तन्मात्र सृष्ट होता है।

---

1. ''निमित्तमात्रमेवासीत् सृज्यानां सर्ङ्गकर्मणि।
प्रधान कारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तय:॥''
''नीयते तपतां श्रेष्ठः स्वशक्त्या वस्तुवस्तुताम्॥'' —विष्णुपुराण

2. "Organism may vary not only in respect of their structures, but in respect of their tendencies to do this or the other in all kind of ways..." —Types of Ethical Theory, Vol. II, Page 570

यह भूतसृष्टि है। तदनन्तर इन्द्रिय की सृष्टि होती है जो प्राकृत सृष्टि है। अब उद्‌भिद् की सृष्टि होती है। यह है मुख्यसर्ग। उद्‌भिद् सृष्टि को मुख्यसर्ग कहने का क्या कारण है? मुख्य शब्द प्रथम अथवा प्रधान अर्थ का वाचक है। प्रथम सृष्ट होने के कारण इसे मुख्य कहा गया। उक्त है—"मुखमिव प्रथमं ब्रह्मणः सर्गो भवतीति मुख्यानार्गाः स्थावराः" श्रीधरस्वामीकृत टीका।

महत्तत्वादि त्रिविध प्राकृत सर्ग के अनन्तर मुख्य सर्ग होता है। अतः इसे विष्णुपुराण ने चतुर्थसर्ग भी कहा है। त्रिर्यक् स्त्रोत की सृष्टि है पंचम। पशु-पक्षी-प्रभृति तिर्यक् योनि ही तिर्यक् स्त्रोत है। उर्ध्वस्त्रोत तथा देवताओं की सृष्टि है, षष्ठ स्त्रोत। मनुष्यगण की सृष्टि है सप्तमपर्व, सप्तमसर्ग। सात्विक तथा तामस स्वभावापन्न अन्य देवताओं की सृष्टि (अनुग्रह सृष्टि) है अष्टम। मुख्य सर्ग से लेकर त्रिर्यक् स्त्रोत तक की सृष्टि को वैकृत सृष्टि कहा जाता है। प्रकृति सम्बन्धिनी सृष्टि तीन प्रकार की है। वैकृत सृष्टि 5 प्रकार की कही गयी है। कौभार सृष्टि नवम है। इसमें रुद्र सृष्टि प्राकृत है। वे प्रकृति से स्वयं आविर्भूत हैं। सनत्‌कुमारादि की सृष्टि ब्रह्माकृत होने के कारण वैकृत सृष्टि कही गयी है।

वेदाध्ययन से उपलब्धि होती है कि विश्वजगत् को श्रुति ने भोक्तृ तथा भोग्य रूप भागद्वय में विभक्त किया है। भोक्तृ तथा भोग्य, अन्न तथा अन्नाद, यह सब विश्व जगत् का विश्लेष करने से ज्ञात होता है। प्रकृति के पदार्थसमूह परस्परतः भोक्तृ-भोग्य सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। प्रकृति भोग्य है। पुरुष भोक्ता है। ये ही मूल भोग्य तथा भोक्ता हैं। भूतों में अग्नि तथा वायु को श्रुति ने भोक्तृभूत तथा जल को तथा पृथ्वी को भोग्यभूत माना है। मर्त्यधाम में मनुष्य भोक्ता है तथा इतर जीववृन्द भोग्य हैं। इतर जीवों को भी श्रुति ने भी भोक्तृ तथा भोग्यरूप भागद्वय किया है। भोक्तृत्व स्वातन्त्र्य है तथा भोगत्व पारतन्त्र्य का वाचक है। डारविन प्रभृति प्रतीच्य क्रमोन्नति वादीगण ने योग्यतम (Fittest) शब्द से अनेकतः भोक्तृ प्रपंच का ही लक्ष्य किया है।[1]

अतएव प्रतीच्य क्रमोन्नतिवाद के साथ शास्त्र की किस-किस विषय में एकता है, सत्यानुसन्धित्सु को वह जानना होगा। शास्त्रोक्त वैशेषिक सृष्टिवाद के स्वरूप-चिन्तन से हमें जो ज्ञात हुआ है, उसे संक्षेप में बतलाया जा रहा है। प्रकृति तथा कर्मसंस्कार अनादि हैं। प्रकृति तथा कर्मसंस्कार ही विश्व की सृष्टि तथा इसकी विचित्रता का कारण है। सात्विक, राजसिक तथा तामसिक कर्मभेद से दृश्य पदार्थ समूह का उत्कर्षापकर्ष होता है। अप्राणस्थावर, सप्राणस्थावर, संकीर्ण चेतन एवं विशिष्ट चेतन इन चतुर्विध प्राकृतिक पर्व में से प्रत्येक में गुणत्रय के तारतम्यानुसार उच्चनीच अवस्था है। जब तक मुक्ति साधन ज्ञान का विकास नहीं हो जाता, जब तक

1. "भवतस्यात्रमोषधिवनस्पतयोऽन्नं प्राणभृतोन्नादमोषधिवनस्पतीन् हि प्राणभृतोऽदन्ति तेषां य उभयदन्ताः पुरुषस्यानुविधां विहितास्तेऽन्नादा अन्नमितरे पशवः।"—ऐतरेय आरण्यक

जीव स्वरूप में अर्थात् अपनी अस्खलनशील अथवा स्थायी साम्यावस्था में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता, तब तक उसे कर्मानुसार उच्चावच अवस्था की प्राप्ति अवश्यम्भाविनी है। प्रकृति नित्य परिणामिनी है। परिणाम ही उसका स्वभाव है। परिणाम भी गुणत्रय के अन्योन्याभिभव वृत्ति का फल है। अतएव प्रकृति में पर्यायक्रमेण सात्विक—सत्वगुणप्रधान, राजसिक—रजोगुणप्रधान तथा तामसिक—तमोगुणप्रधान परिणाम संघटित हो जाता है। प्रत्येक देश में, प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक जाति में, प्रत्येक प्राकृतिक द्रव्य में पर्यायक्रमेण त्रिगुणचक्र का आवर्तन हो रहा है। प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु की एक-एक आपेक्षिक साम्यावस्था (Relative equlibrium) है। इस आपेक्षिक साम्यावस्था की विच्युति होने पर जात्यन्तर परिणाम होता है।

यह जात्यन्तर परिणाम उन्नतिप्रवण तथा अवनतिप्रवण उभय रूप हो सकता है। यह सात्विक, राजसिक तथा तामसिक रूप त्रिविध कर्म पर निर्भर करता है कि यह उन्नतिप्रवण होगा अथवा अवनतिप्रवण। यदि प्रवृत्ति तथा कर्म, इन दोनों को सभी परिणाम का कारण माना जाय, इनको प्रवाहरूपेण नित्य मानकर अंगीकार किया जाय, तब किसी प्राकृतिक पर्व पर कदाचित् जात्युच्छेद नहीं होगा, यह मानना पड़ेगा। प्रतीच्य क्रमोन्नतिवादियों ने पुरुष तथा प्रकृति के स्वरूप का यथायथरूप से चिन्तन नहीं किया और सृष्टि एवं प्रलय तत्व के सम्बन्ध में भी भलीभाँति विचार नहीं किया। उन्होंने कर्म की गहन गति की भी यथा प्रयोजन परीक्षा नहीं की। अतः वे शास्त्रोक्त वैशेषिक सृष्टिवाद के गुरुत्व की उपलब्धि कर सकने में असमर्थ-से हैं। आधुनिक क्रमविकासवाद इसी कारण अपूर्णावस्था में पड़ा है। प्राकृत-वैकृत-प्राकृतवैकृत रूप त्रिविध सृष्टि अनादि काल से होती चली आ रही है। नित्य प्रकृतिगर्भ में समस्त जन्य पदार्थों की परिणामशक्ति नित्य विद्यमान है। ये यथाकाल में व्यक्त तथा अव्यक्त इन द्विविध अवस्था को प्राप्त होते हैं।

शास्त्र में उन्नत तथा अवनत प्राकृतिक पर्व का वर्णन है। शास्त्र ने उन्नत तथा अवनत प्राकृतिक पर्वसमूह की अभिव्यक्ति काल के नियम का प्रदर्शन किया है। गुणत्रय के भाग वैषम्य अथवा कर्मवैचित्र्य के कारण सामान्यतः कितने प्रकार की सृष्टि हो सकती है, यह शास्त्र ने बताया है। गुणभेद से कितने प्रकार के प्राकृतिक छन्दः हो सकते हैं, कौन छन्दः के पश्चात् किस छन्दः का प्रादुर्भाव होता है, शास्त्र ने इन सब तत्व की व्याख्या की है। सतत परिणामी भूत तथा भौतिक शक्ति के अतिरिक्त जिनकी दृष्टि में इनके सिवाय कोई अपरिणामी, चिन्मय पुरुष प्रतिमात्र नहीं हुआ है, उनका यह कहना कि ''उन्नति प्राकृतिक नियम है, वस्तुतः अर्थशून्य वक्तव्य है। सांख्य ने कहा है कि विमुक्त पुरुषों के मोक्ष के लिए प्रकृति परिणामसाधन करती है। अब प्रश्न उठता है कि जो विमुक्त हैं, उनके लिए मोक्ष की चेष्टा का क्या प्रयोजन ? इसका उत्तर यथास्थान दिया जायेगा, अभी यह उसका क्षेत्र नहीं है। सात्विक, राजसिक तथा

तामसिक रूप से प्रकृति त्रिविध परिणामसाधन करती है। यदि सात्विक परिणाम को उन्नति तथा राजस-तामस परिणाम को अवनति कहा जाये, तब उन्नति ही प्रकृति का नियम है, यह नहीं कहा जा सकता। प्रकृति का नियम है धर्माधर्मानुसार परिणामसाधन। यही सत्य तथा युक्तिसंगत है। मनुष्य योनि प्राप्त होने के पश्चात् इतर योनियों में जन्म नहीं होता। यह भी युक्तिसंगत नहीं है। मनुष्य में निरोध तथा व्युत्थान-रूपी परस्पर विरुद्ध शक्तियों का अभिभव तथा प्रादुर्भाव होता रहता है।''

मनुष्यों में यह देखा जाता है कि कई लोग प्रधानतः पश्वादि इतर जीव जाति के समान कर्म करते हैं। पशु आदि जीवगण प्रकृति का अनुवर्तन करते हैं। ये प्राकृतिक नियम का अतिक्रमण कभी नहीं करते किन्तु मनुष्य करता है। पश्वादि इतर योनियों में लिंग शरीर द्वारा (पुनर्जन्म से) भ्रमण करने से छुटकारा नहीं मिलता। वह एक से दूसरे योनियों में कर्मसंस्कारवशात् भ्रमण करता रहता है। मनुष्य जब तक स्थायी साम्यावस्था (Stable Equilibrium) में उपनीत नहीं हो जाता, तब तक उसे कर्मानुसार इतर जीव योनियों में जाने की पूर्ण सम्भावना रहती है। मनुष्य, पशु-पक्षी-कीट-उद्भिज् इत्यादि एक-एक त्रिगुणविकार की आपेक्षिक साम्यावस्था है। स्थायी (Stable), अस्थायी (Unstable) तथा उदासीन (Neutral) साम्यावस्था को इन तीन भागों में बाँटा गया है। भारकेन्द्र (Centre of Gravity) जब सम्भाव्य उच्चतम अथवा निम्नतम अवस्था को प्राप्त होता है, तब साम्यावस्था आती है।

किसी द्रव्य का भावकेन्द्र जब उच्चतम अवस्था को प्राप्त होता है तब उसकी स्थायी साम्यावस्था होती है। पक्षान्तर से जब वह सम्भाव्य नीचतम को प्राप्त होता है, तब उसकी अवस्था को अस्थायी साम्यावस्था कहते हैं। जब कोई मण्डल अथवा चक्र समभूभाग में स्थिर भाव से अवस्थान करता है (Rests on a horizontal plane) तब उसका भारकेन्द्र उन्नमित अथवा अवनमित नहीं होता। इसे उदासीन साम्यावस्था कहा जाता है। अस्थायी साम्यावस्था में उत्पतन, अधःपतन रूप दो ही हो सकते हैं। प्रकृति के राजस तथा तामस परिणाम चक्र के आवर्तन काल में जिनकी साम्यावस्था तनिक विचलित (Slightly displaced) होने पर भी स्वाधिकार भ्रष्ट नहीं है, उनकी निरोध शक्ति समधिक बलवती होकर भी पतनोन्मुख नहीं होती। उनके और पतन की आशंका नहीं रह जाती। यह सभी स्वीकार करते हैं कि मनुष्य देहस्थ जीवमात्र ही पूर्ण मनुष्य नहीं है। सभी ने परिणाम की स्थायी साम्यावस्था प्राप्त नहीं की है। तदनन्तर क्रियमाण संचित तथा प्रारब्ध, इन त्रिविध कर्म के स्वरूप परिवर्तन के बिना कोई यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि कौन मृत्यु के अनन्तर किस अवस्था को पायेगा। मत्स्यपुराण[1] के अनुसार युगस्वभाव के

1. ''मन्वन्तराणां परिवर्तनानि चिरप्रवृत्तानि युगस्वभावात्। क्षणं न सन्तिष्ठति जीवलोकः....''

—मत्स्यपुराण

कारण मन्वन्तरों का परिवर्तन होता रहता है। यह जीवलोक एक क्षण भी बिना परिवर्तन के नहीं रह सकता। क्षय, उदय, तिरोभाव-आविर्भाव द्वारा इसका नियत परिवर्तन होता रहता है। इस समय इन सबकी चर्चा करना अभिप्रेत नहीं है। अभी उन्नति के सम्बन्ध में एक-दो बात कहकर प्रस्ताव की समाप्ति की जा रही है। पिता के अभ्यास तथा अनभ्यास का फल पुत्र में संक्रमण करता है कि नहीं, आधुनिक क्रमोन्नतिवादीगण में इसी विषय का वादानुवाद चल रहा है। वेदादिशास्त्र से इस प्रश्न का सुन्दर उत्तर प्राप्त हो सकेगा। अथर्ववेद के अनुसार क्षय, कुष्ठादि दोष दूषित मातृ-पितृ शरीरावयव से पुत्रादि शरीर में यह रोग संक्रमित होता है।[1] पुत्र-शरीर में पित्रादि शरीरावयव की संक्रान्ति अन्य श्रुतियों में भी कही गयी है।[2] पुनः इस नियम का व्यभिचार देखने में आता है। व्यभिचार का कारण क्या है, उसे न जानने के कारण प्रतीच्य क्रमोन्नतिवादी इस सत्य का दर्शन करने से अभी वंचित हैं। यथास्थान इसकी आलोचना होगी।

परिणाम का क्या अन्त है? क्या जगत् चिरकाल तक अनन्त परिणामस्त्रोत में अवशभावेन संचरित होता रहेगा? अविरामतः अविशेष से विशेष-विशेष भाव प्राप्त होगा? विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि साम्यावस्था पाना ही परिणाम की अन्त्य सीमा है। साम्यावस्था आयत्त होते ही परिणाम निरुद्ध होगा।[3] परिणाम अथवा परिवर्तन समूह की साक्षात् परम्परा चाहे जैसी भी हो, स्पेन्सर के मत से मानव का सुख सन्दर्शन मुख्य है। ऐसा परिणाम अथवा परिवर्तन अभ्युदयात्मक रूप से विवेचित होता है। अविशेष से विशेष भाव की प्राप्ति को ही अथवा जातिभेद किंवा जागतिक प्रवृत्ति के विसदृश परिणाम को ही पण्डित स्पेन्सर उन्नति का स्वरूप मानते हैं।[4] जब तक सर्वांगीण पूर्णत्व नहीं मिल जाता, तब तक पूर्ण सुखी हो सकना दुष्कर है। तब तक परिणाम क्रम समाप्त नहीं होता। तब तक अविशेष से विशेष भाव प्राप्त होता रहेगा, तब तक परिणाम स्त्रोत में परवश होकर डूबते-उतराते रहना होगा।[5] विद्वान् स्पेन्सर ने उन्नति (Progress) का जो चित्र दिखलाया है, उससे हमारी धारणा होती है कि अव्यक्त अवस्था से व्यक्तावस्था में आगमन सूक्ष्मभाव में अवस्थित शक्ति

1. ''क्षत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्''
—अथर्ववेदसंहिता, 2।2।10
2. ''अङ्गाद् अङ्गात् सम्भवासि हृदयाद् अधिजायसे''—आश्वलायन गृह्यसूत्र में उद्धृत श्रुतिवाक्य
3. "Equlibrium is the final result of there transformation which an evolving aggregate undergoes." —First Principles
4. "Only those changes are held to constitute progress which directly or indirectly tend to highter human happiness."
—Essays by H. Spencer
5. "Evolution can end only in establishment of the greatest perfection and the most complete happiness."
—First Principles, Page 517

की स्थूलावस्था प्राप्ति अथवा विकास ही उन्नति का स्वरूप है। बीज की अंकुरावस्था प्राप्ति में अंकुर की शाखा-प्रशाखायुक्त वृक्षरूपेण परिणति ही उन्नति है। एक जातीय वृक्ष की अन्य जाति में परिणति उन्नति है। भ्रूण की हस्त पादादि अंग प्रत्यंगात्मक परिपुष्टि विकास है। कोषसमूह का संविभाग तथा संहति, अवयव का व्यूहन, एक कोषात्मक जीव की बहुकोषात्मक जीवजाति में परिणति उन्नति है। विकास तथा विनाश (विनाश = अदर्शन) अथवा सृष्टिलय (Evolution and Dissolution) प्रकृति इन द्विविध परिणाम का साधन करती है, यह विद्वान् स्पेन्सर ने स्वीकार किया है।

यदि विकास उन्नति है, तब विनाश (Dissolution) को अवनति कहना होगा। अतः उन्नति ही प्रकृति का नियम है, यह बात सत्य कैसे? आकर्षण—विप्रकर्षण या संसर्गवृत्तिक—भेदवृत्तिक, ये द्विविध शक्तियाँ पर्यायक्रमेण प्रादुर्भूत होकर अनुभूत होने लगती हैं। आकर्षण शक्ति के प्रादुर्भाव काल में सृष्टि होती है तथा विप्रकर्षण शक्ति के प्रादुर्भाव काल में लय परिणाम होता है, इसे विद्वान् स्पेन्सर मानते हैं। ये दोनों शक्तियाँ प्रकृति में नित्य विद्यमान हैं। अविशेष से विशेष-विशेष भाव प्राप्ति तथा विशेष-विशेष भाव से अविशेष में प्रत्यागमन के कारण तो प्रकृति गर्भ में सदा रहते हैं। क्रियामात्र ही जन्मादि षड्भाव विकारात्मक है, अर्थात् जन्म, स्थिति, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय तथा विनाश, ये सभी क्रियाएँ षड्विध अवस्था कही जाती हैं। सभी कर्म षड्विध विकारात्मक हैं।

निस्तब्ध निशीथ में वीणा से एक मधुर झंकार उठी, स्वरलहरी गगन में प्रसारित हो रही है, वृद्धि तथा विपरिणाम प्राप्त होने पर क्रमशः क्षीण, क्षीणतर तथा क्षीणतम हुई। वायुसागर में विलीन हो जाने पर अब कुछ भी सुना नहीं जा रहा है। निस्तब्ध निशीथ में अब निस्तब्धता ही शेष है। इसलिए यह विदित हो जाता है कि सभी क्रियाएँ चरमावस्था में शान्ति देवी के क्रोड़ में जाकर निद्रित हो जाती हैं। सभी कर्मों के अन्त में स्थैर्य प्राप्त होता है। प्रवृत्ति मात्र की चरमावस्था है निवृत्ति। यह भी बोध होता है कि सभी कर्मों की प्रवृत्ति यही है कि साम्यावस्था प्राप्त हो। जब रजः शक्ति तमः शक्ति द्वारा अथवा व्युत्थान शक्ति जब निरोध शक्ति द्वारा अभिभूत हो जाती है, तब ही गति स्थगित होती है। व्युत्थान का क्रमशः ह्रास होने पर तथा निरोध संस्कार में वृद्धि होने पर अन्त में प्रशान्तावस्था का उदय होता है। इसी के साथ है प्रवृत्ति की निवृत्ति अथवा परिणाम का निरोध।[1]

भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि सर्वार्थता, विक्षिप्तता, नाना विषय में गमनशीलता तथा एकाग्रता (एक विषय में स्थिति) ये चित्त के ही परस्परतः विरोधी

1. "व्युत्थान निरोध संस्कारयोरभिभव प्रादुर्भावौ निरोधक्षण चित्तान्वयो निरोध परिणामः"—पातंजल दर्शन तथा "तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्"—वही

धर्म हैं। चित्त के सर्वार्थता धर्म का क्षय-तिरोधान तथा एकाग्रता धर्म का उदय यही है समाधि परिणाम।[1] निरोध संस्कार का पुनः-पुनः अनुष्ठान होने से जब उसमें दक्षता जन्मती है, तब इच्छामात्र से ही निरोध हो जाता है। तब चित्त से व्युत्थान जनित सभी संस्कार तिरोहित हो जाते हैं। इस स्थिति में निरोध संस्कार की परम्परारूप प्रशान्तवाहिता का उन्मेष होता है। जब तक निरोध संस्कार दृढ़ नहीं हो जाता, तब तक वह मन्द एवं क्षीणभाव से संचित होती है। ऐसी स्थितिं में बलवान व्युत्थान संस्कार से चित्त अभिभूत हो जाता है।[2]

चित्त के परिणाम प्रदर्शन द्वारा पंचभूत तथा इन्द्रियों का धर्मपरिणाम, लक्षण परिणाम तथा अवस्था परिणाम प्रदर्शित किया है।[3] धर्मी अथवा वस्तु में व्युत्थान तथा निरोधरूप धर्मद्वय के यथाक्रमेण अभिभव तथा प्रादुर्भाव को धर्मपरिणाम कहते हैं। विद्वान् स्पेन्सर ने गति अथवा धर्मपरिणाम के साम्यभाव प्राप्ति के तत्व की व्याख्या करते समय यह सब कहा है, इसके साथ पतंजलिदेव और व्यासदेव के निरोध परिणाम विषयक उपदेशों की तुलना करने से पाठक विशेष उपकृत होंगे। पातंजल दर्शन क्या वस्तु है, इसका आभास पाकर पाठक कृतार्थ हो जायेंगे। विद्वान् स्पेन्सर साम्यावस्था की बात कहते हैं। सभी गति अथवा प्रवृत्ति अन्त में साम्यावस्था प्राप्त करेगी। निरोध तथा व्युत्थानरूपी संस्कारद्वय के प्रादुर्भाव तथा अभिभव से क्रमशः साम्यावस्था की प्राप्ति होती है, इसका प्रतिपादन करने का विविध दृष्टान्तों से प्रयास किया है। निरोध तथा व्युत्थान शक्ति के प्रादुर्भाव तथा अभिभव से कैसा निरोध परिणाम होता है, यह भी समझाया है। तथापि उन्होंने उन्नति का जो चित्र अंकित किया है, हम उस चित्र को देखकर हताश हो जाते हैं। प्रकृति से उत्पन्न, प्रकृतिगर्भ में स्थित, प्रकृति की वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय तथा विनाश प्राप्त उन्नति हमें स्पृहणीय नहीं है। वेदादि शास्त्रों से हमने उन्नति के सम्बन्ध में जो उपदेश प्राप्त किया है, वैसा उन्नति का रूप आज भी उन्नतमन्य वैज्ञानिकों की कल्पना में भी नहीं है, यह मैं मुक्तकण्ठ से कहता हूँ। क्रमोन्नतिवाद ने जिसे उन्नति माना है, वह वर्तमान काल की दृष्टि से तामस कलियुग में भले ही उन्नति कही जाय, किन्तु वह प्रकृत उन्नति नहीं है। ऐसी उन्नति की पराकाष्ठा में भी त्रिविध दुःखनिवृत्ति रूप परम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। परिणाम क्रम परिसमाप्त नहीं होता, प्रकृति के आवर्त से निवृत्ति नहीं होती।

अविशेष भाव से विशेष भाव की प्राप्ति ही जगत् विकास अथवा सृष्टि का लक्षण है। अविशेष भाव (Homogeneous) भाव कहने से विद्वान् स्पेन्सर किस

1. "सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि परिणामः"—पातंजलदर्शन, विभूतिपाद, सूत्र 11
2. "निरोधसंस्कारात् निरोध संस्काराभ्यासपाटवपेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति, तत्संस्कारमान्द्यो व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मसंस्कारोऽभिभूयते इति"—योगसूत्रभाष्य
3. "एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः व्याख्याताः"—पातंजलदर्शन

पदार्थ को लक्ष्य करते हैं? शास्त्र ने अव्यक्त प्रधान या प्रकृति, शक्ति, अव्याकृत आदि शब्दों से जिस पदार्थ को लक्ष्य किया है, क्या स्पेन्सर ने अविशेष कहकर उसे ही ग्रहण किया है? अविशेष से विशेष का प्रारम्भ होता है। शास्त्रों से भी यही सुना है। अव्याकृत अवस्था से नामरूप द्वारा जगत् के विकास को शास्त्रों ने व्याकरण कहा है। ऋग्वेदसंहिता के अनुसार प्रलयकाल में यह विविध विचित्र रूपभूमिष्ठ विश्वप्रपंच अविभागापन्न अवस्था में विद्यमान था। भगवान् पतंजलिदेव सत्वादिगुणत्रय के विशेष-अविशेष, लिंगमात्र तथा अलिंग, इन चतुर्विध पर्व का वर्णन करते हैं। कारण अथवा सूक्ष्म अवस्था की अपेक्षा से कार्य को विशेष कहा गया है। आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी, ये सब शब्दादि तन्मात्र के विशेष हैं। पंच स्थूलभूत तथा 11 इन्द्रियाँ, ये विशेष परिणाम हैं। पंचतन्मात्र तथा अस्मिता अथवा अहंकार, ये हैं 6 अविशेष परिणाम और महत्तत्व के परिणाम। महत्तत्व को लिंगमात्र परिणाम के नाम से अभिहित किया गया है।

पंचतन्मात्र तथा अस्मिता, यह 6 अविशेष सृष्टि काल में सत्तामात्र महत्तत्व में अवस्थानपूर्वक विवृद्धिकाष्ठा हैं। परिणाम का शेष प्राप्त होता है। गो घटादि अन्त्य अवयवीभाव में परिणत हो जाते हैं। प्रलयकाल में उत्पत्ति के विपरीत क्रम में परिणाम महत्तत्व में अवस्थित होकर प्रकृति में लीन हो जाता है। प्रकृति महत्तत्व (बुद्धिरूप) में परिणत होकर पुरुषार्थसाधन में समर्थ होती है। मूल प्रकृति अवस्था में वह समर्थ नहीं होती। महदादि समस्त परिणामों में त्रिगुण का अनुगम रहता है। गुणत्रय उत्पत्ति-विनाश से रहित है। लिंगमात्र महत्तत्व अलिंग प्रधानभाव में अवस्थित रहकर उससे पृथक् रूप में आविर्भूत होता है। इस प्रकार अविशेष 6 तत्व महत्तत्व में अवस्थान करते हुए, उससे पृथक्भाव में आविर्भूत होते हैं। कारण उत्पत्तिक्रम में परिवर्तन होता है। परिणामक्रम के नियम स्थिर हैं। पंचमहाभूत तथा 11 इन्द्रियाँ, ये 16 उक्त अविशेष तत्व में अवस्थित रहकर पृथक् रूप से आविर्भूत होते हैं।

16 विशेष पदार्थ का और तत्वान्तर नहीं है। इनका तत्वान्तररूपेण परिणाम नहीं होता। धर्म, लक्षण तथा अवस्था रूप परिणाम होता है।[1] सूक्ष्मतम अवयव राशि क्रमशः एकत्र मिलित होकर बृहत्तर अवयवी का गठन करती है। जैसे अत्यन्त छोटा बटबीज कभी भी एक साथ अति वृहद् वृक्षरूप में परिणत नहीं होता, उसमें क्रमशः अवयव उत्पन्न होते हैं। अन्त में वह धीरे-धीरे अतिवृहद् वटवृक्ष हो जाता है। गुणत्रयरूप प्रधान (प्रकृति) से भी एकबारगी इन्द्रिय तथा महाभूत नहीं होते, क्रमशः एक-एक अवस्था से अवस्थान्तर की प्राप्ति होने पर अन्त में भूत तथा इन्द्रियरूप परिणाम होता है। पण्डित स्पेन्सर ने उन्नति का स्वरूप-वर्णन करते समय इन सब

1. "विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि"—पातंजलदर्शन (इसका भाष्य भी देखें)

बातों को कहा है। ये सब शास्त्रोपदेश की ही विकृत प्रतिध्वनियाँ हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अव्यक्त अथवा अविशेष की विशेष-विशेष भाव प्राप्त होने की योग्यता पहले से संस्कारभाव में विद्यमान थी अथवा वहाँ बहिर्देश से उसका आगमन हुआ? यह आगन्तुक है क्या? कार्य से कारण की शक्ति व्यापक है अथवा अल्प? धृति, क्षमा, दम, आस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धीशक्ति, विद्या, सत्य, वैराग्य, औदार्य, भक्ति, श्रद्धा, प्रेम, सन्तोष इत्यादि धर्म क्या केवल हाईड्रोजन आदि रूढ़ पदार्थ से उत्पन्न अविशेष कोष नामक पदार्थ के विशेष-विशेष परिणाम हैं? विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि विकास की मात्रा जितनी वर्द्धित होगी, उतनी ही गति का क्षय होता है, उतनी ही जड़त्व की वृद्धि होती है। अत: गति का क्षय (Dissipation of Motion) एवं जड़त्व की वृद्धि क्या उन्नति का लक्षण है? वाष्प से जल तथा जल से हिमखण्ड क्या क्रमोन्नत है? यदि इसे स्वीकार करें, तब क्रमोन्नति प्रकृति का नियम है, इसकी सत्यता प्रमाणित नहीं होती। उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम है। यही बात युक्तिसंगत लगती है। धर्म उन्नति का तथा अधर्म अवनति का कारण है। सत्व के आधिक्य से उन्नति तथा तम: के आधिक्य से अवनति होती है। यदि इस शास्त्रोपदेश को सारवान् मानें, तब शक्ति की परिच्छिन्नता ही अवनति है।

शास्त्रमतानुसार आत्मदर्शन ही जीव की चरमोन्नति है। आत्मदर्शन द्वारा जीव के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है। नित्यपरिणामशील प्रकृति के राज्य में पराधीन प्रजा के समान वास करने से कोई भी कभी प्रकृत साम्यावस्था नहीं पा सकता। पाना सम्भव भी नहीं है। आनन्दमय, सुखस्वरूप, देशकाल से अपरिच्छिन्न परमात्मा में अवस्थान किये बिना मृत्यु के हाथ से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं है। सत्-चित्-आनन्द की अबाधित अवस्था ही वस्तुतः पूर्णावस्था है। पण्डित स्पेन्सर ने पूर्णावस्था से जिस पदार्थ को लक्ष्य किया है, वह वास्तव में पूर्णावस्था नहीं है। प्रकृत पूर्णावस्था का रूप वेद के अतिरिक्त कोई भी प्रदर्शित—वर्णित नहीं कर सकता। जो अपूर्ण है, वह पूर्ण के प्रकृतरूप को हृदय में कैसे धारण करेगा? पूर्ण हुए बिना पूर्ण को नहीं जाना जा सकता। वेद ही लौकिक प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण के लिए अगम्य पदार्थ के तत्वधारण का एकमात्र प्रमाण है। शास्त्रोक्त वैशेषिक सृष्टिवाद और क्रमविकासवाद की सापेक्ष समालोचना की गयी। अब वेद ही लौकिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के अगम्य पदार्थ तत्वावधारण का एकमात्र प्रमाण है, इस बात का क्या आशय है, यह बतलाया जायेगा।

[षष्ठ प्रस्ताव समाप्त]

सप्तम प्रस्ताव

वेद अथवा शब्दतत्व। महर्षि जैमिनी प्रत्यक्ष का लक्षण करते समय कहते हैं, पुरुष का इन्द्रियों के साथ विद्यमान विषय संयोग होने पर बुद्धि से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है वह प्रत्यक्ष है।[1] अनुमान का लक्षण क्या है? ज्ञात सम्बन्ध के (ज्ञात हुआ है संयोग, समवाय, एकार्थ समवाय, कार्यकारणत्व अथवा अन्य कोई सम्बन्ध है जिसका) एक देश में दर्शनान्तर असन्निकृष्ठार्थ (अनुपस्थित, असन्निहित, परोक्ष विषय) अन्य देश में जो बुद्धि ज्ञान है, वह है अनुमान।[2] यह धुआँ हैं, वहाँ अग्नि है—प्रत्यक्ष है, ऐसा निश्चय होने के पश्चात् धुआँ के साथ अग्नि का सम्बन्ध अथवा व्याप्ति ज्ञान उत्पन्न होने पर कहीं धूम्र देखकर वहाँ वह्नि है, इस प्रकार का जो ज्ञान है उसे अनुमान ज्ञान कहा जायेगा। शबर स्वामी अनुमान ज्ञान को प्रत्यक्षतोदृष्ट सम्बन्ध तथा सामान्यतोदृष्ट सम्बन्धरूपी भागद्वय में विभक्त करते हैं। धूम की आकृति के दर्शनान्तर (जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है, यह सम्बन्ध ज्ञान अथवा व्याप्तिज्ञान) जो अग्नि का आकृति विज्ञान है, वह प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध अनुमान है। बिना गति (Motion) के देशान्तरप्राप्ति नहीं होती। इस प्रत्यक्ष से गति के साथ देशान्तर प्राप्ति का अविनाभाव सम्बन्ध अथवा व्याप्ति ज्ञान होने के पश्चात् किसी को देशान्तर प्राप्ति होते देखकर उसकी देशान्तर प्राप्ति गति के साथ है, ऐसा जो ज्ञान होता है, वह सामान्यतोदृष्ट सम्बन्धक नामक अनुमान। महर्षि गौतम तथा कपिल पूर्ववत् कार्य देखकर कारण के अनुमान को शेषवत्, तथा जहाँ कार्य और कारण का ज्ञान नहीं होता, केवल अविनाभाव सम्बन्ध अथवा व्याप्ति मात्र का ज्ञान होता है, वहाँ उसे सामान्तोदृष्ट अनुमान ज्ञान कहते हैं।[3]

प्रत्यक्ष तथा अनुमान का संक्षिप्त संवाद प्राप्त किया। अब जानना है कि वेद नामक प्रमाण का स्वरूप क्या है? महर्षि जैमिनी कहते हैं कि शब्द के साथ

---

1. पूर्वमीमांसा दर्शन 1/1/4
   न्यायदर्शन का मत है कि इन्द्रियों के साथ स्व-स्व अर्थ अथवा विशेष का सन्निकर्ष होने से उत्पन्न अव्यपदेश्य अव्यभिचारी एवं व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। मीमांसा का प्रत्यक्ष लक्षण नैयायिकों के मत से अपूर्ण अथवा दूषित है।
2. ''अनुमानं ज्ञात सम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेव देशान्तरेऽसन्निकृष्ठऽर्थ बुद्धि'' —मीमांसादर्शन भाष्य तथा ''तत्पूर्वक त्रिविधिमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च'' —शबरभाष्य
3. ''यत्तु द्विविधं-प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्धं सामान्यतोदृष्टसम्बन्धञ्च'' —शबरभाष्य तथा ''यत्र न कार्यं न कारणं केवलमविनाभावमात्र प्रतीयते तत् सामान्यतोदृष्ट'' —सरस्वती कण्ठाभरणं, तृतीय परिच्छेद

तत्प्रतिपाद्य अर्थ का जो शक्तिरूप सम्बन्ध है वह औत्पत्तिक है, वह स्वाभाविक है—इसलिए नित्य है। वह कल्पित सङ्केतात्मक (Conventional) नहीं है। अतएव शब्द अथवा नित्य वेद घटकपद यथार्थ ज्ञान का कारण है। लोक में देखा जाता है कि प्रमाणान्तर मूलक का प्रामाण्य तथा उससे विपरीत अप्रमाण्य विनिश्चित रहता है। ''पर्वत पर अग्नि है'', ''नदीतीर पर फल है'', इत्यादि वाक्य सुनकर जबतक प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसका प्रामाण्य विनिश्चित नहीं हो जाता, तब तक उसकी सत्यता के सम्बन्ध में किसी का दृढ़ प्रत्यय नहीं होता। अतएव जिज्ञासा होती है कि शब्द अथवा वेद का प्रामाण्य यदि प्रमाणानन्तर द्वारा सिद्ध नहीं होता, तब उसे प्रमाण नहीं कहा क्यों नहीं जा सकता? महर्षि जैमिनी इसका उत्तर देते हैं कि प्रत्यक्षादि प्रमाण से अनुपलब्ध अर्थ के अव्यभिचारी उपदेश द्वारा इतर प्रमाण से अनपेक्ष वेद का स्वतः प्रामाण्य सप्रमाण हो जाता है।

शब्द के साथ अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। 'यह शब्द यह अर्थ' लोक में ऐसे संकेत से शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध नहीं स्थापित करते। इसलिए शब्द (वेद) को प्रमाणानन्तर की अपेक्षा नहीं रहती। भगवान् बादरायण भी इसी कारण वेद को स्वतः प्रामाण्य कहते हैं। प्रत्यक्ष तथा अनुमान का व्यभिचार दृष्ट होता है। इसी कारण लोग बिना परीक्षण के प्रत्यक्ष एवं अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते। 'नदी के किनारे फल है' यह वाक्य सत्य भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता। यह आप्त वाक्य भी नहीं है। वेद आप्त वाक्य है। वेद पुरुषकल्पित नहीं है। इसलिए वेद का प्रामाण्य प्रमाणानन्तर को अपेक्षा नहीं करता।[1] 'पर्वत वह्निमान है' यह वाक्य दोषयुक्त पुरुष के मुख से बाहर आया है। यह आप्त वाक्य नहीं है। इसलिए इसके व्यभिचार की आशंका है। इसलिए इसका प्रामाण्य निश्चय ही प्रत्यक्षादि प्रमाणापेक्ष है। 'स्वर्गकाम अग्निहोत्र होम करता है' इस वाक्य के अर्थ में कभी भी व्यभिचार नहीं होता। इसलिए वेद ही धर्म का प्रमाण है। वेद ही इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार का अलौकिक उपाय है। यही सत्यज्ञान का स्थिर प्रमाण है।[2]

जैमिनी के इस उपदेश का तात्पर्य परिग्रह करना दुःसाध्य व्यापार है। अनेक को यह प्रमाण विरुद्ध रूप प्रतिभात होगा। शब्द के साथ तद्बोध्य अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। यह सम्बन्ध कृतक अथवा कल्पित संकेतात्मक नहीं है। साधारण लोग इसे युक्तियुक्त कह सकते हैं। अग्नि की दाहिका शक्ति मनुष्य कृत नहीं है। जैसे पृथ्वी की आकर्षण शक्ति मानवकल्पित नहीं है, इत्यादि वाक्य का अर्थ जो है, वह शब्द के साथ अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। यह कल्पित संकेतात्मक कदापि नहीं कहा जा सकता। अब यह प्रश्न उत्थित होता है कि शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध यदि

1. पूर्वमीमांसा 1/1/5
2. जैमिनी सूत्रवृत्ति

सामयिक (Conventional) नहीं है, तब अग्नि की दाहिकाशक्ति की तरह पृथ्वी की मध्याकर्षण शक्ति के समान शब्द उच्चारित होने से सबके हृदय में उसका ज्ञान क्यों नहीं होता? अग्नि में हाथ डालते ही हाथ जल जाता है। जो शिशु यह नहीं जानता कि इसमें दाहिकाशक्ति है, अग्नि के साथ उसके अंग का संयोग होते ही उसे दाह यन्त्रणा भोगनी होगी। मैं नहीं जानता था कि अग्नि में दाहिकाशक्ति है, अथवा मैं अज्ञ हूँ, यह सब कहने से अग्नि कभी भी अपनी शक्ति प्रकट करने से विरत नहीं होगी।

ऐसे ही क्या शब्द अर्थानिभिज्ञ को अपना अर्थ बता सकता है? प्रतिवादी सभी दृष्टान्त से यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न करते हैं कि शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं है। व्याकरणादि से दृष्टान्त देकर दूसरा पक्ष यह सिद्ध करता है कि शब्द से अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। भर्तृहरि कहते हैं कि अग्नि शब्द का अर्थ है दाहकताशक्ति। पृथ्वी शब्द है, गुरुत्व उसका अर्थ है। अग्नि को मनुष्य ने दाहकता शक्ति विशिष्ट नहीं बनाया है। यह उसका धर्म है। यदि यह सत्य है तब शब्द के साथ उससे बोध्य अर्थ का वाच्य-वाचक, अथवा प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध है। क्या 'अग्नि' इस शब्द का उच्चारण करने से कोई दग्ध होता है? क्या प्रतिबन्धक शक्ति द्वारा बाधित होने पर अग्नि बुझ जाती है? आधार शक्ति विशेष का सहाय्य लेकर क्या कोई पृथ्वी की आकर्षणशक्ति को जीत लेता है? वृक्ष के फल पर पृथ्वी की आकर्षणशक्ति क्रिया करती है, तब क्या फल जब-तब भूमि पर (बिनापके) गिर सकता है? चकमक पत्थर से इस्पात का घर्षण करने से अग्नि का आविर्भाव होता है, वह अग्नि दहन करती है, किन्तु घर्षण से पहले चकमक अथवा इस्पात पर हाथ देने से उनमें कोई भी उष्णता नहीं मिली। दोनों ठण्डे थे। अब प्रश्न उठता है कि चकमक तथा इस्पात में जो अग्नि है, वह घर्षण हुए बिना क्या अनुभवगम्य है?

वेदादि शास्त्र का उपदेश है कि शब्द का यथायथ भाव से उच्चारण होने से उसकी अर्थभावना स्वयमेव प्रकट हो जाती है। प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा सत्य का रूप प्रकाशित होता है, परन्तु वह सत्य का उत्पादक नहीं है। जो सत् है, उसे हम इन्द्रियदोष, संस्कारदोष इत्यादि के कारण तथा रजःतमः की प्रतिबन्धकता के कारण नहीं जान पाते। ज्ञान आत्मा का धर्म है, अथवा आत्मा ज्ञानरूप है। आत्मा चिन्मय है। आत्मा ज्ञानस्वरूप तथा चिन्मय होने पर भी हमारे चित्तमालिन्य के कारण स्वरूपतः प्रकाशित नहीं होता। चित्तमल हटने से, अपनोदित होने से, आत्मा के सर्वज्ञता धर्म का विकास हो जाता है। यही वेदान्त तथा पूर्वमीमांसा दर्शन का मत है। प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है। उसकी सिद्धि प्रमाणान्तर सापेक्ष नहीं है। प्रसिद्ध प्रामाण्य के प्रामाण्य की अन्य द्वारा परीक्षा नहीं की जाती।[1] प्रामाण्य की स्वतःसिद्धता गणितिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक सभी ने स्वीकार की है। जिसके मान से अन्य का मान अवधारित होता है,

1. "न च प्रसिद्धस्य प्रामाण्यस्य प्रामाण्यमन्येन्न परीक्षितव्यम्" —शास्त्रदीपिका

यदि उसी का मान निश्चित न हो, उसका भी निर्णय करना पड़ता हो, तब किसी भी पदार्थ का मान अवधारित नहीं हो सकता। गणना में किसी संख्या को आदिरूप से ग्रहण करना पड़ता है, अन्यथा गणना नहीं हो सकती। आदिरूपेण गृहीत इस संख्या को एकक (Unit) कहा जाता है। जिस राशि से कोई परिच्छेद अथवा प्रमेय परिणाम (Any Measurable quantity) निरूपित होती है, प्रमित होती है (represented होती है) जब वही मान निरूपक एकक के अधीन है। तब सिद्धान्त होता है कि अखिल प्रमेय परिणाम की उत्कर्षापकर्ष बोधक अथवा प्रचयापचयज्ञापक राशि माननिरूपक कल्पित एकक (Unit) मात्रानुसार ही निरूपित होता है।[1]

अतएव मानना होगा कि वेद स्वत:सिद्ध प्रमाण है। यदि प्रत्येक प्रमाण का प्रामाण्य प्रमाणान्तर द्वारा परिक्षणीय हो, तब प्रामाण्य का विनिश्चय असम्भव हो जायेगा। जो नित्य है, सत्य है, जो अव्यभिचारी है, देश-काल-अवस्था के परिवर्तन से जो परिवर्तित नहीं होता, वही है स्वत:सिद्ध प्रमाण। उसका प्रमाण अन्य प्रमाण का मुखापेक्षी नहीं है। जैमिनी, बादरायण, कपिल, पतंजलि, पाणिनि, कात्यायन, भर्तृहरि, यास्क ने शब्द अथवा वेद को प्रमाण माना है। जो यह कहते हैं कि वेद अथवा शब्द का प्रमाण क्या है? ऋषि तथा आचार्य उनसे कहते हैं कि अव्यभिचारित्व ही सत्य लक्षण है। वेद में कहीं भी किसी देश अथवा काल में व्यभिचारित्व नहीं होता। लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण में यह दृष्ट होता है। इसलिए वेद स्वत:सिद्ध प्रमाण है। वेदविरोधी रूप प्रत्यक्षादि प्रमाण स्वीकार नहीं है।

जो प्रतीच्य दार्शनिकों के मत से अवगत हैं, जिन्होंने मैक्समूलर प्रभृति विद्वानों के वाग्विज्ञान (Science of Language) का अध्ययन किया है, अथवा जो न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के शब्द सम्बन्धित सिद्धान्त का श्रवण करते हैं, वे जानते हैं कि शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, यह सामयिक अथवा कल्पित (Conventional) नहीं है। इसे सुनकर लोग विस्मित हो सकते हैं। शब्द से अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, यह साधारण प्रतिभावालों के लिए विसंवादी है। जो भी हो, ऋषि तथा वैदिक आचार्यों ने इस सन्दर्भ में जो मत प्रकाशित किया है, उसे सुनाया। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि महर्षि गौतम, कणाद ने जिस तात्पर्य से शब्द के साथ अर्थ के सम्बन्ध को सामयिक कहा है, प्रतीच्य वैज्ञानिकों ने ठीक उसी अर्थ में, उसी सन्दर्भ में, शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को सांकेतिक नहीं कहा है। नैयायिक गण ईश्वर के संकेत को स्वीकार करते हैं, वेद के यथार्थ ज्ञान का अभ्युपगम करते हैं, वेद को आप्तोपदेश मानते हैं। आस्तिक दार्शनिकों में से प्रत्येक वेद के प्रवाह की नित्यता को मान्यता देते हैं। श्रीमत् कुमारिल भट्ट ने स्वप्रणीत श्लोकवार्त्तिक के 'सम्बन्धाक्षेप परिहार' में कहा है कि शब्द-अर्थ का शक्तिरूप सम्बन्ध नित्य है। इसके नियोग में

1. An Elementary Treatise on the different calculus : By B. Willimson, page 36

अर्थात् व्यवहार में अनित्यता अवश्य स्वीकार्य है। प्रयोग की अनित्यता के कारण शक्ति रूप सम्बन्ध भी अनित्य है, लोगों को यह भ्रान्ति हो सकती है।[1] शब्द के साथ तद्बोध अर्थ का सम्बन्ध यदि नित्य तथा स्वाभाविक है, तब प्रथम श्रवण में ही शब्द के अर्थ की प्रतीति क्यों नहीं होती? इस शब्द का यह अर्थ है, गुरुमुख से यह सुनकर तब शब्द का अर्थावबोध होता है। यदि शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक तथा नित्य होता, तब बिना उपदेश के शब्द के अर्थ की प्रतीति होती। "इस शब्द का यह अर्थ" गुरुमुख से यह सुनकर तब शब्द का अर्थावबोध होता है। शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध यदि स्वाभाविक अथवा नित्य होता, तब बिना उपदेश के शब्दार्थ की प्रतीति होती। 'इसका यह अर्थ' पुरुषविशेष द्वारा इस प्रकार से कहे जाने पर जब शब्द के अर्थ का बोध होता है, तब शब्द के साथ अर्थ के संस्कार को पौरुषेय कहना ही संगत है। मीमांसकश्रेष्ठ पार्थसारथी मिश्र इसका उत्तर देते हैं कि "इस शब्द का यह अर्थ" यह सम्बन्धकरण नहीं है। यह प्रसिद्ध सम्बन्धक का कथन है। किस प्रकार से यह जाना जायेगा?

जिस शब्द का जो अर्थ है, यदि कोई उस अर्थ को न कहकर अन्य अर्थ कहेगा, तब अनेक लोग उसे टोकते हुए सचेत करेंगे। यदि गो शब्द का अर्थ कोई अश्व अथवा गवय यह कहेगा, तब लोग निषेध करेंगे कि यह अर्थ त्रुटिपूर्ण है। यदि शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध पुरुषकृत होता, तब व्यक्ति इस प्रकार निवारित कदापि नहीं करते कि यह अश्व अथवा गवय नहीं है, गो है। यदि शब्द का प्रकाशकत्व (प्रत्यायकत्व) स्वाभाविक होता, तब प्रथम श्रवण से ही उसकी प्रतीति हो जाती। आशंका नहीं होती। शब्द के स्वाभाविक प्रकाशकत्व से अवगत होने पर तब वह अर्थ प्रतिपत्ति का निमित्त होता। स्वाभाविक प्रत्याकयत्व प्रतिपन्न अथवा अवगत न होने से लोगों को साधारणतः प्रथम श्रवण में अर्थ की प्रतीति न होना प्राकृतिक है।[2]

पार्थसारथी मिश्र की यह सभी उक्ति आपाततः विशेष सारवान् नहीं प्रतीत होती। तथापि निविष्ट चित्त से चिन्तन करने पर उपलब्धि होगी कि ये गम्भीरार्थ हैं, इसके गर्भ में अनेक तथ्य हैं।

वेद व्याख्यात सृष्टि तत्त्व का तात्पर्य उपलब्ध करना हमारे लिए असम्भव है। क्योंकि वेदोपदिष्ट सृष्टितत्व का तात्पर्य अवधारित करने के लिए ऐसे अनेक शब्दों को सुनना पड़ता है, जिनके अर्थ की हम यथायथ रूप में धारणा नहीं कर सकते। अनेक समय हमारे सहज ज्ञान में ये सभी शब्द अर्थशून्यरूपेण उपलब्ध होते हैं।

---

1. "तथापि शक्तिनित्यत्वं नियोगस्य त्वनित्यता तद्गताच्चाप्यानित्यत्वाच्छक्तौ भ्रान्तिः प्रवर्त्तते।"
—श्लोकवार्तिक

2. "नह्यस्यायमर्थ इति सम्बन्धकरणमिदं प्रसिद्धसम्बन्धकथनं ह्येतत्।.....स्वाभाविके तु प्रत्ययकत्वे प्रथम श्रवणेऽपि प्रतीतिः स्यादिति, चेत् न स्वाभाविकमपि प्रत्ययकत्वमगवतं सत् अर्थप्रतिपत्तौ निमित्तं नाप्रतिपन्नामिति युक्तैव प्रथम श्रवणेऽर्थस्याप्रतीतिः"—शास्त्रदीपिका, प्रथम पाद

तदनन्तर वेद के उपदेशों को प्रायः रूपकादि अलंकार द्वारा आवृत्त कर दिया गया है। इससे वे और भी दुर्बोध्य हो जाते हैं। रूपकादि अलंकार का व्यवहार पदार्थ तत्वावधारण में विशेष उपकारक होता है। इसीलिए वेद ने बाहुल्य से रूपकादि अलंकार का व्यवहार किया है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि रूपकादि अलंकार का उन्मोचन करने से कभी-कभी कोई अंश कुछ सुखबोध्य भले ही हो जाता है, किन्तु वेद के उपदेश्य वाक्य में जब तक अलंकार है तब तक उनका प्रकृतरूप नितान्त दुर्निरूपणीय-सा है। साथ ही रूपकादि अलंकार का व्यवहार यदि पदार्थ तत्वावधारण का उपकारक होता—तब दार्शनिक वैज्ञानिक ग्रन्थों में भी वही होता। वे अलंकारों का अधिकता से व्यवहार करते होते। जीव की उत्पत्ति अथवा विश्व की सृष्टि से सम्बन्धित वेद के उपदेशों के श्रवण के पश्चात् पाठक गणों में से अनेक के मन में यह प्रश्न उदित होना सम्भव है कि हमने इसीलिए वेद से सृष्टि विषयक जो कुछ सुना है, कैसे उसके तात्पर्य को समझा जा सके? वेद तथा पुराणों ने किसलिए बाहुल्यता से रूपकादि अलंकार का व्यवहार किया है? दर्शन तथा विज्ञान जिस रीति से पदार्थ तत्व की व्याख्या करते हैं, उनसे वेद तथा पुराणों के द्वारा की जा रही व्याख्या प्रणाली में कहाँ तक पार्थक्य है? यथाशक्ति यह जानने की चेष्टा की जा रही है।

वेद में जीव के जन्म तथा सृष्टि विषयक जो उपदेश हैं, उसका तात्पर्य समझने के लिए आत्मा, परमात्मा, लिंगदेह, देवता, कर्म, छन्दः, यज्ञ, आदि सभी पदार्थों के स्वरूप को जानना आवश्यक है। इन पदार्थसमूह का स्वरूपनिश्चय लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब लौकिक प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। जो लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, उसे प्रत्यक्ष वादीगण (जो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी प्रमाण में विश्वास नहीं करता) जानने का प्रयत्न ही नहीं करते। इनका मत है कि जो पदार्थ लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, अविषय है, उसे जान सकना सम्भव नहीं है। जो लौकिक प्रत्यक्ष का विषयीभूत नहीं होता, वह साधारण के लिए अपरिज्ञात ही रहेगा। लेकिन इस स्थिति में क्या यह सिद्धान्त बना लिया जाये कि जो लौकिक प्रत्यक्ष का अविषय है, उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं है? विद्वान् हैमिल्टन, मिल, जेक्सन प्रभृति चिन्तनशील दार्शनिकों ने भी स्वीकार किया है कि जिसे हम जानते नहीं ऐसे भी पदार्थ हो सकते हैं। निश्चित रूप से हैं भी जिनकी उत्पत्ति अथवा सम्भाव्यंता की व्याख्या कर सकने में लौकिक बुद्धि पूर्णतः असहाय है अथवा उस योग्य नहीं है कि व्याख्या कर सके।[1]

---

1. ''Sir William Hamilton holds as I do, that inconceivability is no criterion of impossibility. There is no ground for infering a certain fact to be impossible, merely from our inability to conceieve its possibility, things there are which may, may must, be true of which the understanding is wholly unable to contrue to itself possibility.'' —Mills Logic

जिन पदार्थों का अस्तित्व स्थूलप्रत्यक्ष तथा तन्मूलक अनुमानादि प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न नहीं होता, क्या उन्हें जानने के लिए कोई उपाय नहीं है? ऋषियों तथा आचार्यगण के उपदेश की शरण लेनी होगी। अलौकिक तथा अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने के लिए वेद तथा आप्तोपदेश शब्द प्रमाण की शरण लेनी होगी। इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय ही नहीं है। ऐसी स्थिति में जो लोग इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार के अलौकिक उपाय जानने के प्रयोजन की उपलब्धि करते हैं, उनके लिए वेद का स्वरूप दर्शन, वेद का आश्रय लेना अत्यावश्यक है। वेद का स्वरूप जानने के लिए, शब्द का स्वरूप जानना चाहिये। क्योंकि शब्द तथा वेद एक ही पदार्थ है। भगवान् बादरायण वेदान्त सूत्र में वेद के लिए शब्द का व्यवहार करते हैं। शारीरक सूत्र के अनुसार शब्द (वेद) से देवतादि अखिल प्रपंच का उद्‌भव हुआ है।[1] वैयाकरण, वैदान्तिक तथा मीमांसक शब्द को नित्य कहते हैं। जो देवतादि निखिल प्रपंच का कारण है, वह नित्यपदार्थ है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।[2] शब्द के साथ तद्‌बोध्य अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। स्वाभाविक है। इसका तात्पर्य जानने हेतु शब्द-अर्थ तथा नित्य (स्वाभाविक) इन पदत्रय का स्वरूप विचारणीय है।

जिस शब्द को सर्वप्रकार चेतन-अचेतन पदार्थ के कारणरूप में लिया गया है, 'शब्द' कहने से हम जो कुछ समझते हैं, यह वह शब्द नहीं है। भर्तृहरि ने शब्द को ही परमाणु, शब्द को ही इन्द्रिय, जड़ शक्ति तथा शब्द को चिच्छक्ति कहा है। सभी अर्थजात् सूक्ष्मरूपेण शब्द अधिष्ठित है। विश्वनिबन्धिनी (विश्वकारणात्मिका) शक्ति शब्दाश्रिता है। अधिष्ठान के परिणामवशात् आत्माभिव्यक्ति प्राप्त होकर सभी अर्थ वाच्यवाचक रूप भेदात्मा में प्रतीयमान होता है। वाक् या शब्द से ही अर्थदर्शन होता है। वाक् अथवा शब्द ही शब्दोच्चारण करता है। वाक् या शब्द ही अर्थ समुदाय को सन्निहित करता है। इनके द्वारा ही विश्व अनेक रूप में निबद्ध होता है।[3] शास्त्रों में वेद तथा वाक् (शब्द) के सम्बन्ध में जो उपदेश मिलता है, उसे श्रवण करने से यह हृदयंगम होता है कि शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध नित्य है।

वैज्ञानिकगण प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन दो को ही प्रमाण मानते हैं। इस प्रमाणद्वय का संक्षिप्त संवाद हमें प्राप्त हुआ है।[4]

---

1. "शब्द इति चेन्नतः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।" वेदान्तदर्शन 1/3/27
2. "अतएव च नित्यत्वम्"—वेदान्तदर्शन 1/3/28
3. "शब्देष्वेवाश्रिताशक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी" —वाक्यपदीय
4. शबरस्वामी अनुमान का जो लक्षण बतलाते हैं, वह हम जानते हैं। शबरस्वामी ने "प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध" तथा "सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध" अनुमान को इन दो भागों में बाँटा है। सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध नामक अनुमान में शबरस्वामी ने जिस दृष्टान्त का प्रदर्शन किया है, उसके द्वारा प्रत्यक्षतोदृष्ट सम्बन्ध अनुमान से सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध अनुमान का पार्थक्य विशदरूपेण समझा नहीं जा सकता है। इसे स्पष्ट रूप में जानने के लिए श्लोकवार्तिक,

यहाँ तथ्य का आविष्कार कैसे होगा, वैज्ञानिक किस रूप से तथ्य का आविष्कार करते हैं, यह सुनना होगा। रिचार्ड ह्वेटली (R. Whately) कहते हैं, आधिभौतिक परीक्षा तथा यौक्तिक अनुसन्धान (Psysical Investigation and Logical Investigation) से तथ्य का आविष्कार होता है (Discovery

---

शास्त्रदीपिका, न्यायमंजरी, गोगाभ रचित चिन्तामणि, न्यायवार्तिक, वाचस्पति मिश्र-कृत ब्रह्म तात्पर्य टीका ग्रन्थ पढ़ें।

वात्स्यायन मुनि स्वप्रणीत न्यायदर्शन भाष्य में त्रिविध अनुमान अर्थात् शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट एवं पूर्ववत् का लक्षण तथा उदाहरण बतलाते कहते हैं कि "यहाँ कारण से कार्य अनुमित होता है। तत् स्थल में तादृश अनुमान को पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। मेघ की उन्नति दर्शन से वृष्टि का अनुमान होता है, वह पूर्ववत् अनुमान है। यहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है। तत्स्थल में तादृश अनुमान को शेषवत् अनुमान कहा जाता है। नदी में पहले जल था अब उतना जल नहीं है अथवा अब अधिक जल है, इसके स्त्रोत में शीघ्रत्व है। वेगवत्ता है। अतएव अवश्य वृष्टि हो चुकी है। नदी को जलपूर्ण देखकर वृष्टि का अनुमान, यह शेषवत् अनुमान है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान के प्रदर्शनार्थ वात्स्यायन तथा शबर स्वामी ने ये उदाहरण दिये हैं। इन्होंने उस उदाहरण का व्यवहार किया है। बिना गति के कोई एक देश से देशान्तर गमन नहीं करता। इसका प्रत्यक्ष करके आदित्य को एक स्थान से स्थानान्तर में जाते देखकर यह अनुमान होता है कि यह भी गति के कारण है। इस प्रकार अनुमान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं। यह तो कार्य देखकर कारण के ज्ञानरूप शेषवत् अनुमान का ही उदाहरण है। अतएव आदित्य का देशान्तर प्रतिरूप कार्य देख कर तत्कारण गति का अनुमान शेषवत् अनुमान से भिन्न कैसे? न्यायवार्तिकार तथा वाचस्पति मिश्र भी ऐसा कहते हैं। कुमारिल भट्ट भी श्लोकवार्त्तिक में कहते हैं कि प्रत्यक्षतोदृष्ट-सम्बन्ध अनुमान तथा सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध अनुमान में यह द्वैविध्य नहीं है। अतः परस्पर असंकीर्ण तथा भिन्न दो प्रकार के (Two modes) द्वैविध्य उपपन्न होते हैं। परस्पर संकीर्ण दो प्रकार के द्वैविध्य उपपन्न क्यों होते हैं? सामान्यतोदृष्ट के यथोक्त उदाहरण में भी गति-प्राप्ति सम्बन्ध में प्रत्यक्षदृष्टत्व है। अतएव सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध अनुमान तथा प्रत्यक्षतोदृष्ट- सम्बन्ध अनुमान, यह अनुमान का द्वैविध्य सिद्ध नहीं होता। सामान्यतोदृष्ट का अर्थ है सामान्य द्वारा दृष्ट, अविशेष अविनाभावि हेतु अथवा व्याप्ति द्वारा लक्षित। यहाँ अकार्य कारणभूत लिंग है। अविभाभावि हेतु द्वारा जहाँ किसी धर्मी का अनुमान होता है, वहाँ उसी प्रकार के अनुमान को सामान्यतोदृष्ट कहते हैं। जो प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत है, क्या वह सामान्य या विशेष, अथवा उभयात्मक है? दार्शनिकों में इस बारे में मतभेद है। किसी के मत से प्रत्यक्ष द्वारा ही विषय गृहीत होता है। सामान्य का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होता। सामान्य अनुमानगम्य है। बौद्ध भी यही मानते हैं। मीमांसकगण कहते हैं कि सामान्य को प्रत्यक्षग्राह्य स्वीकार न करने से अनुमान का उच्छेद होता है। क्योंकि अनुमिति से पक्षधर्मता द्वारा लिंग-ग्रहीतव्य, लिंगसामान्य तथा लिंगविशेष नहीं है। प्रत्यक्ष द्वारा यदि सामान्यभूत लिंग को ग्रहण न हो तब अनुमान कैसे होगा? जहाँ प्रत्यक्ष द्वारा विशेष द्वय का सम्बन्ध गृहीत होता है, वहाँ उसे प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध कहते हैं। तथा जहाँ प्रत्यक्ष से सामान्यद्वय का सम्बन्ध गृहीत होता है, वहाँ उसे सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध कहा है। शबरस्वामी ने इस प्रकार अनुमान को दो भागों में बाँट दिया है और विशेषदृष्ट से भिन्न निःसन्दिग्ध सामान्यदृष्ट के प्रदर्शनार्थ आदित्य का उदाहरण प्रदर्शित किया है। जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी में कतिपय रूप द्वारा रस के अनुमान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान के उदाहरण में प्रस्तुत किया है। रूप तथा रस ये दोनों ही समवायिकारण एक कपित्यादि द्रव्य हैं। इनमें कार्यकारण भाव नहीं है।

of Truth)। अधिभौतिक परीक्षा तथा यौक्तिक (तार्किक) अनुसन्धान, तथ्य का आविष्कारोपाय तथा ज्ञानसाधन, इन द्विविध पदार्थ का स्वरूप क्या है?

आधिभौतिक परीक्षा (Physical Investigation) से ह्वेटली ने चक्षुरादि इन्द्रियों से बाह्य अर्थ अथवा विषय के यथायथ भाव ग्रहण को यौक्तिक अनुसन्धान (Logical Investigation) कहा है—और तर्क, विचार अथवा मनन (Reasoning) को लक्ष्य किया है। शुद्ध मनन से तथ्य का आविष्कार नहीं होता। आधिभौतिक परीक्षण भी तथ्याविष्कार का एकमात्र उपाय नहीं है। विद्वान् जेवन ने कहा है कि दर्शन (Observation) तथा परीक्षण (Experiment) इन दो से पदार्थ का तत्व जाना जाता है। हमारे चतुर्दिक् नैसर्गिक नियमानुसार जो समुदय घटना संघटित हो रही है, जब हम इन घटनाओं को शुद्ध मनोयोग से स्मरण तथा ईक्षण करने का प्रयत्न करते हैं, तब हमारी वह चेष्टा दर्शन (Observation) के नाम से अभिहित होती है। जब हम अपने पेशीय बल से प्राकृतिक प्रवर्तन के (Natural course) परिवर्तन तथा इस प्रकार के अपूर्व संयोग के (Unusual combinations) उत्पादन तथा वस्तु जाति को अस्वाभाविक अवस्था में लाते हैं, तब हमारा यह कार्य परीक्षा (Experiment) शब्द से उक्त होता है।

विद्वान् हार्शल कहते हैं कि दर्शन तथा परीक्षा (Observation and Experiment) सर्वथा पृथक् सामग्री नहीं है। उभय ही ऐन्द्रिक कार्य है। दोनों ही इन्द्रियों से सम्पादित होता है, तब शुद्धदर्शन (Positive Observation) में आलोचित वस्तुजात विशेष धर्म का सम्यक् रूप से अनुसन्धान नहीं करा जा सकता। परीक्षा से (Active Observation) से उनके विशेष-विशेष धर्म को सम्यक् रूप से विवेचित किया जा सकता है। जान स्टूअर्ड मिल भी विस्तृत दर्शन को परीक्षा (Experiment) कहते हैं। जब हम कतिपय सामग्री को ग्रहण करके भिन्न-भिन्न मात्रा में सन्ताप प्रयोग, नाना प्रकार के आपीड़न, ताड़ित् विक्षोभ (Electric disturbance) रासायनिक प्रक्रिया विशेष आदि से उनमें जो परिवर्तन होता है उसे प्रत्यक्ष करते हैं और प्रत्यक्षीभूत विषयसमूह को चित्तपट पर अंकित कर देते हैं, तब हम उस कार्य को भौतिक तथा रासायनिक परीक्षा कहकर पुकारते हैं। ऐसी परीक्षा का उद्देश्य क्या है? विद्वान् जेवन्स कहते हैं किसी प्रकार के पूर्ववर्ती भाव अथवा भावसमूह विद्यमान रहने पर कैसी घटना अथवा घटनापुंज संघटित होगा, उसकी विनिश्चिति ही ऐसी परीक्षा का उद्देश्य है।[1] इसलिए कहा जा सकता है कि कार्यकारण भाव का तत्वानुसन्धान ही परीक्षा का उद्देश्य है।

---

1. "Our object in inductive investigation is to ascertain exactly the group of circumstances or conditions which being present, a certain other group of phenomena will follow". —Principle of Science.

कोई एक पदार्थ यदि पदार्थान्तर के साथ नियत अवस्थान करता है, किसी पदार्थ का अभाव होने पर यदि उसके साथ ही एक अन्य पदार्थ का अभाव हो जाये, (इसी प्रकार) किसी पदार्थ के उत्पन्न होने पर उसके साथ अथवा उसके अव्यवाहित यदि एक और अन्य पदार्थ की उत्पत्ति हो जाये, तब उनको पारस्परिक स्वाभाविक सम्बन्ध से सम्बद्ध कहा जायेगा। एक पदार्थ के साथ अन्य एक पदार्थ का यह स्वाभाविक सम्बन्ध, अविनाभाव सम्बन्ध अथवा व्याप्ति संज्ञा से अभिहित है। पदार्थसमूह में जो स्वाभाविक सम्बन्ध विद्यमान है, वही है युक्ति का पूर्व रूप तथा मननशील व्यक्ति के मन में उसका अभ्रान्त संस्कार संकलित होना ही है उसका उत्तर रूप। इन उभय रूपों के एकीभूत होने पर यौक्तिक ज्ञान जीवन लाभ करता है।

अन्वय-व्याप्ति, व्यतिरेक-व्याप्ति तथा अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति रूपेण त्रिविध व्याप्ति का वर्णन है। जिसके रहने पर जो अवश्य रहता है, तथा उसके न रहने पर वह भी नहीं रहता, यह है अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति का लिंग चिह्न। अनुमान व्याप्ति-ज्ञानपूर्वक व्याप्ति ज्ञान से अनुमान जन्म लेता है। व्याप्ति ज्ञान जब अनुमान का कारण है, तब व्याप्ति के प्रकार भेदानुसार जो अनुमान का प्रकार भेद होगा वह स्थिर है। नव्यन्याय में इसी कारण अनुमान को केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वय व्यतिरेकीरूपी भागत्रय में बाँटा गया है।[1] न्यायवार्तिककार उद्योतकराचार्य कहते हैं कि अनुमान अन्वयी, व्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी रूपेण त्रिविध है।[2] प्रतीच्य नैयायिक गणों से इस विषय में भारतीय नैयायिकों के मत का अनेकतः सादृश्य है। इस विषय में नीचे टिप्पणी में पाश्चात्य लॉजिक से उद्धृत पंक्तियों का पाठक मनन करें।[3]

व्याप्ति तथा अनुमान के सम्बन्ध में कोई विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ का लक्ष्य न होने पर भी हमने इस सम्बन्ध में जो दो-एक तथ्य उपस्थित किये उनका प्रथम कारण यह है कि जो यह अनुमान करते हैं कि वैदिक आर्यजाति वाले केवल मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में ही विचरण करते हैं, वे आधिभौतिक परीक्षण (Physical Investigation) में मनोनिवेश नहीं करते हैं, तथा इसी कारण आधिभौतिक विज्ञान इस देश में उन्नत नहीं हो सका है। उनकी यह धारणा कहाँ तक सत्यभूमिक है, इसकी अवधारणा के लिए अलंकारशास्त्र के साथ (Rhetoric) न्यायशास्त्र (Logic) का जो सम्बन्ध है, उसका निश्चय करने के

1. ''तच्चानुमानं त्रिविधं केवलान्वयि केवलव्यतिरेक्यन्व्यव्यतिरेकि भेदात्'' —तत्वचिन्तामणि
2. ''त्रिविधमिति। अन्वयीव्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति'' —न्यायवार्तिक
3. ''The principles of inference are the axioms of identity and correspondence of contradictary disjunction (or of contradiction and excluded third) and the sufficient reason.'' The axiom of Indentity should be thus expressed 'A' is 'A'. i.e. every thing is what it is.''

लिए यह विवेचना है। वेद ने अलंकार रूपक का व्यवहार क्यों किया है, यह जानने के लिए यह ज्ञान आवश्यक है कि न्याय एवं अलंकारशास्त्र में क्या सम्बन्ध है ?

विद्वान् जेवन्स प्रभृति के ग्रन्थ के पाठ से परीक्षा (Experiment) का क्या लक्षण एवं उद्देश्य अवगत होता है, उससे यह कहा जा सकता है कि व्याप्ति निश्चय करना ही परीक्षा का उद्देश्य तथा प्रयोजन है। इसके अनन्तर व्याप्तिनिश्चय कैसे हो, शास्त्र से इसका उत्तर मिला है, उसे बताया जायेगा। प्राच्य विद्वान् किस प्रकार से व्याप्तिनिश्चय करते हैं, यह जानने के लिए इसकी आधिभौतिक परीक्षा में मनोनिवेश करते हैं अथवा नहीं यह भी प्रतिपन्न होगा। "भारतीय नैयायिक उन्नयनात्मक अनुमान के (Inductive Inference) के तत्त्व नहीं जान पाये।" पाश्चात्यों के इस मत में कितना सत्य है, इसका भी एक आभास दिया जायेगा।

कहीं भी व्याप्तिदर्शन होने पर यह परीक्षा करनी होगी कि वह स्वाभाविक है अथवा अस्वाभाविक। परीक्षा से यदि यह निश्चित होता है कि वह स्वाभाविक व्याप्ति नहीं है, वह पदार्थान्तर के संयोग से घटित है, तब उसे स्वाभाविक व्याप्ति रूपेण ग्रहण करना होगा। कहीं पर धूम तथा वह्नि का सामानाधिकरण्य लक्षित हुआ। यहाँ परीक्षा करनी होगी कि यहाँ धूम तथा वह्नि में से किसके साथ किसकी स्वाभाविक व्याप्ति है ? वह्नि के साथ धूम की अथवा धूम के साथ वह्नि की। यदि वह्नि के साथ धूम का स्वाभाविक सम्बन्ध विनिश्चित हो तब धूम की सत्ता वह्नि की सत्ता निर्णीत होगी। और यदि धूम के साथ वह्नि का अविनाभाव स्थिर हो गया तब यह होगा कि जहाँ वह्नि है वहीं धूम है। अर्थात् वह्नि की सत्ता से धूम का अनुमान होगा।

किसके साथ किसका स्वाभाविक सम्बन्ध है, इसे स्थिर करने के लिए परीक्षा करना (Experiment) आवश्यक है। किस रूप में परीक्षा करनी होगी ? अग्नि में दाह्य पदार्थ के प्रक्षेप से परीक्षा होगी। वह्नि में एक टुकड़ा आर्द-सा, पानी में पड़ा लकड़ी का टुकड़ा फेंकने से धूम होगा, किन्तु एक टुकड़ा स्वर्ण फेंकने से धूम नहीं होगा। इस तरह से परीक्षा से स्थिर होता है कि अग्नि में जलीय अणुयुक्त दाह्य पदार्थ (पानी से गीली लकड़ी) के संयोग से धूम उठता है। तैजस पदार्थ (स्वर्णादि) के संयोग से धूम नहीं होता। अतएव सिद्धान्त है कि वह्नि के साथ धूम की स्वाभाविक व्याप्ति है, उसके साथ अग्नि की स्वाभाविक व्याप्ति नहीं है। जहाँ धूम है, वहाँ वह्नि है। जहाँ वह्नि है, वहाँ धूम नहीं है। धूम के साथ अग्नि की व्याप्ति अस्वाभाविक नहीं है। वह औपाधिक है। वह है पदार्थान्तर के दाह्य संयोग के कारण। जिसके द्वारा व्याप्ति का अस्वाभाविक तत्त्व निर्णीत होता है उसे उपाधि (condition) कहते हैं। विद्वान् जेवन्स ने परीक्षा (Experiment) के स्वरूप का निरूपण करते समय जो कहा था, उससे यह समझ में आता है कि पदार्थसमूह की अनौपाधिक व्याप्ति अथवा स्वाभाविक सम्बन्धनिर्णय करना ही परीक्षा का

स्वरूप है।[1] परीक्षा किसे कहते हैं वह यथायथ रूपेण सुना। अब जिज्ञासा है कि स्वाभाविक सम्बन्ध की अवधारणा क्या शुद्ध मानव व्यापार द्वारा होती है? अथवा केवल आधिभौतिक परीक्षा से होती है? वाचस्पति मिश्र स्वप्रणीत न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका में कहते हैं कि स्वाभाविक सम्बन्ध की अवधारणा शुद्ध मानस नहीं है। अनपेक्ष मन की (जो इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं करता) बाह्य प्रवृत्ति यदि बहिर्गमन करती है, तब विषय ग्रहण सम्भव है। ऐसा होने पर पृथ्वी में अन्ध-बधिरादि का अभाव होता। यदि यह कहा जाये कि भूयोदर्शनापेक्ष मनः स्वाभाविक सम्बन्ध की अवधारणा करता है, तब प्रमाणान्तर स्वीकार करना ही होगा। प्रत्यक्ष मनोनिमित्त मन की अनुपस्थिति में प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव प्रत्यक्ष को मन कहा जाता है। कोई भी प्रत्यक्ष अथवा ज्ञान अमानस नहीं है। चाहे जैसा ज्ञान क्यों न हो, उसमें मन का निमित्तत्व रहता है। मनः ज्ञानमात्र का साधारण निमित्त है। जब मन ही प्रत्यय मात्र का साधारण निमित्त है, तब प्रत्यक्ष को मानस कहते नहीं बनता। मनः परीक्षा का साधारण कारण है। भूयोदर्शन जनित संस्कार के साथ इन्द्रिय को वाचस्पति मिश्र स्वाभाविक सम्बन्ध-ग्राही अथवा व्याप्तिग्राहक कहते हैं।[2] केशवमिश्र स्वप्रणीत तर्कभाषा नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि उपाधि के (Condition) अभाव ग्रहणजनित तथा भूयोदर्शन जनित संस्कार के साथ साहचर्य (Concommitance) ग्राही प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति अवधारित होती है। गङ्गेशोपाध्याय तथा गागाभट्ट के मत से व्यभिचार ज्ञान का विरह-अभाव तथा सहचारदर्शन-सहचारज्ञान (Knowledge of the Invariable Cocommitance) यही व्याप्तिग्रह का हेतु है। भूयोदर्शन व्याप्तिग्रह का हेतु नहीं है।

एकत्र अव्यवस्था अथवा अनैकान्तिकरूप हेतु दोष के हेत्वाभास (A fallacious हेतु, the present of हेतु, Without the साध्य, Oppositete सहचार or Invariable Concommitance) का नाम है व्यभिचार। व्यभिचार ज्ञान अययार्थ तथा यथार्थ अथवा निश्चय और शंकाभेद से द्विविध है। शंका कभी उपाधि सन्देह होने से, कभी विशेष के अदर्शन के साथ साधारण धर्म दर्शन से उत्पन्न होती है। व्यभिचारग्रह व्याप्तिग्रह का प्रतिबन्धक है। इसलिए व्यभिचार ज्ञान का विरह तथा अभाव व्याप्तिग्रह का कारण है। भूयोदर्शन व्याप्तिग्रह का हेतु नहीं है। क्योंकि जहाँ व्यभिचार की स्फूर्ति नहीं होती, वहाँ सकृत् (एकबार) दर्शन ही

---

1. पण्डित जेवन्स कहते हैं—"The great method of Expriment consists in removing, one at a time, each of those conditions which may be imagined to have an influence on the result." —Principles of Science.
2. "तदिदमवधारणं न मानसं अनपेक्षस्य मनसोवाह्य प्रवृत्तावद्धवधिराद्य..... भूयोदर्शनजनित संस्कारसहितमिन्दियमेव धूमादीनां वह्न्यादिति स्वाभाविकसम्बन्धग्राहीति युक्तमुत्पश्यामः"
—न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका

व्याप्तिग्रह हो जाता है। भूयोदर्शन व्यभिचार शंका के अपनोदनपूर्वक व्याप्तिग्रह का उपकार करता है। यहाँ भूयोदर्शन द्वारा भी शंका (Doubt) की निवृत्ति नहीं होती। वहाँ विपक्ष बाधक तर्क अपेक्षित होता है। "वह्निरहित द्रव्य से भी धूम हो सकती है", यदि यह आशंका होती है तब वह्नि एवं धूम, इन पदार्थ द्वय के कारण कार्य भाव के अनुसन्धान द्वारा वह विनिवृत्त हो जाता है।[1] यहाँ यह कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम (शब्द) ये तीन प्रमाण ही व्याप्तिग्राहक हैं।

प्रमाण तथा तर्क से वास्तव में तत्वावधारण का नाम परीक्षा (Experiment) है। अत: बिना परीक्षा के जिस वस्तु का तत्वावधारण नहीं होता, वह स्थिर है। स्थूलप्रत्यक्ष एकमात्र प्रमाण नहीं है। स्थूलप्रत्यक्ष के अविषय पदार्थ भी हैं। जो प्रत्यक्षीभूत नहीं हो अथवा जो प्रत्यक्षीभूत नहीं हुआ, अथवा जो स्थूलप्रत्यक्ष का विषयीभूत होने योग्य नहीं है, ऐसा पदार्थ ही नहीं है, इस प्रकार के सिद्धान्त में उपनीत होना नितान्त दुर्भाग्य स्थूलदर्शी का कार्य है। अनेक समय हम प्रत्यक्ष के अगोचर पदार्थ को युक्तिद्वारा जान जाते हैं। ऐसे भी पदार्थ हैं, जो युक्ति के अधिकार में नहीं आते। युक्ति उनकी छाया का भी स्पर्श नहीं कर सकती। इसीलिए सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण कहते हैं कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय प्रधान (प्रकृति), पुरुष, पंचतन्मात्र, इन्द्रिय, अहंकार, महत्तत्व की प्रतीति होती है। कार्य का कारण है, इसके प्रत्यक्षपूर्वक सामान्यत: कार्यकारणसम्बन्ध ज्ञान उत्पन्न होने से किसी कार्य दर्शन के उपरान्त उसके कारण का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार से महत्तत्वादिरूप कार्य पदार्थ का ज्ञान होने पर महत्तत्वादि कार्य पदार्थ, उसके कारण प्रकृत्यादि का अनुमान, इस प्रकार के बोध से होने लगता है। जो कार्य है, उसका कारण है। महत्तत्व कार्य है अतएव महत्तत्व का कारण है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा इस प्रकार से अतीन्द्रिय प्रकृति, महत्तत्व, अहंकारत्तत्व पंचतन्मात्र इत्यादि का ज्ञान होता है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान ही उसका कारण है। प्रत्यक्ष तथा पूर्ववत् अनुमान द्वारा व्यक्त पदार्थ समूह का तथा शेषवत् तथा सामान्यतादृष्ट अनुमान द्वारा अतीन्द्रिय प्रकृत्यादि पदार्थजात की प्रतीति होती है।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान से क्या अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान होता है? ईश्वरकृष्ण कहते हैं, ना ऐसा नहीं होता। सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी नहीं जाना जाये, ऐसे भी पदार्थ हैं। सामान्यतोदृष्ट अनुमान से जिन पदार्थों की सृष्टि नहीं होती, आप्तवाक्य तथा वेद ही ऐसे परोक्षपदार्थों की उपलब्धि का हेतु है। आप्तवाक्य

---

1. "अत्रोच्यते व्यभिचार ज्ञानविरहसहकृत चारुदर्शन व्याप्तिग्राहकं" —तत्वचिन्तामणि
"तादृशव्याप्तिग्रहे व्यभिचारग्रहः सहचारग्रहश्च हेतुः। भूयोदर्शनं तु न हेतुः। व्यभिचारान्मरणे सकृद्दर्शनेनापि व्याप्तिग्रहात्। भूयोदर्शनं तु क्वचिद् व्यभिचारशङ्कानि क्वचित्तर्कः" —*वही*

अथवा वेद प्रमाण से उनकी सिद्धि हो जाती है। अदृष्ट, देवता, परलोक इत्यादि पदार्थ का ज्ञान आप्तवाक्य से ही होता है।[1]

प्रत्यक्ष तथा अपरोक्ष इन दोनों पदार्थों का ज्ञान ही प्रमाणसिद्ध है। तथा वैदिक आर्य जाति ने आधिभौतिक परीक्षा (Physical Investigation) का व्यवहार किया था। इससे यह प्रतिपन्न हुआ। वैदिक आर्यजाति यदि आधिभौतिक परीक्षा का व्यवहार न करती होती, तब वह कभी भी चिकित्सा, भूततन्त्र (Physics), रसायनतन्त्र, ज्योतिष, शिल्प इत्यादि विद्या तथा कला की इतनी उन्नति न कर सकती। अतएव जिज्ञासा होती है कि आधिदैविक परीक्षा से जिस प्रकार इन्द्रियगम्य पदार्थों का धर्म ज्ञात होता है, लोग जब उनके द्वारा इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार रूप प्रयोजन साधन में समर्थ हो गये थे, तब सामान्यतोदृष्ट अनुमान अथवा आप्तवाक्य रूपी प्रमाणद्वय द्वारा परिज्ञात अप्रत्यक्ष पदार्थों द्वारा क्या लोग उसी प्रकार से इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार रूप प्रयोजन साधन में पारग हो सकते थे? क्या हमारा कोई व्यवहार परोक्ष पदार्थजात है?

वेद परोक्ष पदार्थ समूह का केवल नाम सुन कर बैठने के लिए उनका उपदेश नहीं करते। परोक्ष पदार्थ भी जैसे प्रत्यक्ष होते हैं, जिस प्रकार वे हमारी इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार रूप प्रयोजन साधन करते हैं, वेद ने उसे भी कहा है। वेद ने जिन सभी परोक्ष पदार्थों का संवाद दिया है, वे सब वास्तव में सत हैं या नहीं हैं, लोग उसकी यथास्थिति परीक्षा भी करें जो कि इस मंगलमय वेद की इच्छा है। जो केवल वेद सुनेंगे, परन्तु उसमें उपदिष्ट कर्म का अनुष्ठान नहीं करेंगे, वेदोपदेश की परीक्षा नहीं करेंगे, वेद का उपदेश है कि वे घोर तमसाच्छन्न लोकों में गमन करेंगे। उनको अविद्या का घनतर पर्व प्राप्त होगा। वेदोपदिष्ट कर्म ही है उसकी परीक्षा। जो बिना परीक्षा किसी विषय को सत्य नहीं समझते, वे यदि वेद के उपदेश की यथारीति परीक्षा करना चाहें, तब वे निश्चय कृतार्थ होंगे। वेदभक्त आर्यवंशधरगण बिना परीक्षा किये वेद को सत्य मानकर उसका पूजन नहीं करते थे। वे उसमें उपदिष्ट कर्म का अनुष्ठान करके फल प्राप्त करते थे। देवताओं का साक्षात्कार प्राप्त करते थे। अग्निहोत्र यज्ञ करके उन्होंने स्वर्ग प्राप्त किया है।

वेदोक्त कर्म का सम्पादन करके कितने ही अपुत्रकों को पुत्र, मुमूर्षु को जीवनदान मिला है। तभी वे करुणापरवश होकर वेद सत्य है, वेद अभ्रान्त है, वेद के बिना जीवन की गति नहीं है, पुनः-पुनः उच्चस्वर से सब को यह सन्देश देते हैं। आप्तोपदेश तथा प्रत्यक्ष, इस द्विविध प्रमाण द्वारा ही यह प्रतिपन्न होता है। योगियों ने योगसाधन से विकसित शक्ति से अतीत, अनागत, व्यवहित, विप्रकृष्ट, सबका प्रत्यक्ष

---

1. "सामन्यतस्तु दृष्ट्वादतिन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्॥" —सांख्यकारिका

किया है। देश तथा काल सर्वदर्शी नेत्रों को बाधा देने में समर्थ नहीं हैं। अलौकिक शक्तिसम्पन्न योगी सभी इन्द्रियों द्वारा सब विषयों को ग्रहण करने में समर्थ है। शरीर से अति दूर स्थित पदार्थों को भी जितेन्द्रिय योगी बुद्धिगोचर कर लेते हैं। प्रकृति उनके वश में हो जाती है। श्रुति का कथन है कि योगी घ्राणेन्द्रिय से शब्द श्रवण, पृष्ठ द्वारा रूप दर्शन कर सकते हैं।[1]

विषयों के साथ इन्द्रियसंयोग होने से अन्तःकरण इन्द्रियों द्वारा विषय में निपतित होकर विषय के रूप में तदाकारि परिणत हो जाता है। यही परिणाम है वृत्तिरूप ज्ञान। विषयों के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर भी चैतन्योज्वलित अन्तःकरण जब तक इन्द्रियगृहीत विषयों का प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं कर लेता, तब तक अर्थोपलब्धि नहीं होती। इन्द्रियों के लिए चाक्षुषादि प्रत्यक्ष विशिष्ट कारणमात्र है। इसे केवल चित्त का वृत्तिप्रतिबन्धक तमः निवृत्त होता है। जब चित्त निखिल आवागमन से मुक्त हो जाता है, तब अनन्त एवं परिच्छेदरहित हो जाता है। तब विमल चित्त अपेतमल दर्पण के समान अन्यसहाय निरपेक्ष होकर सभी वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। शुक्लयजुर्वेद संहिता के अनुसार स्वभाव स्थित अमृत मनः त्रिकाल सम्बद्ध वस्तुजात को ग्रहण किये रहता है। वर्त्तमान, अतीत, भविष्यत् जैसी कोई वस्तु भी इस सर्वव्यापी नेत्र का अतिक्रमण नहीं कर सकती।[2]

वेदप्राण ऋषियों ने जो है, जो हो रहा है उसे सम्भव कहा है। अधिकार तथा योग्यतानुसार उसे करने का उपदेश दिया है। प्रत्यक्ष प्रमाण ने ऋषि तथा आचार्यगण से जैसा आदर प्राप्त किया है, वर्तमान काल के प्रत्यक्षवादीगण उसके सहस्रांश के एकांश का भी आदर नहीं कर सके हैं। अनुमान तो प्रत्यक्ष अथवा शब्दमूलक है। शब्द के बिना अनुमान नहीं होता। शब्द के बिना दर्शन तथा परीक्षा भी नहीं होती। भर्तृहरि कहते हैं कि पुरुष जो तर्क करता है, परीक्षा करता है, वह शब्द के प्रसाद से करता है। शब्दाश्रित शक्ति ही पुरुषाश्रय (पुरुष है आश्रय जिसका) है। तर्क भी शब्दसामर्थ्य ही है। जों यह नहीं जानते वे, केवल साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान के (Knowledge as Conjoining difference and agreement) अनुसरण द्वारा अनिबन्धन शुष्क तर्क ही करते हैं।[3] विद्या, शिल्प तथा कलादि द्वारा लौकिक तथा वैदिक अर्थ में मनुष्यों का प्रायः सर्वप्रकार का व्यवहार प्रतिबद्ध हो जाता है। ये

---

1. उपरोक्त बातें असम्भव लगेंगी। परन्तु जो लोग यथाशक्ति योगसाधन में प्रवृत्त होकर अग्रसर हो रहे होंगे, वे इस श्रुत्युपदेश को शिरोधार्य करेंगे। श्रुति वाक्य है—
   "घ्राणतः शब्दं शृण्वन्ति, पृष्ठतो रूपाणि पश्यन्ति"
2. "यनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतभमृतेन सर्वम्" —शुक्लयजुर्वेद संहिता 74/7
3. "शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः। स शब्दानुगता न्यायोऽनागमेष्व निबन्धनः"
   वाक्यपदीय

विद्यायें वाग्भव बुद्धि में निबद्ध हैं। घटादि वस्तुजात के निष्पादन में प्रयोज्य तथा प्रयोजकों के उपदेश तथा चेष्टायें शब्द रूप बुद्धि के अनुसार ही होती हैं। समानाकार अभिनिष्पन्न वस्तुसमूह का विभाग भी शब्द अथवा वाक्कृत है। प्रथमोत्पन्न[1] बालक के इन्द्रिय विन्यास आदि शरीरयन्त्र सभी का यथायोग्य क्रियानिष्पादन शब्द से ही होता है। अतएव शब्द ही अनुमान तथा परीक्षा का ज्ञान तथा शिल्प का कारण है। यह कहा जा सकता है। वेद कौन पदार्थ है, वेद को प्रत्यक्षप्रमाण क्यों कहा है? वेद से विश्व जगत् सृष्ट है, इसका मर्म क्या है? चिन्तनशक्ति पाठक इसका चिन्तन करें। ताप, तड़ित, आलोक, अणु, परमाणु, ये सब शब्द परिणाम हैं। मनः-बुद्धि-अहंकार प्राण इन्द्रिय ये सभी शब्द के परिणाम हैं। शब्द ही प्रकृति है, शब्द ही पुरुष अथवा चिच्छक्ति है। वेद तथा शब्द एक ही पदार्थ है। बाईबिल का भी कथन है कि "वाक् या शब्द ही आदिभूत है, वाक् या शब्द ही God है"। यह वेदोपदेश की प्रतिध्वनि है। जिज्ञासा है कि कितने लोगों ने बाईबिल के इस उपदेश के प्रकृत अभिप्राय को जानने का प्रयत्न किया है, कितने क्रिश्चियन इस वाक्य के प्रति आस्थायुक्त हैं?

वेद में क्या भूततन्त्र, रसायनतन्त्र, गणित आदि का रूप देखने को मिलता है? वेदपाठ करने से क्या हम आधुनिक वैज्ञानिकों के समान प्रकृति के नियमों को जानकर वर्त्तमान जीवन को सुखमय बनाने में सक्षम होंगे? जो यह प्रश्न करते हैं उनसे हम विनीत भाव से यहाँ इतना ही कहते हैं कि पहले यह जानिये कि वेद कौन सा पदार्थ है? तदनन्तर वेदाध्ययन की योग्यता का अर्जन करिये। तदनन्तर आगमकाल, स्वाध्यायकाल, प्रवचनकाल तथा व्यवहारकालरूपी चतुर्विध प्रकार से वेद विद्या को उपयुक्त करिये। तदनन्तर यह परीक्षा करिये कि वेद क्या है और क्या नहीं है। तब यह ज्ञात होगा कि वेद द्वारा क्या हो सकता है और क्या नहीं हो सकता? वैज्ञानिक होने के लिए क्या इतना काण्ड करना होगा? प्रश्न का उत्तर देने के पहले प्रश्नकर्त्ता से पूछता हूँ कि कैसे वैज्ञानिक हुआ जाता है क्या विचार किया है, दो-चार विज्ञानग्रन्थ पाठ और परीक्षा प्रयोग कुशल अध्यापक की परीक्षा का सन्दर्शन, वैज्ञानिक बनने के लिए ये दो ही साधन नहीं हैं। जो वैज्ञानिक बनने की प्रतिभा लेकर पृथ्वी पर आये हैं, वे ही वैज्ञानिक होते हैं। यदि कोई दो-चार ग्रन्थ पढ़कर तथा प्रयोग कुशल अध्यापक की परीक्षा संदर्शन द्वारा वैज्ञानिक बनना चाहे,

1. "सा सर्वविद्या शिल्पानां कलानां चोपबन्धनी, तद्वशादभिनिष्पत्तौ सर्वं वस्तु विभज्यते"

वाक्यपदीय

परीक्षक जिस परीक्षा में प्रवृत्त हुए हैं, परीक्षार्थ जो-जो सामग्री तथा यंत्र का प्रयोजन है वे उसे एकत्र करने में समर्थ हों, वे यथायोग्य व्यवहार करते रहें, यह भी शब्द का प्रसाद है। शब्द संस्कार ही परीक्षक को परीक्षा व्यापार निष्पादन में समर्थ बनाता है। बात से पाठक भले ही विस्मित हों, किन्तु बिना परीक्षण इस बात को असार न मानें।

तब इतने वैज्ञानिक हो जाते कि पृथ्वी पर वैज्ञानिकों के लिए स्थान न बचता। क्या आईजंक न्यूटन जैसे प्रतिभावान् वैज्ञानिकों की संख्या कम नहीं है?

यहाँ पृथ्वी पर जब से वृक्ष का आविर्भाव हुआ है, तब से वे फल दे रहे हैं। तब से ही पृथ्वी की आकर्षणशक्ति से पृथ्वी पर फल गिर रहे हैं। न्यूटन से पहले भी वृक्ष से फल पतित होने का व्यापार अनेक लोगों ने देखा होगा। पृथ्वी पर चिरकाल से अन्नपाक करके मनुष्य भोजन कर रहा है। जब हम भोजन पकाते हैं तब जलपूर्ण हाँड़ी से निकल रही वाष्प उसके ढक्कन को हिलाती और ऊपर उठाती रहती है। कितने लोगों ने वाष्प की इस शक्ति को देखा होगा, लेकिन कोई भी फल पतन से गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को तथा भोजन पाक के अवसर पर वाष्प की शक्ति को वैज्ञानिक सिद्धान्त रूप न दे सका। न्यूटन तथा जेम्स वाट ही क्रमशः गुरुत्वाकर्षण तथा वाष्प शक्ति के प्रवक्ता क्यों हुए? अतः प्रश्नकर्त्ता यह चिन्तन करें कि वैज्ञानिक किसे कहते हैं, कैसे वैज्ञानिक होने चाहिये? इसी प्रकार पृथ्वी पर वैज्ञानिकों की संख्या अत्यल्प है। अब प्रश्नकर्ता को यह चिन्तन करना चाहिये कि जो वैज्ञानिक हैं, वे प्रकृत वैज्ञानिक कैसे बन सके? उनके मस्तिष्क बृहत् हैं, उसमें अधिक cells हैं। ऐसा उत्तर पाकर प्रश्नकर्त्ता निश्चिन्त होकर न बैठें। जगदीशचन्द्र बोस ने जिन सभी वैज्ञानिक ग्रन्थों का अध्ययन किया था, प्रश्नकर्त्ता उसे पढ़ें। जगदीश बाबू की तरह विलायत जाकर रीति के अनुसार विज्ञान शिक्षा ग्रहण करें। तथापि प्रश्नकर्त्ता जगदीश बाबू के समान मातृभूमि को गौरवान्वित कर सकेंगे, ऐसा बोध नहीं होता।

तभी कहता हूँ कि वैदिक बनने के लिए अत्यन्त परिश्रम करना होगा, अनेक विधि-विधान का पालन करना होगा, बहुत त्याग करना होगा। इसीलिए जो वैदिक न बनकर वैज्ञानिक बनने की इच्छा करते हैं (ऐसे लोग इस दुर्गति को प्राप्त भारत में अधिक परिणाम में जन्मधारण करें तभी इस देश का अधिक कल्याण होगा) उन्हें हम भ्रान्त कहेंगे। क्योंकि जो प्रकृत वैज्ञानिक हैं, जो प्रकृत दार्शनिक हैं, वे कभी न कभी वैदिक होंगे। (अर्थात् जाने-अनजाने उनकी विचारधारा में वैदिक तत्त्व उद्भासित होगा)। वैदिक कहने से हम काशीवासी किसी आधुनिक वेदपाठी को लक्ष्य नहीं करते। वैदिक कहने से हमारा तात्पर्य किसी दाक्षिणात्य याज्ञिक से नहीं है। वैदिक कहने से हमारा तात्पर्य है मन्त्रसिद्ध महापुरुष से जो शब्द को विश्व जगत् की सृष्टि स्थिति लय का हेतु, शब्द को ही प्रकृति, परमाणु, पुरुष, ब्रह्म मानते हैं। जिन्होंने मन्त्रसिद्धि की शक्ति से सर्वकार्य साधन की शक्ति पा ली है, जिन्होंने वेदाध्ययन से सर्वज्ञता की प्राप्ति की है। जो शास्त्र वर्णित ऋषिवत् शक्तिसम्पन्न हैं, वैदिक कहने से हमारा तात्पर्य इस लक्षण वाले महापुरुष से है।

वेदवित् महर्षि शौनक ने ऋग्विधान ग्रन्थ में कहा है कि "कलि कलुष के कारण से वेदमन्त्र से सबकी निष्कृति नहीं होती। वेदमन्त्र यथाशक्ति क्रिया नहीं कर

पाते। इसलिए कलिदोष निवारणार्थ द्विज को गायत्री का आश्रय लेना चाहिये। तीन लाख गायत्री जप (गायत्री का जप यथाविधि करना चाहिये अन्यथा तीन कोटि जप से भी लाभ नहीं होगा। ऐसे 2-4 लोग हैं जिन्होंने लाखों गायत्री जपा है किन्तु जो फल मिलना चाहिये, नहीं मिला। मेरा मत है कि उन्होंने यथायथ रूप से गायत्री जप नहीं किया) करें। साथ ही सर्व वेदमन्त्र सिद्धि के लिए एक लाख जप करें। जिनको तीन लाख जप से सिद्धि प्राप्त है, वे भूदेव त्रिदिववासी देवगण से कदापि अलग नहीं हैं। ऐसे व्यक्ति के निकट वेदमन्त्र कामधेनु स्वरूप हो जाते हैं।" इसके अनन्तर महर्षि शौनक यह उपदेश देते हैं कि किस मन्त्र की क्या शक्ति है, किस मन्त्र से कौन कार्य सिद्ध होगा। उन्होंने मन्त्र रहस्य बतलाते हुए यह कहा है—"हे भूसुरवृन्द (ब्राह्मण) तुम विश्वासपूर्वक समाहित होकर यह श्रवण करो जो मैं वेदमन्त्र के सम्बन्ध में कह रहा हूँ।" महर्षि शौनक की इस कथा में विश्वास स्थापन कर सके ऐसे कितने पुरुष भारत में हैं? ब्राह्मण कहने से किसको लक्ष्य किया है? महर्षि शौनक भूसुर शब्द से जिसे लक्ष्य कर रहे हैं, वे यज्ञोपजीवी पुरुष मात्र नहीं हैं। महर्षि शौनक के अनुसार जो इस बात पर विश्वास नहीं करते कि वेदमन्त्र कामधेनु हैं तथा उनके लिए प्रयास नहीं करते, वे ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी गुणगति ब्राह्मणत्व से रहित हैं। मैं तो यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता हूँ कि यह अकिंचन ब्राह्मण भी इस कसौटी पर स्वयं को अब्राह्मण ही मान रहा है।

कर्म के स्वरूप का चिन्तन करने से क्या यह प्रतिपन्न नहीं होता कि शब्द ही युक्तिपूर्वक, बुद्धिपूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक इस त्रिविध कर्म का निष्पादक है? मैं जो इच्छामात्र से अपना हाथ उठाता हूँ, पैर बढ़ाता हूँ, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में सक्षम हूँ, इसका कारण क्या है? बुद्धिपूर्वक कर्म (Voluntary action) कैसे सम्पन्न होगा? जो कर्म संकल्पपूर्वक है, मानस कर्म जिनका पूर्वभाव है, इन सब कर्म के ऊपर मन का प्रभुत्व नहीं है। इन सबको अबुद्धिपूर्वक (Involuntary action) कहा जाता है। नरशरीर विज्ञान (Human Physiology) ने शरीर कर्मसमूह व्याख्या का, मनोविज्ञान ने मानसकर्मों के स्वरूप निरूपण की चेष्टा की है। आधुनिक मनोविज्ञान को शरीर विज्ञान से अलग करना कठिन हो गया है। इसने क्रमशः मनोविज्ञान के स्थान पर शरीर विज्ञान का स्वरूप ले लिया है।

अबुद्धिपूर्वक कर्म को नरशरीरविज्ञान तथा मनोविज्ञान स्वयंसिद्ध (Automatic), प्रत्याकृत (Reflex), साहसिक अथवा यादृच्छिक (Spontaneous) इत्यादि नाम से लक्ष्य करता है। स्वयंसिद्ध कर्म तथा प्रत्याकृत कर्म कदापि भिन्न जातीय नहीं हैं। डॉ॰ वैलर (A. Waller, M.D.) कहते हैं कि बुद्धिपूर्वक कर्म तथा स्वयंसिद्ध कर्म तथा प्रत्याकृत कर्म में आधिभौतिक दृष्टि से (Objective point of view) भेद (Differentia) है। केवल काल अथवा संख्याकृत, शुद्धक्रमजनित भेद है। अव्यवहित अथवा द्रुत—एक अद्वितीय परिस्पन्द प्रतिक्रिया

ही प्रत्याकृत क्रिया है। अव्यवहित परिस्पन्द प्रतिक्रिया तारतम्य (मालावत्) ही स्वत:सिद्ध क्रिया कही जाती है, और विलम्बित परिस्पन्द प्रतिक्रिया ही बुद्धिपूर्वक कर्म (Voluntary Action) है।[1]

बुद्धिपूर्वक कर्म कदापि अबुद्धिपूर्वक कर्म से भिन्न जातीय नहीं है, इसके समाधान की चेष्टा आधुनिक नरशरीरविज्ञानी तथा मनोविज्ञानी प्रमाण के साथ करने में लगे हैं। बुद्धिपूर्वक कर्म भी अत्यन्त जटिल, गूढ़ तथा प्रत्यावृत्तक्रिया विशेष है (A highly disguised and complicated form of reflex action) डॉ० वेलर ने ऐसा ही अनुमान किया है। पण्डित स्पेन्सर भी इसी मत को मानते हैं। जो भी हो, यहाँ यह चिन्तन करना है कि बुद्धिपूर्वक कर्म कैसे निष्पन्न हो? इसके स्वरूप का चिन्तन करने के लिए बुद्धि, मनः, इच्छा इत्यादि पदार्थ का तत्त्व अनुसन्धेय है। बुद्धि, मनः, इच्छा चैतन्य प्रतिबिम्बित सत्वादि गुणों का परिणाम है। काम-संकल्प-संशय-श्रद्धा-अश्रद्धा-घृति-अघृति इत्यादि को श्रुति ने मनः की ही भिन्न-भिन्न वृत्ति कहा है। न्यायमत से भी ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न-द्वेष इत्यादि आत्मा के ही धर्म अथवा गुण हैं। यह बात भी श्रुति अथवा अन्य आस्तिक दर्शनों से विसंवादी नहीं है।

शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक ने भी प्राण, मनः, इन्द्रिय इत्यादि को आत्मा का ही कर्मज नाम बताया है। यहाँ आत्मा अर्थात् जीवात्मा है। 'आत्मा का कर्मज नाम' इस उक्ति गर्भ में अनेक तथ्य निहित हैं। आत्मा से इच्छा (Valition) की उत्पत्ति होती है। इच्छा से प्रयत्न, प्रयत्न से चेष्टा और चेष्टा से बाह्य कर्मोत्पत्ति होती है। महर्षि कणाद इसे प्रयत्न निष्पाद्य (Determinable by valition) तथा नोदनादि निष्पाद्य (Produced by impulse, impact etc) रूपी भागद्वय में विभक्त करते हैं। जब हम अपने हाथों को उठाते हैं, तब हस्त से प्रयत्न निष्पाद्य कर्म होता है। हाथों का उत्तोलन, पदसंचार इत्यादि पैशिक कर्म (Particular kind of muscular action) है। हाथों के उत्क्षेपणरूप कर्म में हस्त समवायिकारण है। प्रयत्नत्व है आत्मसंयोग असमवायिकारण। तथा प्रयत्न है निमित्तकारण ("आत्मसंयोग प्रयत्नाभ्यां हस्तोकर्म"—वैशेषिक दर्शन)। महर्षि कणाद कहते हैं कि हाथों के उत्तोलन कर्म की व्याख्या से मन का कर्म व्याख्यात होता है। ("हस्त कर्मण मनसा: कर्म व्याख्यातम्"—वैशेषिक दर्शन)। चाहे जड़विज्ञान हो अथवा अध्यात्म विज्ञान हो, सभी कर्मस्वरूप का वर्णन करते हैं।

---

1. "From the objective point of view of the observer and experimenter, the most definite differentia between reflex, automatic, and voluntary actions is affordal by the time factor. A reflex act is a single immediate motor reaction an automatic action is a series of immediate motor reaction, voluntary action is delayed motor reaction."

—Psysiology, page 297, By A. Waller, M.D.

सृष्टि-स्थिति-लय भी कर्म का विभिन्न रूप है। जड़विज्ञान कर्म के रूप का वर्णन करते समय भूत-परमाणु, आकर्षण-विप्रकर्षण इन शक्तिद्वय का वर्णन करते हैं। इनके कर्म को कारण रूप से मानते हैं। अध्यात्म राज्य के कर्मतत्त्व की व्याख्या करने से चिन्तकगण आत्मा-बुद्धि-मनः-इन्द्रिय-प्राण-स्थूल शरीर के स्वरूप को निरूपित करते हैं। बाह्याभ्यन्तर पदार्थ सभी त्रिगुण परिणाम हैं। यह श्रुत्युपदेश है। वेद तथा वेदवादी वैयाकरणों ने शब्द को ही विश्व जगत् का परिणाम माना है। विश्व जगत् का निमित्त कारण हो अथवा उपादान कारण हो, इनके मत से पदार्थ मात्र ही शब्द है। वेद तथा उसके अंग व्याकरण ने जिस शब्द को विश्वजगत् का कारण कहा है, वह विश्वकारण शब्द क्या है? नैयायिकों का ईश्वर-आत्मा, परमाणु, काल तथा अदृष्ट, सांख्य का प्रकृति तथा पुरुष, विज्ञान के परमाणु तथा आकर्षण-विप्रकर्षण शक्ति, क्या ये एक अविशेष नामक पदार्थ हैं? प्रश्न का समाधान करने में वैयाकरणों ने शब्द से किस पदार्थ को ग्रहण किया, उसे सुनना आवश्यक है। शब्द को विज्ञान ने वायु की क्रिया, अथवा गतिविशेष (Motion) कहा है। न्यायवैशेषिक मतानुसार शब्द श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य गुण पदार्थ है।

वैयाकरण शिरोमणि भर्तृहरि अपने ग्रन्थ वाक्पदीय में 'शब्द' से मायाशबल ब्रह्म की ओर संकेत देते हैं। ("अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरं"—वाक्पदीय)। शब्द ही ज्ञाता, ज्ञेय, ग्राहक, ग्राह्य, है। ग्राह्यत्व तथा ग्राहकत्व, जैसे एक-दूसरे की शक्ति हैं, उसी प्रकार प्रतिपाद्यत्व तथा प्रतिपादकत्व भी एक-दूसरे की शक्ति हैं। यह वाक्पदीय का मत है। शब्द से कैसे जगत् है, यह जानने के लिए ब्रह्म से जैसे जगत् सृष्ट हुआ है, अथवा पुरुष और चैतन्याधिष्ठित त्रिगुणमयी प्रकृति से जैसे जगत् सृष्ट है, अथवा ईश्वर-परमाणु अदृष्ट-काल तथा आत्मा से जैसे जगत् प्रारम्भ हुआ है, अथवा भूत-भौतिक शक्ति तथा भौतिक शक्ति सातत्य से जैसे विश्व परिणाम होता है, उसे यहाँ याद रखना होगा। भर्तृहरि ने प्रदर्शित किया है कि शब्द को ही परमाणुवादियों ने परमाणुरूपेण स्वीकार किया है। प्रयत्न से समीरित प्रणोदित शब्दाख्य परमाणुसमूह अभिवज्यमान अपनी शक्ति से, जैसे वाष्प मेघीरूपेण घनीभूत, प्रचित होती है, वैसे ही प्रचित हैं। भेद तथा संसर्ग (Separative and aggregative power) वृत्तिक परमाणुसमूह शब्द से भिन्न पदार्थ नहीं है। प्रयत्न समीरित आकाश से शब्दाख्य परमाणुओं की उत्पत्ति हुई है। शब्द को वायु का विकार कार्य क्यों कहा गया? अजस्रवृत्ति ध्वनि अथवा शब्द सूक्ष्म वायु के समान अखिल मूर्त्त द्रव्य के अन्तर तथा बाह्य में अवस्थित हैं। इस ध्वनि को कोई-कोई आकाश कहते हैं। जैसे सूक्ष्म वायु के अपने स्पन्दन से अभिव्यक्त स्थूलता प्राप्त होती है, उसी प्रकार सूक्ष्म शब्द स्व निमित्त द्वारा अभिव्यक्त, प्रचित तथा विक्रियारूप

होकर श्रोत्रदेश (कान) को प्राप्त होकर उपलब्ध होता है। अतः शब्द को वायु का कार्य कहा है। वायु स्पन्दन वास्तव में गति का (Motion) का वाचक है।[1]

शब्द के ग्राह्य (Objective) रूप को दिखलाकर भर्तृहरि ने इसके ग्राहक (Subjective) रूप को प्रदर्शित किया है। ज्ञान भी शब्द से अलग पदार्थ नहीं है। यह उह्नोंने प्रतिपादित किया है। सूक्ष्म वागात्मा में स्थित आन्तर ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति के निमित्त शब्दरूपेण विवर्तित हो जाता है। यह ज्ञानात्मक शब्द मनोभाव को पाकर तथा तेज से परिपक्वता प्राप्त करके प्राणवायु में प्रवेश करता है। तदनन्तर इसके शब्द का ग्राह्यरूप प्रदर्शित करके भर्तृहरि ने इसके ग्राहक रूप (Subjective) को दिखलाया है। इनके मत से ज्ञान भी शब्द से अलग नहीं है। सूक्ष्म वागात्मा में अवस्थित आन्तर ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति के निमित्त शब्द रूप में विवर्तित हो जाता है। यह ज्ञानात्मक शब्द मनोभाव प्राप्त होकर तथा तेज से परिपक्व होकर प्राणवायु में प्रवेश करता है। तदनन्तर इसका मूलरूप अभिव्यक्त होता है। वाक्पदीय में कहते हैं—

अथेदमान्तर ज्ञानं सूक्ष्वमवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन निवर्त्तते॥

पाणिनीय शिक्षा में भी शब्दाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में यही उपदेश है। भर्तृहरि ने शब्द का जो रूप दिखलाया है, वैज्ञानिक निश्चय ही उसे विश्व का कारण मानने में अपनी सहमति नहीं दे सकते। रासायनिक विद्वान् शब्द को हाईड्रोजन आदि रूढ़ पदार्थ के रूप में ग्रहण करने से अनिच्छुक नहीं हो सकते। क्या सांख्याचार्यों को यथोक्तलक्षण शब्द को पुरुषाधिष्ठित प्रकृति मानकर ग्रहण करने में कोई आपत्ति होगी? भगवान् बादरायण जब शब्द को देवतादि अखिल प्रपंच का प्रभव, उत्पत्ति कारण कहते हैं, तब वे यथोक्त लक्षण शब्द को बिना बाधा विश्वकारण कहेंगे। महर्षि जैमिनी का भी यही मत है। नैयायिकों को शब्द के नाम से कुछ आपत्ति हो सकती है, किन्तु 'शब्द' पद द्वारा जिस पदार्थ को लक्षित किया गया है, उसके सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

शब्द के परिचित रूप का तत्त्वचिन्तन करने में प्रवृत्त होने पर सबसे पहले वर्ण की बात मन में आती है। वर्ण का समूह है पद, पद का समूह है वाक्य। वर्ण कौन पदार्थ है? यह यथायथ भाव से जानने के लिए शक्ति तथा शक्ति के स्पन्दनतत्व को सम्यक् रूप से जानना होगा। प्रातिशाख्य, (शौनक विरचित ऋक्प्रातिशाख्य, शुक्ल तथा कृष्ण यजुर्वेदीय प्रातिशाख्य, सामवेदीय प्रातिशाख्य) पाणिनि, वार्तिक,

---

1. "अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वच्चोपलभ्यते।
व्यञ्जनाद्वायुरिव स स्वनिमित्तात् प्रतीयते॥
"अणवः सर्वशक्तत्वाद्भेदसंसर्गवृत्तयः। छायातपतमः शब्दभावेन परिणामिनः।
स्वशक्तौ व्यंज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः॥" —वाक्पदीय

महाभाष्य, शिक्षाग्रन्थ, निरुक्त तथा छन्दः एवं ज्योतिष का सद्गुरु से अध्ययन करना आवश्यक है। पाश्चात्य विज्ञान तथा गणितशास्त्र में भी विशेष व्युत्पन्न होना प्रयोजनीय है। तदनन्तर यथोचित ज्ञानपिपासा, सत्यानुत्सन्धित्सा, श्रमशीलता इत्यादि गुण होना चाहिये। इसके अनन्तर हृदय को अभिमानरहित करके सरल करना होगा। यथासम्भव रागद्वेषरहित विनिर्मुक्त होना पड़ेगा। ये बातें भले ही हृदयग्राही न लगें, तथापि मैंने बन्धुभाव से (कल्याणार्थ) कहा है। इसे मानना अथवा नहीं मानना तो पाठक, श्रोता के मन पर है।

प्रातिशाख्य, पाणिनि, शिक्षा इत्यादि का अध्ययन तथा पाश्चात्य विज्ञान की चर्चा न करके क्या मनुष्य अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता? क्या ऋषियों ने पाश्चात्य विज्ञान पढ़ा था? जो ऐसा पूछते हैं उनसे मैं कोई वार्ता नहीं करना चाहता। ऋषिगण पाश्चात्य विज्ञान क्यों पढ़ेंगे? उन्होंने तो विज्ञानानुशीलन ही तो किया है। वास्तव में विज्ञान प्राच्य अथवा पाश्चात्य विशेषण से विशेषित नहीं हो सकता। हम इस समय विज्ञानविहीन हैं और वहाँ के प्रतीच्य वैज्ञानिक विज्ञान चर्चा में लगे हैं, इसी कारण पाश्चात्य शब्द का प्रयोग आवश्यक हो गया। प्रकृत वैज्ञानिक हुए बिना दुरवगाह शास्त्र सागर में अवगाहन नहीं हो सकता। ऋषित्व प्राप्त नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञान नहीं मिल सकता। यह बताना ही इन बातों का उद्देश्य है।

महर्षि शौनक कहते हैं कि "प्रयोक्ता की इहा" चेष्टा अथवा प्रयत्न गुणसन्निपात् से गुणविशेष योगवशात् भिन्न-भिन्न वर्ण का आकार धारण करती है।[1] महर्षि शौनक के इस अतीव गम्भीरार्थक स्वल्पाक्षर उपदेश का वास्तविक तात्पर्य क्या है? इसे समझने-समझाने के लिए कैसे ज्ञान का प्रयोजन है, श्रीमान् पाठक इसका विचार करें। महर्षि शौनक के वर्णस्वरूप निरूपक इस स्वल्पाक्षर उपदेश का तात्पर्य परिग्रह करने पर क्या भूततन्त्र, रसायनतन्त्र तथा गणित (बीजगणित, क्षेत्रमिति, त्रिकोणमिति, बलविज्ञान, स्थितिविज्ञान इत्यादि उच्चगणित) के समीचीन ज्ञान का प्रयोजन नहीं है? विज्ञान तथा मनोविज्ञान की सहायता लेकर चलना क्या आवश्यक नहीं है? क्या शौनक की इस युक्ति का मर्म प्रकृत दार्शनिक के अतिरिक्त कोई परिग्रह कर सकता है? वेद तथा वेदाश्रित शास्त्र विश्व का सृष्टितत्व समझाते समय यह सब कहते हैं। इस क्षुद्र ग्रन्थ में विश्वसृष्टि से सम्बन्धित जो कुछ कहा गया, हमारा विश्वास है कि वह सब महर्षि शौनक के इस कतिपय अक्षरात्मक उपदेश में विराजित है।

केवल यही नहीं, भूततन्त्र, रसायनतन्त्र तथा गणित का बीज भी इसमें सन्निहित है। विश्वजगत् का परिणाम है। छन्दः अथवा वेद से विश्वजगत् प्रथमतः

1. "प्रयोक्तुरीहा गुणसन्निपाते वर्णाभवन् गुणविशेषयोगात्" —ऋक् प्रातिशाख्य

विवर्त्तित हुआ है।[1] वेदवादीगण की इस बात में क्या सार है? यदि है, तब उसे कैसे समधिगत् किया जाये? वेदान्त की चर्चा आजकल इस देश में प्रबलता से चल रही है। जहाँ-तहाँ वेदान्त की व्याख्या हो रही है। इस देश के बालक-युवा-वृद्ध सभी वेदान्तिक हैं। तभी जिज्ञासा है कि शारीरिक सूत्रप्रणेता भगवान् बादरायण की इस बात का क्या अभिप्राय है—"देवतादि विश्व प्रपंच शब्द से सम्भूत है" इसे कृपया मुझे समझाइये? नवीन वेदान्तिकगण कृपापूर्वक इसे समझायें। अन्य लोग भले ही यह कहें कि "इस कथन का कोई अर्थ नहीं है, यह युक्तिविरुद्ध बात है" तथापि मेरी धारणा है कि वेदान्तिक ऐसा मत प्रकाशन नहीं कर सकते।

वर्णों की उत्पत्ति कैसे होती है, यह जानने के लिए पिंगलाचार्य कहते हैं कि आत्मा बुद्धि द्वारा अर्थ तथा प्रयोजन निश्चय करके मन को वह बोलने के लिए प्रकटित कराने हेतु प्रेरण करता है। मनः काया के अन्तर्गत स्थित अग्नि का, अग्नि वायु का प्रेरण करता है। वायु प्रेरित होकर उदीर्ण—उर्द्धगत तथा मूर्द्धदेश में अभिगत होकर मुखविवर में प्रवेश करके स्वर, काल, प्रयत्न, स्थान तथा अनुप्रदान के भेदानुसार क, ख, ग, घ इत्यादि वर्णों का उत्पादन करता है।[2] शब्द अथवा वाक् को वेद तथा व्याकरणशास्त्र ने परा, पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैखरी—इन चार भागों में विभक्त किया है। वैखरी से हमारा किंचित् परिचय है। शब्द की अन्य तीन अवस्था गुहा में निहित, हृदयान्तर्वर्त्ती है। हमारे लिए अतीन्द्रिय है। ऋग्वेद संहिता में कहा है कि लोक में जो वाक् विद्यमान है, वह है चतुर्धा विभक्त। अखण्ड अव्याकृत वाक् चतुर्धा विभक्त है। तैत्तरीय संहिता अथवा कृष्णयजुर्वेद कहते हैं कि वैदिक मन्त्ररूप वाक् सृष्टि के पहले समुद्रघोषवत् एक अखण्ड तथा अविभक्तरूपेण विद्यमान थी।[3] तत्पश्चात् इन्द्र-परमेश्वर ने देवगण की प्रार्थना पर प्रसन्न हो अव्याकृत वाक् को विभक्त किया है। उसे चतुर्धा विभक्त किया। सायणाचार्य कहते हैं कि एक नादात्मिका वाक् मूलाधार से उठकर परा नाम से अभिहित होती है।

नाद की सूक्ष्मता के कारण दुर्निरूपणीय होने के कारण हृदयगामिनी होकर यह पश्यन्ति (योगीगण को दृष्टव्य होने से) रूप धारण करती है। हृदयाख्य मध्यदेश

---

1. "शब्दस्य परिणामोऽयमित्यामायविदो विभुः। छन्दोभ्य एव प्रथमेतद्विश्वं व्यवर्त्तते" —वाक्पदीय
2. "आतमा बुद्धा समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाऽन्ति स प्रेरयंति मारुतम्॥"
"सादीर्णो मूर्ध्नाभिहतो वक्त्रमापद्यमारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधास्मृतः।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नासुप्रदानतः" —पाणिनीय शिक्षा
"चत्वारि वाक्परिमितापदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति" —ऋग्वेद संहिता
3. "वाग्वै परच्यव्याकृता वदत्"—तैत्तरीय संहिता 6/4/11

से उदीयमाना पश्यन्ति जब बुद्धिगत विवक्षा प्राप्त करती है, तब (विवक्षा = बोलने की इच्छा) इसे मध्यमा कहते हैं। तथा वक्त्र में अवस्थान करके कण्ठ, तालु, ओष्ठ आदि स्थान से जब शरीर से बहिर्गत होती है, तब इसे वैखरी कहा जाता है।

सांख्य, पुराण, तन्त्र, वेदान्त इत्यादि शास्त्रवर्णित सृष्टितत्व के साथ इन सब वाक्यों की कहाँ तक एकता है, यह चिन्तनीय है। शारदातिलक प्रभृति तन्त्र, महाभारत, वाक्पदीय में शब्द की चतुर्विध वैखरी आदि अवस्था का विशद वर्णन है। शब्दब्रह्म ही परा नामक शब्दावस्था है, वे ही हैं कुण्डली शक्ति। इस चैतन्यरूपा कुण्डली शक्ति अथवा पराशब्दावस्था से पश्यन्त्यादिरूप वेदराशि का आविर्भाव हुआ है। वैखरी शब्द ही विराट् स्थानीय है।[1] परशक्तिरूपवशात् 'परा' एवं ज्ञानात्मकत्व वशात् 'पश्यन्ति' नाम पड़ा है। नारायणतीर्थ कहते हैं कि मध्यमा हिरण्यगर्भ स्थानीय है। शास्त्र ने सृष्टि को दो भागों में विभक्त किया है—शब्दसृष्टि तथा अर्थसृष्टि। सर्वसृष्टि के मूल स्वरूप में सृष्ट्युन्मुख अव्यक्त अथवा बिन्दु से महत् का तथा महत् से अहंकार का उदय होता है। अहंकार भी सात्विक (वैकारिक), राजस (तैजस) तथा तामस (भूतादि) त्रिविध है। वैकारिक अहंकार से देवगण, तैजस अहंकार से इन्द्रियाँ, भूतसमूह तथा तामस अहंकार से पंचतन्मात्र उदित होता है। पंचतन्मात्र से पंचभूत की उत्पत्ति होती है। इसके अनन्तर विराट् आविर्भूत होता है। यही है अर्थसृष्टि। शब्दब्रह्म से जो परा-पश्यन्ति-मध्यमा-वैखरीरूपी चतुर्विध शब्द विभाग आविर्भूत है, वही है शब्दसृष्टि।

पूज्यपाद नागेशभट्ट ने स्वप्रणीत मंजूषा नामक उपादेय ग्रन्थ में शब्द से जगत् की सृष्टि को समझाते हुए कहा है कि नियतकाल परिपक्व निखिल प्राणीकर्म जब उपभोग से प्रक्षीण हो जाते हैं, तब जगत् स्थूलावस्था त्यागकर स्वकारण ईश्वर में लय प्राप्त करता है। लय अर्थात् प्रध्वस्त नहीं हो जाता। लय है प्रादुर्भावफलक (प्रादुर्भाव है फल जिसका, वह) यह आत्यन्तिक नाशार्थक नहीं है। प्रलयावस्था में कुछ काल अवस्थित रहकर क्रिया-प्रतिक्रिया न्याय से जब प्राणिगण के सकामभावेन धृत संस्कार फलोन्मुख होने लगते हैं तब सर्वसाक्षी सर्वकर्मफलप्रद भगवान् की अबुद्धिपूर्वक सृष्टि—माया एवं पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। तब परमेश्वर की सिसृक्षात्मिका (सृष्टि करने की इच्छा आत्मा-स्वरूप है जिसका) वृत्ति (माया जनित) स्फुरित होती है। तदनन्तर बिन्दुरूप त्रिगुणात्मक अव्यक्त का आविर्भाव होता है। इसी को (बिन्दु) शक्तितत्व कहते हैं। इस बिन्दु का अचिदंश (जड़ भाग) बीज चिंदचित् मिश्र अंश नाद है। तथा इसी का चिदंश बिन्दु है। चिदंश किसको कहते हैं? अचित् शब्द द्वारा शब्द तथा अर्थरूप उभय संस्कार रूप अविद्या नामक पदार्थ लक्षित होता है। शब्द तथा अर्थ ''इस उभय संस्काररूप अविद्या नामक पदार्थ ही अचित् शब्द से लक्षित होता है'' इस वाक्य का तात्पर्य क्या है?

---

1. ''विशेषेण खरत्वाद्वैखरी विराटस्थानीया'' —ध्यानबिन्दूपनिषद् दीपिका

पहले कहा गया है कि "अनादि कर्म संस्कार ही अविद्या है"। शुक्ल- यजुर्वेद संहिता में 'अविद्या' शब्द का प्रयोग कर्म को समझाने के लिए किया गया है। कर्म शब्द भी अर्थ संस्कार से व्यतीत नहीं होता। क्या जड़, क्या उद्भिज, क्या जीव सभी पदार्थ का संस्कार (Impression registered) वंश कर्म करता है। इस शब्दार्थ के संस्कार को ग्रन्थान्तर में प्रतिभा कहते हैं। भर्तृहरि ने यह बात समझाने के लिए कहा है कि इन्द्रियों का विन्यास, प्राणवायु का उर्ध्वगमन इत्यादि व्यापार शब्द संस्कार (शब्द भावना) के बिना नहीं होता। नरशरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, भूततन्त्र तथा रसायनतन्त्र ने स्पष्टतः अथवा अस्पष्टतः जो कहा है, उस पर वैज्ञानिकों को चिन्तन करना चाहिये। तब शब्द पद का वेदादि में जो अर्थ किया गया है, आगे उसे स्थिर (दृढ़) करना होगा। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि Sound पद से साधारणतः जो ध्वनित होता है, उससे शास्त्रोपदेश के तात्पर्य ग्रहण के पथ पर विशेष सहायता नहीं मिलेगी।

आधिभौतिक दृष्टिकोण से 'शब्द' पद शक्ति, कर्म तथा मोशन (Motion) मात्र का वाचक है। ताप, तडित, आलोक, चुम्बकाकर्षण, मध्याकर्षण, संहति (Cohension), रासायनिक आकर्षण इत्यादि पदार्थ शब्द के ही भिन्न-भिन्न परिणाम हैं। यह स्मरण रखना होगा। पहले कहे गये बिन्दु नामक पदार्थ से शब्द-ब्रह्मपरायण नामधेय (जिसकी अपर संज्ञा अथवा नाम शब्द ब्रह्म है), वर्णादि विशेषरहित, ज्ञानप्रधान, सृष्ट्युपयोगी अवस्था विशेष रूप नाद उत्पन्न होता है। जगत् का उपादान शब्दब्रह्म अथवा नाद संज्ञक पदार्थ परा-पश्यन्ति मध्यमा तथा वैखरी इन 4 अवस्थाओं में विभक्त हो गया।[1]

शारदातिलक नामक तन्त्र ग्रन्थ में कहा गया है कि शक्तिमय परमेश्वर के जगदाकार धारण करते समय बिन्दु-नाद-बीज, ये तीनों त्रिधा भिन्न हो गये। पुरुष, प्रकृति तथा काल रूप से विवर्त्तित हो गये। बिन्दु शिवात्मक (चिदात्मक) है, बीज है शक्त्यात्मक तथा नाद है शिव शक्त्यात्मक अथवा चिदचिदात्मक।[2] ध्यान-बिन्दूपनिषद् की दीपिका में इसका विशद वर्णन है। नारायणतीर्थ कहते हैं—बिन्दु उभयात्मक शिवशक्त्यात्मक है। नाद चिदचिदात्मक भी है। बिन्दु ही क्षोभ्य, क्षोभक तथा सम्बन्ध रूप है। शिवात्मा में ही बिन्दु नाम से, शक्त्यात्मा में बीज नाम से तथा सम्बन्धरूप में नाद नाम से इनका उल्लेख है। नाद से संस्थानादि भेद से वर्णकाल की उत्पत्ति होती है।[3]

---

1. "प्रलये नियतकाल परिपक्वानां सर्वप्राणिकर्माणामुपभोगेन प्रलयल्लीन सर्वजगत्काम्याया चेतनं ईश्वरेलीयते। लयश्चायं पुनः प्रादुर्भावफलको नात्यन्तिका नाशः उत्तरसर्गानुपपद्यते"—मंजूषा
2. "बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः।
   समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः॥" —शारदातिलक
3. "स च बिन्दु शिव शक्त्युमयात्मकः क्षोभ्यक्षोभकसम्बन्धरूपश्चेति त्रिविधः। शिवात्मया बिन्दुसंज्ञः शक्त्यात्मया बीजसंज्ञः सम्बन्धरूपेण नादसंज्ञः"—ध्यानबिन्दूपनिषद् दीपिका

वर्ण की उत्पत्ति किस रूप में होती है? यह तो जाना गया। शब्द ही सर्ववर्ण की प्रकृति है, यह भी एक प्रकार से विदित हो गया। अब यहाँ वर्णभेद के सम्बन्ध में एक-दो बातें करनी है। तैत्तरीय प्रातिशाख्य में कहते हैं—"शब्द ही सर्ववर्ण की प्रकृति है। मूल कारण है।"[1] कारण के रूपभेद से कार्य का रूपभेद होता है। अतः वर्ण में जो रूपभेद होता है, वर्ण के प्रकृतिभूत शब्द का रूपभेद ही उसका कारण है।[2] अ, आ, इ, ई, क, ख, ग इत्यादि वर्णों का रूपभेद! पहले विदित हो चुका है कि स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न ये पाँचों वर्ण विशेष के हेतु हैं। उदात्त-अनुदात्त तथा स्वरित भेद से स्वर त्रिविध हैं। महाभाष्यकार भगवान् पतंजलिदेव उदात्तादि त्रिविध स्वर के सम्बन्ध में जो कहते हैं, उसे ज्ञानपिपासु को अवश्य सुनना चाहिये। आयाम = गात्र का धैर्य, दारुण्य = स्वर की कठिनता, अणुता = गलविवर में संवृत्तता। ये शब्द के उदात्त हेतु हैं। उच्च स्वर का उच्चारण करने में ये कर्त्तव्य हैं। अन्ववसर्ग = स्थूलता, यह है शब्द के अनुदात्त का हेतु। वर्णसमूह में जो ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत, यह त्रिविध भेद है वह कालकृत है। कण्ठादि उच्चारण स्थान के भेद के कारण वर्णों में यह भेद हो गया है। इसे ही स्थानभेद कहा गया है। बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से प्रयत्न भी द्विविध है। इस द्विविध प्रयत्न में मध्यपृष्ठ, ईषत्पृष्ठ, विवृत तथा संवृत ये आभ्यन्तर प्रयत्न हैं। विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अमोघ, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित को बाह्य प्रयत्न कहते हैं। अनुप्रदान का अर्थ है पश्चात् प्रदान। स्व-स्व स्थान से उच्चारण भेद से जो अन्य स्थान प्रदत्त होता है, वह है अनुप्रदान तैत्तरीय प्रतिशाख्य में कहा है कि अनुसन्धान, संसर्ग, स्थान, करणविन्यास तथा परिणाम (मात्राकाल) इस पाँच करण से वर्ण विशेष की[3] उत्पत्ति होती है।

जो वैज्ञानिक तथा गणितिक हैं, वे अब विचार करें कि सभी शास्त्रोपदेशों में भूततन्त्र, रसायनतन्त्र तथा गणिततन्त्र का बीज है, अथवा नहीं। रसायनतन्त्र भूत तथा भौतिक पदार्थजात के वैषम्य के सम्बन्ध में जो उपदेश प्रदान करता है, भूततन्त्र तापादि भौतिक शक्तियों के इतरेतराश्रय सम्बन्ध में जो सिद्धान्त करता है, बलविज्ञान गणित (Motion) के तारतम्य में जो उपपत्ति करता है, उक्त स्वल्पाक्षर शास्त्रोपदेश का परिग्रह कर सकने से इन सबका मूलतत्त्व प्राप्त हो जाता है। विस्तारपूर्वक व्याख्या न करने से इन शास्त्रोपदेश के गुरुत्व का आकलन नहीं हो सकेगा। जो

1. "शब्द प्रकृतिः सर्ववर्णानाम्" —तैत्तरीय प्रातिशाख्य 22 श अध्याय
2. "तस्य रूपाण्यत्वे वर्णान्यत्वम्" —*वही*
3. "अथ वर्ण विशेषोत्पत्तिः", "अनुप्रदानात् संसर्गात् स्थानात् करणविन्ययात्।
   जायते वर्ण वैशेष्यं परिणामाच्च पञ्चमात्"—तैत्तरीय प्रातिशाख्य
   "सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवदेष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयं वा पृथिव्यां साग्नौ सारथन्तरे सान्तरिक्षे सावायौ सा वामदेव्ये या दिवि सादित्ये साबृहति सा स्तनयित्नावथ पशुषु या च देवानां या च मनुष्याणामित्यथैषाक्षरस्य"—निरुक्त धृत ब्राह्मण

हृदयवान वैज्ञानिक हैं, वे अपनी प्रतिभाबल से इसके मर्म को कथंचित् ग्रहण करने में समर्थ हो सकेंगे, यह आशा है।

पशु-पक्षी-कीट-पतंग-अग्नि-वायु-तड़ित्-वरि-ग्रह-नक्षत्र तरु-लता सकल का भाष्य है। सभी नादात्मक हैं। सभी शब्द का व्यवहार करते हैं। वेद का कथन है कि शब्दतत्त्ववित् ब्राह्मणगण सभी भाषाओं को समझ सकते हैं। देवगण तक की भाषा इनके लिए सरल है। पशु-पक्षी की भाषा भी दुर्बोध्य नहीं है। ये लोग भूत तथा भौतिक शक्ति की भाषा भी समझ सकने में समर्थ हैं। शब्द से जब विश्व जगत् आविर्भूत है, तब सबकी भाषा-भाषा है। यह बात विस्मयप्रद क्यों लगती है? वैज्ञानिकगण भूत भौतिक की भाषा समझने की चेष्टा करते हैं, ये इसीलिए उनकी भाषा समझने में एक सीमा तक सफल भी हैं। इसीलिए भूत तथा भौतिक शक्ति के साथ उनका आलाप होता है। भूत तथा भौतिक शक्ति जो कहते है, उसे वे सुनते हैं (भले ही बाह्य शब्द-प्रयोग इस वार्त्ता में नहीं होता)। शब्दतत्ववित् वेदज्ञ ब्राह्मण त्रिलोकी के शब्द जानते हैं। इसीलिए उनका सम्बन्ध त्रिभुवन से हो जाता है। जिस छन्द में-जिस स्वर में-जिस काल में-जिस मन्त्र से-जिस देवता का आवाहन करते हैं, वह उसे सुनाई देता है। वेद की कृपा से वे उसे जान लेते हैं। इसीलिए देवगण उनको दर्शन देते हैं। उनकी प्रार्थना पूरी करते हैं। दोनों एक-दूसरे की भाषा जानते जो हैं। ऐसे ब्राह्मणों को भी जो ईषत सभ्य अथवा बर्बर कहते हैं—यह तो दैवविडम्बना है। अहो, कालमाहात्म्य!

सभी की भाषा है। यह कथा साधारण के लिए प्रत्यय विरुद्ध प्रतीत होगी। अध्यापक बेन (Prof. Bain) कहते हैं कि शब्द अथवा भाषा के बिना ज्ञान नहीं रह सकता। भारत के नैय्यायिकों ने भी यही कहा है। योगीवर विज्ञानपारदर्शी भगवान् पतंजलिदेव ने कहा है कि शब्द-अर्थ-प्रत्यय (ज्ञान) इनको इतरेतर अध्यासवशात् एक ही कहा जाता है। विभागपूर्वक इनमें से प्रत्येक पर संयम करने से सब भूतों की, सभी प्राणियों की भाषा का ज्ञान हो जाता है। पशु-पक्षीगण किस उद्देश्य से कैसा शब्द करते हैं, वह भी समझ में आ जाता है। भले ही आधुनिक शिक्षितों को यह उचित न लगे, सत्यनिष्ठ ऋषि तथा आचार्यगण अनेक प्रत्यक्षसिद्ध तथ्य जानते थे। ज्योतिषशास्त्र में पशु-पक्षी के शब्द से शुभाशुभ लक्षण जानने का उपाय वर्णित है। साक्षात्कृतधर्मा ऋषिगण किस राशि के साथ किस वर्ण का, किस ग्रह का, किस वर्ण के साथ किस भूत, भौतिक शक्ति का छन्दोगत सादृश्य है, स्पन्दन का साम्य है, इसका निर्णय करते हैं। उन्होंने अनेक परीक्षा से सत्य का आविष्कार किया है।

जो भी हो, शब्द के साथ तत्प्रतिपाद्य अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, यह काल्पनिक अथवा सामयिक (Conventional) नहीं है। उसमें सन्देह का लेश भी नहीं है। बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक, इस द्विविध कर्म के साधर्म्य-वैधर्म्य का विचार करने

पर आधुनिक वैज्ञानिकों को जैसे संकटापूर्ण होना पड़ेगा, वेदादि शास्त्र से शब्द का स्वरूप सुन लेने पर उनको उक्त द्विविध कर्म के सादृश्य-वैसादृश्य पर विचार कर लेने पर अब उतना संकटापूर्ण नहीं होना पड़ेगा। तब उनको अनायास ज्ञात हो जायेगा कि बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक कर्म में कहीं-कहीं भले ही सादृश्य तथा कहीं-कहीं वैसादृश्य हो, दोनों ही कर्म वेद अथवा शब्द द्वारा निष्पादित होते हैं। शब्द की भावना के बिना पेशी आकुंचित तथा प्रसारित नहीं होती। शब्द की भावना के बिना स्नायु उत्तेजित नहीं होते। कतिपय पेशी हमारे इच्छाहीन हैं, कतिपय एतद्विपरीत हैं। इसका कारण क्या है? वैज्ञानिक आज भी हमारे इस प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सके।

नरशरीरविज्ञान (Human Physiology) तथा मनोविज्ञान, उत्तेजन (Excitation) शब्द का बहुलता से व्यवहार करता है। एक्साइटेशन का अर्थ है बाहर से बुलाना (Call from without)। शब्द के बिना कोई भी किसी को बुला नहीं सकता। हस्तादि के संकेत से बुलाना भी क्या आह्वान करना है? निश्चय ही मानस शब्द का प्रवाह हाथ पर न आने से हाथ की पेशी क्रिया नहीं करती। हम शब्द से जो समझते हैं, वह भी मानस शब्द के मुखादि स्थान भेद से विशेष-विशेष भाव से अभिव्यक्त रूप है। ताप से उत्तेजना, रासायनिक क्रियाओं से उत्तेजना, ताड़ित् क्रिया से उत्तेजना इत्यादि भिन्न-भिन्न रूप शब्द उत्तेजन की भिन्न-भिन्न संज्ञा है। ताप, तड़ित्, आलोक इत्यादि पदार्थ जात यदि शब्द से भिन्न नहीं है, तब उनके भिन्न-भिन्न नाम क्यों? तापादि तो शब्द के समान श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य क्यों नहीं? यहाँ शब्द की जो विवेचना हो रही है, वह है यथोक्त नाद का वाचक। अतएव ऐसे प्रश्न यहाँ उठाने का कोई कारण समझ में नहीं आता।

चतुःष्पार्श्वस्थ वस्तुजात कर्तृक शरीर के संक्षोभ्य अंगसमूह के उत्तेजित होने पर, वह उत्तेजक वस्तुजात के अभिमुख होता है, अथवा उससे विमुख स्पन्दित होता है, अथवा ऐसा संस्कार देखता है जिससे उसका भविष्यत् स्पन्दन अथवा गति का रूप बदल जाये। शरीर के विशेषतः उत्तेजनीय (Excitable) अंश बाहर ही अवस्थान करते हैं। स्नायु नामक पदार्थ विशेषतः उत्तेजनीय है। स्नायु नामक पदार्थ क्यों विशेषतः उत्तेजनीय है? शास्त्र से इसका उत्तर मिलता है, किन्तु प्रतीच्य वैज्ञानिकों ने इसका समाधान किया हो, ऐसा नहीं लगता। उनका मात्र यही कथन है कि स्नायुसमूह उत्तेजित होने के धर्म अथवा योग्यता से युक्त हैं। नरशरीरविज्ञान इतना ही कहता है।

प्रोटोप्लाज़्म (शरीर का मूल उपादान) उत्तेजनीय है।[1] अमीबा शुद्ध प्रोटोप्लाज़्म का संघात है (Simple lump of Protoplasm)। यह इसीलिए

---

1. "Nervous possess the property of being thrown into a state of Excitement by stimuli and are, therefore, said to be excitable or irritable"
—A Text Book of Human Physiology, Dr. Landris, Vol. II, p. 778

उत्तेजनीय तथा संकोचार्ह है (Excitable and Contractile)। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि अमीबा के उत्तेजनीयत्व तथा संकोचार्ह धर्म जैसे सर्वत्र विद्यमान हैं, उसी प्रकार से शरीर के सभी अंगप्रत्यंग में उक्त धर्मद्वय समभाव से क्यों विद्यमान नहीं है?[1] शास्त्र ने सरलता से इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है, वह हमें अत्यन्त सन्तोषप्रद लगता है। शास्त्र का कथन है कि तापक रजोगुण का सत्वगुण ही तप्य है। सत्वगुण के आधिक्य से स्नायुगण (Nerves) विशेषत: उत्तेजनीय होते हैं। "परिस्पन्दात्मक कर्म विशिष्ट होने की योग्यता का नाम है परिस्पन्दनीयता (vibrativity)। द्रव्य के अवयव सन्निवेश के भेद से इस परिस्पन्दनीयता का तारतम्य होता है। तापादि बाह्य शक्ति की क्रिया सभी द्रव्य पर समभाव से नहीं होती। द्रव्यसमूह के आणविक सन्निवेश का भेद ही इसका कारण है।" यह अध्यापक वेमा का कथन है, किन्तु हम इसे शास्त्रोपदेश के समान विशुद्ध तथा व्यापार्थक नहीं पाते।

बिना कारण तथा बिना उत्तेजना कोई कर्म नहीं होता। इच्छाशक्ति की क्रियोन्मुख अवस्थाप्राप्ति बिना कारण, बिना उत्तेजना घटित नहीं होती। डॉ० वेलर (Dr. Weller) प्रयत्न (Volition) की उत्पत्ति कैसे होती है, इस पर विचार करने में प्रवृत्त होकर कहते हैं कि पूर्वसंवेदन संस्कार मस्तिष्क में लग्न रहता है। प्रयत्न तो अतीत तथा वर्त्तमान संवेदन का फल है। अतएव यह कहा जा सकता है कि डॉ० वैलर ने भर्तृहरि के इस उपदेश को शिरोधार्य किया है कि "शब्द भावना ही सर्वप्रकार के कर्म का मूल कारण है।"[2]

हमने पहले यह कहा है कि जिसे हम स्वभाविक कर्म समझते हैं, वह भी बुद्धिपूर्वक है। जो कर्मसमूह सात्विक अहंकार से उत्पन्न होता है, उसे हम 'बुद्धिपूर्वक कर्म' कहते हैं। जो कर्म तामस अहंकार से निष्पादित होता है, अथवा जिसे समष्टि व्यष्टि महत्तत्व कृत समझते हैं, वह हमारे लिए अबुद्धिपूर्वक कर्म है। कर्म मात्र ही पूर्व संस्कार की मुखापेक्षा करता है। संस्कार का नूतनत्व, सादित्व, अनादित्व ही कर्म को दो भागों में (बुद्धिपूर्वक, अबुद्धिपूर्वक) बाँटने का हेत्वन्तर है। जीवगण जो अपनी-अपनी जाति के लिए उचित (जात्युचित) संस्कार वश हो कर्म करते हैं, उसे अबुद्धिपूर्वक कर्म कहा जाता है। जीवमात्र जो बिना शिक्षा,

---

1. "Protoplasm is excitable. When any part of a lumb of protoplasm is excited, the lump moves....An Ameeba is a simple lump of protoplasm, excitable and contractile in all parts of its substance, and not more so or less so in one part than in another."—Human Physiology, By Waller, p. 290
2. "But it is more logical to admit that previous sensations have been registered and volition is a resultant of past as well as of present sensation." —Human Physiology, By Waller, p. 297

स्वभावतः जन्म लेते ही स्व-स्व जात्युचित कर्म में प्रवृत्त होते हैं, उनमें पूर्व संस्कार ही कारण है। यह संस्कार अथवा कर्मवासना प्रकृति के अंशरूप महत्तत्व में अवस्थान करती है। कतिपय बुद्धिपूर्वक कर्म जो अभ्यास की गाढ़ता से मन के अवधान के बिना अबुद्धिपूर्वक की तरह सम्पन्न होते हैं, वह हम प्रत्यक्ष देखते हैं।

बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक इन द्विविध कर्म के तत्वनिरूपण के ऊपर दर्शनशास्त्र के अनेक विवादास्पद समाधान निर्भर करते हैं। विश्वजगत् अन्ध जड़शक्ति से उत्पन्न है, अचेतन प्रकृति ही जगत् की एकमात्र कारण है, अथवा जगत् की सृष्टि में चेतन का भी कर्त्तव्य है, संकल्प की अपेक्षा है, इच्छा-प्रयत्न ये तो शुद्ध स्नायु स्पन्दन विशेष हैं, अथवा इनके साथ चिच्छक्ति का कोई सम्बन्ध है, इच्छादि की अभिव्यक्ति में चेतन पदार्थ का भी कर्तृत्व है, स्वाधीन इच्छा का अस्तित्व प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, इन प्रश्नों का समाधान करने में बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक, इन दोनों कर्म का स्वरूप निरूपण तथा इन प्रश्नों का समाधान भिन्न जातीय विषय नहीं है। इनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के समाधान से दूसरे का समाधान हो जाता है। एक की अप्रतिपत्ति ही दूसरे की अप्रतिपत्ति है।

धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, इन पदार्थद्वय का तत्वविनिश्चय करने के लिए उद्यत होने पर बुद्धिपूर्वक कर्म, तथा अबुद्धिपूर्वक कर्म का स्वरूप-निरूपण आवश्यक है। ऐसा इसलिए क्योंकि धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, कर्म के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। कर्म के तत्वविनिश्चय के बिना धर्म एवं अधर्म का तत्त्व निर्णीत हो सकना असम्भव है। यह कहना होगा कि कर्म के दो प्रधान विभाग हैं—बुद्धिपूर्वक कर्म तथा अबुद्धिपूर्वक कर्म। तब धर्म-अधर्म के तत्त्व-निर्णयार्थ इन दोनों कर्म का स्वरूपावधारण आवश्यक है। इन दोनों कर्म का तत्त्वनिरूपण करना दार्शनिकों का प्रधान कार्य है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-पातंजल, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदान्त), व्याकरण, शिक्षा, आयुर्वेद, पुराण, तन्त्र, धर्मशास्त्र, वेद सभी ने इन द्विविध कर्मों के तत्त्व का निरूपण किया है। प्रतीच्य दार्शनिक तथा वैज्ञानिक भी इनके स्वरूपावधारण की चेष्टा कर चुके हैं।

बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक इन दोनों कर्म के तत्त्वनिरूपण में प्रवृत्त होकर दार्शनिक और वैज्ञानिक किस-किस कर्म को परीक्षार्थ ग्रहण करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व दर्शन तथा विज्ञान के प्रयोजन और विषय तथा सम्बन्ध को स्मरण करना आवश्यक है। वेदादिशास्त्र से विदित होता है कि इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार ही जीव का प्रयोजन है। जीव का उद्देश्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में "इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टपरिहार ही जीव का उद्देश्य है" यह उत्तर है। इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टपरिहार जीवमात्र का साधारण उद्देश्य अथवा प्रयोजन होने पर भी प्रकृति भेद से इष्टानिष्ट बोध की भिन्नता होती है। अतएव सभी को इष्टप्राप्ति एवं अनिष्ट-

परिहर का एक ही उपाय वरण करना सम्भव नहीं होता। इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार करने के लिए प्राकृतिक नियमावली का स्वरूपदर्शन, कार्य का कारणानुसन्धान, दृश्य तथा द्रष्टा का तत्वावधारण अवश्य कर्त्तव्य है। दर्शन एवं विज्ञान यही करता है। दर्शन तथा विज्ञान में क्या पार्थक्य है? निश्चय ही पार्थक्य है। अन्यथा एक साथ दर्शन और विज्ञान, इन शब्दद्वय का प्रयोग क्यों किया जाता?

प्रतीच्य वैज्ञानिक दार्शनिकों ने दर्शन तथा विज्ञान का जो लक्षण किया है, उससे विदित होता है कि इनमें विजातीय भेद न होने पर भी सजातीय भेद है। शाखी तथा शाख्य में जो भेद है, जो भेद नदी तथा समुद्र में है, सामान्य तथा विशेष के मध्य जो भेद है, वैसा ही भेद दर्शन तथा विज्ञान में है। दर्शन शाखी है, विज्ञान शाखा है, दर्शन समुद्र है, विज्ञान नदी है। दर्शन सामान्य है, विज्ञान विशेष है। दर्शन विश्वजगत् का कारण अनुसन्धान करता है, परमकारण को जानने की चेष्टा करता है। विशेष के मध्य परम सामान्य के आविष्कार का यत्न करता है। विज्ञान विशेष-विशेष भावपुंज अथवा कार्यसमूह के कारण का अनुसन्धान करता है। इन्द्रियगम्य पदार्थों का, व्यष्टिजगत् के तत्त्व का निरूपण करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। परमकारण का स्वरूपावधारण, परसामान्यभाव का आविष्कार विज्ञान का लक्ष्य नहीं है। विद्वान् यूवरबेग (Ueberweg) कहते हैं कि दर्शन को विश्वविज्ञान (As the science of universe) संज्ञा से लक्ष्य किया जा सकता है। दर्शन प्रत्येक व्यष्टि-भाव (Individual Existance) का तत्त्वनिर्णय नहीं करता। व्यष्टिभावसमूह जो आदिकारणवशात् उत्पन्न अथवा परिच्छिन्न होता है, यह उस आदिकारण के स्वरूप का निरूपण अथवा विशेष-विशेष विज्ञान से जिन तथ्यों से अवगत हुआ जाता है, उन सबका मूल तत्त्वावधारण करता है।

इसलिए कहा जा सकता है कि दर्शन के साथ विज्ञान का मूलतः भेद नहीं है। उसके साथ विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दर्शन अंगी है, विज्ञान अंग है। अंगशून्य अंगी जो है, विज्ञान विरहित दर्शन भी वही है। विद्वान् A. Weber कहते हैं कि विज्ञान से रहित दर्शन काव्य तथा उसकी अमूलक कल्पना से अधिक और कुछ भी नहीं है।[1]

कारणानुसन्धायिनी सहज प्रतिभा (प्रतिभा एवं शब्द भावना—शब्द तथा अर्थ दोनों का संस्करण एक ही पदार्थ है) की प्रेरणा से मानव दृश्यमान कार्य के कारणानुसन्धान में प्रवृत्त होता है। वह प्रथमतः विशेष-विशेष भावसमूह में सामान्य भाव के आविष्कार की चेष्टा करता है। तदनन्तर क्रमशः कार्य मात्र के परमकारण अथवा मूलतत्त्व को पकड़ने की चेष्टा करता है। भूततन्त्र, रसायनतन्त्र, गणित,

1. "Philosophy, without the sciences, is a soul without a body, differing in nothing from poetry and its dreems."
—History of Philosophy, By A. Weber

शरीरविज्ञान, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि विभिन्न विज्ञान शाखा द्वारा विशेष-विशेष कार्य अथवा भावविकार के तत्त्वनिरूपण पूर्वक मानव समस्त विज्ञानशाखाओं को एकीभूत करने के लिए सचेष्ट होता है। परमात्मा के दर्शन पाने हेतु व्यग्र हो जाता है। दर्शन मानव द्वारा सर्वकार्य के मूलतत्त्व को जानने के प्रयत्न का फल है। किन्तु मानव जब तक समस्त पदार्थों के प्रकृत ज्ञानार्जन में सक्षम नहीं हो जाता, तब तक इसकी कल्पना करना भी बालकोचित प्रयत्न है। विचित्र प्रतिभा, सहजज्ञान (Wonderful instinct of childhood) द्वारा रीति के अनुसार अनुसन्धान के बिना वह सत्य का अनुसन्धान करने में लगा है। प्राचीन लोगों में प्राग्भवीय संस्कार-वादात्मक, मनःकल्पित अथवा विज्ञानवाद मूलक (Aprioristic, idealistic and fantastic) दर्शन समूह का जो अभिर्भाव हुआ है, उसका भी यही कारण है। दर्शन और परीक्षालब्ध प्रमा अथवा सत्यज्ञान का सम्भार (Positive knowledge) जिस मात्रा में वृद्धि प्राप्त होता है, उस मात्रा में विज्ञान शाखा समूह की पुष्टि नहीं होती। दर्शन उसी मात्रा में काव्य तथा कल्पना के आवरण से मुक्त हो जाता है।[1]

पण्डित वेबर की इन सभी बातों को हम सर्वथा सत्य मानकर नहीं ग्रहण कर सकते। विज्ञान अथवा यथोक्त प्रकृत दर्शन (Ture Philosophy) के सम्बन्ध में विद्वान् वेबर प्रभृति दार्शनिकों का मत है कि उसने भूयोदर्शन तथा व्याप्तिग्रह (Observation or Experiment and function) से जन्म पाया है। भूयोदर्शन से विशुद्ध व्याप्ति ज्ञान वृद्धिगत होता है। इस वृद्धि के फलस्वरूप विज्ञान, तदनन्तर प्रकृत दर्शन का आविर्भाव होता है। काव्य तथा कल्पना से आवरित प्राग्भवीय संस्कारमूलक तर्क तथा मनन ही (A priori reasoning) उक्त दर्शनों की उत्पत्ति का कारण है। विज्ञानवाद के सिद्धान्त (Idealism) के अनुसार विज्ञान ही आद्यतत्व है—Original fact है, तथा विज्ञान ही सत्य पदार्थ है। इसीलिए विज्ञानवाद ने शुद्ध प्राग्भवीय संस्कारमूलक तर्क को ही ज्ञानोत्पत्ति का एकमात्र कारण माना है। प्रत्यक्षवाद (अर्थात् वह वाद जो दर्शन परीक्षा को ही ज्ञानोत्पत्ति का एकमात्र कारण कहे (Empiricism) उसका सिद्धान्त ठीक इससे विपरीत है। इसके अनुसार विज्ञान आद्यकारण नहीं है। यह पूर्ववर्ती बाह्य सत् से जन्मलाभ करता है। (Derived from a pre-existing reality) प्रत्यक्षवाद का यही सिद्धान्त है।

जब यह प्रत्यक्षवाद आद्य कारण को अचेतन तथा (unconscious) विश्व सृष्टि को अबुद्धिपूर्वक (Involuntary) कहता है, तब यह जड़वाद में (Materialism and mechanism) परिणत हो जाता है। द्वैतवाद तथा

1. "It makes up for its ignorance of reality either by means of the imagination, or by that wonderful instinct of childhood and of genius which derives the truth without searching for it."
—History of Philosophy, By A. Weber, p. 3

एकत्ववाद की बात पहले कही जा चुकी है। द्वैतवाद दृश्य तथा द्रष्टा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। एकत्ववाद ऐसा नहीं मानता। एकत्ववाद में भी जड़ैकत्ववाद, विज्ञानैकत्ववाद, शाक्तिवाद, परमाणुवाद (Dynamism or Atomism) इत्यादि भेद हैं।

अब ज्ञातव्य यह है कि विज्ञानवाद, जड़प्रत्यक्षवाद इत्यादि परस्परत:विरुद्ध वादों में से कौन सत्य है? कौन वाद सर्वाग्र में उद्भूत हैं? बेवर, हर्बट स्पेन्सर प्रभृति विद्वान् इस प्रश्न के उत्तर में जड़प्रत्यक्षवाद को ही सत्य कहते हैं, क्योंकि दर्शन तथा परीक्षा से जन्मलाभ किया है। यह प्रत्यक्षसिद्ध है। जो वाद सत्य है, इनके मतानुसार वही पहले आविर्भूत है।

इन्द्रियगम्य धर्म ही विज्ञान है और प्रत्यक्षवादात्मक दर्शन (Empirical Philosophy) का प्रतिपाद्य विषय है। इन्द्रियगम्य कर्म (Phenomena) के अभाव में ये किसी भी पदार्थ के स्वरूप अथवा तत्त्व (Realities) का निर्धारण करने की चेष्टा नहीं करते। प्रात्यक्षिक संवेदन तथा तत्समष्टि ही (Possible sensations and clesters and clusters of sensation) इनके मत से ज्ञाता, ज्ञेय हैं। प्रात्यक्षिक संवेदन ही मन का निर्माण करता है। सवित् अथवा ज्ञान (Consciousness) प्रात्यक्षिक संवेदन (Sensation) से भिन्न पदार्थ नहीं है। हमारे बहि:स्थित वस्तुसमूह का अथवा शरीर का जो ज्ञान होता है, वह विषय तथा इन्द्रिय के सन्निकर्षजनित क्रिया का मन में संलग्न उपराग (Impression) मूलक है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जनित क्रिया के चित्त में संलग्न उपराग समूह जब प्रज्ञा (Reason) की सहायता से प्रकटीभूत होते हैं, तब हमें बाह्यार्थ का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान तथा निष्पत्ति के सम्बन्ध में विषय, मन: तथा आत्मा, इन तीन का प्रयोजन है।

शास्त्र का उपदेश है कि विषय, इन्द्रिय, मन: तथा आत्मा, इन चतुष्ट्य का संयोग ही प्रात्यक्षिक प्रत्यय का कारण है। विषय के साथ इन्द्रियों का, इन्द्रियों के साथ मन: का तथा मन: के साथ आत्मा का संयोग होने से प्रात्यक्षिक प्रत्यय का उदय होता है। आत्मा, मन: इन्द्रिय तथा अर्थ का परस्पर संयोग हुए बिना प्रात्यक्षिक प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं होती।[1] महर्षि गौतम ने प्रत्यक्ष का लक्षण बतलाते समय इन्द्रिय, अर्थ तथा विषय के सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष कारण कहा है। यहाँ पर आत्मा तथा मन: के सन्निकर्ष की बातें नहीं कही हैं। अतएव जिज्ञासा होती है कि आत्मा तथा मन: इन दोनों का सन्निकर्ष यदि प्रत्यक्ष का कारण होता है, तब महर्षि गौतम ने लक्षणसूत्र की उक्तियों में इसका नाम क्यों नहीं लिया? किसी पदार्थ का लक्षण निश्चित करने के लिए उसमें जिन सब विशेष धर्मों की विद्यमानता है, उनका उल्लेख अवश्य करना चाहिये। महर्षि गौतम प्रत्यक्ष का लक्षण करते समय इस

1. "All the essential elements of the content of the notion, or all the essential properties of the objects of the notion must be stated in the defenetion" —System of Logic By Uberberg

निमित्त ज्ञानमात्र के साधारण कारण आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष के लक्षण रूप में स्वीकृति नहीं दी।[1] जैसे चाहे अनुभूति हो, आत्मा तथा मनः का संयोग उसका साधारण कारण है। महर्षि गौतम ने ज्ञान को आत्मगुण कहा है। कैसा भी ज्ञान क्यों न हो, वह आत्मलिंग है। आत्मा का अनुभावक है। अतः प्रत्यक्षलक्ष आत्म शब्द का उल्लेख न करने से प्रत्यक्षलक्षण सूत्र दूषित नहीं होता।[2]

यदि आत्मा ही इन्द्रिय तथा विषय, इन दोनों के ज्ञान का कारण होता, तब समस्त इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जनित क्रिया की युगपत्, एकसाथ ही उपलब्धि हो जाती। किन्तु ऐसा नहीं होता। हम एक ही समय एक से अधिक ऐन्द्रिक क्रियोपलब्धि में सफल नहीं हो पाते। चक्षु आदि इन्द्रियों की क्रिया युगपत् होने पर भी, उनका अपने विषय के साथ युगपत् सन्निकर्ष में रहने पर भी, जिस कारण से हमें समस्त युगपत् ऐन्द्रिक क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता उस कारण को इन्द्रिय तथा विषयों से अतिरिक्त, उनसे अलग मनः शब्द से लक्षित किया जाता है।[3] बृहदारण्यक में भी कहा गया है कि 'आत्मा' मन से ही दर्शनादि कर्म का निष्पादन करता है। परन्तु इसका प्रमाण क्या है? मन की अवधानता से इन्द्रियों की क्रियाओं का प्रत्यक्ष नहीं होता। मन की असन्निधि से ऐन्द्रियक ज्ञान की अनुपलब्धि तथा सन्निधि से उसकी उपलब्धि होने लगती है। अतएव प्रत्यक्ष व्यापार निष्पत्ति में मन की कार्यकारिता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। "मैं अन्यमनस्क था, अतः देख नहीं सका, सुन नहीं सका" लोग ऐसी जो बात बोलते हैं, इससे विदित हो जाता है कि अन्यमनस्कता में देखना-सुनना नहीं होता।[4]

वेदान्त तथा वैशेषिक दर्शन का भी यही मत प्रकट हुआ है।[5] जो उत्पत्तिशील है, वह कार्य पदार्थ है। कार्यमात्र ही कर्तृकरणादि द्वारा निष्पन्न होता है।

उत्पत्तिशील ज्ञान कार्य पदार्थ है। अतएव ज्ञानकार्य निष्पत्ति भी ज्ञातृ, ज्ञान (ज्ञानकरण) तथा ज्ञेय, इन त्रिविध पदार्थ से होती है। हम जो जानते हैं, जो ज्ञान का विषय है, वह ज्ञेय (Object) है। जो जानते हैं, ज्ञानकार्य निष्पत्ति में जिस पदार्थ को कर्तृरूप में ग्रहण किया जाता है, जो ज्ञाता (Subject) हैं, और ज्ञाता जिसके द्वारा विषय ग्रहण करते हैं, ज्ञान क्रिया निष्पत्ति में जो साधकतम हैं, वे हैं ज्ञानकरण अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय।

---

1. "आत्मनस्तोस्तु सदपि ज्ञानजनकत्वमिह न सूत्रितं सर्वप्रमाणसाधारणत्वादिति"
—जयन्तभट्ट कृत न्यायमंजरी
2. "ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नानवरोधः" —न्यायदर्शन, 2/1/23
3. "युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्" —न्यायदर्शन, 1/2/16
4. "अन्यत्रमना अभूवन्नादर्शमन्यत्रमाणा अभूवं ना श्रौपमिति मनसाह्येव पश्यति मनसाश्रृणोति"
—बृहदारण्यक उपनिषत्
5. आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसोलिङ्गम्" —वैशेषिक दर्शन
वेन्दान्तदर्शन का सूत्र 2/3/32 तथा उसका शारीरक भाष्य भी देंखे

प्रात्यक्षिक ज्ञाननिष्पत्ति में विषय, इन्द्रिय तथा प्रज्ञा (Reason) इन तीन का प्रयोजन है। विद्वान् हलमन (S.W. Holman) प्रभृति विद्वानों ने इसे स्वीकृति दी है। अध्यापक लाड् अपने Elements of Physiological Psychology नामक ग्रन्थ में यह मानते हैं कि (मस्तिष्क तथा मन के सम्बन्ध शीर्षक अध्याय में) भौतिक वस्तु तथा विषयसमूह को तथा भौतिकशक्ति कारण को, इन्द्रिय निमित्तक (Physiological) तथा तृतीय मानस को (Psychical) व्यापारात्मक कहा है। विषय अथवा बाह्यशक्ति के साथ चक्षुरादि इन्द्रियसमूह के अन्त्यदेश के सम्बन्ध के कारण जो क्रिया होती है, वह बाह्य है भौतिकशक्तिकारणक। विषय अथवा बाह्यशक्ति के साथ चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय यन्त्र समूह के अन्त्यदेश के सम्बन्ध के कारण जो क्रिया होती है, स्नायुयन्त्र में उस क्रिया का विक्षोभ संचार व्यापार ही इन्द्रिय निमित्तक है। Physiological स्नायुयन्त्र प्रवाहित उर्मिसमूह की मानस विशिष्ट शक्ति से जो-जो भाव गृहीत होता है, सभी बाह्यार्थ उसी-उसी भाव से ज्ञात होते हैं। अतएव इन्द्रिय ज्ञान के तीन कारण हैं—बाह्यशक्ति, इन्द्रियशक्ति तथा मानसशक्ति। नरशरीरविज्ञानी प्रोफेसर Dr. A. Landois कहते हैं कि इन्द्रियाँ बाह्य जगत् की विभिन्न क्रियाओं के उपराग को मस्तिष्क के केन्द्र में रेखा समूह के समान संज्ञावाही तथा संचालक स्नायुवृन्द में सम्मिलित करती हैं (उसे पाश्चात्य नरशरीरविज्ञानी संवेदन क्षेत्र Sensorium कहते हैं) और उसे संवेदन क्षेत्र में प्रवाहित करती हैं।

वस्तुतः इन्द्रियसमूह ऐन्द्रिक ज्ञान की निष्पत्ति का अन्तर्वर्ती यन्त्र है। ऐन्द्रियक ज्ञान निष्पत्ति में प्रथमतः इन्द्रिय यन्त्र की (उसके आभ्यन्तर के अवयवों के साथ) संस्थानगत तथा क्रियागत अविकल अवस्था में अवस्थिति प्रयोजनीय है। द्वितीयतः इन्द्रिययन्त्र समूह के यथास्व विषय अथवा उद्दीपक की विद्यमानता आवश्यक है। तृतीयतः स्नायु द्वारा मस्तिष्क के बृहत्तम तथा उर्ध्वतन प्रदेश (Ceribrum) के साथ संयुक्त होना तथा उसके नोदन के प्रवाहपथ का अवरोधरहित होना भी आवश्यक है। चतुर्थतः इन्द्रिययन्त्र के (मस्तिष्क की ओर के) उत्तेजना प्रवाहकाल में मन का उसमें दत्तावधान होना भी आवश्यक तथ्य है (Attention must be directed to the proceess)। इससे आलोचन ज्ञान (Sensation) की उत्पत्ति होती है। आलोचन ज्ञान होने के पश्चात् मानसक्रिया विशेष के द्वारा बाह्य कारण के साथ उत्पन्न आलोचन ज्ञान का सम्बन्ध संकल्पित तथा निरूपित होने से तब सविकल्पक प्रत्यक्ष उदित होता है।[1] प्रात्यक्षिक ज्ञान निष्पत्ति में विषय-इन्द्रिय-तथा मनः का संयोग आवश्यक है, यही प्रोफेसर Dr. A. Landois ने कहा है।

---

1. "Lastly when by a physical act the sensation is refered to the external cause, then there is a conscious sensorry perception."
—A Text Book of Human Physiology, Vol. II, p. 1022

जो जानता है, ज्ञान कार्य का कर्त्ता है, उसे पाश्चात्यगण माइन्ड (Mind), Subject, ईगो (Ego) इत्यादि कहते हैं और मैटर (Matter), ऑब्जेक्ट (Object), नॉन ईगो (Non-Ego) इत्यादि शब्द ज्ञेय-पदार्थ के वाचकरूपेण व्यवहृत होते हैं। बाह्यार्थ की प्रत्यक्ष निष्पत्ति में ज्ञाता, ज्ञानकरण (आन्तर तथा बाह्य), ज्ञेय इन तीनों का जो प्रयोजन है, उसे सभी स्वीकार करते हैं। तथापि प्रतिभा एवं प्रयोजन भेदवशात् ज्ञातृ, ज्ञान तथा ज्ञेय पदार्थत्रय का स्वरूप सम्बन्ध अनेक विरुद्धमत को जन्म देता है।

जड़ैकत्ववादी गण के अनुमान से भूत तथा मैटर एकमात्र सत्पदार्थ है। मनः अथवा आत्मा (ज्ञाता-Mind) स्वतन्त्र सत्ताक (स्वतन्त्र अथवा भूत व्यतिरिक्त सत्ता-Substantial Reality है, जिसकी वही है स्वतन्त्र सत्ताक) पदार्थ नहीं है, यह केवल सचेतन अवस्था समूह का ग्रन्थन (only the series of conscious states) है। ये सचेतन अवस्थायें भूत अथवा Matter से किसी न किसी प्रकार से उत्पन्न होती है और यह Matter के अधीन हैं। इन जड़ैकत्ववादियों का विश्वास था कि भौतिक भूत से निर्मित आत्मा (Soul) है। यह आत्मा साधारण परमाणुपुंजसमूह में से सूक्ष्मतर परमाणु विशेष से उद्भूत है और किसी प्रकार से मस्तिष्क में प्रवेश करता है। उक्त भौतिक आत्मा अतिमात्र द्रुत स्पन्दन से प्रत्येक उपराग का प्रतिवचन अथवा उत्तर प्रदान करता है। (Responding by vibrations of extreme rapidity to every impression from without)। संवित् अथवा ज्ञान इसी के स्पन्दन का फल है। आधुनिक जड़ैकत्व-वादी गण का अनुमान है कि मनः अथवा ज्ञाता (Mind) मस्तिष्कस्थ सूक्ष्मतर परमाणु विशेष का कार्य नहीं है। यह समस्त मस्तिष्क के समवेत व्यापार का फल है। जब मस्तिष्क किसी रासायनिक अथवा यांत्रिक (Mechanical) क्रिया द्वारा उत्तेजित होता है, तब चैतन्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। मस्तिष्क के आणविक स्पन्दन मन्द हो जाने पर चैतन्य अन्तर्ध्यान हो जाता है। निद्रादि अवस्था का यही कारण है।

जड़ैकत्ववादी इस बात की कोई मीमांसा नहीं कर सके हैं कि कहाँ से चैतन्याविर्भाव होता है और कहाँ इसका लय होता है? भौतिक शक्तियाँ परस्पर पारस्परिक भाव से परिवर्तित होती हैं। आलोक के रूप में ताप परिवर्तित होता है। ताड़ित ताप का आकार धारण करती है। क्या मस्तिष्कस्थ भौतिक इसी प्रकार चिच्छक्ति में परिणत होती है?

ताप-तड़ित्-आलोक-रासायनिक शक्ति इत्यादि वास्तव में भिन्न-भिन्न स्पन्दन के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं है। अतः शक्ति की रूपान्तरप्राप्ति (Transformation) का अर्थ है कि एक रूप आणविक स्पन्दन के तिरोभाव से

अन्य आणविक स्पन्दन का आविर्भाव। यदि संवित् और ज्ञान ताड़ित है तब रासायनिक अथवा तापादि शक्ति के रूपान्तरण से तथा अणुसमूह की विभिन्न रूप गति अथवा परिस्पन्दन से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती। "अणुओं की विभिन्न रूप गति अथवा परिस्पन्दन से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती" क्या यह कथन दर्शन तथा परीक्षालभ्य सत्य है? अथवा प्रत्यक्षवादीगण की जड़ प्रतिभा प्रसूत हेत्वाभास (Fallacy) का दूषित अनुमान? तापादि भौतिक शक्तिसमूह में किसी भौतिक शक्ति का चिच्छक्तिरूप परिणत होना यदि सत्य होता, तब चिच्छक्ति के प्रादुर्भाव काल में मस्तिष्क की भौतिक शक्ति विशेष में मात्रा का ह्रास होता। किन्तु ऐसा हुआ क्या? चिच्छक्ति के प्रादुर्भाव काल में मस्तिष्क की भौतिक शक्ति में वृद्धि होती है, ह्रास नहीं होता। इसलिए भौतिक शक्ति से चिच्छक्ति का आविर्भाव कदापि सम्भव नहीं है।

क्या जड़ैकत्ववाद द्वारा आत्म चैतन्य के एकत्व (Unity of Self Consciousness) की उपपत्ति होती है? मस्तिष्क असंख्य परमाणु तथा अणु की समष्टि है। इसमें लाखों लाख कोष (Cells) हैं। अनेक स्नायुग्रन्थि (Ganglia) हैं। सभी अविराम परिवर्तित हो रही हैं। उनमें निरन्तर भेद तथा संसर्ग एवं विलयन तथा संघात (Integration and Disintegration) कर्म चलता रहता है। परमाणु प्रकृति में कभी भी क्षणमात्र के लिए भी परिणामशून्य होकर नहीं रहते। यह सबको अनुभवसिद्ध है कि आत्मचैतन्य का परिवर्तन नहीं होता। मास, पक्ष, वत्सर, युग, भूत, भविष्यत्, वर्तमान प्रभृति काल में स्वयंप्रकाशरूप स्वयम्प्रभा संवित् विराजमान रहती है। इसमें कभी भी परिवर्तन नहीं होता।[1] अतएव प्रश्न उत्थित होता है कि नियत परिणामी पदार्थ कैसे एक चिरस्थायिनी संवित् का प्रसव करते हैं? महर्षि गौतम के अनुसार चैतन्य शरीर अथवा भूतसमूह का गुण नहीं है।

भूत अथवा मैटर (Matter) का अस्तित्व प्रत्यक्ष द्वारा परिज्ञात होता है। चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा हम मैटर का अनुभव करते हैं। उसका स्वरूप क्या है? विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि "इसके अनन्तर हम इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि हम मैटर के धर्म अथवा गुण को जो तथाकथित रूप से जानने का दावा करते हैं, वह केवल अज्ञात एवं अज्ञेय बाह्यार्थ समुत्पादित हमारे एक-एक मानस परिणाम ही हैं। हमारे मानस विकार मात्र हैं। मैटर का गुरुत्व तथा प्रतिघात धर्म भी उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।"[2] जान स्टुअर्ट मिल (J. S. Mill), फिक्स (Fixe) प्रभृति

---

1. "मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा। नोदेति नास्तमेत्येका सम्विदेषा स्वयम्प्रभा" —पंचदशी
2. "Thus we are brought to the conclusion that what we are conscious of as properties of matter, even down to its weight and resistence, are but subjective affections produced by objective agencies that are unknown and unknowable."
—The Principle of Psychology, Vol. I, p. 20

विद्वान् कहते हैं कि बाह्य जगत्, परमाणु, शक्ति, गति इत्यादि शब्दबोध अर्थ का प्रकृत रूप क्या है, वह हम नहीं जान पाते। हम जो कुछ भी जान पाते हैं, वह मात्र हमारा मानस भाव है, मन की अवस्था है।

तब एकमात्र यही कहा जाता है कि जिस पदार्थ के साथ हमारी इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है, हमारे मन में उससे क्रिया की उपलब्धि होती है, हमारे मानसिक भाव का परिवर्त्तन होता है। वह पदार्थ ही, वह नित्य संवेदन शक्यता (Permanent possibility of sensation) ही मैटर है। जिज्ञासा होती है कि, तब विज्ञानवाद को अप्रकृत दर्शन श्रेणीभुक्त क्यों किया? विज्ञानवाद का क्या अपराध है? चाहे जो कोई कुछ भी कहे, यह अवश्य मानना होगा कि विज्ञानवादियों का यह उद्घोष कि "बाह्यार्थ वास्तव में सत् नहीं है" वैज्ञानिकों तथा प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों को सदा संत्रस्त किये रहता है। विज्ञानवाद के इस भयसूचक घण्टानाद को सुनकर उद्विग्न टेट, हक्सले, प्रभृति वैज्ञानिक शिरोमणियों को सुदृढ़ तर्कवर्म द्वारा अपने-अपने मस्तक को आच्छादित करना पड़ा है। अध्यापक हक्सले इस सम्बन्ध में जो कहते हैं वह नीचे पाद टिप्पणी में अंकित है।[1]

जब मन के बिना मैटर को नहीं जाना जा सकता, तब एक प्रकार से मैटर को मन का ही कार्य कहना होगा। मैटर द्वारा मन के तत्त्व को नहीं जाना जा सकता। मन द्वारा ही मैटर को जाना जाता है। जड़तत्त्ववादी पहले तो यह कहते हैं कि मैटर द्वारा ही मन को जाना जाता है, मैटर के बिना मन का कोई अस्तित्व नहीं है। बाद में यह कहते हैं कि मैटर क्या है, इसे हम निश्चयपूर्वक नहीं बता सकते। हमारा मन मैटर का जो रूप प्रदर्शित करता है, उसी रूप में हमारा मैटर से परिचय है। नैयायिक विद्वान् ऐसी उक्तियों को चक्रक तर्क (Circle in reasoning) कहते हैं। जिस दर्शन में मैटर भिन्न पदार्थ का अस्तित्व प्रतिभात नहीं होता, जिस दर्शन में द्रष्टा-दृश्य का स्वरूप भी देखने में नहीं आता, जिस दर्शन में पग-पग पर प्रतिभा संन्यास है, जहाँ स्ववचन के विरोध-दर्शन को दोष नहीं माना जाता, हेत्वाभास जिस दर्शन का आभूषण है, उस दर्शन को हम प्रकृत दर्शन कैसे कहें? वेबर ने जिस विज्ञानमूलक दर्शन को अप्रकृत दर्शन माना है, विद्वान् जान स्टुअर्ट मिल क्या उस विज्ञानवाद का समर्थन तो नहीं कर रहे हैं?

आधुनिक दार्शनिकों में कोई-कोई हेगेल के दर्शन का आदर नहीं करते। निष्कर्ष यह है कि जड़विज्ञान अथवा अध्यात्म विज्ञान में से एक को भी छोड़ देने से

---

1. "The arguments used by Descartes and Berkeley to show that our certain knowledge does not extend beyond our states of consciousness, appear to me as irrefragble now as they did when I first acquainted with them half-a-century ago. All the materialistic writers I know of who have tried to bite that file have simply broken there teeth." —Fortnigtly Review, Dec 1886

दर्शन विकलांग हो जायेगा। जड़विज्ञान तथा अध्यात्मविज्ञान दर्शन के दो अंग हैं। अत: एक को छोड़ देने पर दर्शन आधा हो जायेगा। एक पंख वाले पक्षी की तरह उड़ने में अकर्मण्य हो जायेगा। वेदादिशास्त्र पाठ से विदित होगा कि आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक, इन त्रिविध विज्ञान का समान प्रयोजन है। इनका मिलन ही दर्शन का पूर्ण रूप है। वेदादि ने जो प्रधानतः ज्ञानयज्ञ तथा द्रव्ययज्ञरूपी द्विविध यज्ञ का विधान किया है, इनका पूर्वरूप पहले प्रस्तुत किया जा चुका है। आधुनिक शिक्षितम्मन्य व्यक्तियों में से कतिपय की ही दृष्टि इनकी ओर आकर्षित होती है। हमारी धारणा है कि इन दोनों यज्ञ के शास्त्र व्याख्यात रूप की ओर तत्त्वजिज्ञासु अपना नयन प्रेरित करके यह देख सकेंगे कि वेद में दर्शन का विशुद्ध तथा पूर्णरूप अंकित है। सुश्रुत संहिता आधुनिक ग्रन्थ नहीं है। यह जिस काल में प्रादुर्भूत हुआ था, तब ग्रीस भी अन्धकाराच्छन्न, नीहारावस्था में विद्यमान था। इस ग्रन्थ में अर्धवेदधर शब्द का प्रयोग है। जो केवल शास्त्रपाठ करते हैं, पठित विद्या का व्यवहार नहीं करते, कर्मकुशल नहीं हैं अथवा जो केवल कर्मकुशल होकर भी शास्त्रज्ञ नहीं हैं, इन दोनों को अपने कर्म के निष्पादन का सामर्थ्य नहीं है। ये एक पंख वाले पक्षी की तरह अर्धवेदधर हैं—

उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि।
अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ॥ —सुश्रुत संहिता

इस अर्धवेदधर पद से सूचित होता है कि ज्ञान तथा कर्म वेद के दो अंग हैं, जो ऋषियों को शुद्ध कल्पना राज्य में विचरने वाला (Speculative) मान कर उपेक्षा करते हैं, उन लोगों की गवेषणा संकीर्ण है। वे राग-द्वेष मलिन हृदय लेकर तथ्य का अनुसन्धान कर रहे हैं। वेदादि शास्त्र में इष्टापत्ति तथा अनिष्ट परिहार रूप उभय उपदेश अंकित हैं। आधुनिक संकीर्ण प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक-दार्शनिक वेदादिशास्त्र समूह को शुद्ध मनःकल्पित (Speculative) कह रहे हैं, काव्यज्ञानात्मक कहकर अवज्ञा करते हैं। यह आज उन्नति का लक्षण माना गया है कि स्थूलदर्शन तथा स्थूलपरिक्षण से जिन पदार्थों का अस्तित्व प्रमाणित नहीं है उनके तत्त्व को जानने की चेष्टा अनर्थक है। ऐसा कथन आज के अभ्युदयशीलों का है, ऐसा और कौन कह सकेगा? ये लोग ईश्वर, परलोक, आत्मा, लिंगदेह धर्म आदि पदार्थों के तत्वानुसन्धान को पशुश्रम मानते हैं। उनके स्वरूप को जानने से विरत रहते हैं, परन्तु एक दिन प्रकृति के कशाघात से उनको अपने मत का परिवर्तन करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। अनुतापानल में एक दिन दग्ध होना होगा। उन्हें वेदादि शास्त्रों के चरणों में भूलुंठित होना होगा। जो प्राचीन वेदज्ञ इस समय असभ्य मानकर उपेक्षित किये जा रहे हैं, जो बर्बर विचार वाले माने गये हैं, असभ्य मानकर जो बेकार समझे गये हैं, एक दिन वे ही इनके परमाराध्य होंगे। उन्हें देवता कहा जायेगा और वे शास्त्र! अहो शास्त्र कह कर वे रुदन करेंगे!

क्या शास्त्र-पाठ से यह विदित नहीं होता कि यह केवल तोतारटन्त की तरह कण्ठ में रखने के लिए नहीं है? जैसा कर्म करने से जो फल मिलता है, उस रूप कर्म का उपदेश शास्त्र ने किया है। जो शास्त्रोपदिष्ट कर्मसमूह को असम्भव कहते हैं, वे क्या परीक्षापूर्वक 'शास्त्र के विधानानुसार कर्म नहीं मिलता' ऐसा कह सकते हैं? जो भी हो, जिसमें स्थूल तत्व के अविषय पदार्थों का तत्वोपदेश है, उसे लोग मनःकल्पि, काव्य के समान अग्राह्य मानकर जो स्वयं को उन्नत कहते हैं उनका क्या कर्त्तव्य है, यह चिन्तनशील विचार करें।

बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक, इन द्विविध कर्म के तत्वनिरूपण में प्रवृत्त होकर दार्शनिक तथा वैज्ञानिक साधारणतः किन-किन कर्म को परीक्षार्थ ग्रहण करते हैं, यह जानने के लिए दर्शन तथा विज्ञान का प्रयोजन क्या है और उसका सम्बन्ध क्या है, यह स्मरण करना आवश्यक है। हम इसीलिए दर्शन और विज्ञान का प्रयोजन तथा उनका आपस में क्या सम्बन्ध है, इसका स्मरण करते हैं। इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार ही दर्शन तथा विज्ञान का प्रयोजन है। यह विवेचना पहले हो चुकी है। इष्टप्राप्ति, अनिष्ट-परिहार भी लौकिक-अलौकिक भेद से द्विविध है। वेदादि शास्त्र ने अलौकिक तथा लौकिक रूप से अनिष्ट परिहार तथा इष्टप्राप्ति का उपदेश दिया है। श्रुति ने भी विद्या को परा तथा अपरा भेद से द्विविध कहा है। जिस विद्या से परमब्रह्म को जाना जाता है, वह है पराविद्या तथा जिस विद्या से अपरब्रह्म को जाना जाता है, विश्वजगत् की समष्टि का और व्यष्टिभाव के स्वरूप का निर्धारण होता है, वह है अपराविद्या। पराविद्या का ही अंग है अपराविद्या। व्याकरण, शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, छन्दः इत्यादि अपरा विद्या है।

विज्ञान के साथ दर्शन का क्या सम्बन्ध है, कहते समय कहा जा चुका है कि दर्शन अंगी है तथा विज्ञान अंग है। दर्शन समुद्र है, विज्ञान नदी है। दर्शन सामान्य है, विज्ञान है विशेष। अतएव यहाँ कहा जा सकता है कि वेद दर्शन है तथा व्याकरणादि विज्ञान है। दर्शन के नाम से प्रसिद्ध शास्त्र भी वेद के ही उपांग हैं। भर्तृहरि कहते हैं कि वेदारख्य ब्रह्म के अंग से सम्यग्ज्ञान हेतु पुरुष संस्कार हेतु ज्योतिषादि तथा उपांग की तरह चिकित्सादि विद्याएँ आविर्भूत हैं।[1] भर्तृहरि सम्यग्ज्ञानहेतु तथा पुरुषसंस्कारहेतु, दो पदों का व्यवहार क्यों करते हैं? जितने भी वादों का आविर्भाव हुआ है, वह होने का कारण है पुरुष की बुद्धि, प्रतिभा तथा संस्कारभेद। वेदों का उपदेश प्रतिभाभेद क्योंकि संस्कारभेद के कारण पृथक्रूप से गृहीत होने पर ही पृथक्-पृथक् वाद की उत्पत्ति हुई है। प्रतिभा

1. "विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धना। विद्याभेदाः प्रतीयन्ते ज्ञानसंस्कार हेतवः"

—वाक्यपदीय

कौन पदार्थ है? भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द का अभ्यास ही प्रतिभा का हेतु है। जड़ तथा चेतन उभयविध पदार्थ का शब्द ही प्रतिभा का कारण है। 'इस शब्द का यह अर्थ है' लोग इस प्रकार से अथवा संकेत (Convention) से अवगत होकर तब उच्चारित शब्द के अर्थ को समझते हैं। अतएव शब्द को प्रतिभा का हेतु कैसे कहें? अविदित संकेत (अर्थात् इस शब्द का यह अर्थ है, न जानना) पुरुष को क्या पदार्थ की प्रतीति होती है? जड़ बालक, पशु, पक्षी, कीट, पतंग जिस प्रतिभा (Instinct) के वशीभूत होकर कर्म करते हैं, पद्मिनी सूर्योदय से प्रफुल्ल तथा सूर्यास्त से म्लानमुख हो जाती है, चुम्बक लौह का आकर्षण करता है, भौतिक पदार्थ जो परस्परतः एक-दूसरे के आकर्षण-विकर्षण में लगे हैं, उसका कारण क्या है? पशु-पक्षी-कीट-पतंग जन्म लेते ही अपने-अपने जात्युचित कर्म में प्रवृत्त होते हैं, अनादि वासना, शब्दसंस्कार अथवा प्रतिभा ही उसका कारण है। चाहे बुद्धिपूर्वक कर्म हो अथवा अबुद्धिपूर्वक कर्म हो, प्रतिभा ही उन सबकी निष्पादक है। प्रतिभा का कारण क्या है? अभ्यास ही प्रतिभा का कारण है? प्रतिभा अथवा संस्कार का कारण यह अभ्यास क्या है? अभी का अथवा जन्मान्तरभावी अभ्यास?

संस्कार अथवा वासना का अस्तित्व सभी स्वीकार करते हैं। अभ्यास ही (Repetition in general, repeated practice or exercise) संस्कार अथवा वासना का पूर्वभाव है, वह भी सर्ववादिसम्मत है। जो पूर्व जन्म के अस्तित्व का अनुगमन नहीं करते, वे कहते हैं कि वर्तमान जन्म का अभ्यास ही व्यक्तिगत भिन्न-भिन्न संस्कार का हेतु है। जो पूर्वजन्म के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, उनका सिद्धान्त है कि वर्तमान जन्म का अभ्यास जाति अथवा प्रतिभा का कारण नहीं है, जन्मान्तरभावी अभ्यास ही उसका कारण है। तभी भर्तृहरि कहते हैं— "अभ्यास अनागम, जन्मान्तरभावी है, यह वर्तमान जन्म का नहीं है। जैसे चाबुक के स्पर्शमात्र से घोड़े गन्तव्य देश की ओर जाते हैं, अंकुशाघात मात्र से हाथी जैसे चलना प्रारम्भ करते हैं, उसी प्रकार जीव अनादि वासनाभ्यास से प्रभावित होकर समुचित व्यवहार निष्पादनपूर्वक लोकयात्रा निर्वाहित करते हैं।"[1]

लोक में जो "इस शब्द का यह अर्थ है" ऐसा संकेत किया जाता है, उसका कारण प्रतिभा है। स्थूलदर्शन तथा परीक्षा द्वारा इन सभी विषय की सत्यता प्रमाणित हो जाती है, ऐसा जो मानते हैं, उससे अतिरिक्त किसी बात को नहीं मानते, जिनका ऐसा निश्चय है, क्या वे किसी को नूतन शब्द-सृष्टि करते देखते

---

1. "अभ्यासात् प्रतिभा हेतुः शब्द सर्वोऽपरैः स्मृतः।
बालानां च तिरश्चां च यथार्थ प्रतिपादने॥"
"अनागमश्च सोऽभ्यासः समयः कैश्चिदिष्यते।
अनन्तरमिदं कार्यमस्मादित्युपदर्शनम्।" —वाक्पदीय

हैं? मनुष्य अपशब्द गाली-गलौज की सृष्टि कर लेता है, किन्तु किसी मनुष्य ने क्या साधु शब्द की सृष्टि की है? ऐसा क्या किसी प्रत्यक्षवादी ने देखा है? वक्ता के अभिप्राय को जाने बिना, हठात् कोई उत्तर दे देना, सत्य की खोज करने वाले तार्किक का कर्तव्य नहीं है। बहुत-सी बातें पहले नहीं थीं, अब हैं, सभ्यता विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ शब्द संख्या वर्द्धित हो जा रही है, यह सब हमने बहुत सुना है। फिर भी जो कहा गया है कि किसी व्यक्ति ने किसी नूतन शब्द की सृष्टि नहीं की है, उसके गूढ़ तात्पर्य को समझना होगा। किसी शब्द के अर्थ को व्यक्ति लोक-परम्परा के अनुसार समझता है, किन्तु मूलतः कोई भी शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। शब्द का ज्ञान जिस मात्रा में परिवर्द्धित होगा, उसी मात्रा में अपशब्द भी साधु शब्द के विकृत रूप में प्रतीत होने लगेंगे। तब यह प्रतिपन्न होगा कि ये भी मूलतः सृष्ट नहीं हैं।

गदाधर कहते हैं कि "यह पद इस अर्थ का बोधक हो, इस शब्द से यह अर्थ बोद्धव्य है" इस प्रकार ईश्वर संकेत (ईश्वरेच्छा) ही शब्दशक्ति है।[1] लौगाक्षिभास्कर "इस शब्द से यह अर्थ बोद्धव्य" इस प्रकार के अनादि संकेत को शब्दशक्ति कहते हैं। जो अर्थ तथा स्मृति के अनुकूल पदपदार्थसम्बन्धरूप शक्ति को ईश्वरेच्छा अथवा ईश्वरसंकेत कहते हैं, वे शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध मनुष्यकृत नहीं मानते। हमने पहले ही (इसलिए) कहा है कि नैयायिकगण शब्दार्थसम्बन्ध के सामयिक वाद में सर्वथा एकरूप नहीं हैं। (सामयिकवाद=Conventional Theory)। नैयायिकगण के सामयिकवाद से आधुनिक दार्शनिकगण का सामयिकवाद पूर्णतः भिन्न है।

यह श्रवण किया कि पुरुष की प्रतिभा ने वेद (शब्द) से जन्मलाभ किया है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी कर्म हो, वह नादोत्पन्न है। नाद शब्द चैतन्याधिष्ठित प्रकृति की स्पन्दमान अवस्था का वाचक है। वेद अथवा शब्द भी चैतन्याधिष्ठित प्रकृति को समझाने के लिए शास्त्र में व्यवहृत है। संस्कार कर्म का ही होता है। इसलिए शब्द या वेद ही ज्ञान तथा संस्कार का हेतु है। वेद को जिस कारण से ज्ञान तथा कर्मरूप उभयात्मक कहा गया है, वह यहाँ विचारणीय है। शक्ति गुणभेद से त्रिविध है, सात्विकादित्रय रूप है। इन त्रिविध शक्ति के भागवैषम्य के कारण अनन्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। सृष्टिवैचित्र्य का कारण है कर्मवैचित्र्य। देश-काल-भूत भौतिक पदार्थ-प्राण-इन्द्रिय-मनः-बुद्धि आदि सभी शब्द अथवा शक्तिभेद से भिन्न-भिन्न आकार धारण करते हैं। भर्तृहरि ने इसीलिए वेद को ज्ञान तथा संस्कार का हेतु माना है।

भर्तृहरि की इन सब बातों का तात्पर्य परिग्रह करना साधारण प्रतिभा में दुःसाध्य है। शब्द को साधारणतः वास्तविक सत्पदार्थ करके मन में धारण नहीं

---

1. "इदं पदमुमर्थं बोधयतु अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्यः"—शक्तिवाद

करते। नाम अथवा शब्द दोनों आपाततः भिन्न जातीय पदार्थ हैं। 'ताप' इस पदबोध्य अर्थ को सत्पदार्थ समझ सकता है, क्योंकि इसके अर्थ क्रियाकारित्व को सभी उपलब्ध करने में समर्थ हैं। (तप्त वस्तु के स्पर्श का अनुभव सबको है)। ताप के संयोग से द्रव्य के अणु परस्परतः दूरवर्ती हो जाते हैं, यह प्रत्यक्ष हो जाता है, किन्तु 'ताप' शब्द से क्या परीक्षा द्वारा किसी शक्ति का अस्तित्व प्रतिपन्न होता है? शब्द को हम एक रूप अनुभूति के ही कल्पित वाचकरूप में देखते हैं। जिन्होंने शब्द को विश्वजगत् का कारण कहा है, जिनका सिद्धान्त है कि शब्द से देवगण की उत्पत्ति हुई है, वे शब्द कहने से उस तात्पर्य को नहीं ग्रहण करते, जिसे हम ग्रहण करते हैं। क्या यह भी समझना होगा? तामस शक्ति, राजस शक्ति, सात्विक शक्ति तथा चिच्छक्ति अथवा संक्षेप में कहें तो भोग्य एवं भोक्तृशक्ति ही 'शब्द' इस पद से लक्षित होती है। पाठक इसे न भूलें। भर्तृहरि ने अनेक प्रकार से शब्द के स्वरूप को समझाया है। जिससे अर्थ का बोध होता है, उसे वैयाकरणों ने 'स्फोट' कहा है। शाब्दिकगण ने वाच्य, लक्ष्य तथा वाङ्मय, इन त्रिविध अर्थ प्रतिपादक वाचक, लाक्षणिक तथा व्यंजक शब्दसमूह के अथवा उसमें निष्ठित जाति के बोधकरूप में 'स्फोट' शब्द का व्यवहार किया है।

'वेद से सभी विद्याओं का प्रादुर्भाव हुआ है' इसका अभिप्राय क्या है, यथाबुद्धि इसकी विवेचना का प्रयत्न किया। इस गम्भीरार्थक शास्त्रोपदेश का मर्म क्या है, इसे समझा सकने की हमारी शक्ति नहीं है। तब भी यह कहना है कि जो इस गम्भीरार्थक शास्त्र वाक्य का प्रकृत तात्पर्य समझाने में समर्थ थे, इस अधमाधम ने अत्यल्पकाल उनकी चरणसेवा की है। श्रीगुरु ने जिस रीति से इस उपदेशवाक्य का तात्पर्य बताया, कुछ दिन उसे सुना, किन्तु प्रतिभा की जड़ता के कारण उनके उपदेश को अच्छी तरह समझ नहीं सका। इस मलिन चित्त में उनके अमूल्य उपदेश का संस्कार भी यथायथभाव से नहीं आ सका। तब भी जो समझ सका उसे बतलाने की इच्छा है। तब भी दुःख के साथ कहना है कि आज भी उनके समान किसी को नहीं पा सका। श्रीगुरुदेव ने वेद को जिस दृष्टि से देखने का उपदेश किया था, उन्होंने जिस दृष्टि से वेद को देखने की प्रतिभा लेकर संसार में पदार्पण किया था, भाग्यक्रम से वैसे ही किसी पुरुष के हाथ में इस अकिंचन का यह ग्रन्थ पड़ जाये, तब स्वयं को कृतार्थ समझूँगा।

हम आजकल विज्ञान शब्द से जिसे लक्ष्य कहते हैं, वह प्रधानतः वेद अथवा शब्द के राजस तथा तामस अर्थ के ही परमाणु एवं अणुनिष्ठ प्रतिभा की ही व्याख्या करने की चेष्टा करता है। भूततन्त्र (Physics) तथा रसायनतन्त्र अणु तथा परमाणुनिष्ठ प्रतिभा की अथवा शब्द तथा शब्द तथा अर्थ, इन दो के संस्कार की व्याख्या करते हैं। बोध होता है कि वैज्ञानिक इसे अस्वीकार नहीं कर सकते।

अणु-परमाणु स्पन्दन अबुद्धिपूर्वक कर्म की ही व्याख्या करते हैं, अथवा करने का प्रयत्न करते हैं। अणु तथा परमाणुसमूह क्या-क्या कर्म करते हैं? भूततन्त्र (Physics) तथा रसायनतन्त्र (Chemistry) का पाठ करने से क्या अणु तथा परमाणु के सभी कार्यों का अथवा प्रधानतः कितने प्रकार के कर्म का सन्धान मिलता है? हमें बोध होता है कि 'अणु तथा परमाणु आकर्षण तथा विप्रकर्षण रूप द्विविध' कर्म ही करते हैं। तब इनको प्रधानतः भागद्वय में विभक्त किया जा सकता है। जब ये सामान्यतः द्विविध कर्म करते हैं, तब इन्हीं भूततन्त्रविद् में से कोई इन्हें आकर्षणात्मक परमाणुपुंज (Attractive) तथा विप्रकर्षणात्मक परमाणुपुंज (Repulsive) रूप से जातिद्वय में विभक्त कर देते हैं। सांख्यादि शास्त्रों का उपदेश है कि अणु तथा परमाणु दोनों ही त्रिगुण का कार्य (परिणाम) है। अतः ये भी त्रिगुणात्मक हैं। भले ही ये त्रिगुणात्मक हों, इनमें गुणत्रय एक ही परिमाण में नहीं रहता। गुणाधिक्य के आधार पर जिसमें सत्वगुण अधिक है उसे सात्विक, जिसमें रजोगुणाधिक्य है, उसे राजस तथा जिसमें तमोगुणाधिक्य है उसे तामस श्रेणी में विभक्त कर दिया जाता है। वैज्ञानिक राजस तथा तामस अणुओं को ही आकर्षणात्मक-विकर्षणात्मक मानते हैं। इसीलिए कहा जा रहा है कि विज्ञान शब्द अथवा वेद की तामस तथा राजस प्रतिभा का ही, उसके आधिभौतिक कर्म की ही व्याख्या करता है। आकर्षणात्मक अणु अपने धर्म अथवा प्रतिभावशात् सर्वदा आकर्षण ही करता रहता है। इसी क्रम में विकर्षणात्मक अणु सर्वदा नियत विप्रकर्षण करते हैं।

दो सजातीय अणु की पारस्परिक क्रिया से कैसा परिवर्तन होता है और विजातीय अणुद्वय में अन्योन्य क्रिया के कारण कैसा परिवर्तन संघटित होता है, इसे जानने के लिए उपादान तथा निमित्त (सहकारी) कारण का स्वरूपज्ञान आवश्यक है। अणु की शक्ति तथा काल, देश एवं दूरत्व (Time and Space or Distance) तथा दिक् (Direction) का निर्णय नहीं होने से यह नहीं जाना जा सकता कि अणु की पारस्परिक क्रिया से क्या-क्या रूप-परिवर्तन हो रहे हैं? निष्क्रियावस्था में अवस्थित आकर्षणात्मक समबल 'क' तथा 'ख' दो अणु अन्योन्य क्रिया के कारण जो स्पन्दन (Vibration) आरम्भ करते हैं, उनका क्रम तथा आयाम (Amplitude) सदा समान रहता है। 'क' अणु 'ख' अणु को जिस बल से आकर्षित करता है, 'ख' अणु भी 'क' अणु को उसी बल से (समतल होने के कारण) आकर्षित करता है। परस्परतः आकृष्ट अणुद्वय परस्परतः अभिमुख समवेग से चलते-चलते दोनों के मध्यवर्ती (क तथा ख के मध्यवर्ती) 'ग' नामक बिन्दु पर आकर मिल जाते हैं। दोनों आकर्षणात्मक अणु यदि समबल न हों तब उनके अन्योन्य आकर्षण के कारण स्पन्दन का आयाम विषम होगा। जिसका बल अधिक है, हीनबल उसी के निकट गमन करेगा।

वैशेषिक दर्शन में प्रथमोक्त आणविक संयोग को उभयकर्मज तथा अन्तिम आणविक संयोग को अन्तरकर्मज संयोग कहा गया है।[1] दो समबल आकर्षणात्मक तथा विप्रकर्षणात्मक अणु यदि परस्परतः क्रिया करें तब दोनों परस्पर समदूरवर्त्ती हो जाते हैं। वैशेषिक दर्शन कर्म को संयोग विभागात्मक कहते हैं। कर्म को संयोग विभागात्मक कहने के लिए ही सारी कथा हो रही है। संयोग तथा विभाग, दोनों ही अन्यतर कर्मज, उभयकर्मज तथा संयोगजकर्मज भेद से त्रिविध हैं।[2] अणुसमूह की अन्योन्य क्रिया के कारण उनके स्पन्दन से विविध आकार (Forms), वर्ण, रस इत्यादि धर्मसमूह की अभिव्यक्ति होती है। ज्यामितिक मूर्ति अथवा अवयव संस्थान का (Geometrical shapes) आणविक स्पन्दन कारण है। आणविक स्पन्दन से अणु का संयोग तथा विभाग सम्पन्न होता है। स्पन्दन कौन-सा पदार्थ है? अत्यल्प चिन्तन से ही उपलब्धि होती हैं कि शब्द तथा स्पन्दन एक पदार्थ (All vibration are fundamentally sound) हैं। भर्तृहरि यह समझाने के लिए कहते हैं कि प्रयत्नप्रेरित आकाश से शब्दाख्य परमाणुओं की उत्पत्ति होती है। अणुसमूह भेद संसर्ग वृत्तिक बिन्दु से भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है। शब्द से जिस आकार की उत्पत्ति होती है, स्पन्दन के भेद से ही उसका ज्यामितिक मूर्तिभेद होता है। आधुनिक वैज्ञानिक भी इसे मानते हैं। वे परीक्षा द्वारा उसके यथार्थ्य प्रतिपादन का प्रयत्न करते हैं। आधिभौतिक दृष्टि से 'शब्द' ही शक्ति, कर्म अथवा मोशन (Motion) मात्र का वाचक है। आलोक-चौम्बकाकर्षण-मध्याकर्षण आदि शब्द के ही भिन्न-भिन्न परिणाम हैं। पूर्वोक्त शास्त्रीय उपदेश (काल्पनिक) काव्य नहीं हैं। क्या अब भी ऐसा कहा जा सकेगा? 'शब्द ब्रह्म से ही विश्व की सृष्टि हुई है,' यह वेदवाक्य कल्पना का विणृम्भण नहीं है।

प्रत्यक्षवादात्मक दर्शन (Emperical Philosophy) भूत, भौतिक शक्ति अथवा कर्म (Matter and Motion), शक्तिसातत्य (Conservation of Energy or Persistence of Force) इन पदार्थत्रय का इन्द्रियगम्य रूप (As they appear to experience) है। अथवा जड़विज्ञानी इनके जिस प्रकार के स्वरूप का अवधारण करते हैं, उसके द्वारा विश्व की सृष्टि-स्थिति तथा लयतत्व के व्याख्यान की चेष्टा करते हैं। विद्वान् स्पेन्सर ने सूर्य-पृथ्वी-सोम तथा अन्य ग्रहों का विकास तथा विनाश, तिरोभाव, कैसे होता है, वह बतलाने के लिए विश्व की नैहारिकी अथवा वाष्पमयी अवस्था तथा मध्याकर्षण शक्ति का आश्रय लिया है। भूत तथा परमाणु, आकर्षण-विप्रकर्षण, ये दो शक्ति तथा शक्तिसातत्य ही इनके मत से सभी

---

1. "अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः" —वैशेषिक दर्शन, 7।2।9
2. "एतेन विभागो व्याख्यातः"—वही

परिणाम के कारण हैं। आकर्षणशक्ति की प्रबलता से जड़ तथा अचेतन अणुसमूह परस्परतः समाकृष्ट होकर जब कठिन भाव धारण करता है, शीतल होता है, अर्थात् जब सृष्टि ताप से उत्तप्त थी और अणुसमूह परस्परतः विप्रकृष्ट थे, वहाँ आकर्षणशक्ति के कारण अणुसमूह सन्निकृष्ट होने लगे और सृष्टि (पृथ्वी) जीवों के वासयोग्य हो गयी, तब सजीव पदार्थ का आविर्भाव होने लगा।

जड़ अथवा अप्राण पदार्थ से कैसे सजीव पदार्थ अभिव्यक्त हुआ, इस सम्बन्ध में विद्वान् स्पेन्सर कुछ नहीं कहते। ऐसा भी हो सकता है लोग इतिहास में उनको कल्पना राज्य का विचारशील पुरुष कहते। दूसरे यह बात भी है कि प्रत्यक्ष प्रमाण का अविषय स्थूलप्रत्यक्ष द्वारा निर्णीत हो ही नहीं सकता, इससे भी उन्होंने इस बारे में कुछ नहीं कहा होगा। प्रथमाभिव्यक्ति में सजीव पदार्थ प्रोटोप्लाज़्म के गोलात्मक थे। इसी सूक्ष्म गोलात्मक प्रोटोप्लाज़्म के चिरकाल तथा अविश्राम संविभाग तथा संयोग द्वारा परिपुष्ट होने से क्रमशः उच्चतम, उच्चतर जीवों का आविर्भाव हुआ। सजीव पदार्थ के सुख-दुःख की अनुभव शक्ति (Feelings of pain and pleasure) की अभिव्यक्ति से क्रमशः मन का विकास होता है। मानस वृत्तिसमूह का स्फुरण हो जाता है। मानस वृत्तियों का समधिक स्फुरण होने से मानवीय मन (Human Mind) का विकास होता है। सुख-दुःख का अनुभव, विज्ञान, इच्छा इत्यादि मनोवृत्तियाँ परिपुष्ट तथा परिपक्व मन में ही पूर्णतः स्फुरित होती हैं। इसके अनन्तर मनुष्य समाजशरीर गठित होता है। धर्म-नीति-आचरण-राज्य (Forms of Government), शिल्प-विज्ञान इत्यादि की अभिव्यक्ति तथा क्रमोन्नति होती है। विद्वान् स्पेन्सर के दर्शन से यही विदित होता है।

विद्वान् पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर ने जगत् का इतिहास कहने में प्रवृत्त होकर मनुष्य स्थूलप्रत्यक्ष द्वारा जो कुछ जान सकता है, जो सब प्राकृतिक नियम दर्शन तथा परीक्षा का विषयीभूत होता है, उसके द्वारा ही विश्व के आदि-अन्त स्वरूप वर्णन का प्रयत्न किया है। पूर्ण दर्शन (Rational Philosophy) में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा परिज्ञात विषयसमूह की मानस तर्क अथवा मानस परीक्षण द्वारा न्यूनता निराकरण की तथा उनके यथार्थ की उपपत्ति करने की चेष्टा की जाती है। विकार अथवा कार्यसमूह के मूलतत्व का अनुसन्धान पूर्णदर्शन में किया जाता है। इसको मानने वाला स्वतः विद्यमान (Self Existence), अनन्यापेक्ष पूर्ण तत्व के आविष्कार में प्रवृत्त होता है। प्रत्यक्षवादमूलक (Empirical) तथा पूर्ण (Rational) दर्शन का स्वरूप संक्षेप में कहा गया। हमारा विश्वास है कि जब तक प्रत्यक्षमूलक तथा आन्वीक्षिक दर्शन एकीभूत नहीं होगा, तब तक दर्शन का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। 'वेद' अथवा वेदमूलक दर्शन प्रकृत पूर्ण दर्शन है, अथवा नहीं है, इस पर पाठक पक्षपातरहित होकर विचार करें।

अणु-परमाणु के स्पन्दन से मनुष्य की अभिव्यक्ति तक जो कर्म संघटित होते हैं, उन सबमें प्रत्यक्षमूलक दर्शन ही परिक्षणीय है। भूततन्त्र तथा रसायनतन्त्र अणु तथा परमाणु के स्पन्दन कर्म का तत्वानुसन्धान करते हैं। जीवविज्ञान (उद्‌भिद्‌विद्या, शरीरसंस्थान तथा शरीरकर्म विद्या) जैव शरीर के जन्मादि षड्भाव विकार का स्वरूप जानने का प्रयत्न करता है। मनोविज्ञान मनोत्पत्ति तथा क्रियातत्व की गवेषणा करता है। जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान प्रत्यक्षवादी की दृष्टि में भूततन्त्र तथा रसायनतन्त्र का ही रूपान्तर है। क्योंकि इनके अनुसार प्राण तथा मनः भूत तथा भौतिक शक्ति का ही परिणाम है। ऐसी स्थिति में आणविक परिस्पन्दन नियम से ही प्राण तथा मन के परिस्पन्दन का स्वरूप निर्णीत हो जाता है। प्रत्यक्षवादीगण आणविक परिस्पन्दन के सभी नियमों का आविष्कार करने में सफल हैं, उनके द्वारा प्राण तथा मन का स्वरूप निरूपित है कि नहीं, यह भी वे बता सकते हैं। हमारी धारणा यह है कि वैज्ञानिकों में भी अनेक लोग इसी मत का पोषण करते हैं। अब यहाँ यह श्रवण करना है कि प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों किंवा वैज्ञानिकों ने बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक रूप द्विविध कर्म के स्वरूप को निर्णय करने में प्रवृत्त होकर कैसा सिद्धान्त बनाया है?

विद्वान् लॉक (Locke) कहते हैं कि विविध मानस तथा दैहिक कर्म का आरम्भ तथा निवृत्ति हम अपने मन के संकल्प से करने में समर्थ हैं, यह हम समझ चुके हैं। बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक कर्म का रूप लॉक के हृदय में प्रतिभात हुआ है, परन्तु इन्होंने उसके स्वरूप को अवधारित करने का कोई प्रयास नहीं किया। विद्वान ह्यूम (Hume) कहते हैं कि हमारे शरीर की चेष्टा हमारी इच्छा के अनुसार होती है। (The motion of our bodies, follows upon the command of our will) यह हम प्रतिक्षण उपलब्धि कराते हैं, किन्तु यह कैसे होता है? किस धर्म अथवा शक्ति के कारण हमारी इच्छा ऐसे असामान्य व्यापार का निष्पादन करती है, वह हम आज भी नहीं जान सके।

विद्वान् हैटले (Hatley) ने अनुमान किया कि स्वयंनिष्पन्न (Automatic) तथा संकल्पपूर्वक (Voluntary) कर्म में स्वयं निष्पन्न कर्मसमूह ऐन्द्रिक क्रियाज्ञान निमित्तक है। बुद्धि अथवा संकल्पमूलक कर्म भावनाख्य संस्कार के अधीन हैं (The first dependent upon sensation the last upon ideas)। हैटले का यह अनुमान दोषरहित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि हृत्पिण्ड, आँत तथा अन्य आभ्यन्तर अंगों की क्रिया ऐन्द्रियक क्रियानिमित्तक नहीं है, यह निश्चित है। चित्त के भावनाख्य संस्कार भी कभी-कभी स्वयं निष्पन्न कर्म के उद्दीपक कारण हो जाते हैं। जब हास्यजनक घटना का संस्कार जग जाता है, तब हम हास्य को रोक नहीं पाते। ऐसे अनेक कर्म हम देखते हैं, जो प्रथमतः

संकल्प अथवा मन की अवधानता के बिना सम्पन्न नहीं होते। किन्तु अभ्यास हो जाने पर बिना मन की अवधानता की अपेक्षा किये सम्पन्न हो जाते हैं।[1] जेम्स मिल (James Mill) कहते हैं कि बुद्धिपूर्वक कर्म में इच्छा विद्यमान रहती है। इसके अतिरिक्त कोई कारण नहीं समझ में आता जिसके लिए बुद्धिपूर्वक कर्म को अबुद्धिपूर्वक कर्म से पृथक् रूप से निर्वाचित किया जाये।[2] बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक, इनके साधर्म्य-वैधर्म्य का विचार करने पर इनके उपादान तथा निमित्त कारणों का तत्वानुसन्धान आवश्यक है। जिन कर्मों में हमारे मन का प्रभुत्व है, उन कर्मों की निष्पत्ति में किस प्रकार के स्नायु तथा पेशी की कार्यकारिता का प्रयोजन है, इच्छाशक्ति भौतिक शक्ति से भिन्न जातीय पदार्थ तो नहीं है, इच्छा का आदिम उत्पत्ति स्थान कहाँ है, जो सब कर्म अबुद्धिपूर्वक कहे जाते हैं—उनकी निष्पत्ति में किस प्रकार के स्नायु तथा पेशी की कार्यकारिता की आवश्यकता है, कैसी बुद्धि द्वारा अबुद्धिपूर्वक कर्म सम्पादित होता है, अबुद्धिपूर्वक कर्म का प्रारम्भ स्थान कहाँ है, इत्यादि विषय की समीचीन मीमांसा न होने से बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक कर्मों के साधर्म्य-वैधर्म्य का विचार सम्यक् रूप से सम्पन्न नहीं होगा।

आधुनिक प्रत्यक्षवादात्मक दर्शन बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक कर्म का विचार करने में प्रवृत्त होकर प्रधानतः शरीरविज्ञान (Physiology) का ही आश्रय लेते हैं। इन दोनों कर्मों का स्वरूप-निरूपण करने के लिए केन्द्रिक तथा पारिध (Central and Peripheral) स्नायुविधान के संस्थान तथा क्रिया का तत्वानुसन्धान अवश्य कर्तव्य है। फिर भी यह कहना होगा कि इन दोनों कर्म का प्रकृत दार्शनिक तरीके से तत्वानुसन्धान करने के लिए केवल स्नायुविधान के संस्थान तथा क्रिया के इन्द्रियगम्य स्वरूपनिर्धारण तथा स्वरूपदर्शन के ऊपर निर्भर हो जाने से उद्देश्यसिद्धि नहीं होगी, जो यह निश्चित करना चाहते हैं कि विश्वसृष्टि बुद्धिपूर्वक है अथवा अबुद्धिपूर्वक, जो यह निश्चित करना चाहते हैं कि स्नायुविधान के निर्माण में संकल्प की कार्यकारिता है अथवा नहीं, जिनके मन में ऐसे प्रश्न उठते हैं कि स्नायुतन्त्र का आकारादि धर्मगत् भेद ही उन्हें विशेषतः क्रियाकारी कर रहा है, अथवा विशेष-विशेष रूप क्रियानिष्पादन के प्रयोजन से विशेष-विशेष प्रतिभा अथवा पूर्व कर्मसंस्कार उनके आकारादि धर्मगत भेद का

---

1. "The actions, which are at first voluntary, tend after a time, when frequently repeated to become truly automatic."
—The Brain as an Organ of Mind, By Bastion, Page 549
2. "There appears no circumstances by which the cases of voluntary are distinguished from the Involuntary, except that in voluntary, there exists a desire." —Analysis of the Human Mind, By James Mill

कारण है। जो इन सब विषयों का तत्वानुसन्धान करते हैं, उनसे प्रश्न है कि समुदय शरीर मध्य में मस्तिष्क से ही (Brain) इच्छा, द्वेष, प्रयत्न इत्यादि की अभिव्यक्ति क्रियाक्षेत्र में क्यों हुई, जो Cell नामक पदार्थ स्नायुविधान के उपादान हैं, वे ही पेशी, शिरा, धमनी, अस्थि, यकृत्, फुफ्फुस इत्यादि के भी उपादान हैं। सेल्स (Cell) समूह में परस्परतः कोई पार्थक्य है, यह रासायनिक, भौतिक अथवा आणुवीक्षणिक परीक्षा से निर्णीत नहीं हो सका। तथापि इन्होंने कैसे भिन्न-भिन्न आकारादि धर्म विशिष्ट पृथक्-पृथक् क्रियाकारी यन्त्रों का निर्माण किया? जिनकी इस प्रकार की जिज्ञासा होती है और जो यह मानते हैं कि बिना कारण कोई कार्य नहीं होता, कोई भी कार्य बिना निमित्त अथवा आकस्मिक (Result of chance) नहीं है और ऐसी धारणा के कारण जो मनुष्यादि जीव के शरीरयन्त्र समूह की संख्या विशेष का तथा संस्थान, अवयव विशेष का कारण जानना चाहते हैं, नर देहस्थ द्वादशयुग्म कार्नियल स्नायु ही तथा एकत्रिंशत् युग्म काशेरुक स्नायु ही (Spinal Nerves) क्यों हुए, यह जानना चाहते हैं तथा जो यह जानना चाहते हैं कि पृष्ठवंश के भिन्न-भिन्न स्नायु युग्म की संख्या वहाँ के कशेरुकाओं की संख्या के अनुपात से ही है, किन्तु ग्रीवादेशीय (cervical) तथा पृष्ठ मूलास्थि (coccy geal) स्नायुओं की संख्या उतनी नहीं है, इसका क्या कारण है? जो विशिष्ट प्रतिभा की प्रेरणा से इन प्रश्नों का समाधान चाहते हैं और नरशरीरविज्ञान का आश्रय लेते हैं, लेकिन उनको निराश होना पड़ता है, क्योंकि आज भी इस विज्ञान की योग्यता इतनी नहीं हो सकी है। अभी तक कोई इनका उत्तर नहीं पा सका।

क्या किसी ग्रन्थ को पढ़कर इनका सन्तोषप्रद उत्तर मिल सकेगा? सत्यानुसन्धित्सु हृदय से, चित्त को रागद्वेष मुक्त करके, इनके मल को प्रोत्सारित करके, इन्द्रिय सुखभोग लालसा को शम, दम द्वारा बाँधकर, प्रकृत ज्ञान को ही प्राण, आनन्द मान कर, आलस्यादि तमोगुण जनित शृंखलाओं का सत्वगुणानुप्राणित रजोगुणमय तलवार द्वारा छेदन करके, मानवोचित हृदयवान विशाल प्राण घनी की सहायता प्राप्त करके, अन्त में सत्यमय, ज्ञानमय परमकारुणिक परमपिता श्रीभगवान् और उन्हीं के अनन्यरूप श्रीगुरुदेव के चरण में अनन्यगति बालक सन्तान के समान शरण लेकर यह जानने की चेष्टा करनी चाहिए कि वेद इन सबका समाधान करने योग्य है अथवा नहीं। जो यह जानने का प्रयत्न करेंगे, मेरे क्षुद्र हृदय का यह विश्वास है कि उनकी चेष्टा फलवती होगी।

वेदमुख से ही सुना है कि वेद अनन्त हैं। अतः वेद क्या है, क्या नहीं हैं, यह कैसे कहा जाये? जो वेद को ईषत सत्य कविहृदयप्रसूत पदार्थ कहते हैं, ऋग्वेदादि के लिखित अथवा मुद्रित अंश मात्र पर ही जो विश्वास करते हैं,

जिनके मत से यही वेद का पूर्ण रूप है और जिनकी प्रतिभा में वेद की आयु 5000 वर्ष से अधिक की नहीं है, ऐसे लोग वेद को जानने के योग्य नहीं हैं। वेद का जो रूप ऋषियों ने देखा था, भगवान् यास्क के अनुसार वेद का वह रूप देखने के लिए तपस्या करनी पड़ेगी। 'तपसा पारमीप्सितव्यम्' (निरुक्त)। ब्रह्मचर्य पालन करना होगा, वेदज्ञ गुरुओं की सेवा में लगना होगा।[1] भगवान् यास्क कहते हैं कि जगत् में जितनी भी विद्याएँ हैं सभी मन्त्रार्थमूलक हैं। भगवान् यास्क ने ऐसा क्यों कहा, इस पर विचार करना उचित है। आजकल अनेक लोग यह मानते हैं कि ऋषिगण सरलहृदय थे, कूपमण्डूक थे, विज्ञान पारावार का अनन्तरूप उनके संकीर्ण चित्त में नहीं समा सका, तभी उन्होंने इसे सर्वविद्या का खजाना कह दिया। यह सुनकर भी यदि किसी के मन में भगवान् यास्क के वचनों के प्रति श्रद्धा हो तो वही चिन्तन करे।

शरीर के अंग-प्रत्यंग के विभाग, अस्थि आदि की संख्या अवयव सन्निवेश के नियम इत्यादि विषय सम्बन्धित वेद में अनेक उपदेश हैं। वेद का उपदेश है कि वर्ण का वैषम्य जिस कारण से है, उसी कारण से शरीर के अंगप्रत्यंग में वैषम्य हो गया है। अकारादि वर्णतत्व तथा छन्दः का स्वरूप यथायथ रूप से विदित होने से, दिक्-काल तथा क्रम के प्रकृत रूप से चित्त दर्पण पर प्रतिफलित होने से विश्वजगत् के शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान (Anatomy-Physiology-Psychology) तथा आत्मविज्ञान के प्रकृतरूप को देखा जा सकता है।

ऐतरेयादि आरण्यक श्रुतियों का पाठ करने से विदित होगा कि जो कहा जा रहा है, उसके मूल में सत्य है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में कतिपय बातें याद रखनी होंगी। प्रथम यह कि वेद पाश्चात्यों के समान बहुभाषी नहीं है। अल्प में तत्वोपदेश वेद का नियम है। ऋषिगण भी इसी नियम का अनुगमन करते हैं। द्वितीय यह कि वेद विश्वदर्शन है। प्रत्येक वेदमन्त्र के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक, ये त्रिविध अर्थ हैं। तीसरी बात वेद में रूपकादि अलंकार अवश्य व्यवहृत है, किन्तु असत्य को सत्य बनाने के लिए अलंकारादि का उपयोग नहीं किया गया है। सत्य का रूप विशदरूप से प्रकट होने के लिए

---

1. भारद्वाज ने संकल्प लिया कि समग्र वेद पढ़ूँगा। इसके लिए उतनी आयु चाहिए। अतः इन्द्र को प्रसन्न करके 300 वर्ष आयु प्राप्त करके नियमानुसार वेदाध्ययन किया। जब करीब 300 वर्ष पूर्ण होने को आये तब इन्द्र ने स्वप्न में दर्शन देकर पूछा—"यदि तुमको 100 वर्ष आयु और प्रदान की जाये, तब क्या करोगे? भारद्वाज ने कहा कि ब्रह्मचर्यपालन तथा वेदाध्ययन करूँगा।" तब इन्द्र ने कहा, "भारद्वाज, वेद अनन्त हैं। समग्र वेदाध्ययन के संकल्प का त्याग करो। "सहोवाच! भरद्वाजेत्यामन्त्र्य! वेदा वा एते! अनन्ता वै वेदाः।" —तैत्तरीय ब्राह्मण, 3। 10। 11
ऋग्वेद में बताया गया है कि कितने लोग वेद का वास्तविक अर्थ जानने के अधिकारी हैं, वेद किसे अपना रूप प्रदर्शित करते हैं?

उनका उपयोग किया गया है। वेद के अलंकार अस्थिर शोभातिशायी नहीं हैं। वेद के अलंकार व्याप्ति ज्ञान का प्रसारण करते हैं। वेद में कहीं भी अति प्राकृतिक बातें नहीं हैं। प्रकृति सम्बन्धित ज्ञान की संकीर्णता के कारण इन्हें वेद के उपदेश अनेक बार अनेक अवसर पर अति प्राकृतिक लगते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। वेद का कथन है—"ऐन्द्रिक अथवा परिच्छिन्न ज्ञानावरण का भेदन किये बिना अतीन्द्रिय अचिन्त्य भावसमूह का रूप नहीं देखा जा सकता।" जो इन्द्रियों की बात के अतिरिक्त किसी भी तथ्य को प्रामाणिक नहीं मानते, वे वेदों में अति प्राकृतिक बातें देखते हैं, इसमें क्या सन्देह? चौथी बात यह है कि वेद का प्रकृत अर्थ जानने के लिए वेद के छः अंगों से परिचय होना भी आवश्यक है। वे हैं व्याकरण-छन्दः-निरुक्त-ज्योतिष-शिक्षा तथा कल्प। पाँचवीं बात यह है कि आपात् दृष्टि से यह अनुभव होने पर कि वेद की बातों में विशेष सार नहीं है, उसे बालकोचित कहानी मानकर त्याग नहीं करना होगा। यह विश्वास करके कि उसमें सार है, उसका मंथन करने की चेष्टा करनी होगी। चरम बात यह है कि वेदार्थ परिग्रहार्थ चित्त में संस्कार भी होना आवश्यक है। ऐतरेय ब्राह्मण ने ऐसा कहा है, यह मेरी बात नहीं है।

वेद कहते हैं सिसृक्षु प्रजापति के मुख से गायत्री की उत्पत्ति हुई है। छन्दों में गायत्री अग्र्या है। जैसे अंगों में शिरः। अग्नि अथवा सूर्य शिरः हैं तथा गायत्री के अधिष्ठातृ देवता हैं।[1] प्राण सूत्रात्मा है। सूत्र के द्वारा जैसे परस्परतः अलग दूरवर्ती वस्तुओं को बाँध दिया जाता है, एकीभूत किया जाता है, उसी प्रकार से प्राण अणुओं को ग्रथित करके शरीर का निर्माण करता है। प्राण शरीरावयव समूह का सन्धाता है।[2] प्रजापति ने नवसंख्यक कपाल एकत्र करके संयोजनपूर्वक मनुष्य के शिरः का निर्माण किया है।[3] शिर का 'शिरः' नाम क्यों? चक्षु, श्रोत्र, मनः, वाक्, प्राण—ये शिर का अवलम्बन लेकर कार्य निष्पादित करते हैं। आत्मा सर्वव्यापक होकर भी शिर को अभिव्यक्ति क्षेत्र बनाकर आश्रय करता है। इसीलिए इसे शिरः कहा गया।[4] प्रजा का सार हृदय, हृदय का सार मनः। श्रुति ने हृदय को जो प्रजा का सार कहा है, उसका कारण है कि हृदय ही जीवात्मा का स्थान है। मनः को जो हृदय का सार कहा, उसका कारण है कि मनः

1. "अथात शिरः तद्गायत्रीषु भवत्याग्निर्वा अर्कः"—ऐतरेय आरण्यक
2. "प्राणो वै सुददोहः प्राणेन पर्वाणि सन्दधाति।"
3. "उर्ध्वं त्वेवादसर्पत्तच्छिरोऽश्रयत् यच्छिरोऽश्रयत् तच्छिरोऽभवत्तच्छिरसः शिरस्त्वं ता एताः शीर्षण्च्छ्रियः श्रिता चक्षुः श्रोत्रं मनोवाक्-प्राणः श्रयन्तेऽस्मिण्श्रियो य एवमेतच्छिरसः शिरस्त्वं वेद" —वही
4. "ता नव भवन्ति नम कपालं वै शिरोदशर्मी शंसति"—वही

ज्ञानशक्तियुक्त है। मांसमय अष्टदल में ज्ञानशक्ति नहीं है।[1] प्राण ही शरीर का वंश (आधार) है। क्योंकि चक्षु-श्रोत्रादि इन्द्रियाँ प्राण का ही आश्रय लेकर विद्यमान हैं। प्राण आत्मा का उष्मरूप है। अस्थि स्पर्शरूप है, मज्जा स्वररूप है, मांस, लोहित (रक्त) है अन्तःस्थरूप। अस्थि-मज्जा-पर्व इनकी संख्या का निर्णय करते समय ऐतरेय आरण्यक का कथन है कि ये प्रत्येक 360 हैं, अतः तीनों की संख्या 360×3=1080 है। यह है शरीर के दो पार्श्व में स्थित अस्थ्यादि की संख्या। अतः एक-एक पार्श्व की संख्या है 540। आदित्य की रश्मि संख्या के साथ शरीर की अस्थियों की संख्या में साम्य है। अतः श्रुति ने शरीर को आदित्यरूप कहा। अस्थ्यादि की संख्या 360 क्यों? यह बृहतीछन्दस्क है। एक बृहती 36 अक्षरात्मिका है। दश बृहती संख्या है 36×10=360। अब अस्थि-मज्जा-पर्व में प्रत्येक में 360। तीनों मिलाकर 1080।[2]

ऐतरेय आरण्यक की यह कथा सुनकर (यह जो कहते हैं कि वेदों में कोई सार नहीं है और यह कहने वाले कि यह सब कल्पना है) उन लोगों को वेदाध्ययन का कोई अधिकार नहीं है। ऐसे लोग वेद से दूर ही रहें तो मंगल है और जो यह सोचते हैं कि आपात् दृष्टि से हम भले ही न समझ पायें परन्तु इनमें अनेक तथ्य हैं, वे हमारी पहले कही बातों को याद करके श्रुतिवचनसमूह से सारदोहन का प्रयत्न करें। प्रतीच्य शरीरविज्ञान के अध्ययन से जो लाभ होता है, क्या वेदाध्ययन से उससे अधिक लाभ नहीं होता, यह विचार करें। तब उन्हें ज्ञात होगा कि प्रतीच्य विज्ञान भी अवश्य पाठ्य है तथा वेद में सब कुछ है।

प्रत्यक्ष वादात्मक दर्शन पदार्थों के इन्द्रियगम्य रूप का ही तत्वानुसन्धान करता है। प्रत्यक्षवादात्मक मनोविज्ञानी (Emperical Psychology) इसीलिए आत्मा (Soul) तथा शरीर (Body) के चरम सम्बन्ध (Ultimate relation) को जानने का प्रयत्न नहीं करते। प्रत्यक्षवादात्मक मनोविज्ञान तथा शरीरविज्ञान (Physiology) भिन्न पदार्थ नहीं है। शरीरविज्ञान का सिद्धान्त जान लेने पर यथोक्त मनोविज्ञान का सिद्धान्त विदित हो जाता है।

क्रमशः ऊपर-ऊपर सन्निवेशित 26 कशेरुकास्थि (Vertebra) द्वारा पृष्ठवंश (Vertebral Column) निर्मित होता है। मस्तक मेरुदण्ड पर स्थित है। मेरुदण्ड के अन्दर स्थूलरज्जु के समान कशेरुक मज्जा नामक एक स्नायव पदार्थ है, यही मानो स्फीत होकर मस्तिष्क बना है। इसका जो अंश करोटि के

---

1. ''प्रजानां रेतो हृदयं हृदयस्य रेतो मनो''—वही
2. ''प्राणो वंश इति स्थविरः शाकल्यस्तद्यथा शालावंश सर्वेऽन्ये वंशोः समाहितः स्युरेवमस्मिन् प्राणे चक्षुः श्रोत्रं मनो वागिन्द्रियाणि शरीरं सर्व आत्मा समाहितः। तस्यै तस्यात्मनः प्राण उष्मरूप अस्थिनिस्पर्शरूपं मज्जानः स्वररूपं मांसं लोहितमित्येतदन्यच्चतुर्थ-मान्तस्थारूप-मिति..... तस्यैतस्य.....'' —ऐतरेय आरण्यक

मध्य स्थित है, वह Brain है और जो अंश कशेरुका अथवा पृष्ठास्थिगर्भ में है उसे काशेरुक मज्जा कहा है। बृहत्तम तथा उर्धतम अंश जो अधिपति है वह Cerebrum है। क्षुद्रांश को cerebellum कहते हैं। शृंगारक (Corpus Annalare, Processuss Annularies, Tuber Annulare तथा Tuberculam Annulare Varolii Pons) तथा काशेरुक मज्जा का उर्ध्व वितान Medulla Oblongata or Spinal Bulb, मस्तिष्क, इन चार भागों में विभक्त है। दृढ़मातृका (Dura Matter), मृदुमातृका (Pia matter) तथा उर्णनाभ झिल्ली अथवा मध्यावरणी (Arachroid) इन तीन अरणि द्वारा यह आवृत्त है। अग्र अथवा पूर्व मस्तिष्क (The Fore Brain), मध्यमस्तिष्क (The Mid Brain), प्रतीच्य मस्तिष्क (Hind Brain) एवं उत्तर अथवा अन्त्य मस्तिष्क (After Brain), मस्तिष्क को 4 भागों में विभक्त किया गया है। अग्रमस्तिष्क के दो भाग हैं—प्रथम है पार्श्विक अग्र मस्तिष्क अथवा मस्तिष्कीय गोलार्द्धद्वय (The Lateral Fore Brain or Cerebral Hemispheres), द्वितीय है अग्निस्नायुमूल (Thalamic Region or inter Brain and Varollic Pons)। प्रतीच्य मस्तिष्क (Hind Brain) अंश द्वयात्मक है। काशेरुक मज्जा के उर्ध्ववितान में (Medulla Oblongata) ही उत्तर अथवा अन्त्य मस्तिष्क (After Brain) है। मस्तिष्क के तल देश में अनेक ग्रन्थियाँ हैं।

इन तमाम मस्तिष्क विशेष का विवरण देना यहाँ प्रासंगिक नहीं है। इस वर्णना का वर्तमान प्रयोजन मात्र यह है कि मस्तिष्क का कौन अंश इच्छा तथा ज्ञानशक्ति का विकास-स्थान है। बुद्धिपूर्वक, स्वयं निष्पन्न तथा प्रत्यावृत, इन त्रिविध क्रिया की निष्पत्ति कहाँ से होती है। ऐतरेय आरण्यक का कथन है कि मूर्द्धा का मध्यस्थित गह्वर ही ज्ञान तथा इच्छाशक्ति के विकास का प्रधान क्षेत्र है। यहाँ ही ज्ञानेन्द्रिय की बहुलता है तथा कण्ठ के अधोभाग में क्रियाशक्ति की विशेष क्रीड़ाभूमि है। यह कर्मेन्द्रिय बहुल है।[1] प्रतीच्य नरशरीरविज्ञान (Human Physiology) का मत है कि बृहत्तम मस्तिष्क ज्ञानोत्पत्ति का, इच्छा तथा अन्य मनोवृत्तियों का क्षेत्र है। (The seat of consciousness, memory, intellegence and volition)। विशुद्ध स्वयं निष्पन्न तथा प्रत्यावृत्त कर्मसमूह (Reflex and purely automatic actions) अर्थात् जिन कर्मों पर मन का प्रभुत्व नहीं है, जिसे प्राणन् व्यापार कहते हैं (Vital Actions) वे काशेरुक

---

1. "स एतेमेव सीमानं विद्यार्यैतया द्वारा प्रापद्यते विदृतिनाम" —ऐतरेय आरण्यक
तथा
"युस्मात् ज्ञानोपाधिकस्य मूर्द्धमध्ये प्रवेशः तस्मात् मूर्द्धं न ज्ञानेन्द्रियबाहुल्य मुपलभ्यते। क्रियाशक्त्युपाधिकस्य पदाग्रे प्रवेशात् कण्ठादधोभागे कर्मेन्द्रिय बाहुल्यमुपलभ्यते"
—ऐतरेयआरण्यक भाष्य

स्नायुरज्जु द्वारा निष्पादित होते हैं। जो कर्म प्रथमतः बुद्धिपूर्वक किये जाते थे, तदनन्तर अभ्यास के कारण वे अबुद्धिपूर्वक होने लगे, वे क्षुद्र मस्तिष्क (Cerebellum) से साधित होते हैं। प्रत्यावृत क्रिया को 3 भागों में विभक्त किया जाता है—गभीर (Deep or Tendon), यान्त्रिक (Refex Action) तथा बाह्यत्वण्डत्पन्न (Superficial)। वेदादि शास्त्र प्राण अथवा क्रियाशक्ति का कर्म कहकर जिस प्रकार के कर्म को लक्ष्य करते हैं, उसे नरशरीरविज्ञान प्रत्यावृत कर्म कहता है।

क्रिया भेदानुसार स्नायुसमूह को पराचीन अर्थात् केन्द्रातिग (Efferent Centrifugal) तथा प्रतिचीन, केन्द्राभिग (Afferent Centripetal) रूपी भागद्वय में विभक्त किया गया है। पराचीन स्नायुओं को गतिविधायक-संचालक (Molor) नाम से कहा गया है। जो सभी स्नायुरज्जु त्वक् के साथ सम्बद्ध हैं, वे केन्द्रीय यन्त्र में नोदन वहन करते हैं। तभी उन्हें प्रतिचीन केन्द्राभिग (Afferent) कहा जाता है। प्रतिचीन स्नायुसमूह ही संज्ञावादी (Sensation) हैं। अतः देखा जाता है कि मस्तिष्क अथवा इतर केन्द्र से नियोग वहन करते हुए पेशीगण उन्हें पहुँचाना तथा त्वक् से नोदन को ले जाकर मस्तिष्क अथवा केन्द्र-समूह तक उन्हें प्रदान करना, यह द्विविध कार्य करते हैं। प्रत्यावृत्त कर्म निष्पत्ति में त्रिविध यन्त्र का प्रयोजन है। यथा प्रतिचीन स्नायु (Afferent Nerve), स्नायु-केन्द्र में परस्पर मिलितभाव से क्रियाकारी स्नायु कोष श्रेणी (A group of nerve cells acting together) तथा पराचीन स्नायु (Efferent Nerve)।

बृहत्तम मस्तिष्क (Cerebrum) ही ज्ञान तथा इच्छाशक्ति विकास का प्रधान क्षेत्र है। यह सुना तथा प्रत्यावृत्त अभ्यास कर्म जो काशेरुक मज्जा अथवा क्षुद्रमस्तिष्क (Spinal Cord and Cerebellum) द्वारा होते हैं, वह भी सुना। अब यह जानना है कि काशेरुक मज्जा प्रत्यावृत क्रियासमूह का क्षुद्रमस्तिष्क (Cerebellum) तथा बृहत्तम मस्तिष्क (Cerebrum) यथाक्रमेण अभ्यस्त क्रिया के (Acquired, habitual or customary action) तथा बुद्धिपूर्वक कर्मसमूह के क्षेत्र क्यों हो गये? इसका क्या हेतु है कि जो कर्म अभ्यस्त होने के पहले जिस स्थान से प्रारम्भ हुए थे, वे अभ्यस्त होने के अनन्तर अन्यत्र आरम्भ होने लगे?

इन सबका समाधान करने के लिए प्रत्यावृत क्रिया (Reflex Action), स्वयं निष्पन्न अथवा यादृच्छिक क्रिया (Automatic Action), सहजज्ञान (Instinct), तथा इच्छापूर्वक कर्म तथा प्रणिधान (Attention) के तत्व का निरूपण करना होगा। Reflex Action या प्रत्यावृत्त किया सहसा प्रवृत्त परिस्पन्द (Impulsive movements) है। यह बाह्य प्रणोदन से उत्तेजित शक्ति के उद्रेक

तथा पेशियों के आकुंचन से प्रारम्भ होता है। किसी बाहरी शक्ति अथवा देहाभ्यन्तर का आकस्मिक परिवर्तन ही संज्ञावाही स्नायुसमूह (Sensory Nerves) के अन्दर क्रिया करके केन्द्राभिमुखीन आन्तर प्रवाह का उत्पादन करता है। इस प्रवाह से (This inward current to the centres) आकस्मिक क्षोभ का संवेदन होता है। (A shock of sensation) तथा उसके बाद ही संचालक स्नायु द्वारा बहिर्मुख प्रवाह उत्पन्न हो जाता है। यही है प्रत्यावृत्त क्रिया (Reflex Action)। यह प्रत्यावृत क्रिया उत्तेजित अथवा बाधा प्राप्त त्वक् के रक्षार्थ प्रवर्तित होती है। वैशेषिक दर्शन ने इसे जीवन योनि प्रयत्न निष्पादित कर्म कहा है। विद्वान् बेन आदि दार्शनिकों ने 'आत्म संरक्षण' (Self Preservation) शब्द से वैशेषिक दर्शन के जीवन योनि प्रयत्न को ही कहा है। भगवान् वेदव्यास ने पातंजल योगसूत्र के भाष्य में चित्त संस्कार को मुख्यतः भागद्वय में विभक्त किया है। ज्ञानज तथा अनुभवजनित संस्कार स्मृति का कारण है तथा अविद्या आदि संस्कार ही अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष तथा अभिनिवेश के हेतु हैं। यही है मरणत्रास। ये धर्माधर्मरूप संस्कार, जाति, आयु तथा भोगरूप विपाक के कारण हैं। स्मृति तथा क्लेशहेतु वासनारूप संस्कार तथा विपाक हेतु धर्माधर्मरूप संस्कार, ये द्विविध संस्कार ही स्व-स्व कारण द्वारा पूर्वजन्म में निष्पादित, चित्त में विद्यमान, परिणाम-चेष्टा-निरोध-शक्ति तथा जीवनरूप चित्त धर्मसमूह के समान अतीन्द्रिय हैं। परिणाम, चेष्टादि चित्तधर्म समूह जैसे प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, उसी प्रकार वासनारूप तथा धर्माधर्मरूप चित्त धर्मसमूह भी प्रत्यक्ष के विषयीभूत नहीं हैं।[1] प्रत्यावृत क्रिया भी चित्त संस्कार से निष्पादित होती है। भगवान् वेदव्यास उक्त उपदेश से यही सूचित कर रहे हैं।

वैशेषिक दर्शन संस्कार को वेग, स्थिति स्थापक तथा भावनारूप भागत्रय में विभक्त करता है। पृथ्वी, जल, तेजः, वायु एवं मन ये पंचद्रव्य हैं। नोदनादि निमित्त विशेषापेक्ष कर्म से वेग नामक संस्कारोत्पत्ति होती है। स्थितिस्थापक संस्कार के सम्बन्ध में ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थ मानवतत्व में सम्यक् विवेचना की गयी है। भावनाख्य संस्कार वैशेषिक दर्शन के समान आत्मगुण है। यह दृष्ट, श्रुत अथवा अनुभूत अर्थसमूह की स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान (Recognition) का हेतु है। संस्कार पटुप्रत्यय, अभ्यासप्रत्यय तथा आदरप्रत्यय से यह और भी दृढ़ होता जाता है। कोई आश्चर्यपदार्थ नयनपथ में समागत होने से लोग मन लगाकर उसे देखते हैं तथा उनके मन में उस पदार्थ का संस्कार दृढ़रूप से अंकित हो जाता है। प्रशस्तपाद

---

1. "द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपाः विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः ते पूर्वभवाभिसंस्कृता परिणामचेष्टानिरोधशक्ति जीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्त धर्माः"

—योगसूत्र भाष्य

ने इसे पटुप्रत्यय संस्कार कहा है। विद्या-शिल्प-व्यायाम पुनः-पुनः अभ्यस्यमान होने से इसका जो संस्कारातिशय्य होता है, उसे अभ्यास प्रत्ययज संस्कार कहा गया है। जिसे व्याकरणादि शास्त्र कण्ठस्थ है, वह अन्यमनस्क होने पर भी कण्ठस्थ सूत्रादि की आवृत्ति कर लेता है। अभ्यास प्रत्ययज संस्कार ही उसका हेतु है। भावनाख्य संस्कार में आत्मा तथा मनः का संयोग प्रधान कारण है।

मानना होगा कि प्रत्यावृत्तक्रिया संस्कारमूलक है। बाह्य प्रत्यावृत क्रिया की निष्पत्ति में प्रथमतः बाह्य उत्तेजना आवश्यक है। यह अन्तर्मुख प्रवाह उत्पन्न करता है और अन्तर्मुख प्रवाह से संवेदन का जन्म होता है। संवेदन के जन्म से ही बहिर्मुख प्रवाह तथा अंगप्रत्यंग का परिस्पन्दन प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि प्रत्यावृत क्रिया अनिष्ट-परिहार तथा इष्टप्राप्ति का उद्देश्य भले ही हो, परन्तु यह बुद्धिपूर्वक कर्म की तरह प्रतीयमान संकल्पमूलक नहीं है। सन्दर्शन अर्थात् पदार्थ का स्वरूपावधारण, प्रार्थना तथा अध्यवसाय, इन त्रिविध मानस व्यापार से यह प्रारम्भ होती है, ऐसी उपलब्धि नहीं होती। श्वासक्रिया, शोणित संचालन, क्षत संरोहण, परिपाक इत्यादि प्राणन व्यापारसमूह को यान्त्रिक प्रत्यावृत्त अथवा स्वयं निष्पन्न क्रिया कहा गया है (Organic Reflex or Automatic Action)। न्याय वैशेषिक मतानुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख तथा ज्ञान, ये आत्मा के धर्म हैं। स्वार्थ तथा परार्थ, अप्राप्त पदार्थ (स्वार्थ अर्थात् यह मेरा हो, मैं इसे पाऊँ, परार्थ अर्थात् उसे यह हो) की प्रार्थना का नाम है इच्छा। काम, अभिलाष, राग, संकल्प, कारुण्य आदि इच्छा के ही भेद हैं। इच्छा क्यों तथा किसलिए उत्पन्न होती है? आत्मा से मनः का संयोग होने से सुखादि की स्मृति के कारण इच्छा की उत्पत्ति होती है। अप्राप्त विषय में जो इच्छा उत्पन्न होती है, तद्विषय साध्य सुख के अनागत होने पर भी बुद्धिसिद्ध होने के कारण वह इच्छासिद्धि का निमित्त बन जाती है। अर्थात् इच्छित सुख अभी मिला नहीं है, भविष्य के गर्भ में छिपा है, तथापि वह बुद्धि में है। अतः प्रयत्न उदित होकर इच्छासिद्धि का निमित्त बन जाता है। पहले अनुभूत किये गये सुख के कारण जो इच्छा होती है, उसका कारण है पूर्व स्मृति। अप्राप्त अथच प्राप्तव्यरूपेण विनिश्चित पदार्थ को पाने के लिए अथवा त्यक्तव्यरूप अवधारित पदार्थ के त्यागार्थ प्रयत्नादि की अभिव्यक्ति होती है। प्रशस्तपाद प्रयत्न को दो भागों में विभक्त करते हैं— जीवनपूर्वक (जीवनयोनि) तथा इच्छाद्वेषपूर्वक। भाषा परिच्छेद ग्रन्थ में प्रयत्न को प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा जीवन योनिरूप भागत्रय में विभक्त किया गया है।

फुफ्फुस, हृतपिण्ड आदि शरीरयन्त्र में जो अविराम संकुचन-आकुंचन-प्रसारण हो रहा है, उसका कारण है जीवनपूर्वक प्रयत्न। इच्छाद्वेष पूर्वक प्रयत्न, हितप्राप्ति तथा अहित परिहार समर्थ व्यापार का कारण है। धर्माधर्मापेक्ष आत्मा

तथा मनः, इनके संयोग का नाम है जीवन। जीवन से जिसकी उत्पत्ति हो, वह है जीवनपूर्वक, जीवनयोनि। इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न का कारण क्या है? इच्छा तथा द्वेषापेक्ष आत्मा तथा मनः का संयोग होने से इसकी उत्पत्ति होती है। जीवनयोनि प्रयत्न से जो कर्म सम्पन्न होता है, उसे स्वयं निष्पन्न (Automatic) कर्म कहा जाता है।

सहजज्ञान (Instinct) कौन पदार्थ है? जिस ज्ञान को लेकर जीवन जन्म लेता है, सहजज्ञान शब्द का यही मूल अर्थ है। इसे प्रसिद्ध बुद्धिपूर्वक कर्म नहीं कहा जा सकता। ये जन्मान्तरीण प्रतिभा से निष्पादित होते हैं। वर्तमान जन्म का अर्जित ज्ञान इनका प्रवर्तक नहीं है। प्रत्यावृत्त क्रिया से सहजज्ञान कृत क्रिया का पार्थक्य क्या है? आदर्शभूत बाह्य (Typical) प्रत्यावृत्त क्रिया अमिश्र क्षणिक क्रिया (Simple Momentary Act) है। सहजज्ञान कृत क्रिया व्यामिश्र क्रिया परम्परा (Complex series) है। सहजज्ञान कृत कर्म का आत्मा में बाधानुभव ही उद्दीपक कारण है। व्यक्तिगत उपस्थित बाधा का अपसारण प्रत्यावृत्त क्रिया का उद्देश्य है। बाह्य वर्तमान उपराग (Impression) यथोक्त प्रत्यावृत्त क्रिया का उद्दीपक है। सहजज्ञान कृत कर्म का फल कालान्तर में प्रसूत होता है। यह अन्य का भी भोग हो सकता है। कई बार कर्म करने वाला अपने अनुष्ठित कर्म का फलभोग करने के पहले ही जीवनलीला का त्याग करने के लिए विवश हो जाता है। जातमात्र पशु-पक्षी आदि के क्रमशः स्तन्यपान, आहारसंग्रह इत्यादि निकृष्ट पर्व के सहजज्ञान कृत कर्मसमूह के साथ प्रत्यावृत क्रिया के पार्थक्य की उपलब्धि न होने पर भी उत्कृष्ट पर्व के सहजज्ञान कृत कर्मसमूह के साथ प्रत्यावृत क्रिया का विशेष पार्थक्य अनुभूत होता है। प्रसिद्ध बुद्धिपूर्वक कर्मसमूह से सहजज्ञान कृत कर्मसमूह का क्या कोई विशेष पार्थक्य है?

सहजज्ञान कृत कर्म (Instinctive Action) तथा प्रसिद्ध बुद्धिपूर्वक कर्म, अभाव तथा बाधा बोध दोनों के ही प्रवर्तक हैं। तब बुद्धिपूर्वक कर्म के अनुष्ठान में कार्यकर्ता के अभाव अथवा बाधा का अनुभव होने पर किस उपाय का सहारा लेने पर वह विदूरित हो जाता है, इसका निश्चय प्रत्यक्षादि प्रमाण से करते हैं। तदनन्तर उसे पाने की इच्छा होती है, इसके अनन्तर क्रिया का आरम्भण होता है। न्यायदर्शन के भाष्य में वात्स्यायन मुनि तथा पाणिनि व्याकरण के महाभाष्य नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ में पतंजलि देव बुद्धिपूर्वक कर्म के प्रदर्शनार्थ जो कहते हैं, उसका श्रवण करना आवश्यक है। "ज्ञाता तथा प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा किसी विषय की उपलब्धि करने के पश्चात् उपलभ्यमान अर्थ का ग्रहण अथवा त्याग (प्रयोजनानुसार) करते हैं।" यदि उन्हें प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा उपलभ्यमान अर्थ यदि अभीप्सित होता है, यदि उससे किसी प्रयोजन को सिद्ध होने की सम्भावना

प्रतीत होती है, तब उसे ग्रहण करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तब उसे त्याग कर देते हैं। सन्दृष्ट प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा प्रमित अथवा बुद्धि का विषयी भूत अर्थ प्रार्थित अथवा जिहासित होने पर ज्ञाता द्वारा तदधिगम अथवा तत्परित्याग की प्रवृत्ति होती है। तदनन्तर कर्म का आरम्भ होता है।

अतः बुद्धिपूर्वक कर्म में सन्दर्शनादि द्वारा सहजज्ञान की प्रेरणा से जीव अवशभावेन कर्म करता है। "ऐसा कर्म करने से ऐसा फल मिलेगा, इसलिए करना उचित है", ऐसे पूर्वेक्षण (Prevision) अथवा विवेचना से सहजज्ञान कृत कर्म अनुष्ठित नहीं होता। बुद्धिपूर्वक कर्म तथा सहजज्ञान कृत कर्म में जो पृथकता है, वह ज्ञात हुआ। अब जिज्ञासा होती है कि जीव सहजज्ञान की प्रेरणा से जो कर्म करता है, वह प्रेरणा कैसे उत्पन्न होती है? प्रतीच्य मनीषीगण इस प्रश्न के समाधानार्थ नानाविध सिद्धान्त बनाते हैं, किन्तु कोई भी सिद्धान्त विशुद्ध नहीं लगता। सहजज्ञान जन्मान्तर की प्रतिभा अथवा संस्कारमूलक है। यही सत् सिद्धान्त है। सहजज्ञान के तत्व की यथायथ व्याख्या करने के लिए जीवन तथा मनः की प्रथमाभिव्यक्ति काल का प्रत्यक्ष आवश्यक है। अनुमान से इसका स्वरूपनिरूपण कथमपि सम्भव नहीं है।

अत्यन्त अथवा गौण स्वयंसिद्ध कर्म (Secondarily Automatic Action) तथा मुख्य स्वयं निष्पन्न कर्म, इन दोनों के साधर्म्य-वैधर्म्य का विचार करने से क्या शिक्षा मिलती है? अभ्यस्त अथवा गौण स्वयं निष्पन्न कर्म अभ्यस्त होने के पूर्व ज्ञान तथा इच्छापूर्वक निष्पन्न होता है। इस कर्म का यह फल होगा, इस प्रकार के विश्वास के वशीभूत होकर लोग प्रथमतः कर्मप्रवृत्त होते हैं और पुनः-पुनः कर्म करते-करते जब अभ्यस्त हो जाते हैं, तब मन के प्रणिधान के बिना संस्कार द्वारा ही वह कर्म निष्पन्न हो जाता है। जो कर्म वर्तमान जीवन में पुनः-पुनः अनुष्ठित होने के कारण अभिव्यक्त ज्ञान अथवा इच्छा की मुखापेक्षा किये बिना निष्पन्न होता है, उसे **गौण स्वयंनिष्पन्न कर्म** कहा जाता है। और जो कर्म जन्मान्तर के अभ्यासवशात् मन के प्रणिधान के बिना ही सम्पन्न होता है, उसे **मुख्यस्वयंसिद्ध कर्म** कहा गया है। शास्त्र ने इन दोनों कर्म को 'प्रातिभ' प्रतिभा हेतुक कहा है।

सूक्ष्मभावेन अवस्थित शक्ति बिना यत्नान्तर की अपेक्षा किये अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार से जन्मान्तर के अभ्यास से प्रत्येक व्यक्तिगत प्रतिभा भी निमित्त कारण सहयोग से प्रकट हो जाती है। प्राणिमात्र ही स्व-स्व प्रतिभा के अनुसार अपने कर्तव्य का निर्णय करते हैं कि यह ऐसा है, ऐसा नहीं है, इत्यादि। पशु-पक्षी-कीट-पतंग-बालक-वृद्ध-प्रौढ़-युवा सभी अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार उसका अवधारण करते हैं। कोकिल मधुमास में जो पंचम स्वर से गायन करते हैं,

भ्रमर अपने-अपने स्थल का निर्माण करते हैं, वानर-श्वान प्रभृति पशु यह निर्वाचन करते हैं कि क्या हितकर है और क्या हितकर नहीं है, इन सबमें प्रतिभा ही कारण है। अनादि प्रतिभा से ही भिन्न-भिन्न जीव अपने स्व-स्व जातिगत आहारादि क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं। भर्तृहरि ने विशिष्टसूत्र से प्राप्त प्रतिभा को छः भागों में विभक्त किया है—यथा स्वभावज, चरणज, अभ्यासज, योगज, अदृष्टोपपादित, विशिष्टोपहित।[1] (वर्तमान जन्म में) अभ्यासज प्रतिभा कृत कर्म ही गौण स्वयंसिद्ध कर्म हैं। स्वभावज प्रतिभासिद्ध कर्म हैं, मुख्य स्वयंनिष्पन्न कर्म। जब अभ्यासवशात् कर्मसमूह मन के प्रणिधान के बिना स्वयं निष्पन्न होते हैं, तब बुद्धि अथवा मन के स्थान (Cerebrum) से उनका प्रारम्भ नहीं होता। जो कर्म अधःस्तन कर्मचारीगण द्वारा सम्पन्न होते हैं, उसे करने के लिए मन क्यों व्यस्त हो? राजा ने जिनको जो-जो कर्म करने का अधिकार दिया है, वे राजा की अनुमति के बिना भी उन-उन कर्मों को करते हैं। प्रत्येक कार्य का व्यवस्थापन अथवा प्रवर्तन एक व्यक्ति को करना होगा। श्रम का बँटवारा ही उन्नति का मूल है।

प्रत्यावृत क्रिया मुख्य स्वयंनिष्पन्न क्रिया (Automatic Action) है। अभ्यस्त अथवा गौण स्वयंनिष्पन्न क्रिया (Secondarity Automatic Action), सहजज्ञान कृत क्रिया (Instinctive Action) तथा प्रसिद्ध बुद्धिपूर्वक क्रिया (Voluntary Action), सभी कर्मों का स्वरूप विदित हुआ। अब यह जानना है कि बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक, इन द्विविध कर्म में किस प्रकार का कर्म प्राथमिक है। प्रथमतः बुद्धिपूर्वक कर्म की निष्पत्ति होती है। तदनन्तर (अभ्यस्त होने के पश्चात्) अबुद्धिपूर्वक कर्म की निष्पत्ति होती है अथवा पहले अबुद्धिपूर्वक कर्म प्रारम्भ होता है, तत्पश्चात् बुद्धिपूर्वक कर्म निष्पन्न होता है। गौण स्वयं निष्पन्न कर्म की ओर दृष्टिपात करने से यह सिद्धान्त उपनीत होता है कि बुद्धिपूर्वक कर्म ही पहले प्रारम्भ होता है। अब जब मुख्य स्वयंसिद्ध अथवा प्रत्यावृत्त कर्मसमूह को परीक्षार्थ ग्रहण किया जाता है, तब 'बुद्धिपूर्वक कर्म ही सर्व प्रकार के कर्म की आद्यावस्था है', यह प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न नहीं होता। विद्वान् स्पेन्सर ने बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक, इन द्विविध कर्म के स्वरूपावधारण के लिए उद्यत होने पर जो अनुमान किया है पहले उसे जानकर तब शास्त्र ने इस सम्बन्ध में क्या कहा है, उससे तथा विद्वान् स्पेन्सर के अनुमान के तुलनात्मक, सादृश्य, वैसादृश्य का विचार किया जायेगा।

पण्डित स्पेन्सर ने अनुमान, स्मृति (Memory), प्रज्ञा तथा विवेकशक्ति (Reason) तथा अनुभव (Feeling) इनकी भिन्न-भिन्न अवस्था में, स्वयं

---

1. "स्वभावचरणाभ्यास योगदृष्टोपपादिता।
विशिष्टोपहिता चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः॥" —वाक्पदीय

निष्पन्न कर्म जब व्यामिश्र (Complex), असतत, अनिरन्तर (Infrequent) तथा विलम्बित (Hesitating) होते हैं, तभी स्मृति, प्रज्ञा तथा अनुभवशक्ति का युगपत् आविर्भाव कहा है। इच्छाशक्ति भी स्मृत्यादि के समान स्वयं निष्पन्न कर्म से उद्भूत है। जिस नियम से, जिस अवस्था से स्वयं निष्पन्न कर्म से स्मृति आदि की अभिव्यक्ति होती है, इच्छाशक्ति भी उसी नियम से, उसी अवस्था से उद्भूत होती है। चित्तपरिणाम तथा वृत्तियाँ (Physical Changes) जब अमिश्र अवस्था से (Simple से) व्यामिश्र अथवा जटिलावस्था (Physical Changes) में उन्नीत होते हैं, सुदृढ़ तथा दुर्भेद्य संसक्तभाव से (Indissolubly Coherent) विद्राव्य अथवा विलयनशील संसक्तभाव (Involved and dissolubly coherent) में उपनीत होते हैं तभी स्मृति, प्रज्ञा, अनुभव तथा इच्छा अपने आप प्रारम्भ हो जाती है। मिश्र, प्रत्यावृत क्रिया अवस्था का अतिक्रमण करके (On passing from compound reflex actions) चित्तवृत्ति जब इस प्रकार अतिमात्र, सम्मिश्र तथा जटिलावस्था को प्राप्त होती है, तब उनको अब सम्पूर्णतः प्रत्यावृत (Reflex) क्रिया नहीं कहा जा सकता। द्रुत तथा अतार्किक रूप से निष्पद्यमान, दैहिक यन्त्र द्वारा संकल्पित अवस्था से जब उनको इस अवस्था की प्राप्ति होती है, जिस अवस्था में वे अब दैहिक यन्त्रों से संकल्पित नहीं होतीं (Orginally determined), अतः जिस अवस्था में उनकी निष्पत्ति पूर्ववत् द्रुत अथवा अतर्किक भावेन नहीं होती, विलम्बित भाव में बुद्धिपूर्वक होती है (Consciously होती है), तभी स्मृति, प्रज्ञा, अनुभव तथा इच्छारूपी मनोवृत्तियों का स्फुरण होता है।[1] सर्वप्रकार के संवित अथवा ज्ञान तो (All modes of consciousness) इन्द्रिय तथा उनके विषय अथवा अर्थ, इन दोनों की अन्योन्य संगति अथवा सम्बन्धमूलक व्यापार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। इन्द्रिय तथा विषय के सन्निकर्षमूलक उक्त व्यापार समूह पारस्परिक संगत परिवर्तन के निर्वाह के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इन्द्रिय तथा विषय की पारस्परिक सन्निकर्षण क्रिया द्वारा आन्तरसम्बन्धसमूह को बाह्यसम्बन्धसमूह के साथ एकीभूत किया जाता है। उपराग अथवा बाह्यनोदन ग्रहण में तथा यथायोग्य परिस्पन्दनात्मक कर्म की निष्पत्ति में कोई आन्तर सम्बन्ध अवश्य है। यह आन्तर

1. "Memory, Reason and Feeling, simultaneously arise as the automatic actions become complex, infrequent and hesitating, and will, arising at the same time is necessiated by the same conditions. As the advance from the simple and indessolubly co-herent phycical changes, to the phychical changes that are involved and dissolubly coherent, is in itself the commencement of Memory, Reason and Feeling, so too is it in itself the commencement of will."

—Principle of Psychology, Vol. I, Pg 495

सम्बन्ध यदि व्यवस्थित तथा संघटित हो जाये तब, आन्तर तथा बाह्य के सन्निकर्षमूलक सभी व्यापार अमिश्र अथवा व्यामिश्र प्रत्यावृत क्रियात्मक (Reflex order, either simple or compound) हो जाते हैं तथा इस जातीय क्रिया की निष्पत्ति में जिसे प्रकृत संवित (Consciousness) कहते हैं, वे विद्यमान नहीं रहते और यदि वह आन्तर सम्बन्ध सम्यक्रूपेण व्यवहित न हो, तब बाह्य उपराग तथा परिस्पन्दनात्मक कर्म में सभी मानस परिणाम होते हैं। इन्हें बुद्धिपूर्वक कहना होगा।

बाह्य उपराग तथा तत्जनित क्रिया की अनुषंगी मानस वृत्ति अथवा अवस्था समूह जब जिस प्रकार से परस्परतः संसक्त होती है, उनका क्रम पूर्वापरीभाव से प्रवाह की निरन्तरता से बिना विलम्ब चलता रहता है। ऐसी स्थिति में अबुद्धिपूर्वक कर्म सम्पन्न होता है। मानस वृत्ति का बिना विलम्ब उत्तरोत्तर अनुक्रमण ही अबुद्धिपूर्वक कर्म का लक्षण है। बुद्धिपूर्वक कर्म निष्पत्ति में मानस अवस्थाओं का (असम्पूर्ण भाव की संसक्ति के कारण) पूर्वापरीभाव का प्रवाह विलम्बित रूप से होता रहता है। इनके पूर्णभाव को स्फुरित होने में विलम्ब होता है। इस प्रकार की कर्मनिष्पत्ति में अनुभवनीय काल के कारण बौद्ध व्यापार अपेक्षित होता है। अतः कहा जा सकता है कि स्वयं निष्पन्न कर्म की निवृत्ति तथा बुद्धिपूर्वक कर्म का आरम्भ एक ही बात है।[1] जब बालक प्रथमतः चलने की शिक्षा ग्रहण करता है, तब उसके प्रत्येक पाद प्रक्षेप में मन का प्रणिधान आवश्यक है। किन्तु अभ्यस्त हो जाने पर वह अन्यमनस्क होकर भी चल सकता है, तब उसे प्रत्येक पादप्रक्षेप पर मन का प्रणिधान आवश्यक नहीं है। अब प्रश्न उठता है कि क्या सभी कर्म पहले बुद्धिपूर्वक होकर तदनन्तर अभ्यास द्वारा गाढ़ता के कारण अबुद्धिपूर्वक हो जाते हैं? शिशु का प्राथमिक कर्म तो यादृच्छिक था (Spontaneous), प्रत्यावृत अथवा सहजज्ञान कृत (Instinctive) था। अर्थात् बुद्धिपूर्वक कर्म से भिन्न था। कोई-कोई

---

1. "If the inner connection is organized, the action is of the reflex order, either, simple or compound, and none of the phenomena of consciousness proper exists. If the inner connection is not organized then the psychical changes which come between the impressions and the motions are conscious ones : Involuntary movement implies that the psychical states accompanying the impression and the action are so coherent that one follows the other instantly, while voluntary movement implies that they are so imperfectly coherent, that the physical state accompanying the action does not follow instantly is partially aroused before it is fully aroused and so occupies consciousness for an appreciable time. Thus the cessation of automatic action and dawn of voilition are one and the same thing." —Principle of Psychology, Vol I, Pg 496-497

कहते हैं कि शिशु का प्रथम परिस्पन्द यादृच्छिक तथा प्रातिक्षेपिक (Spontaneous and Reflex Kind) है। यह स्वयं निष्पन्न परिस्पन्द समूह सुख-दुःख का जनक हो जाता है। जिस जाति का परिस्पन्द अनुकूल वेदन तथा सुख का जनक होता है, उस परिस्पन्द की पुनः-पुनः आवृत्ति तथा विस्तार (Prolongation and Repetition) होता है। वह कर्म तथा उसका फल चित्त में संलग्न हो जाता है। कालान्तर में जब पूर्वानुभूत सुख की स्मृति जागती है, तब उसके साथ उस जातीय क्रिया की स्वतः प्रवृत्ति होती है।

महर्षि कणाद कहते हैं कि सुखभोग के अनन्तर सुख के हेतु भूत पदार्थ राग-आसक्ति एवं दुःखभोग के अनन्तर तज्जातीय दुःख तथा उससे विराग अथवा द्वेष का जन्म होता है। सुखभोग काल में सुख तथा उसके साधन के प्रति राग तथा दुःखभोग काल में दुःख तथा उसके हेतुभूत पदार्थ के प्रति द्वेष अथवा विराग का आविर्भाव क्यों होता है, यह तो समझ में आ गया। किन्तु बात यह है कि इनके भोगान्तरकाल में दुःख अथवा सुख के प्रति यथासम्भव क्रमशः द्वेष तथा राग का कारण क्या है? महर्षि कणाद इसके उत्तर में कहते हैं कि विषयाभ्यास निमित्त संस्कार ही उसका कारण है।

यह देखा जाता है कि वर्तमान देह में जिन विषयों से उपराग नहीं है, इन्द्रिय के साथ कभी भी जिसका सन्निकर्ष घटित नहीं है, ऐसे विषयों के प्रति लोगों को राग अथवा द्वेष हो जाता है। जिसे देखा नहीं, सुना भी नहीं, इस जीवन में जो कभी प्रत्यक्षीभूत नहीं हुआ, उसके प्रति राग अथवा दोष की उत्पत्ति का हेतु क्या है? वैशेषिक दर्शन का उत्तर है, अदृष्ट अथवा जन्मान्तर कृत संस्कार ही उसका कारण है। जाति अथवा जन्मविशेष से ही स्वाभाविक रागद्वेषरूपी विशिष्टता देखी जाती है। मनुष्य की प्रकृति में जिनके प्रति साधारणतः अनुराग अथवा विराग होता है, वैसा पश्वादि जीव प्रकृति में नहीं होता। मनुष्य में भी सत्वादि गुण के न्यून्याधिक के अनुसार राग-द्वेष की भिन्नता हो जाती है। जाति अथवा जन्मविशेष होने पर स्वाभाविक रागद्वेष की विशिष्टता परिलक्षित होती है। माता-पिता एक होने पर भी सहोदरगण की रुचि का विषय एक नहीं होता।

बुद्धिपूर्वक कर्म अथवा अबुद्धिपूर्वक कर्म, तनिक चिन्तन से विदित होता है कि दोनों ही का प्रयोजन है इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार। जो अनिष्ट है उसका किसी प्रकार से त्याग किया जाये तथा जो इष्ट है उसे समधिगत किया जाये। जो कर्म इस प्रकार के ज्ञान तथा विचारपूर्वक अनुष्ठित होता है, वही बुद्धिपूर्वक कर्म है। जो जातीय कर्मसमूह एवम्प्रकार ज्ञान एवं विचारपूर्वक अनुष्ठित नहीं होते, उनको अबुद्धिपूर्वक कर्म कहा जाता है। अणु तथा परमाणु समूह परस्परतः आकर्षण-विकर्षण करते हैं, वह अबुद्धिपूर्वक कर्म का उदाहरण है। इनके आकर्षण-विकर्षण

का कारण क्या है। यह उनका स्वभाव है। परस्परतः आकर्षण-विकर्षण करना स्वभाव है, इसका तात्पर्यार्थ क्या है? अणुसमूह जो परस्परतः आकंर्षण-विकर्षण करते हैं, उसका कोई कारण नहीं है, वह निर्निमित्तिक है। यह उनका स्वभाव है, इसका क्या अर्थ है? इस प्रकार के स्वभाव वादीगण से उदयनाचार्य प्रश्न करते हैं कि जो निर्निमित्त है, जो बिना कारण उत्पन्न है, वह सर्वदा सर्वत्र, सभी देश तथा काल में उत्पन्न क्यों नहीं होगा?

स्पेन्सर आदि जड़ैकत्ववादी विद्वान् बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक कर्म के साधर्म्य-वैधर्म्य विचार में प्रवृत्त होकर जो सब कहते हैं, उसके अभिप्राय को हम सम्यक् प्रकार से समझ नहीं पा रहे हैं। हमें विचार आता है कि इन विद्वानों का अनुमान दोषरहित नहीं है। अबुद्धिपूर्वक कर्म क्रमशः बुद्धिपूर्वक तथा बुद्धिपूर्वक कर्म क्रमशः अबुद्धिपूर्वक हो जाता है। शिशु की प्रथमावस्था में कतिपय कर्म जो बुद्धिपूर्वक होते हैं, देखा जाता है कि अभ्यास की गाढ़ता से वह क्रमशः अबुद्धिपूर्वक कर्म का आकार ले लेता है। अतः कौन-सा कर्म प्राथमिक है, क्या यह निश्चय सम्भव है? पशु-पक्षी प्रभृति चिरकाल से अबुद्धिपूर्वक कर्म करते चले आ रहे हैं। ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि इनका अबुद्धिपूर्वक कर्म कभी बुद्धिपूर्वक का आकार ले सके। हमारे देह तथा मन में जो सब कर्म होते हैं, उनमें से कतिपय जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक अबुद्धिपूर्वक ही देखने में आते हैं। हम स्पेन्सर के ग्रन्थ को पढ़कर यह भी नहीं जान सकते कि अबुद्धिपूर्वक कर्म की बुद्धिपूर्वक कर्म में परिणति उन्नति है, किंवा अवनति है? शिशुगण जब क्रमशः बालक एवं युवा हो जाते हैं, तब उनके अभ्यासवशात् अनेक बुद्धिपूर्वक कर्म भी अबुद्धिपूर्वक कर्म में परिणत हो जाते हैं। अतएव बुद्धिपूर्वक कर्म की अबुद्धिपूर्वक कर्म में परिणति को उन्नति कहना होगा। तब भी संशय होता है कि कर्म का अभ्यास क्या जड़त्वप्राप्ति का कारण है? कर्म का अभ्यास क्या बुद्धि का क्रमिक विलोप है?

विद्वान् स्पेन्सर प्रभृति की दृष्टि में जड़ तथा चेतन दो विभिन्न पदार्थ नहीं हैं। अतएव इनकी समदृष्टि में इन दोनों का मूल्य समान है। जड़त्वप्राप्ति को यह लोग उन्नति मानते हैं। जड़ तथा चैतन्य दो विभिन्न जातीय पृथक् पदार्थ नहीं हैं, किन्तु पाषाण, उद्भिद्, इतरजीव, मनुष्य में जो पार्थक्य है, वह निश्चित है। अणुओं के सन्निवेश तथा संख्या में भेद के कारण जो पाषाणादि का भेद हुआ है, वह ज्ञात है, किन्तु बात यह है कि इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न, प्रज्ञा, अनुभव, स्मृति इत्यादि के स्वयं निष्पन्न कर्मसमूह जब जटिल हैं, व्यामिश्र, असतत तथा विलम्बित हैं, तभी उनका आविर्भाव हुआ है, क्या विद्वान् स्पेन्सर प्रभृति सन्दर्शन तथा परीक्षा द्वारा ऐसे सिद्धान्त में उपनीत हुए हैं? कतिपय स्वयं निष्पन्न कर्म

किसी काल में भी बुद्धिपूर्वक नहीं हो सकते, उसका कारण क्या है? संज्ञावाही स्नायुसमूह प्रथमावस्था से ही संज्ञावाही हैं, अथवा वे कर्मवशात् संज्ञावाही हैं? इच्छाधीन तथा अनिच्छाधीन, इन दोनों में से इच्छाधीन पेशियाँ किस धर्म अथवा अधर्म से, किस सुकृति अथवा दुष्कृति से इच्छाधीन हो सकीं? और अनिच्छाधीन पेशियाँ किस कारण से अनिच्छाधीन हैं? प्रत्यावृत्त कर्म अवस्था-विशेष में यदि बुद्धिपूर्वक कर्म हो जाये, तब संचालक स्नायुविशेष का अवस्था-विशेष में संज्ञावाही होना तथा अनिच्छाधीन पेशी का अवस्थाविशेष में इच्छाधीन होना असम्भव क्यों होगा? हृद्यन्त्र न जाने कब से प्रत्यावृत कर्म करता आ रहा है, तथापि उसकी उन्नति क्यों नहीं होती? कतिपय बुद्धिपूर्वक कर्म अभ्यास से अबुद्धिपूर्वक कर्म के समान मन के प्रणिधान के बिना अवश्य निष्पन्न होते हैं, किन्तु तादृश अभ्यस्त कर्मसमूह क्या मन के प्रभुत्व के बिना है? प्राणन व्यापार में जो प्रत्यावृत यान्त्रिक क्रिया कही गयी है, वह कभी भी बुद्धिपूर्वक नहीं हो सकती, ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं है।

निकृष्टतम एक कोषात्मक (Protozoa) प्राणी का प्राणन व्यापार भी स्वयंसिद्ध अथवा प्रत्यावृत क्रिया है। और मर्त्यधाम के उत्कृष्टतम जीव मनुष्य का प्राणन् व्यापार भी स्वयंसिद्ध है अथवा प्रत्यावृत्त क्रिया है। रिजोपोडा (Rhizopoda) से मनुष्यपर्यन्त प्राणन रूप प्रत्यावृत्त क्रिया की कितनी आवृत्ति हुई है। किन्तु इनके स्वभाव का परिवर्तन क्यों नहीं हुआ? प्रत्यावृत्त तथा स्वयं निष्पन्न क्रिया जैसी शक्ति से निष्पन्न होती है, बुद्धिपूर्वक क्रिया वैसी शक्ति से निष्पन्न नहीं होती। प्रत्यावृत्त क्रिया का राजस तथा तामस कर्म संस्कार ही इसका कारण है। सत्वगुण तथा सात्विक कर्मसंस्कार द्वारा बुद्धिपूर्वक कर्म साधित होता है। गुणत्रय अन्योन्य मिथुन वृत्तिक हैं। अन्योन्याश्रय वृत्तिक हैं तथा अन्योन्यजनक वृत्तिक भी हैं। मनः सत्वगुणप्रधान परिणाम है। सत्वगुणाधिक्य से इसकी उत्पत्ति होती है। प्राण रजोगुणप्रधान परिणाम है। इच्छाशक्ति-क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति यह त्रिविध शक्ति नाद अथवा शब्दब्रह्म से अविभक्त होती है। नाद, चित् तथा अचित् द्विविध शक्ति सम्बन्धरूप है, यह चिदचिदात्मक है। चिच्छक्ति सर्वव्यापक होने पर भी, सभी पदार्थ के अन्तर में विद्यमान रहने पर भी, सत्वादि गुणत्रय के प्राधान्य तथा अप्राधान्य के कारण सर्वत्र समभावेन अभिव्यक्त नहीं होती। रजः तथा तमः गुणप्रधान उपाधि में इसकी अभिव्यक्ति नितान्त संकीर्ण अथवा मलिन भाव से होती है। तामस तथा राजस वस्तुजात इसी कारण बुद्धिपूर्वक कर्म नहीं कर पाते। इसी कारण राजस, तामस क्रियासमूह को बुद्धिपूर्वक नहीं कहा जाता। पशु-पक्षी आदि इतर जीव तमोगुणप्रधान हैं और अबुद्धिपूर्वक कर्म करते हुए जीवलीला परिसमाप्त करते हैं। बुद्धिपूर्वक कर्मसमूह में कतिपय कर्म हैं, जो अभ्यास की गाढ़ता से मन के प्रणिधान बिना भी होते हैं, इसमें संस्कार ही कारण है।

पुरुष के प्रयत्न द्वारा खींचने से धनुष में आद्यकर्म उत्पन्न होता है। नोदनादि कारण से समुत्पन्न आद्यकर्म द्वारा समानाधिकरण वेगाख्य संस्कार तीर में आ जाता है। इसलिए नूतन नोदन न होने पर भी तीर कुछ दूर चला जाता है। बुद्धिपूर्वक कर्मसमूह इसी प्रकार अभ्यस्त होकर भावनाख्य संस्कार के कारण मन के नोदन अथवा प्रणिधान की अपेक्षा किये बिना निष्पन्न होते रहते हैं।

सांख्यदर्शन का मत है कि निश्चय अर्थात् अध्यवसाय तो बुद्धि की वृत्ति है। बुद्धि से निश्चित पदार्थ ही 'मैं', 'मेरा' रूप अहंकार की वृत्ति रूप इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। अहंकार सात्विक, राजस तथा तामस भेद से त्रिविध है। सात्विक अहंकार से ज्ञानेन्द्रिय तथा मन का, राजस अहंकार से प्राण का तथा तामस अहंकार से पंचतन्मात्र अथवा पंचसूक्ष्मभूत का परिणाम होता है। "जो कर्म अहंकार से उत्पन्न (सात्विक अहंकार से) हैं, जो इन्द्रिय तथा मन के साक्षात् क्रियाधीन हैं, उन्हें हम बुद्धिपूर्वक कर्म कहते हैं। जो कर्म तामस अहंकार से निष्पादित होते हैं अथवा जो समष्टि एवं व्यष्टि महत्तत्वकृत हैं, वे ही हमारे द्वारा अबुद्धिपूर्वक कर्म कहे जाते हैं।" इन सब बात का अभिप्राय क्या है, इसका चिन्तन करना चाहिए।

सन्दर्शन-पदार्थ के स्वरूप का निर्धारण (निरूपण), प्रार्थना तथा अध्यवसाय इन त्रिविध मानस व्यापार को सर्वप्रकार बाह्य क्रिया प्रवृत्ति का आद्यपर्व कहते हैं। मनुसंहिता में कहा कि संकल्प सर्वक्रिया का मूल है। काम संकल्पयुक्त है, यज्ञ संकल्पसम्भव है, व्रत-नियमादि संकल्पज हैं। संकल्प कौन पदार्थ है? सन्दर्शन, प्रार्थना तथा अध्यवसाय, यह त्रिविध मानस व्यापार ही संकल्प शब्द द्वारा लक्षित हैं। 'इस पदार्थ से ऐसे कार्य की सिद्धि होगी'। मेधातिथि का कथन है कि इस प्रकार की बुद्धि को संकल्प कहा गया है।[1] छान्दोग्य श्रुति का पाठ करने से अवगत होता है कि विश्वजगत् संकल्पमूलक है। संकल्प से जगत् उत्पन्न होता है। संकल्प से जगत् विलीन हो जाता है। संकल्प से ही जगत् की प्रतिष्ठा होती है। भौतिक जगत् में जो सब क्रिया निष्पन्न होती है, वह भी संकल्पपूर्वक ही है।

इच्छा (Will) के सम्बन्ध में विद्वान् स्पेन्सर के मत को संक्षेप में विवेचित किया गया। इन्होंने इसे जिस दृष्टि से देखा है, कान्ट, मार्टिनिऊ, ग्रीन, वेल्स ने उस दृष्टि से नहीं देखा है। वेल्स कहते हैं कि इच्छाशक्ति ही समस्त शक्ति की आदिभूत है। विश्वजगत् परमेश्वर की इच्छा ही है। अध्यापक ग्रीन कहते हैं कि

---

1. "सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
व्रतनियमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः॥"

—मनुसंहिता (इस पर मेधातिथि का भाष्य देखें)

इच्छा मनुष्य का पृथक् अंश नहीं है, बुद्धि काम, इनकी इच्छाशक्ति से पृथक् विवेचना नहीं की जा सकती। मनुष्य इच्छाशक्तिरूप है। इच्छा ही सर्वशक्ति का मूल है। कान्ट भी कहते हैं कि मनुष्य की इच्छा ही आत्मा है। पाश्चात्य दार्शनिक विद्वान् में से कोई-कोई ज्ञान-शक्ति को बुद्धि तथा संयमशक्ति को इच्छाशक्ति कहते हैं।[1] वेल्स प्रभृति विद्वानों ने जो इच्छाशक्ति को सर्वशक्ति अथवा सर्वकर्म का मूल कहा है, विश्वजगत् को परमेश्वर की इच्छाशक्ति का स्वरूप कहा है, मानव की इच्छा को ही उसकी आत्मा कहा है, इस प्रकार के मत का कारण क्या है? विद्वान् स्पेन्सर प्रभृति जड़ैकत्ववादी दार्शनिकों की दृष्टि में जो स्वयं निष्पन्न कर्म के रूप में प्रादुर्भूत पदार्थ के रूप में प्रतीत हुआ है, जिसे वे प्रत्यावृत्त क्रिया का संस्कार समझते हैं, वेल्स क्या उसी को सर्वशक्ति का मूल कह रहे हैं? क्या ग्रीन तत्पदार्थ को सर्वकर्म के मूलरूप में ग्रहण कर रहे हैं? कान्ट क्या उसे मानव की प्रकृत आत्मा (Self) कह रहे हैं?

विद्वान् स्पेन्सर विश्वजगत् के तत्व का विनिश्चय करने में प्रवृत्त होकर शक्ति (Force) को ही इसका मूलतत्व अवधारित करते हैं। वेल्स कहते हैं भूत तथा भौतिक शक्ति वास्तव में पृथक् पदार्थ नहीं है, भूत वास्तव में शक्ति से भिन्न नहीं है। शक्ति ही भूत है।[2] भूत कहने से साधारणतः जो समझा जाता है, वह वास्तव में सत्पदार्थ नहीं है। दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर वैसे पदार्थ का अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता। (And is, in fact philosophically inconceivable)

---

1. "If therefore, we have traced one force, however minute, to an orgin in our own will, while we have no knowledge of any other primary cause of force, it does not seem an improbable conclusion that all force may be willforce, and thus, that the whole universe is not merely dependent on, but actually is the will of higher intellegence or of one supreme intellegence."

—Natural Selection, By A.R. Wallace, Page 212

तथा

"Will then is equally and indistinguishable desire and thought not however mere desire or mere thought, if (by) that is meant desire or thought as they might exist in a being that was not self distinguishing and self seeking..."

—Prolegomena to Ethics, F.H. Green, Page 178

तथा

"Kant says of man that his will is his proper self."

—Metaphysics of Ethics, Page 71

"Intellect is knowing power, will is controlling power."

—H.Calderwood

2. "Matter is essentially force and nothing but force."

—Natural Selection, Page 210

जब हम किसी भौतिक वस्तु का स्पर्श करते हैं, तब हमारे प्रतिघात अथवा प्रतिबन्धकता का ही संवेदन होता है। संस्त्यान अथवा विप्रकर्षण शक्ति का (Sensation of Resistence) ही अनुभव होता है। अतः इन्द्रियों द्वारा हम भूत अथवा भौतिक शक्ति का जो रूप जान सकते हैं, वह संस्त्यान शक्ति (Repulsive शक्ति) के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। महाभाष्यकार भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि "विश्वजगत् का दृश्यमान रूप है शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धात्मक। शब्द स्पर्शादि पुनः वास्तव में संस्त्यान तथा प्रवृत्ति रूप शक्ति द्वयात्मक है।"[1] अथवा विश्वजगत् त्रिगुण का कार्य है, इस शास्त्रोपदेश को स्मरण करो।

भौतिक जगत् में (In the material universe) शक्ति तथा शक्तिसमूह ही विद्यमान है। शक्ति तथा शक्तिसमूह के बिना भौतिक जगत् में अन्य किसी पदार्थ का अस्तित्व प्रत्यक्षीभूत नहीं होता, यदि इसे स्वीकार करें तब तत्वजिज्ञासु का हृदय निश्चय ही इस तत्वावधारण में प्रवृत्त होगा कि शक्ति कौन पदार्थ है? मध्याकर्षण, आणविक आकर्षण-विप्रकर्षण, ताप, तड़ित् इत्यादि प्राथमिक (Primary) शक्तिसमूह तथा हमारी इच्छाशक्ति (Will force) परस्परतः भिन्न हैं। इन द्विविध शक्ति के साथ (प्राकृतिक शक्ति तथा हमारी इच्छाशक्ति) हमारा परिचय है। मध्याकर्षण (Gravitation), आणविक आकर्षण (Cohesion), विप्रकर्षण (Repulsion) इत्यादि शक्तियों के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए अनेक प्रस्तुत हैं, किन्तु इच्छाशक्ति का अस्तित्व बहुत विवादास्पद है। बहुशः इसे स्वीकार ही नहीं करते कि इच्छाशक्ति नामक कोई शक्ति है भी। इच्छाशक्ति यथोक्त मध्याकर्षणादि शक्तिसमूह का रूपान्तर मात्र है। (It is mere transformation of the primary forces)। यह मस्तिष्क के आणविक स्पन्दन का ही फल है।" अनेक लोगों का यह मत है।

पण्डित वेल्स कहते हैं कि इच्छा मस्तिष्क के आणविक स्पन्दन का फल है। यह मत आज भी स्थापित नहीं है। इतर जन्तु तथा मनुष्यादि का पेशी बल (Muscular Force) जो प्रकृति के यथोक्त प्राथमिक शक्तिसमूह से समधिगत बल का ही परिवर्तित भाव है, इसे स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु "इच्छाशक्ति मस्तिष्क के आणविक स्पन्दन का फल है" यह कहना एवं सम्पूर्णरूपेण उक्त पदार्थ के अस्तित्व का प्रतिषेध करना (Absolutely negative the existence of will) समान बात है। इच्छाशक्ति नाम से यदि कोई पदार्थ है, तब जो शक्ति देहाभ्यन्तर में संचित है, शरीरमध्य में विद्यमान अवान्तर शक्तियों की क्रिया की प्रवर्तक तथा नियामक है, वह तत्पदार्थ से अतिरिक्त कुछ नहीं है।

---

1. "गुणानाम्। केषाम्? शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम्। सर्वाश्च पुनर्मूर्त्तय एवमात्मिकाः। संस्त्यान-प्रसवगुणाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवताः" —महाभाष्य

शरीराभ्यन्तर में जो अवान्तर शक्तियाँ विद्यमान हैं, उनकी प्रवृत्ति स्वतन्त्र शक्तिविशेष की प्रवर्तना के अतिरिक्त हो ही नहीं सकती। शरीराभ्यन्तर में जो सब अवान्तर शक्तियाँ हैं, उनकी प्रवृत्ति स्वतः नहीं हो सकती, उनकी शक्ति किसी स्वतन्त्र शक्ति की प्रेरणापेक्ष है, इसका प्रमाण क्या है? कोई बाह्य यन्त्र कितना भी सूक्ष्म, कितने भी कौशल से क्यों न निर्मित हुआ हो, यह देखा जाता है कि उसकी क्रिया प्रवृत्ति में कर्म के आरम्भ में सर्वदा बाह्यशक्ति का नोदन आवश्यक होता है। अतएव अनुमान करना होगा कि जीव के शरीरयन्त्र के कोष (Cells) अथवा स्नायुरज्जुसमूह (Cells or fibers of the brain) परिस्पन्दन कर्म की प्रवृत्ति में (सूक्ष्मभाव होने पर) किसी शक्तिविशेष की प्रेरणा का प्रयोजन है। यदि ऐसा कहें, तब हमारे संवित् अथवा आत्मचैतन्य के सारभूत अंश का, स्वाधीन इच्छा रूप धर्म का, एक बार उच्छेद हो जाता है। ऐसा होने पर यथोक्त शुद्ध स्वयंसिद्ध यन्त्र में संवित् (Consciousness) अथवा प्रतीयमान इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति में किसी प्रकार की उपपत्ति नहीं होती। ऐसा होने पर अनुभवसिद्ध इच्छाशक्ति को माया का विजृम्भण अथवा अलीक पदार्थ ही निश्चित करना होगा।[1] अतएव संवित् अथवा इच्छा केवल मस्तिष्क के आणविक स्पन्दन का फल नहीं है, यह मानना होगा।

कौन शक्ति अन्य सर्व प्रकार की शक्ति का मूल है, कौन शक्ति स्वतन्त्र है, इसे निश्चित करने में प्रवृत्त होने पर हमें विचार आता है कि सभी शक्ति इच्छाशक्तिप्रसूत है, इच्छाशक्ति ही सभी शक्तियों की आद्य अवस्था है, इस प्रकार का अनुमान न्यायविगर्हित नहीं है। ग्रीन, कान्ट, शोपेनहर, मार्टीनिऊ ने जो मत प्रकाशित किया है उसे यहाँ बताना आवश्यक नहीं है। थॉमस सॉली (Thomas Solly) वे इच्छाशक्ति को प्रत्यावृत्त क्रिया का मूल कहा है। इच्छाशक्ति ही सर्वकर्म का मूल है, इस पर इनका भी विश्वास है। विद्वान् मार्टिनिऊ अपने

---

1. "However delecately a machine may be constructed, with the most exquisitely contrived detents to release a weight or spring by the exertion of the smallest possible, amount of force, some external force will always be required; so in animal machine however, minute may be the changes required in the cells or fibers of the brain, to set in motion the nerve currents which loosen or excite the pentup forces of certain muscles, some force must be required to effect those changes. It is said those changes are automatic, and are set in motion by external causes, then the essential part of our consciousness, a certain amount of freedom in willing, is annihilated, and it is inconceivable how or why there should have arisen any consciouness or any apparent will in such purely automatic organisms." —Natural Selection, Pg 211-212

धर्मतत्व (A Study of Religion) नामक ग्रन्थ में इच्छा कौन पदार्थ है, इसका विचार करते समय उक्त पदार्थ के सम्बन्ध में विविध मत का संग्रह कर गये हैं। पाठक इस ग्रन्थ को आवश्यकतानुसार पढ़ें।

विद्वान मार्टिनिऊ (Martineau) इच्छा पदार्थ सम्बन्धित जिस मत का स्वरूप चिन्तन करते हैं, उसकी विवेचना करने के पहले 'सन्दृष्ट' प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा प्रमित अथवा बुद्धि का विषयीभूत अर्थ प्रार्थित अथवा जिहासित (त्याग करने की इच्छा) होने के पश्चात् ज्ञाता तथा कर्त्ता की तदधिगम (प्रार्थित पदार्थ को पाने के लिए) अथवा तत्परित्याग की प्रवृत्ति होती है, तदनन्तर तदनुसार कर्मारम्भ होता है। इस वचन को स्मरण करना आवश्यक है। क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, क्या ग्राह्य है, क्या त्याज्य है, यह निश्चित करना ही बुद्धिपूर्वक कर्म की आद्यावस्था है। पण्डित मार्टिनिऊ कहते हैं कि पक्ष निर्वाचन ही इसका स्वरूप है।[1] यह इच्छा का अति संकीर्ण अर्थ है। (Narrowest Scense)। अनेक इसके व्यापकार्थ प्रदर्शनार्थ संकल्प अथवा उद्देश्यमूलक कर्म को इच्छा का स्वरूप कहते हैं। (Action upon conscious motive)। अध्यापक लारी (Prof. Laurie) इच्छा पदार्थ का और भी व्यापक वर्णन करते हैं। वे आत्मा की ज्ञान तथा क्रियाशक्ति की अभिव्यक्तावस्था को इच्छा (Will) कहते हैं (The whole energy of the ego in percipience whether cognitive or active)। थॉमस सॉली इच्छाशक्ति को प्रत्यावृत्त क्रिया का मूल कहते हैं।[2] शोपेनहर सर्व प्रकार की शक्ति को ही इच्छाशक्ति कहते हैं। संकल्प ही कार्य का कारण है (The selective act is the cause)। यह शोपेनहर का मत है।

प्रज्ञा तथा विवेकशक्ति तथा इच्छाशक्ति (Reason and Will) इनके सम्बन्ध का निर्णय करते हुए पण्डित काण्ट कहते हैं कि "विश्वजगत् के सभी पदार्थ नियमानुसार कार्य करते हैं। चेतन पुरुष को ही ऐश अथवा प्राकृतिक नियमानुसार प्रतिरूप कर्म करने का विशेष अधिकार (Perogative) है। चेतनपुरुष ही इच्छाशक्तियुक्त है। प्राकृतिक नियम दर्शनपूर्वक अनुमान है कि प्रज्ञा तथा विवेकशक्ति का प्रयोजन है। अतः प्रतिपन्न होता है कि इच्छा तो प्रज्ञा एवं बुद्धि की

---

1. "There is nothing new in saying that willing consists in determining an alternative." —A Study of Religion, By Mortineau, Vol. I, Pg 198.
2. "Prof. Laurie enlarges the boundaries still further; so as to include the whole energy of the ego in percipience, whether congnitive or alive...."
"In Mr. Thomas Solly's treatise on the will, it is made the source of all, even reflex action from stimulus or impulse and therefore beated as predicable of all animated nature."
—A Study of Religion, pg. 198

व्यावहारिकी अवस्था से भिन्न कुछ नहीं है।[1] तभी कहा जा सकता है कि पण्डित स्पेन्सर ने इच्छा के रूप में जिस पदार्थ को ग्रहण किया है, वेल्स, ग्रीन, मार्टिनिऊ आदि विद्वानों ने इच्छा के रूप में उस पदार्थ को ग्रहण नहीं किया है।

बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक कर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में जहाँ तक चिन्तन किया गया है, हमारे प्रयोजनानुसार वही यथेष्ट है। इन दोनों कर्म के चिन्तन से हमने जो समझा तथा हमारे प्रतिपाद्य विषय के साथ इन दोनों कर्म के स्वरूप-चिन्तन का क्या सम्बन्ध है, इन दोनों के मर्म का चिन्तन करने के लिए प्रवृत्त क्यों हुआ, इसके पश्चात् वह बताया जायेगा। संसार कर्ममूर्ति है। चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा तथा मन द्वारा हम जिन कर्मों की उपलब्धि करते हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाण द्वारा जितने प्रकार के कर्म की उपलब्धि होती है, उन्हें भी बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। महर्षि कणाद ने कर्म को प्रयत्ननिष्पाद्य तथा नोदनादिनिष्पाद्य रूपेण विनिश्चित किया है। वह प्रयत्ननिष्पाद्य तथा नोदनादिनिष्पाद्य है, यह सब साधारण ज्ञान से निश्चित नहीं होता। महर्षि कणाद इन जातीय कर्मसमूह को अदृष्ट कारित कहते हैं। जो दृष्ट नहीं है, स्थूल प्रत्यक्षीभूत नहीं है, वही है अदृष्ट। अदृष्टकारित शब्द का अर्थ है स्थूल कारण विशेष द्वारा निष्पादित।

जो जड़त्वैकवादी हैं, उनका कहना है कि कतिपय कर्म बिना प्रयत्न, बिना चेतनमुखापेक्षा शुद्ध जड़ शक्ति से निष्पन्न हो जाते हैं, तब यह सिद्धान्त युक्तिपूर्ण है कि 'कर्ममात्र ही जड़शक्ति निष्पाद्य है।' दूसरा पक्ष कहता है कतिपय कर्म बिना प्रयत्न चेतन की प्रेरणा बिना जड़शक्ति द्वारा साधित नहीं होते, ऐसा सिद्धान्त उनकी दृष्टि में युक्तियुक्त है। किसी का मत है कि कतिपय कर्म चेतन की मुखापेक्षा बिना ही निष्पन्न होते हैं। कतिपय कर्म की निष्पत्ति में चेतन का प्रवर्तन अपेक्षित है। जड़ैकत्ववादी लोग जड़ के बिना किसी चैतन्य नामक स्वतन्त्र पदार्थ के अस्तित्व को नहीं मानते। किंबहुना विश्वजगत् में जितने भी प्रकार के कर्म निष्पन्न होते हैं, वे सब जड़ शक्ति कृत हैं। जो इस मत को मानते हैं कि "चेतन अधिष्ठान के अभाव में अचेतन स्वयं प्रेरित होकर कोई भी कर्म नहीं कर सकता" कर्म मात्र सम्पर्क मूलक है, जो इस मत को मानते हैं, उनको प्रमाणित करना होगा कि वे जिसे साधारणतः अबुद्धिपूर्वक कर्म मानते हैं, वह भी वस्तुतः चिच्छक्ति का प्रेरणापेक्ष है।

---

1. "Everything in the world acts according to laws; an intellegent alone has the perogative of action according to the representations of laws i.e. has a will and since to deduce actions from laws reason is required it follows that will is nothing else than practical reason."
—Metaphysics of Ethics, By Kant, Page 25

जड़त्वैकवादीगण जड़शक्ति को ही सर्व प्रकार कर्म का एकमात्र कारण मानते हैं। कोई भी कर्म चेतन का प्रवर्तनापेक्ष नहीं है, इसे प्रमाणित करने के लिए वे भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तनमूलक समूह को उदाहरण के रूप में लेते हैं। अचेतन चुम्बक लोहे का आकर्षण करता है, पृथ्वी की आकर्षणशक्ति चेतन की प्रेरणा के बिना ही न जाने कितने कार्य सम्पादित करती है। इसलिए यह कहना कि अचेतन चेतन अधिष्ठान के अभाव में कोई कर्म नहीं कर सकता, युक्तिविरुद्ध है। चौम्बकाकर्षण, मध्याकर्षण, आणविक आकर्षण इत्यादि मूलतः चेतन के प्रेरणापेक्ष नहीं हैं, यह प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से निःसन्दिग्धरूपेण प्रतिपन्न नहीं होता। आप्तोपदेश ही प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणद्वय के अविषय पदार्थों के तत्वनिर्णय का एकमात्र उपाय है। कोई कर्म चेतन की मुखापेक्षा नहीं करता, जिनको इस प्रकार की प्रतिभा लेकर जगत् में आना पड़ा है, वे लोग उन कर्मों को भी जड़शक्ति द्वारा निष्पन्न बताते हैं, जिसे लोग सामान्यतः प्रतिपन्न चेतन अथवा प्रसिद्ध चेतन कृत मानते हैं। इसके प्रतिपादनार्थ ये लोग इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न, स्मृति, अनुभव को भी मस्तिष्क के आणविक स्पन्दन का फल बताते हैं।

संवाद (Harmony) सबको प्रिय है। विसंवाद सबको अप्रिय है। इसी कारण विज्ञान वैषम्य में साम्यभाव का, विशेष में सामान्य का, आविष्कार करने का प्रयत्न करता है। इसी कारण संगीत आसन्नचेतन पशु-पक्षी का आकर्षण करता है। जड़ प्रायः शिशु का हृदय भी संगीत सुनकर थिरकने लगता है। ताल की एकता, स्वर की एकता, चित्त की एकता, स्पन्दन की समता के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। संवादी स्पन्दन (Harmonious Vibrations) मधुर होता है। किन्तु होने से क्या? इस वैषम्यपूर्ण संसार में उसे कैसे पायें? क्या मरुभूमि कभी पिपासित की आकांक्षा के पदार्थ को दे सकेगी? संसार में जो रूप हमारे नेत्रों के सम्मुख आता है, वह प्रकृति का ही वैषम्य भावात्मक रूप है। वह इसीलिए संसार में एकरूप दो पदार्थ नहीं पा सकता। अनेक वस्तु आपात् दृष्टि से देखने में समान प्रतीत होती हैं, किन्तु परीक्षा से ज्ञात होगा कि इनमें भी विषमता है। विचार आता है कि वैषम्य के राज्य में पूर्ण साम्यभाव देखने की आशा तो दुराशा है।

प्रत्येक मनुष्य का ज्ञान विश्वासादि केवल सर्वांश में असामान्य है। यही नहीं, एक रूप दो नरदेह भी दृष्टिपथ में नहीं आता।[1] संसार जब वैषम्य का राज्य

---

1. शारीरसंस्थानविद् पण्डित A.M. Maclister, M.A. M.D. F.R.S. कहते हैं—
"No two human bodies are exactly alike in the details of organisation, enheritance, habitual actions, occupation and other circumstances of environment are factors which act with unequal intensity in the history of each individual modifying the proportional development of parts."
—A Text Book of Human Anatomy, Pg. 2

है, तब यहाँ जो मतभेद रहेगा, वह विस्मयप्रद बात नहीं है। संवाद (Harmony) सबको प्रिय है। विसंवाद किसी को प्रिय नहीं है। जिज्ञासा होती है कि वैषम्यपूर्ण संसार की प्रजा होकर हम साम्य भाव को क्यों अच्छा समझते हैं? कोलाहलमय संसार में रहकर हमें संगीत-श्रवण की आशा क्यों है? संसार के अन्तरतम प्रदेश में साम्यभाव विराज करता है, तिक्त पदार्थ में भी मधुररस विद्यमान है। संसार के अन्तर में यदि साम्य विराजित न रहता, तब लोगों को संसार के प्रति आसक्ति न होती, तिक्त पदार्थ के आस्वाद हेतु कोई लालायित न होता। संसार में चिरस्थायी अपरिच्छिन्न साम्यभाव के कमनीय रूप को न देख पाने पर भी लोग उसके अस्थायी रूप को देख पाते हैं। वैषम्यपूर्ण संसार में वास करने पर भी हमारी इच्छा साम्यभाव के हृदयरमण रूप को देखने की होती है। कोलाहल के बीच संगीत-श्रवण की प्रवृत्ति होती है।

तत्वजिज्ञासा मानव का स्वभावसिद्ध धर्म है। तत्वजिज्ञासा तथा विषयों के बीच सामान्य के दर्शन की लालसा, कोलाहल में संगीत श्रवणेच्छा सब समान पदार्थ हैं। यदि यह सत्य है कि मनुष्य संगीत सुनने की इच्छा करता है, तब मनुष्य में सत्य जानने की, तत्व जानने की इच्छा है तथा वह वैषम्य के मध्य साम्य को देखने की लालसा से कण्ठगत प्राण की स्थिति में भी प्रभु को पुकार रहा है। प्रकृति अथवा शक्तिभेद से रुचिभेद अवश्य होता है, प्रतिभा की पृथक्ता से लोग भिन्न-भिन्न कर्म कर रहे हैं, यह सत्य है, तथापि तनिक निविष्ट चित्त से देखने से प्रतिपन्न होगा कि जीवमात्र का चरम आकांक्षित पदार्थ एक है, दो नहीं है। सबका परम प्राप्तव्य एक है। गम्भीर रजनी में चार-पाँच बन्धु सलिला भागीरथी के तट पर बैठे हैं। ऐसे समय दूर से चित्तोन्मादी सुमधुर संगीत-ध्वनि सबके कानों में पड़ रही है। कहाँ से यह ध्वनि आ रही है, इसके सन्धानार्थ सब सचेष्ट होने लगे। किन्तु मतैक्य नहीं हो सका। कोई कहता है उत्तरदिक् से ध्वनि आ रही है। किसी का मत है पूर्व से यह संगीत-लहरी आ रही है, इत्यादि। जिसका जैसा विश्वास था, वह उस दिशा की ओर दौड़ पड़ा। सबका उद्देश्य एक है, सभी एक ही आकर्षण से समाकृष्ट हैं, किन्तु बुद्धिभेद के चलते वे भिन्न-भिन्न दिशा की ओर जा रहे हैं। साथ में उसे भी साथ चलने को कह रहे हैं, जिसके मत से किसी और दिशा से संगीतलहरी की ध्वनि आ रही है। कुछ आगे चलकर उन्हें विदित होता है कि ध्वनि किसी और ही दिशा से आ रही है, तब वे दिक्परिवर्तन से भी नहीं चूकते। अतः आकर्षण तथा उद्देश्य समान रहने पर भी जिस कारण से गति की दिक् भिन्न हो जाती है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म प्रवृत्ति के कारण तत्वजिज्ञासा होती है। वैषम्य में साम्यदर्शन की लालसा, कोलाहल में शान्त मधुर संगीत की लालसा भी कर्मप्रवृत्ति के कारण है

तथापि व्यक्तिगत प्रतिभाभेद के कारण सभी कर्मकर्ता एक ही दिक् की यात्रा नहीं कर पाते। एक ही पदार्थ के अन्वेषणार्थ बहिर्गत होकर भिन्न-भिन्न व्यक्ति अलग-अलग दिशा की ओर चल पड़ते हैं। वेद अथवा वेद के प्रवर्तन से परमाणुसमूह परस्परतः परस्पर का आकर्षण तथा विकर्षण करते हैं। क्या ग्राह्य है उसका निर्णय तथा क्या त्याज्य है, उसका निर्णय वेद की ही प्रेरणा से जीवगण करते हैं। वे वेद के उपदेश के वैषम्य में साम्यभाव के आविष्कारार्थ सचेष्ट हो जाते हैं। द्वैतवाद, अद्वैतवाद, सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, सत्कारणवाद, असत्कारणवाद सभी ही वेदप्रसूत हैं। वेद का कथन है—"ब्रह्म ही मधु है। परमानन्द लक्षण माधुर्योपेत वस्तु है। अखण्ड सच्चिदानन्दमय ब्रह्म ही सबका रस-सार है। वे ही परसामान्य हैं। प्रकृत संगीत सुनकर कृतार्थ होने के लिए उन ब्रह्म की ही शरण लो। विष्णु का परमपद ही नित्य गीत-संगीत प्रवाह से ओतप्रोत है। ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय पदार्थ है ही नहीं। अब संसार में और क्लेश भोग नहीं करना है। दुर्विसह संसारक्लेश के उच्छेदार्थ ब्रह्मोपासना करो।[1]

वेद की ही ध्वनि, यह चित्तोन्मादी स्वर, पशु-पक्षी-कीट, पतंग-सुर-नर सभी को श्रवणगोचर हो रहा है। वेद के आकर्षण से आकृष्ट होकर सभी कर्म में प्रवृत्त होते हैं। वैषम्य में साम्य का आविष्कार करने के लिए सचेष्ट होते हैं। कोलाहल में संगीत-श्रवणार्थ व्यग्र होते हैं। तथापि प्रतिभाभेद के कारण सभी एक दिक् अवलम्बन नहीं कर पाते, एक ही कर्म अथवा एक ही मतावलम्बन में समर्थ नहीं होते। वेद के अभिप्राय को सभी यथायथ रूप से समझ सकने में समर्थ नहीं होते। 'ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय पदार्थ नहीं है, ब्रह्म ही मधु है' इत्यादि वेदोपदेश का श्रवण कर कोई जड़शक्ति को ही ब्रह्म अथवा जड़ पदार्थ को ही मधु मानते हैं। उनके मत से जड़शक्ति से भिन्न पदार्थान्तर का अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए वे जड़शक्ति की ही उपासना में लग जाते हैं और अन्य को भी अपना मतावलम्बी बनाने के लिए प्राणपन से लग जाते हैं। कोई चिच्छक्ति को ही यथोक्त ब्रह्म पदार्थ मान लेते हैं। उसकी ही आराधना में लगकर यह मानते हैं कि इससे भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं है। अन्य भी उसी का अनुवर्तन करें, उसके लिए प्रयत्न करते हैं। कोई द्वैतवाद को श्रेष्ठ मत मानते हैं तथा स्वमत स्थापनार्थ यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं। प्रतिभाभेद से एक ही पदार्थ का भिन्न-भिन्न अर्थ गृहीत होता है। तभी कहा गया है कि वैषम्यमय संसार में मतभेद रहेगा ही, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

---

1. "ब्रह्मेतुमां। मधुमेतुमां। ब्रह्मेव मधुमेतुमां"—तैत्तरीय आरण्यक
"मधुं परमानन्दलक्षणं माधुर्योपेतं वस्तु"—तैत्तीरीय आरण्यक भाष्य
गायत्री शब्द की निरुक्ति करते समय दैवत ब्राह्मण में कहा है कि वेदगानकारी प्रजापति के मुख से वेदसारभूता गायत्री आविर्भूत है।

वैज्ञानिक-दार्शनिक प्रभृति सभी कार्य के कारणानुसन्धान में लगे हैं। किसी कार्य का कारणानुसन्धान अथवा उसके स्वरूप का अवधारण भिन्न पदार्थ नहीं है। जिसके द्वारा कारित हो अथवा जो करे, जो क्रियानिष्पादक है, वही है कारण। (कार्यतेऽनेन करोतीति) । यद्यपि यह कारण का मूल अर्थ अवश्य है किन्तु प्रतिभा-भेदवशात् लोग इसका विविध अर्थ करते हैं। प्रयोग भी विविध अर्थों में करते हैं। उपादान तथा निमित्तरूपेण कारण को दो भाग में विभक्त किया क्यों गया? कुम्हार को मिट्टी तथा दण्ड-चक्रादि द्वारा घटनिर्माण करते देखा है? घट कार्य मृत्तिका-दण्ड-चक्र-जल तथा कुम्भकार द्वारा निष्पादित होता है। जबकि घटकार्य में कुम्भकार, मृत्तिका, दण्ड चक्रादि, जल का प्रयोजन है, तब इन सबको घट कार्य का कारण कहना होगा। कुम्भकार प्रभृति सभी पदार्थ घट कार्य का कारण अवश्य हैं, किन्तु सबकी कार्यकारिता एक ही तरह की नहीं है। जब तक घट है तब तक मृत्तिका उसका त्याग नहीं करती। मृत्तिका को अलग करते ही घट विलुप्त हो जाता है। किन्तु कुम्भकार, दण्ड चक्रादि को अलग करने से भी निर्मित घट की कोई क्षति नहीं होती। कुम्भकार जो कार्य करता है, वह मृत्तिका, दण्ड-चक्रादि नहीं कर सकते। मृत्तिका ही घटकार्यरूपेण परिणत होती है अतएव वही घटकार्य का उपादान किंवा समवायि कारण है। उपादान अथवा समवायि कारण में अनभिव्यक्त भावेन विद्यमान शक्ति जिसके द्वारा अभिव्यक्त होती है, कार्य की उत्पत्ति के पश्चात् जिसके साथ कार्य का कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता, इसलिए जिसे बाह्यकारण कहा जा सकता है, वह है निमित्तकारण। जिसके बिना जो सिद्ध नहीं हो सकता, जो जिसका नियत पूर्ववर्ती (That which invariably precedes) है, वह है उसका कारण। मृत्तिका के बिना घट कदापि उत्पन्न नहीं होता। कुम्भकार तथा दण्ड-चक्रादि के न रहने पर भी घट की उत्पत्ति असम्भव है। इसलिए घट कार्य में मृत्तिकादि सबको ही कारण कहना होगा।[1] कारण के लक्षण तथा प्रकारभेद के सम्बन्ध में जो मतभेद है, अब उसके सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है।

वेदपाठ करने से उपादान आरम्भण (पहले कहा गया है कि उपादान-कारण समझाने के लिए वेद में आरम्भण का प्रयोग दृष्ट होता है) तथा निमित्त (Patient and Agent) इन दो कारण का संवाद मिलता है। शास्त्रान्तर में कारण को मुख्य तथा अमुख्य दो भागों में बाँट दिया गया है। तदनन्तर मुख्य कारण को भागत्रय में विभक्त करते हैं यथा—समवायी, असमवायी तथा निमित्त।

---

1. विद्वान् होब्स (Hobbes) ने उपादान तथा निमित्त दोनों कारण स्वीकार किये हैं—
"A cause in the same or aggregate of all such accidents both in the agents and the patients, as concur in producing of the effect propounded."

न्यायमतानुसार, मुख्य कारण समवायी-असमवायी तथा निमित्त भेद से त्रिविध है। अमुख्यकारण को 'सहकारीकरण' कहा गया है।

विद्वान् जॉन स्टुअर्ट मिल कहते हैं कि निमित्तकारण ही कारण है। उपादान कारण को (Patient) स्वतन्त्र कारण स्वीकार करने की कोई युक्ति नहीं है। (Cause) अर्थात् निमित्तकारण।[1] मिल का अभिप्राय है कि उपादान कारण को कारणान्तर स्वीकार करने से कर्मकर्तृ दोष घटित होता है। ऐसी स्थिति में कर्म स्वयं ही कार्यरूप में परिणत हो जाता है। इस बात को अंगीकार करना ही होगा। स्वमत स्थापनार्थ पण्डित मिल ने कई दृष्टान्त भी दिये हैं। द्रव्य का नीचे गिरना प्रथम दृष्टान्त है। यदि एक प्रस्तर खण्ड के नीचे गिरने के कारण को पूछा जाये तब यदि यह उत्तर हो कि प्रस्तर खण्ड ही इसका कारण है, तब कारण शब्द का अर्थविरोध हो जाता है। कारण लक्षण दूषित हो जाता है। जो कार्य मात्र के दो पृथक् कारण को अंगीकार करते हैं (अर्थात् उपादान तथा निमित्त), वे प्रस्तर खण्ड को उपादान (Patient) कारण तथा अधःपतन में पृथ्वी को निमित्त कारणरूप ग्रहण करेंगे। तनिक विचार करने से प्रतीति होती है कि प्रस्तर खण्ड स्वयं ही अपने गुरुत्व के कारण स्वयं ही पृथ्वी पर अधोमुख गिरता है। तब उसे ही उसके गिरने के कर्म का निमित्त कारण (Agent) मानना ही होगा। जड़ वस्तु स्वयं प्रेरित होकर कोई कर्म नहीं करती। यहाँ इस मत की रक्षार्थ प्रस्तर खण्ड के अधःपतन व्यापार में उसे निमित्तकारण भले ही नहीं कहा जाये, किन्तु सभी वस्तु सबका आकर्षण करती है, यह कथा स्मरण रखने से प्रस्तर खण्ड के पतन-कार्य में पृथ्वी की ही तरह उसका भी कर्तृत्व है। पृथ्वी के समान इस पतन-कार्य में उपलखण्ड का भी निमित्तत्व है, यह मानना ही होगा।

पृथ्वी केवल अन्यान्य वस्तु का आकर्षण नहीं करती, प्रत्युत् अन्य वस्तु से यह भी आकृष्ट होती है। पण्डित जॉन स्टुअर्ट मिल ने अन्य उदाहरण स्वमत प्रतिष्ठार्थ दिया है। वे अपने द्वितीय दृष्टान्त में कहते हैं कि ऐन्द्रिक क्रिया (Sensation produced in our organs) में विषय (Objects), इन्द्रिय (Organs) तथा मन (Mind) इन तीन का क्रियानिष्पादकत्व (Agency) है। दर्शन कार्य में आलोक कर्त्ता नहीं है। आलोक है नयनेन्द्रिय, मस्तिष्क तथा द्रष्टव्य वस्तु। दर्शन कार्य इस समुदाय का कर्तृफल समष्टि है। विद्वान् मिल कहते हैं कि कारण शब्द जिस अर्थ में व्यवहृत है, उसमें उपादान को पृथक्

1. "In most cases of causation a distinction in commonly drawn between something which acts and some other thing which is acted upon, between an agent and a patient. Both of these, it would be thought absured to call to latter the cause the title being reserved for the former." —System of Logic, Vol. I, Pg. 347

कार्यरूपेण स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है। परीक्षा द्वारा उपादान तथा निमित्त का पार्थक्य बोध तिरोहित हो जाता है। अन्ततः समझ में आता है कि वह वैकल्पिक (Only verbal) है। शुद्ध वचनभंगी से ऐसे प्रत्यय की उत्पत्ति होती है (Arising from an incident of mere expression)।

उपादान तथा पेशेन्ट (Patient) समानार्थक कदापि नहीं है। उपादान कारण को शास्त्र ने कहीं भी क्रियानिष्पादन धर्म अथवा कर्तृत्वरहित नहीं कहा है। महाभाष्यकार पतंजलिदेव कहते हैं कि कारक क्रिया निवर्तकत्व की सामान्य संज्ञा, कर्तृकरणादि, ये सभी विशेष-विशेष क्रिया निष्पादकत्व के वाचक हैं। कर्तृकरणादि सभी कारक क्रिया निष्पादक हैं, यह सत्य है, तथापि सभी कारक एक प्रकार की क्रिया निष्पन्न नहीं करते। प्रत्येक कारण भिन्न-भिन्न रूप क्रिया के निर्वर्तक हैं। क्रिया से हम साधारणतः मूर्त क्रिया अथवा क्रिया के स्थूल रूप को समझते हैं। मूर्त क्रिया ही सभी कारकों की कर्तृत्वफल समष्टि रूप है।

प्रत्येक कारक का कर्तृत्व रहने पर भी सभी कारक को कर्ता नहीं कहा जा सकता। उसका कारण है प्रधान कर्ता अथवा कारक का कर्तृत्व तथा अन्य कारकों का कर्तृत्व एक प्रकार का नहीं है। प्रधान कर्ता स्वतन्त्र है। अन्य कर्ता उसके निदेश का पालन करते हैं। प्रधान कर्ता का आदेश मिले बिना ये कोई भी कर्म नहीं कर सकते। परमाणु का विश्लेष करने की शक्ति ताप के पास अवश्य है, किन्तु यह स्वयंप्रेरित होकर पाककार्य नहीं कर सकता। वह अन्ध है। जड़शक्ति है। पाकक्रिया हो गई है। तन्दुल पक गया है। किन्तु यदि पाककर्ता स्वयं उपस्थित होकर बाधा न दे, तब अग्नि स्वयं प्रेरित होकर पाक-कार्य स्थगित नहीं करेगा। तन्दुल जल जायेगा। अन्न जलता जा रहा है, परन्तु अग्नि स्वकार्य से विरत नहीं है। अन्न जले किंवा रहे, इससे अग्नि को कुछ भी लेना-देना नहीं है। उसमें परिवर्तन की शक्ति नहीं है, तभी वह परतन्त्र हैं। राजा अपने कर्मचारियों के कन्धे पर जो कार्यभार देते हैं, वे राजनियम बदल नहीं सकते। उनमें नियम-परिवर्तन की शक्ति नहीं है। अतः वे परतन्त्र हैं। अग्नि पाक कर रहा है, हाँडी में पाक कर रहा है इत्यादि वाक्य से अग्नि आदि का स्वातन्त्र्य अथवा प्रधान कर्तृत्व अंगीकार क्यों किया जाये? इसके उत्तर में भगवान् पतंजलि देव कहते हैं कि जहाँ प्रधान कर्ता परोक्ष है, दृष्टि से बहिर्भूत है, अथवा परोक्ष न होने पर भी अवान्तर कर्तृत्व जहाँ प्रधानरूप में विवक्षित होता है, वहाँ ऐसे ही वाक्य का प्रयोग किया जाता है। जब तक अन्यान्य कारक प्रधान कर्ता के साथ समधि व्यवहार में रहते हैं, तब तक उनकी परतन्त्रता को स्पष्टतः समझा जा सकता है। जब प्रधान कर्ता से वे दूरी में अथवा पृथक् भाव से अवस्थान करते हैं, तब उनको ही प्रधान कर्तृरूप में माना जायेगा। जब तक अमात्यगण राजा के पास हैं, तब

तक उनकी परतन्त्रता अनायास ही समझ में आती है। किन्तु जहाँ राजा उपस्थित नहीं है, वहाँ अमात्यगण को ही राज-सम्मान प्राप्त होता है। जिन्होंने राजा को कभी देखा नहीं है, जिनमें उसे देख सकने की योग्यता नहीं है, जो राजदर्शन का प्रयोजन नहीं जानते, अतः राजा को देखना नहीं चाहते, वे अमात्यगण को ही प्रधान समझ कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे स्वतन्त्र तथा परतन्त्र शक्ति की यथार्थ उपलब्धि कर सकने योग्य नहीं हैं।[1]

भट्टोजीदीक्षित कहते हैं कि करणादि कारकसमूह का सौकर्यातिशय द्योतन करने के लिए जब प्रधान कर्ता का व्यापार विवक्षित नहीं होता, तब अन्य कारक भी कर्तृसंज्ञा प्राप्त करते हैं। असि (खड्ग) अच्छा छेदन करता है, लकड़ी पाक करती है, हांडी पाक करती है, इन वाक्यों में असि प्रभृति के कर्तृसंज्ञा पाने का यही कारण है। 'प्रस्तरखण्ड भूमि पर गिर रहा है' यहाँ भी स्वतन्त्र शक्ति के आदेश से प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु का आकर्षण करती है। जिनके नियोगानुसार उपलखण्ड (प्रस्तर) भूमि के अंक में गिर रहा है, किन्तु प्रस्तरखण्ड तथा पृथ्वी को जिनका तनिक भी ज्ञान नहीं है, तथापि उपलखण्ड (प्रस्तर) तथा पृथ्वी जिनका शरीर है, जो इनमें अन्तर्यामीरूप से स्थित हैं, इनके अन्दर रहकर इनको नियमित करते रहते हैं, वे लक्षित अथवा विवक्षित नहीं होते।[2] पतंजलिदेव भी कहते हैं प्रधानकर्ता जहाँ परोक्ष दृष्टि से बहिर्भूत हैं अथवा परोक्ष अथवा दृष्टि से बहिर्भूत न होने पर भी जहाँ वे विवक्षित नहीं हैं, वहाँ अन्यान्य कारक कर्तृसंज्ञा पाने के अधिकारी हैं। तब उपादान (Patient) निमित्तोपादानरूपेण मिलितरूपेण परिस्फुट होता है। जहाँ कर्म (क्रिया) दृष्ट हो किन्तु उस कर्म के अथवा उस कर्म के क्रिया-निवर्तक कर्ता दृष्ट न हों वहाँ वह कर्म प्राकृत किंवा स्वभावसिद्ध विवेचित होता है।[3] (न चान्यः कर्ता दृश्यते क्रिया चोपलभ्यते।) यह महाभाष्य का वचन है।

विद्वान् मिल (J.S. Mill) उपादान कारण को कारण मानने से असहमत हैं। यह पहले कहा जा चुका है। अब व्याकरण के दृष्टिकोण से इनके द्वारा उपादान कारण को पृथक् कारणरूप में अंगीकार करने में जो असहमति है, उसका संक्षेप में निराकरण होगा।

---

1. "कृदानीं परतन्त्रास्यात्। यत्तत् प्रक्षालनं परिवर्तनं वा। न वा एवमर्थं स्थाल्युपादीयते प्रक्षालनं परिवर्तनं करिष्यामिति। किं तर्हि सम्भवनक्रिया धारणक्रियां च करिष्यतीति तत्र यासौ स्वतन्त्रा।" (महाभाष्य)
2. "यदा सौकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्तृव्यापारो न विवक्ष्यते तदा कारकान्तराण्यापि कर्तृसंज्ञां लभन्ते। स्वव्यापारे स्वतन्त्रत्वात्। तेन पूर्वकरणत्वादिसत्वेऽपि सम्प्रति कर्तृत्वात् कर्तादि लकारः। साध्वस्छिनत्ति। काष्ठानि पचन्ति। स्थाली पाचति।" —सिद्धान्तकौमुदी
3. "क्रियमाणन्तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति।
सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्त्तुः कर्मकर्त्तेति तद्विदुः॥"

उपादान तथा निमित्त कारणद्वय में अनेक विषय में वैधर्म्य है। जो समवेत होकर कार्योत्पादन करता है, वह है समवायी अथवा उपादान कारण। मृत्तिका घट का, तन्तु वस्त्र का समवायी कारण है। सांख्यदर्शन ने कार्यशक्ति को ही उपादान कारण कहा है। कार्यशक्ति कौन पदार्थ है? कार्य की अनागतावस्था अथवा धर्मी का अव्यपदेश्य धर्म ही कार्यशक्ति है।[1] भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं कि 'कारण की आत्मभूता शक्ति तथा शक्ति का आत्मभूत कार्य।'[2]

प्रत्येक परिवर्तन (Change) ही नियत पौर्वापर्य सम्बन्ध से सम्बद्ध है। प्रत्येक परिवर्तन पूर्ववर्ती भाव के साथ अपरभाव में नियत सम्बन्ध को उपलब्ध रहता है। यह पौर्वापर्य सम्बन्ध ही कार्यकारण सम्बन्ध के नाम से प्रसिद्ध है। जो कार्य का संघटन करे, जो कार्य का प्रभव है, प्रसूति (What brings about an effect) वह कारण है एवं कारण से जो प्रसूत है (What follows from a cause) वह कार्य है।

अपवाद अथवा निषेध (Denials) के वर्णन द्वारा विधि (Law) का रूप स्फुटतरभावेन वर्णित है। अध्यापक बेन इसीलिए कार्यकारणसम्बन्ध विधि के अपवाद तथा निषेध का वर्णन करते हैं। इस सम्बन्ध में अध्यापक बेन ने दो अपवाद का वर्णन किया है। प्रथम है कि कोई भी घटना अथवा कार्य स्वतः प्रवृत्त अथवा यदृच्छामूलक नहीं है। कोई भी कार्य स्वतन्त्ररूप से, नोदन अथवा प्रेरणा के बिना आरम्भ नहीं होती। निर्निमित्त अथवा अकस्मात् उत्पत्तिवाद कार्य-कारण-सम्बन्ध-विधि का प्रथम अपवाद है। द्वितीय है कि कोई घटना अथवा कार्य अनियमित भाव से यदृच्छाक्रम में अन्य का अनुवर्तन नहीं करता। घटना अथवा कार्य का अनियमित भाव से अनुवर्तन कार्य-कारण-सम्बन्ध-विधि का द्वितीय अपवाद है। कारणतत्व के स्वरूपवर्णन में प्रवृत्त होकर अध्यापक बेन ने इसके तीन स्वरूपों को प्रदर्शित किया है—(1) व्यावहारिक साधारणतः परिचित अथवा अपूर्णरूप, (2) वैज्ञानिक अथवा पूर्णरूप, (3) पाश्चात्य विज्ञान भाण्डार के नवसञ्चित शक्ति सातत्य अथवा शक्तिसमूह के इतरेतर सम्बन्धत्वमूलक (Embracing the modern generalization entitled the conservation or co-relation of force)।

किसी घटना अथवा कार्य के कारणानुसन्धान को करते समय लोग कारणचक्र में अव्यवहित, सदृश्य तथा संयुक्त कारण को ही यथार्थ लक्ष्य मान लेते हैं, व्यवहित तथा सहकारी कारणचक्र की ओर उनकी दृष्टि पतित नहीं होती।

---

1. ''कार्यशक्तिमत्वेमवोपादान कारणत्वम्''—सांख्यप्रदीपिका भाष्य
2. ''कारणस्यात्मभूता शक्तिः शक्तेश्चात्मभूतं''—शारीरक भाष्य

इसीलिए विद्वान् अध्यापक बेन अव्यवहित, सुव्यक्त कारण के कारणत्व को असम्पूर्ण आंशिक कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति सीढ़ी (Ladder) से स्खलित पद (पैर फिसलने से) भूमि पर गिर जाय और पंचत्व को प्राप्त हो जाय तब साधारणतः शुद्ध पदस्खलन को ही प्राणवियोग का कारण माना जायेगा। इसलिए यदि पदस्खलन न होता तब मृत्यु न होती। किन्तु पदस्खलन के अतिरिक्त उसका भार तथा गुरुत्व (The weight of the body, gravity) स्थान की ऊँचाई, मनुष्यदेह की क्षणभंगुरता भी मृत्यु का कारण हो सकती है। व्यावहारिक उद्देश्य-सिद्धि के लिए हम इनके कारणरूप को लक्ष्य नहीं करते।

एक कार्य की सिद्धि में जिन पूर्वभावों का संघात, परस्पर सम्मिलन भी प्रयोजनीय है, जिनके समवाय के बिना जिस कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, उसे वैज्ञानिक कारण मानते हैं। बात पूर्णतः सत्य है, क्या कार्यतः (Practically) ऐसा होता है? यदि कार्यतः ऐसा होता तब वैज्ञानिकगण ज्ञानतः अदृष्टवादी होते। तब इनको केवल आणविक स्पन्दन को ही संवित्-इच्छा-अनुभव प्रज्ञा इत्यादि का कारण समझकर निश्चिन्त न होना पड़ता। कारणतत्व की तृतीय मूर्ति के प्रदर्शनार्थ अध्यापक बेन ने जो कहा है, उसका सार यह है कि धर्मी अथवा वस्तु मात्र ही निर्दिष्ट धर्म-शक्ति अथवा योग्यतावच्छिन्न है। धर्मी का धर्मगत परिवर्तन होता है। शक्तिसमूह एक अवस्था से अन्य अवस्था में गमन करते हैं, किन्तु ये तत्वतः अपेत अथवा वर्द्धित नहीं होते। समष्टिभूत शक्ति के मान में ह्रासवृद्धि नहीं होती। यह सर्वत्र समान रहती है। यान्त्रिक शक्ति, रासायनिक शक्ति, ताड़ित शक्ति तथा जीवनी शक्ति (Vital force), सभी का इतरेतर सम्बन्ध है, सभी प्रत्येक आकार ग्रहण करने का अवसर पाने से प्रत्येक के भाव में भावित होने की योग्यता रखते हैं। शक्तिसमूह का तत्वतः ध्वंसराहित्य, स्थितिशीलत्व (Conservation), सन्ततत्व (Persistence) भावान्तर प्राप्तिशीलत्व अथवा रूपान्तर ग्रहण योग्यत्व (Convertiblity) तथा तुल्य वृत्तिकत्व (Equivalence) ही इसका कारणत्व है।

कारणतत्व की तृतीय मूर्ति के प्रदर्शनार्थ विद्वान् बेन ने जो कहा है, कारणतत्व के स्वरूप जिज्ञासु का हृदय क्या उसे सुनकर परितृप्त होगा? धर्मी अथवा वस्तुसमूह निर्दिष्ट धर्म, शक्ति तथा योग्यता विशिष्ट है, एक धर्मी अथवा वस्तुनिष्ठ शक्ति जब अन्य एक धर्मी अथवा वस्तु में गमन करती है, तब शक्तिसमूह में भावान्तर प्राप्ति की योग्यता है। शक्ति का तत्वतः अपाय अथवा वृद्धि नहीं है। क्या यह सब जानकर हम विविध-विचित्र कार्यजात के स्वरूपावधारण में समर्थ हो जायेंगे? वैचित्र्यमय संसार के वैचित्र्य के

अनुत्सन्धित्सु मानव क्या कारणतत्व के कतिपय सूत्र प्राप्त करके स्वयं को चरितार्थ हुआ मानेंगे? फलस्वरूप कारणतत्व के पहले कहे गये कुछ साधारण सूत्रों से अवगत होने को ही कारणतत्व की स्वरूपावगति की पूर्णता नहीं माना जा सकता। वैचित्र्यमय संसार के वैचित्र्य कारणानुत्सन्धित्सु मानव, इससे कृतार्थ होकर तथा यह सोचकर कि कारणतत्व का रहस्य पूर्णतः उद्‌भिन्न हो गया, कदापि चुप नहीं बैठ सकता। वह यह जान जायेगा कि इन कतिपय साधारण सूत्रों से कारणानुसन्धान सम्पन्न नहीं होगा। केवल यह जानकर कि शक्ति एकभाव अथवा एकरूप अवस्था का त्याग करके अन्य भाव अथवा अन्यरूप अवस्था धारण कर सकती है, कारणानुसन्धान की चेष्टा कदापि फलवती नहीं होगी, केवल उपादान कारण ही फलप्रसविता नहीं है, प्रत्येक कार्योत्पत्ति में उपादान तथा सहकारी कारण का प्रयोजन है। सहकारीकारण (Collocation) की विचित्रता ही कार्योत्पत्ति का हेतु है।[1]

अध्यात्म बेन अनेक विचार करके इस सिद्धान्त को मानते हैं कि कार्यशक्ति अथवा उपादान कारण तथा सहकारी अथवा निमित्त कारण से ही सभी कार्य संघटित होते हैं। इनका मत है कि प्राकृतिक परिणाम ही मूलतः ताप-तड़ित्-प्रभृति मूल शक्तिसमूह से संघटित होता है। यह सम्पूर्ण सत्य है। सौरजगत् के क्रमविकास की पद्धति के दर्शन से, भूतत्वविदों के द्वारा पृथ्वी के इतिहास श्रवण से, उपलब्धि होती है कि क्रियाशील ताप, तड़ित् प्रभृति शक्तियाँ मूलतः निखिल प्राकृतिक परिणाम का कारण हैं। प्राकृतिक परिणामसमूह का मूल कारण क्या है, वह हमारे लिए अब अज्ञेय नहीं है। तब भी ताप-तड़ित् प्रभृति प्राकृतिक परिणाम हेतु क्रियाशील शक्तियों की किस अवस्था, संस्थान अथवा सन्निवेश भेद के कारण जगत् के विविध कार्य की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार (लय) क्रिया संघटित होती है, किस प्रकार के सहकारी तथा निमित्तकारण द्वारा प्रणोदित होकर यह भूधर श्रेणी प्रसृत होती है, महादेश, देश, सागर, उपसागर, नद, नदी इत्यादि सृष्ट होते हैं, हो रहे हैं, कैसे सहकारी तथा निमित्तकारण भेद से सागर देश में तथा देश सागर में परिणत होता है, देशों का अभ्युदय तथा पतन होता है, देश के

1. "Seeing that, in causation, there must be provided, not merely a sufficient force, energy, or moving power, but also the suitable arrangement for the making the transfer as required; this compairing arrangements or collocation is a part of the cause."
—Bains Logic, Part II, Pg. 32

विद्वान् जॉन स्टुअर्ट मिल कहते हैं—
"Now, it might always have been said with acknowledge correctness, that a force and a collocation were both of them necessary to produce and phenomenon." —Mills Logic, Pg. 230

अभ्युदय तथा पतनोपरान्त जलवायु में परिवर्तन होता है, यह आज भी निर्णीत नहीं है। यह रहस्य आज भी अभेद्य है।[1]

बेन, मिल प्रभृति जड़वादी विद्वान् कारणतत्व के स्वरूप-निरूपण में प्रवृत्त होकर जो कहते हैं, उसे संक्षेप में विवेचित किया गया। पाठकगण इस समय यह विचार करें कि बेन-मिल प्रभृति विद्वानों ने कारणतत्व का प्रतिपादन करते समय जो कुछ कहा है, उससे उसका स्वरूप वास्तव में व्याख्यात होता है अथवा नहीं। ताप-तड़ित् प्रभृति भौतिक शक्तिसमूह ही इनके विश्वकार्य के मूल कारण रूप में अवधारित हैं। जो ताप, तड़ित्, प्रभृति जड़ शक्तियों को विश्वकार्य का मूल कारण मानते हैं, वे 'मूल कारण' इस शब्द का अर्थ बतलाने से मूक रह गये हैं। अतः वास्तव में इन लोगों ने कारणतत्व की कोई व्याख्या ही नहीं की है। ताप-तड़ित् आणविक स्पन्दन से भिन्न अन्य पदार्थ नहीं हैं। जो स्वयं कार्य पदार्थ हैं, वे विश्वकार्य का मूलकारण कैसे हो सकते हैं? "जो कार्य का संघटन करे, जो कार्य का प्रभव अथवा प्रसूति (What brings about an effect) है, वह कारण है।" एक कार्य की सिद्धि में जो सभी पूर्वभाव का संघात है, उसका परस्पर मिलना आवश्यक है। क्योंकि उसके समवाय के बिना इसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। भूत तथा भौतिक शक्ति सर्वत्र विद्यमान है, तथापि सर्वत्र सब प्रकार का परिणाम संघटित नहीं होता, इसका क्या कारण?

अध्यापक मिल तथा बेन ने सहकारी कारण के अस्तित्व को स्वीकार किया है। सहकारी कारण के बिना कार्य निष्पन्न नहीं होता, यह भी माना है। किन्तु जिज्ञासा होती है कि इनका सहकारी कारण से क्या तात्पर्य है, किस पदार्थ को सहकारी कारण माना है? यह क्या तापादि मूलकारण से भिन्न जातीय पदार्थ तो नहीं है? लेकिन ये कदापि मूलकारण से भिन्न जातीय पदार्थ को स्वीकार नहीं करेंगे। क्योंकि इससे जड़ैकत्ववाद की भित्ति ढह जायेगी। जिसको शास्त्र धर्माधर्म तथा पूर्व कर्मसंस्कार स्वीकार करता है, यदि ये उसी प्रकार स्वीकार करें तो इनका नास्तिकवाद व्याहत हो जायेगा, इसी कारण ये इन सबको अर्थात् धर्माधर्म एवं पूर्व संस्कार को नहीं मानते। नैहारिकी अवस्था के विक्षोभ काल से

---

1. "In the same way, all the great cosmical changes, marking the evolution of the solar system, and the geological history of the earth are referable to the primal sources of energy; the moving power at work is no longer a secret. Yet the circumstances, arrangements, or collections, whereby the power operated to produce our existing mountain chains the rise and fall of continents, the fluctuations of climate, and all the other phenomena revealed by a geological examination of the earth are as yet in uncertainity."

—Bain's Logic, Part II, Pg. 33-34

आज तक जितने कर्म हुए हैं, उनके संस्कार को क्या ये सहकारी कारण कह सकेंगे? यह भी स्पष्ट नहीं समझा जा सकता।

भूत तथा भौतिक शक्ति की नैहारिकी अवस्था में भी संस्कार था, यह भी इनके द्वारा मान्य नहीं होगा। भूत तथा भौतिक शक्ति की यथोक्त नैहारिकी अवस्था में विक्षोभ का कारण क्या था? जब तापादि को ये लोग विश्वकारण कहते हैं तब समझना होगा कि तापादि ही इनके मत से भूत तथा भौतिक शक्ति की नैहारिकी अवस्था क्षोभ का कारण है। तापादि तो आणविक स्पन्दन से भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है। नैहारिकी अवस्था का विक्षोभ भी आणविक स्पन्दन है। अतः कहना होगा कि आणविक स्पन्दन ही कारण है। वैज्ञानिक कारणतत्व का यही प्रकृत रूप है। इसीलिए विद्वान् स्पेन्सर ने स्मृति-इच्छा-प्रज्ञा इत्यादि को आणविक स्पन्दन की ही भिन्न-भिन्न अवस्था माना था।

शास्त्रपाठ से विदित होगा कि जो मूलशून्य है अर्थात् जिसका कोई अन्य मूल अथवा कारण नहीं है, वही है मूल कारण।[1] सांख्यदर्शन ने मूलकारण बतलाने के लिए प्रकृति शब्द का व्यवहार किया है।[2] न्यायदर्शन में कहा है कि जिसकी अन्तः तथा बहिः अवस्था है, जो पौर्वापर्यभावात्मक है, वह कार्य है। जो अकार्य है, वह किसी का कार्य नहीं हो सकता। उस अकार्य की अन्तः बहिः कोई अवस्था नहीं होती।[3] अतएव तापादि को विश्वजगत् का मूल कारण नहीं कहा जा सकता। उदयनाचार्य स्वप्रणीत न्याय कुसुमांजलि में कहते हैं कि परमेश्वर की अदृष्टरूपा सहकारी शक्ति माया, प्रकृति, अविद्या इत्यादि शब्द से कही जाती है। प्रकृति शब्द मूलकारण का वाचक है, इसे उदयनाचार्य ने भी स्वीकार किया है।[4]

विद्वान् स्पेन्सर ने जिस शक्तिसातत्य (Persistence of Force) को विश्वकार्य का कारण कहा है, उसे सांख्य पातंजल प्रकृति का समानार्थक माना जाये क्या? सांख्याचार्य विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि साक्षात् अथवा परम्परारूप से त्रिगुणमयी प्रकृति ही विश्वजगत् का उपादान कारण है। प्रकृष्ट रूप से पदार्थ-समूह का परिणाम साधन करने के कारण इन्हें प्रकृति कहा गया है। प्रकृति-शक्ति-अजा-प्रधान-अव्यक्त-तमः-माया-अविद्या इत्यादि प्रकृति के पर्याय हैं।[5] प्रकृति शब्द उपादान कारण के वाचकरूप में ही साधारणतः व्यवहृत होता है।

---

1. ''मूले मूलाभावाद मूलं मूलम्''—सांख्यदर्शन, 1। 67
2. ''प्रकृतिरिह मूलकारणस्य संज्ञामात्रमित्यर्थः''—सा.प्र.भाष्य
3. ''अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनाद कार्ये तद्भाव''—न्यायदर्शन
4. ''इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्यति यस्योदिता''—न्याय कुसुमांजलि
5. देखें सांख्यसार।

भगवान् पाणिनि कहते हैं कि जायमान की जो प्रकृति है, उससे पंचमी विभक्ति होती है। (जनिकत्तुः प्रकृति))। महाभाष्यकार पतंजलिदेव तथा कैयट के मत से प्रकृति शब्द यहाँ उपादान कारणवाची है। प्रकृति शब्द उपादान कारणवाची है, यह भगवान् शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य[1] में कहा है। इसलिए पण्डित स्पेन्सर के शक्तिसातत्य को प्रकृति कह सकते हैं। तब भी यहाँ कहना आवश्यक है कि विद्वान् स्पेन्सर ने सांख्य पातंजल के समान गुण अथवा शक्तित्रय के स्वरूप की विशद तथा व्यापक व्याख्या नहीं की है। यदि वे त्रिगुण (शक्तित्रय) का यथायथरूप से दर्शन कर सकते, तब वे जड़ैकत्ववाद की ओर भी अधिक समर्थ पुष्टि कर सकते। वे तब मनः-प्रज्ञा-इच्छा-स्मृति इत्यादि पदार्थसमूह के जड़ एवं अचिदंश के तत्व को और स्पष्ट रूप से विवृत कर देते। भौतिक-उद्‌भिज् आसन्न चेतन तथा विशिष्ट चेतन इन चतुर्विध प्राकृतिक पर्व का शास्त्र के समान विशुद्ध रूप से साधर्म्य-वैधर्म्य विचार करने में सक्षम होते। त्रिगुणतत्व का स्वरूप दर्शन होने से आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक विज्ञान का अविकल रूप इनके नेत्रों के समक्ष प्रकट होता। जड़ैकत्ववादियों की बुद्धि-मनः-इच्छा-प्रयत्न-अहंकार इत्यादि पदार्थों को जड़शक्ति का परिणाम बताकर प्रमाणित करने की चेष्टा सांख्यदर्शन व्याख्यात त्रिगुणतत्व का आश्रय लेने से और भी सफल हो जाती। वेद के चरणों से प्रसूत सांख्यदर्शन में विज्ञान का पूर्णरूप चित्रित हुआ है।

कार्य का कारणानुसन्धान प्रकृष्ट रीति से करने के लिए उपादान तथा निमित्त कारण का ही स्वरूपावधारण करना चाहिए। स्थूल प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिकगण किसी कार्य के मूल कारण का अनुसन्धान नहीं करते। परतंत्रशक्ति को ही मूल कारण मानते हैं। परतंत्र शक्ति जहाँ पर तनिक स्वतंत्र परिदृष्ट होती है, प्रयोजक तथा प्रधानकर्ता जहाँ दृष्टि से बाहर रहते हैं, वहीं उपादानकारण पूर्णकारणरूपेण (भ्रमवश) प्रतीत होने लगता है। दृक्शक्ति तथा दृश्यशक्ति (Ego and non-ego) अथवा भोक्तृ एवं भोग्य शक्ति (Subject & Object) इनके स्वरूपज्ञान के बिना कारणतत्व का पूर्ण रूपदर्शन कथमपि सम्भव नहीं है। पुरुष तथा प्रकृति अथवा चित् तथा अचित् का संयोग न होने पर कोई कार्य निष्पन्न नहीं होता। विश्वजगत् केवल चित् तथा अचित् का कार्य नहीं है। यह पुरुष तथा प्रधान (प्रकृति) के संयोग से प्रसूत होता है। यह नाद तथा शब्दब्रह्म का कार्य है। अणु का स्पन्दन नाद अथवा शब्दब्रह्म की लीला है। इसी कारण वेदविद्‌गण विश्व ब्रह्माण्ड को शब्द अथवा वेद का परिणाम कहते हैं। इसीलिए भगवान् बादरायण ने देवतादि अखिल विश्वप्रपंच को शब्दप्रसूत कहा है। जगत् भोक्तृ-भोग्य सम्बन्धात्मक है। इस सम्बन्ध के विषय में श्रुति ने जो कुछ कहा है उसके

1. "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्"—वेदान्तदर्शन 1।4।23 का शारीरक भाष्य देखें

निगलितार्थ को इस ग्रन्थ में पहले विज्ञापित किया जा चुका है, तथापि उसका पुनः स्मरण करा दिया जाता है।

मैत्र्युपनिषद् में कहा गया है कि प्रकृति, जगद्बीज, अव्याकृत इत्यादि शब्दवाच्य प्रधान (प्रकृति) ही भोग्य है। जो इस प्रधान के अन्तःस्थ हैं, अर्थात् जो इस प्रधान (प्रकृति) के अन्तर में उसे सत्ता प्रदान करते हुए विद्यमान हैं, वे चेतनपुरुष ही भोक्ता हैं। प्रधान अथवा प्रकृति तथा उसका कार्य (त्रिगुण विकार) महदादि विषयान्त है। यह सभी भोग्य है। महदादि विशेषान्त शब्द से श्रुति महत्तत्व-अहंकारतत्व-पंचतन्मात्र-एकादश इन्द्रिय तथा पंच स्थूलभूत इन 23 तत्वों को लक्ष्य करती हैं। ये 23 तत्व त्रिगुणभेद से उत्पन्न होते हैं। महत्तत्व ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति का सम्मूर्च्छित रूप है। उपादान तथा निमित्त, इन द्विविध कारण के स्थूल तथा साधारणतः परिचित रूप का पूर्व में इस ग्रन्थ में परिचय कराया जा चुका है। उपादान कारण वास्तव में भोग्यशक्ति के तथा निमित्त कारण भोक्तृशक्ति के वाचक हैं। उपादान कारण भी शक्ति हैं, अतः उनमें क्रियानिष्पादकत्व है, सन्देह नहीं। किन्तु यह अन्ध है। प्रज्ञानेत्र रहित है। इसमें दिक्निरूपण अथवा कालावधारण का सामर्थ्य नहीं है। यह चल तो सकता है, किन्तु कहाँ जायेगा, क्यों जायेगा—नहीं जानता। यह चालित करने से चलता है, रोकने से रुक जाता है।

उपादानशक्ति कदापि प्रवृत्ति-निवृत्ति की हेतु नहीं है। अतः इसे पूर्णकारण नहीं कह सकते। इस अन्धशक्ति (Blind Power) को जो पूर्ण कारण कहते हैं, उन्हें इसका अर्धांश ही परिलक्षित हो सका है। अर्धांश को ही पूर्णरूप समझने लगे हैं। इसी कारण पहले कहा जा चुका है कि जो जड़शक्ति को विश्वजगत् का मूल कारण अवधारित करते हैं, वे वास्तव में कारणतत्व की व्याख्या नहीं करते। कारण पदार्थ का प्रकृतरूप उनके नेत्रों के समक्ष प्रतिभासित नहीं हो सका। अन्धशक्ति जब तक दृष्टिशक्ति प्राप्त नहीं कर लेती, तब तक वह कारण पदवाच्य नहीं है। किसी कर्म में प्रवृत्त होने के पहले उस कर्म का उद्देश्य अथवा प्रयोजन बोध रहना आवश्यक है। जिस ओर, जिस भाव से, गति को परिवर्तित करने से ईप्सित का समागम होगा, वह कर्मकर्ता को ज्ञात रहना आवश्यक है। कर्ममात्र ही त्याग-ग्रहणात्मक है। क्या त्याज्य है—क्या ग्राह्य है, यह ज्ञान न होने से कि जो त्याज्य है, उसे कैसे त्यागा जाये, अपिच जो ग्राह्य है, उसे किस उपाय से ग्रहण करना है, कभी भी कर्म का आरम्भ नहीं हो सकता।

इस परिस्थिति में यह कह सकते हैं कि कर्ममात्र ही संकल्पमूलक है, सभी कर्म बुद्धिपूर्वक हैं। शास्त्र में इसी कारण कहा गया है कि भौतिक जगत् में जो कर्म हो रहा है, वह संकल्पमूलक है। वह भी चेतन अधिष्ठान के बिना सम्पन्न नहीं होता। संकल्प ही (सन्दर्शन-प्रार्थना-अध्यवसाय) वस्तुतः सर्वकार्य

का कारण है। क्रियाशक्ति (Operative Power) कभी भी ज्ञानशक्ति से रहित होकर अवस्थान नहीं करती। महत्तत्व को जो ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का सम्मूर्च्छित रूप कहा गया है, यही उसका कारण है। गुणत्रय को जो अन्योन्यमिथुन वृत्तिक कहा गया है, ईश्वर को त्रिमूर्ति-ब्रह्मा-विष्णु-महेश कहा गया है, वेद को जो त्रयी ऋक्-यजुः-साम कहा गया है और वेद अथवा शब्द तत्वज्ञों ने शब्द ब्रह्म को इच्छाशक्ति-ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का समाहार कहा है, यही उसका हेतु है। उद्देश्यविहीन अन्धशक्ति (Aimless Blind Force) जो स्वयं अपना गन्तव्य पथ का निर्णय करने में असमर्थ है, किसी कार्य का मुख्य कारण कदापि नहीं हो सकती।[1] जिज्ञासा होती है कि यदि कर्ममात्र ही बुद्धिपूर्वक अथवा संकल्पमूलक है, तब हमें इन दोनों के विभिन्न कर्म का रूप स्पष्टतः क्यों ज्ञात नहीं होता? ऐसी स्थिति में शास्त्र ने सृष्टि को दो भागों में विभक्त क्यों किया है? यथा बुद्धिपूर्वक सृष्टि तथा अबुद्धिपूर्वक सृष्टि। केवल सांख्यदर्शन ने ही सृष्टि को इस प्रकार विभक्त किया हो, ऐसा नहीं है। मार्कण्डेयपुराण ने भी कहा है कि क्षेत्रज्ञाधिष्ठित अव्यक्त अथवा क्षेत्र से प्राकृत सर्ग प्रथमतः तड़ित् के विकास के समान अबुद्धिपूर्वक आविर्भूत हुआ।[2] नागेशभट्ट भी कहते हैं कि प्रलयावस्था में कुछ काल अतिवाहित होने के अनन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया के समान प्राणिगण द्वारा सकामभावेन कृतकर्म जब फलोन्मुख होते हैं, तब सर्वसाक्षी, सर्वकर्मफलप्रद भगवान् की अबुद्धिपूर्वक सृष्टि माया तथा पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। हमें जिस लिए बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक द्विविध विभिन्न कर्म उपलब्ध होता है, पहले उसकी विवेचना होगी। तदनन्तर जिस कारण से शास्त्र ने इस प्रकार सृष्टि को बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक के भागद्वय में विभक्त किया है, यथाज्ञान उसे निवेदित किया जायेगा।

जिन कर्मों का सन्दर्शनादि त्रिविध व्यापार (सन्दर्शन अर्थात् पदार्थ का स्वरूपावधारण, प्रार्थना तथा अध्यवसाय) हमें ज्ञानगोचर नहीं होता, उन्हें हम स्वयं सिद्ध (Automatic) कहते हैं। महाभाष्यकार पतंजलिदेव इसे समझाने के

---

1. विद्वान् जे. मार्टिनेऊ ने जो कहा है उसका कुछ अंश यह है—
"Before blind power can earn that name, it must borrow vision enough to see an end from a beginning and master geometry enough to distinguish one direction from another. So as to have some idea what it would be at, than it will be a determining power or cause; the meaning of which is simply photographed from the consciousness and idea of will."
—A Study of Religion, Vol. I, Pg. 243

2. "इत्येषः प्राकृतः सर्गः क्षेत्रज्ञाधिष्ठितस्तु सः। अबुद्धिपूर्वः प्रथमः प्रादुर्भूतस्तडिद्यथा॥"
—मार्कण्डेयपुराण, अध्याय 45

लिए कहते हैं कि जहाँ कर्म दृष्ट होता है, किन्तु उस कर्म का क्रिया निवर्तक कर्त्ता दृष्ट नहीं होता, वहाँ तादृश कर्म प्राकृत अथवा स्वभावसिद्ध रूप से विवेचित हो जाता है। स्वभावसिद्ध अथवा स्वयंनिष्पन्न कर्म तथा (द्विविध कर्म अर्थात्) बुद्धिपूर्वक संकल्पमूलक कर्म, इनमें साधर्म्य-वैधर्म्य विचार करना होगा। शरीरात्मा तथा अन्तरात्मा का तत्वचिन्तन अवश्य कर्तव्य है। प्राण तथा मन अथवा क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति का स्वरूपावधारण आवश्यक है। आन्तर एवं भावद्वय का सम्बन्धनिरूपण प्रयोजनीय है।

संसार में इस प्रकार कतिपय वस्तु हमारे नेत्रों के समक्ष आती है जिनमें प्राण तथा मनः नहीं है। मृत्तिका-पाषाण प्रभृति प्राण-मन रहित है, यह हमारा विश्वास है। उद्भिज् में प्राण है, किन्तु मनः नहीं है। मन का विकास जीव में ही होता है।

जीव में मन का विकास भले ही होता हो, परन्तु सभी जीवों में समान विकास नहीं होता। ऐतरेय आरण्यक में कहा है कि विश्वजगत् सच्चिदानन्दमय आत्मा का कार्य है। कार्य भी कारण के अनुरूप होता है। इसलिए सच्चिदानन्दमय आत्मा के कार्यभूत जगत् सत्तादि त्रिविध ब्रह्मभाव (सत्-चित्-आनन्द) की अभिव्यक्ति नहीं होती। अचेतन मृत पाषाणादि में आत्मा की सत्तामात्र ही आविर्भूत है। उसमें चित् तथा आनन्द नहीं है। औषधि वनस्पति में जीवात्मा का कुछ विकास परिलक्षित होता है, वह पाषाणादि में दृष्ट नहीं होता। प्राणभृत् जंगमजीवों में चित् है। औषधि वनस्पति में नहीं है। जंगम जीवों में भी जो प्रज्ञान सम्बन्ध युक्त है, जो लोकालोकदर्शी है, इहलोक तथा परलोक दोनों को देखने में समर्थ है, मर्त्यशरीर में रहते हुए भी जो अमृत-लाभ के लिए प्रयत्नशील है, मर्त्यधाम में उनमें ही आत्मा का सर्वाधिक विकास है। मनुष्य से इतर जीवों में ज्ञान केवल भूख-प्यास के लिए ही है। वे जैसा ज्ञान लेकर जन्म लेते हैं, यावज्जीवन उसे ही लिये पड़े रहते हैं। उनमें सहजज्ञान वृद्धि की शक्ति नहीं रहती।[1]

परिदृश्यमान जगत् में जो विशिष्ट तथा व्यापक चेतन पदार्थ है, संकीर्ण अथवा आसन्न चेतन है, सप्राण स्थावर तथा उद्भिद् है एवं अप्राण स्थावर है, यह चतुर्विध हमारे समक्ष है, किन्तु ज्ञातव्य है कि किस कारण से इस चतुर्विध पदार्थ का भेद होता है? एकरूप कारण से कभी भी भिन्न-भिन्न कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अप्राण स्थावर पदार्थसमूह के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करके

1. "पुरुषेत्वेवाविन्तरात्मा सहि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकी... अथतरेषां पशुनामशनापिपासे एवाभि विज्ञानं न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति न विदु श्वस्तनं न लोकालोकौ त एतावन्तो भवन्ति यथाप्रज्ञं सम्भवाः"

—ऐतरेय आरण्यक

दार्शनिक तथा वैज्ञानिकगण अप्राण स्थावर पदार्थजात अणुओं की समष्टि से इस प्रकार के सिद्धान्त का आधार लेते हैं। अणु तथा आकर्षण एवं विकर्षण, इन तीन पदार्थों द्वारा अप्राण पदार्थ का स्वरूप तो अवधारित हो सकता है। इनके तत्वज्ञान से अप्राण स्थावर पदार्थजात के स्वरूप को सम्पूर्णरूपेण जाना जाता है अथवा नहीं, यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है। आपाततः मान लिया जाये कि अणु तथा आकर्षण-विकर्षण द्वारा ही स्थावर (अप्राण) पदार्थसमूह का स्वरूप अवधारित हो जाता है। सप्राण स्थावर अथवा उद्भिद् का चिन्तन करके दार्शनिक तथा वैज्ञानिक कैसे सिद्धान्त में उपनीत होते हैं? प्राण नामक पदार्थ का स्वरूप क्या है? यह कैसे अभिव्यक्त तथा उत्पन्न होता है?

उद्भिद् की परीक्षा से वैज्ञानिकों ने स्थिर किया है कि वह ऑक्सीजन, हाईड्रोजन, नाईट्रोजन तथा कार्बन से बनता है। ये चार भौतिक पदार्थ उसके गठन में कारण हैं। अप्राण स्थावर तथा सप्राण स्थावर इन दोनों के शरीर उपादान भिन्न-भिन्न जातीय पदार्थ नहीं हैं। अप्राण स्थावर शरीर में जो नियम उत्पत्ति तथा वृद्धि का है, विद्वान् स्पेन्सर के अनुसार सप्राण स्थावर की भी उत्पत्ति तथा वृद्धि का अनेकतः वही नियम है।[1] अणु सम्मूर्च्छन ही शरीर-वृद्धि का कारण है, अप्राण स्थावर तथा सप्राण स्थावर, इन दो पदार्थों की उत्पत्ति-वृद्धि एक ही नियम से होती है, यह श्रवण किया। अब ऑक्सीजन-हाईड्रोजन, प्रभृति भौतिक पदार्थ जात के अणु संघात से कैसे प्राण नामक पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है, इसे सुनना है।

जीवन का लक्षण बताते समय विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि आन्तर सम्बन्ध समूह के साथ बाह्य सम्बन्ध समूह के साथ एकीकरण ही जीवन है।[2] कार्पेन्टर कहते हैं कि उपक्रम से (From the Commencement) अपवर्ग (To the conclusion) पर्यन्त शरीरी कार्यात्मभाव (Any organized being) द्वारा जो क्रिया साधित होती है, वह सब क्रिया जीवन (Life) पदार्थ है। पण्डित हेनरी ड्रमण्ड कहते हैं कि जिन क्रियाओं से मृत्यु निवारित होती है, वह क्रिया समष्टि ही जीवन है (The sumtotal of the functions which resist death)। जीवन जो भी पदार्थ हो, वह हमें ज्ञातव्य है। इसकी अभिव्यक्ति कैसे होती है? तथा जिस शक्ति से आन्तर तथा बाह्य सम्बन्धों का एकीकरण होता है, जिस शक्ति द्वारा मृत्यु निवारित होती है, क्या वह भौतिक शक्ति है? क्या वह आकर्षण-विकर्षण स्वरूपा है, अथवा उससे अलग है? आन्तर-बाह्य का क्या अर्थ है?

---

1. Principles of Biology, Vol. I, Page 135
2. "The continuous adjustment of internal relations to external relations." —Principles of Biology

जीवन की कैसे अभिव्यक्ति हुई, इसके सम्बन्ध में विद्वान् स्पेन्सर कुछ विशेष नहीं कहते। तथापि जीवनीशक्ति आकर्षण-विकर्षण से भिन्न नहीं है, यह समझाने के लिए इन्होंने प्रभूत श्रम किया है। स्थूलशरीर के साथ जीवात्मा अथवा लिंगभेद का सम्बन्ध होने से जीवन में कार्यारम्भण होता है। जीवात्मा अथवा लिंगदेह जब स्थूल शरीर का त्याग करता है, तब मृत्यु हो जाती है। महर्षि कपिल कहते हैं कि सामान्य एवं असामान्य भेद से अन्तःकरण द्विविध है। अर्थात् द्विविध वृत्ति वाला है। उनमें साधारण अन्तःकरण वृत्ति ही प्राण है। प्रश्नोपनिषद् ने 'प्राण कौन पदार्थ है' इसका प्रकाश प्रक्षेपण किया है। तदनुसार इसकी उत्पत्ति (परमात्मा से प्राण नामक पदार्थ का आविर्भाव), आयति (प्राण का आगमन देह प्रवेश), स्थान (The place of manifestation), विभुत्व (स्वामी सम्राट् के समान प्राणापानादि वृत्ति भेद से पंचधा स्थापन), एवं बाह्य तथा अध्यात्म (The macrocosmic and the microcosmic appearances of pran) इन सब विषय का ज्ञान आवश्यक है।[1] यह आत्मा से समुत्पन्न होता है। प्राण छाया के समान मनःकृत कारण से (मन के साथ) स्थूल शरीर में प्रवेश करता है। अर्थात् कर्मी का मनः फलाकांक्षा करके कर्म करता है, उसके फल से प्राण भोगायतन शरीर ग्रहण करता है। लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर के साथ पाँच भौतिक शरीर के सम्बन्ध तथा विच्छेद से जीवन तथा मरण का विकास होता है। सम्बन्ध से जीवन, विच्छेद से मरण। शुभाशुभ कर्म के कारण लिंगदेह में जैसा-जैसा अधिवास होता है अथवा संस्काराधान होता है, यह तदुपयुक्त शरीर ग्रहण करता है।

जिस कर्म से जैसा शरीर मिला है, उस कर्म का क्षय हो जाने पर, अर्थात उपभोग द्वारा क्षय हो जाने पर उस शरीर का पतन हो जाता है। विदेशी विद्वानों ने जीवन को प्रतिपादित करने के लिए जो कहा है, वह शास्त्रोपदेश की ही छाया है। आधिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक, इन त्रिविध दृष्टि द्वारा पदार्थतत्व का विचार करने पर तब प्रकृत तत्वज्ञान का उदय होता है। आदित्य ही बाह्य प्राण है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार आदित्य सभी भूतसमूह का प्रेरण करते हैं। क्रियाशक्ति (Energy of Motion) प्रदान करते हैं। इसीलिए इनकी प्राण संज्ञा है।[1] मैत्र्युपनिषद् के अनुसार आत्मा अपने को अपने रूप को, दो प्रकार से धारण करता है। देह में प्राणरूप से स्वयं को पंचधा विभक्त करके अवस्थित रहता है, यह आत्मा की एकरूप स्थिति है तथा बाहर ब्रह्माण्डकरण्ड में वह आदित्यरूप में जगत् के अवभासक रूप में विद्यमान है। यह आत्मा की अन्य स्थिति है। आध्यात्मिक दृष्टि से जो प्राण है, वही आधिदैविक रूप से आदित्य है। चिदात्मा

---

1. "उत्पत्तिमायाति स्थानं विभुत्वञ्चैव पञ्चधा।
अध्यात्मञ्चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते॥"—प्रश्नोपनिषत्

का दो अभिव्यक्ति मार्ग है। एक है देहाभ्यन्तर में, दूसरा है बाह्य प्रदेश में। शरीरोपाधि में विद्यमान, चिदात्मा के चिदाभास से अभिन्न क्रियाशक्ति प्रधानरूप अथवा लिंग 'प्राण' नाम से। शरीर के बहिर्देश में (बाहर) अवस्थित चिदाभास से अभिन्न क्रियाशक्ति प्रदानरूप लिङ्ग आदित्य से।[1]

विद्वान् स्पेन्सर के जीवन लक्षण के साथ श्रुत्युपदिष्ट प्राण लक्षण की तुलना करने से यह विदित होता है कि श्रुत्युपदिष्ट प्राण लक्षणानुसार जिनको प्राण पदार्थ के स्वरूप पदार्थ का दर्शन होता है, वे चिरस्थायी प्राण की प्राप्ति करते हैं। काल उन्हें छू भी नहीं सकता। उन्होंने अमृतत्व (Eternal Life) प्राप्त करके कृतकृत्यता प्राप्त की है। किन्तु जड़ैकत्ववादी पण्डित स्पेन्सर ने प्राण का जो रूप प्रदर्शित किया है, प्राण के उस रूप का चिन्तन करके चिरकालपर्यन्त काल के शासनाधीन रहना होगा। अवशभाव से भवसागर में पुनः-पुनः उन्मज्जित-निमज्जित होते रहना पड़ेगा।

अतएव विदित होता है कि चिदात्मा का चिदाभास ही विशिष्ट क्रियाशक्ति प्रधानरूप है, चैतन्याधिष्ठित रजोगुण ही प्राण पदार्थ है। अब यह जानना है कि बाह्य एवं आन्तर भावद्वय का स्वरूप क्या है? अन्तः तथा बाह्य शब्दद्वय का हमने बहुलता से व्यवहार किया है। ये साधारणतः परिचित शब्द हैं। अन्तः तथा बहिः से सामान्यतः परिचित होने पर भी शास्त्र में इनका स्वरूप जो वर्णित है, उसे जानना आवश्यक प्रतीत होता है। 'बाह्यपदार्थ नहीं है, मन ही एकमात्र सत् है।' 'ना बाह्यपदार्थ ही सत् है मन नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।' इसका उत्तर है कि तुम सब भ्रम में पड़े हो। बाह्य तथा आन्तर—ये दोनों पदार्थ सत् हैं। अन्तः तथा बहिः शब्दद्वय के प्रकृत अर्थ के गृहीत होने पर यह विश्वास है कि आन्तर तथा बाह्य पदार्थ घटित परस्परविरोधी मत का समाधान हो जाता है। प्रापणार्थक 'वह' धातु के उत्तर में 'इस्' प्रत्यय लगाने से 'बहिः' पद सिद्ध हो जाता है। जो प्राप्य है, जो इन्द्रियगम्य है, अतः 'वह' तथा 'मैं' एक ही अधिकरण में नहीं है, जिसे मैं अपने से भिन्न देश में विद्यमान समझता हूँ, वह है बाह्य। देश अथवा दिक् किंवा कालकृत् परिच्छेद ही आन्तर तथा बाह्य इन द्विविध पदार्थ का उत्पत्ति हेतु है। मैत्र्युपनिषत् में कहा है—

"द्विधा वा एषा आत्मानं विभर्त्तव्यं यः प्राणो यश्चासा आदित्यः।
अथ द्वौ वा एता अस्य पन्थाना अन्तर्बहिश्चाहोरात्रेणेतौ व्यावर्त्तते॥"

क्रम (Succession) काल का तथा सहवर्तिता (Co-existence) दिक् का धर्म है। पण्डित एमैन्युएल कान्ट दिक् तथा काल को ऐन्द्रियक नहीं कहते, इनके मत से इन्द्रियाँ दिक् तथा कालज्ञानोत्पत्ति नहीं कर सकतीं। दिक् ही हमारे

1. "आदित्यः सर्वाणि भूतानि प्रणयति, तस्मादेनं प्राण इत्याचक्षते"—ऐतरेय ब्राह्मण

बाह्यार्थ ज्ञान का उत्पत्ति हेतु है। जिसे हम जानेंगे, वह यदि हमारे दिक् से भिन्न न हो, तब (ज्ञेय पदार्थ) वह और हम (ज्ञाता), यदि एक देश में (एकाधिकरण में) अवस्थान करें तब हम उसे कैसे जान सकते हैं? ज्ञाता से यदि ज्ञेय देशतः भिन्न न हो, तब ज्ञेय पदार्थ का ज्ञेयत्व ही सिद्ध नहीं होता। जो प्राप्य है—इन्द्रियगम्य है, वह बाह्य है। इसलिए बाह्य-प्राप्य तथा ज्ञेय समानार्थक हैं। दिक्कृत परिच्छेद ही ज्ञेयत्व बोध का कारण है। इन्द्रियों के साथ अपने-अपने विषय के सन्निकर्ष के कारण जो-जो क्रिया होती है, उसे ही हम जान सकते हैं। गति तथा क्रिया का दिक् भिन्न नहीं होता। एक देश से अन्य देश में जाने (Motion) के स्वरूप का चिन्तन करने से दिक् का रूप सर्वाग्र में बुद्धिदर्पण में पतित होता है। बाह्यार्थ सम्बन्धित ज्ञान का दिक् ही आकार (Form) है। काल भी विद्वान् कान्ट के मत से दिक् के समान ऐन्द्रियक नहीं है। बाह्यार्थ सम्बन्धित ज्ञान ही दिक् का आकार भले ही कहा गया हो, काल तथा दिक् सर्व प्रकार के संश्लेषात्मक ज्ञान के प्रभाव (Synthetical Cognition) हैं। दिक् बाह्य ज्ञान की तथा काल आन्तर ज्ञान की आकृति (Form) है।[1]

मिल, स्पेन्सर प्रभृति प्रत्यक्षवादी विद्वानों ने एमैन्युएल कान्ट के मत को स्वीकार नहीं किया। विद्वान् मिल ऐन्द्रियक विज्ञानवादी (Empirical Idealist) हैं। इन्होंने प्राग्भवीय सिद्धान्त (A Priori Ideas) को स्वीकार नहीं किया। शोपेनहर (Schopnhaur) ने काल, दिक् तथा कार्य कारण सम्बन्ध (Time-Space and Causality), इन तत्वत्रय द्वारा अन्तर्जगत् तथा बाह्यजगत् के स्वरूप का उल्लेख किया है। इनके भी मत से दिक्-काल का ज्ञान ऐन्द्रियक नहीं है। वह सहज (Native pre-Suppositions of Sense) है। काल के संस्कार से अन्तः का तथा दिक् संस्कार से बहिः का बोधोदय होता है। आन्तर तथा बाह्य का ज्ञान कार्यकारण सम्बन्ध रूप नियम रज्जु द्वारा परस्परतः सम्बन्ध बनाकर अन्तर्जगत् तथा बाह्यजगत् के इतरेतर सम्बन्धात्मक ज्ञानरूप में परिणत हो जाता है। प्रत्यक्षवादीगण शुद्ध कार्यकारण सम्बन्ध तत्व द्वारा अन्तर्जगत् तथा

---

1. "By means of our external sense, a property of our mind, we represent to ourselves objects as external or outside ourselves, and all of these in space...."
"Space is not an empirical concept which has been derived from external myself i.e. to something in a different part of space from that where I am... changes, however, are possible in time only and therefore, time must be something real.
Time and space are therefore, two sources of knowledge from which various a priori synthetical cognitions can be derived."
—Kant's Critique of Pure Reason, Page 18-31

बाह्यजगत् के स्वरूप-निरूपण का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक परिवर्तन तथा कार्य का कारण है, इस स्वतःसिद्ध ज्ञान से अन्तर्जगत् का तथा बहिर्जगत् का अनुमान हो जाता है, यह इनका अभिमत है।

जो कार्य हमारी इच्छा से प्रारम्भ होते हैं, उन सबका हम स्वयं को कारण मानते हैं। बुद्धिपूर्वक कार्य के कारण ज्ञान से अन्तर्जगत् का तथा अबुद्धिपूर्वक कार्य के कारण ज्ञान से बाह्यजगत् का बोध उदित होता है। कार्य से कारण के अनुमान द्वारा बाह्यजगत् का आविष्कार होता है। जिन कार्यों को हम नहीं कर सकते, उन्हें हम बाह्य जगत् का कारण मान लेते हैं। जगत् को अन्तः एवं बहिः इन दो भागों में विभक्त किये बिना क्या हम बुद्धिपूर्वक कर्म के कारण को अन्तः में तथा अबुद्धिपूर्वक कर्म के कारण को बहिः में बताने के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सकेंगे? बाह्यज्ञान न रहने से क्या यह बोध हो सकेगा कि अबुद्धिपूर्वक कर्म का कारण बाहर है? इसलिए यह मानना ही होगा कि बाह्य का ज्ञान पहले से ही विद्यमान रहता है। तभी हम इस अनुमान में सफल होते हैं कि अबुद्धिपूर्वक कर्म का कारण बाहर है।

शास्त्र का उपदेश है कि माया तथा अनादि कर्म संस्कार ही हमारे अन्तः तथा बाह्य ज्ञान की प्रसूति हैं। श्रुति ने बतलाया है कि जो आन्तर है, वही बाह्य है। जो बाह्य है, वही आन्तर है।[1] मैत्र्युपनिषत् के अनुसार आत्मा ही अन्तः है, आत्मा ही बहिः है।[2] परमात्मा, जीवात्मा, ईश्वर तथा लिंगदेह (सूक्ष्म), इन सबका स्वरूप-चिन्तन करते समय हम इस पर कुछ आगे कहेंगे। कारण कदापि कार्य से अलग भिन्न नहीं होता। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि 'कारण की आत्मभूता शक्ति तथा शक्ति का आत्मभूता कार्य'। जर्मनी के प्रख्यात विद्वान् हेगेल ने भी इसी मत को स्वीकार किया है। विमल स्फटिक में नाना प्रकार के पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह जिस प्रकार नानारूपेण रंजित प्रतीत होता है, अखण्ड सच्चिदानन्द परमात्मा भी उसी प्रकार नानाविध पदार्थ तथा माया द्वारा पतित नामरूप के प्रतिबिम्ब से परिच्छिन्न होकर (वास्तव में ब्रह्म में परिच्छेद नहीं होता) विचित्र विश्वरूप धारण करता है।

(आत्मवित् की दृष्टि में जगत् आत्ममय है।) एक ही व्यक्ति कर्मभेद से भिन्न-भिन्न नाम से अभिहित हो जाता है, उसी प्रकार परमात्मा भी कर्मभेद से विविध नामरूप से पुकारे जाते हैं तथा अनुभूत होते हैं। माया से मनोमुग्ध नृत्यविमोहित चित्त ही भेदज्ञान का आधिपत्य करता है। मायामुग्ध व्यक्ति ही

1. "यदन्तर तद् वाह्यं यद् वाह्यं तदन्तरम्"—अथर्ववेद संहिता
2. "आत्मान्तर बहिश्चान्तर्बहिश्च"—मैत्र्युपनिषद्

कार्य को कारण से अलग समझता है।[1] आत्मवित् के नेत्रों में जगत् आत्ममय है। आत्मविद् आत्मातिरिक्त पदार्थ नहीं देख सकते। प्राण-वाक्-चक्षुः-श्रोत्र-मनः इत्यादि सभी आत्मवाची हैं। आत्मा ही सबका वाच्य है। बृहदारण्यक श्रुति का कथन है कि आत्मा जब प्राणन क्रिया का सम्पादन करता है, तब वह प्राण नाम से, जब वाक्य का उच्चारण करता है, तब वागिन्द्रिय नाम से, जब दर्शनादि ऐन्द्रिक कार्य सम्पादित करता है, तब 'चक्षुरादि इन्द्रिय' नाम से, जब मनन कार्य करता है तब 'मनः' नाम से अभिहित हो जाता है। प्राण-वाक्-चक्षु-श्रोत्र-मनः इत्यादि आत्मा के कर्मज नाम मात्र हैं।[2] भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—प्राण तथा वाक् शब्द से श्रुति क्रियाशक्ति विकार एवं चक्षुः तथा श्रोत्र द्वारा विज्ञान शक्ति विकार को लक्ष्य किया गया है। मनः ज्ञानशक्ति विकास का साधारण कारण है। काम-संकल्प-श्रद्धा आदि मनः की ही वृत्ति है।[3]

शुक्ल यजुर्वेद संहिता में कहते हैं कि आत्मतत्व सक्रिय परिस्पन्द कर्म विशिष्ट है और निष्क्रिय-निश्चल आत्मतत्व जंगम है। तथापि स्थावर भी है। वही सर्व जन्तुरूप से विद्यमान है। आत्मा ही अखिल स्थावर पदार्थ के आकार में अवस्थित है। आत्मा ही दूर में तथा पास में विराजित है। आदित्य नक्षत्रादिरूपेण यह दूर में विद्यमान है, पृथिव्यादिरूप में समीप में स्थित है। आत्मा ही निखिल प्राणियों के अंतर में विज्ञानघनरूपेण अवस्थित है। वही बाहर जड़शक्ति के आकार में विद्यमान है। आत्मा ही चेतन, अचेतन सब में स्थित है। अनन्त है, अपरिच्छिन्न आत्मा ही कारण है, वही कार्य है, वही उपादान कारण तथा निमित्त कारण भी है।[4] ऋग्वेद का कथन है कि इन्द्र अथवा आत्मा अपनी माया से पुंरूपेण विचित्र आकार धारण करता है।[5]

अन्तः अथवा बहिः स्वरूपतः भिन्न नहीं है। यह प्रमाणित हो गया। वेद ने अन्तः तथा बहिः पदार्थ को स्वरूपतः अभिन्न कहा है। ब्रह्म को अभिन्न

---

1. सांख्यसार में कहा है—"मायैवेकाहि नृत्यन्ती मोहवत्याखिला धियः, पुंसां भेदो बुद्धिभेदाद-म्बुभेदाद् यथा रवेः।" "अकृस्नोहिस प्राणनेव प्राणो नाम भवति। वदन्वक् पश्यांश्चक्षुः श्रृण्वशास्त्र मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मणाभान्येव"—बृहदारण्यक उपनिषद्
2. "प्राणन्नैव प्राणो वदन्वागित्याभ्यां क्रियाशक्त्युद्भवः प्रदर्शितो भवति पश्यश्चक्षु श्रृण्वन् श्रोत्रमित्याभ्यां विज्ञानशक्त्युवः प्रदर्श्यते। मन्वानो मनो मनुत इति ज्ञानशक्तिविकाशानां साधारणं करणं मनः मनुतेऽनेनेति पुरुषन्तु कर्ता सन्मान्वानो मन इत्युच्यते" —शांकरभाष्य
3. "काम सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरघृतिर्ह्रीर्धीर्भिरित्यतेत् सर्व मन एव" —बृहदारण्यक
4. "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" —शुक्लयजुर्वेद संहिता 40/5
5. "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"—ऋग्वेद 4। 47। 18

निमित्तोपादान कारण स्वरूप कहा है। अतएव स्वीकार करना होगा कि अन्तः तथा बहिः स्वरूपतः भिन्न नहीं है। क्या यह प्रत्यक्षविरुद्ध बात नहीं है कि क्या एक ही पदार्थ एक साथ निमित्त तथा उपादान हो सकता है? एक ब्रह्म को ही उपादान तथा निमित्त कहा गया तो एक ही जड़शक्ति को सर्वकारण रूप अवधारित करना क्या एक ही तथ्य नहीं है? प्रज्ञा-स्मृति-इच्छा संवित् आदि को जड़शक्ति का कार्य कहने में क्या आपत्ति है?

वेद ने जो कहा वही सत्य है। वेदातिरिक्त अन्य कोई प्रमाण सर्वत्र अव्याभिचारी नहीं है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान अभ्रान्त नहीं होता। जो यह नहीं मानते वे चिरकालपर्यन्त यही प्रश्न करते रहेंगे, उन्हें समझाने की शक्ति मुझमें नहीं है। तब भी यह अवश्य कहना है कि वेद ने जो कहा है, वही सत्य है। यथारीति परीक्षा करके सभी किसी न किसी जन्म में इसे उपलब्ध कर सकते हैं। वेद की उक्तियों का ऋषियों ने बहुशः परीक्षण किया है। उन्होंने बिना परीक्षा किये वेद को स्वतः प्रमाण नहीं माना है। कपिल-गौतम-कणाद-जैमिनि-बादरायण-पतंजलि-व्यास-यास्क-शौनक-भरद्वाज-विश्वामित्र ने कभी भी राग-द्वेष के वशवर्ती होकर कुछ भी नहीं कहा। प्रत्यक्ष तथा अनुमान ये दोनों प्रमाण वेदमूलक हैं। जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान जिस मात्रा में वेद से विसंवादी है, वह उस मात्रा में भ्रान्तिपूर्ण है। जड़ैकत्ववाद तथा वेदोपदिष्ट अद्वैतवाद पूर्णतः भिन्न सामग्री है। दिन के साथ रात्रि का जो सम्बन्ध वही सम्बन्ध है, जड़ैकत्ववाद से अद्वैतवाद का है।

जो सत्य है, अव्यभिचारी है, जो ज्ञान अवबोध स्वरूप है तथा जो अनन्त है, देशकाल, वस्तु से परिच्छिन्न नहीं है, वह है ब्रह्म। तैत्तरीय आरण्यक ने कहा है कि जो व्यक्ति परमव्योमरूपी गुहा में अव्याकृत आकाशरूप आवरणी (Invironment) में निहित ब्रह्म को जान जाता है, वह सत्य-ज्ञान-अनन्तरूप परब्रह्म के साथ अभिन्नरूपेण अवस्थान करते हुए परमानन्द प्राप्त करता है। पञ्चदशीकार इस अमूल्य श्रुति उपदेश का तात्पर्य समझाते हुए कहते हैं कि गुहानिहित ब्रह्म को जानने के लिए पंचकोष में विचरण करना आवश्यक है। (पंचकोष अन्नमयादि पंचकोष) पंचकोष का विवेचन आवश्यक कर्तव्यरूप है। वहीं पर विवेक द्वारा ब्रह्म को (जो गुहानिहित है) जाना जा सकता है। गुहा शब्द उपाधि है। यह कोष अथवा व्यक्तावस्था का वाचक है। जो स्थूल है, वह व्यक्त है। जो कार्य है, वह कारणात्मक है। उसकी अव्यक्त सूक्ष्मावस्था में उसका अन्तर्भाव है। स्थूल के सूक्ष्म को देखने के लिए, कार्य के कारण को जानने के लिए अन्तस्थल में प्रवेश करना होगा। जो जिसका कारण है, जो जिसका अन्तर्भाव है, वह है उसकी आत्मा। व्यक्त तथा बाह्यभाव है शरीरात्मा। अव्यक्त तथा अन्तर्भाव है अन्तरात्मा।

महाभाष्यकार पतंजलिदेव ने इसी को समझाने के लिए शरीरात्मा एवं अन्तरात्मा भेद से द्विविध रूप आत्मा का वर्णन किया है। शरीरात्मा जो कर्म करता है, अन्तरात्मा उसका सुख-दुःख अनुभव करता है।[1] पतंजलिदेव के इस उपदेश का तात्पर्य है कि विकार अथवा कार्य की अन्तः तथा बहिः यह दो अवस्थाएँ हैं। विकार अथवा कार्य कारणगर्भधृत है। निर्विकार परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य आत्मा है। अन्नमय कोषाधिष्ठित आत्मा, प्राणमय कोषाधिष्ठित आत्मा का बाह्यभाव है। प्राणमय कोषाधिष्ठित आत्मा का शरीर है अन्नमय कोष। इसी प्रकार प्राणमय कोषाधिष्ठित आत्मा ही मनोमय कोषाधिष्ठित आत्मा का बाह्यभाव है तथा प्राणमय कोष ही मनोमय आत्मा का शरीर है। मनोमय कोषाधिष्ठित आत्मा ही विज्ञानमय कोषाधिष्ठित आत्मा का बाह्यभाव है तथा उसका शरीर है। विज्ञानमय कोषाधिष्ठित आत्मा विज्ञानमय कोषाधिष्ठित आत्मा का बाह्यभाव है तथा विज्ञानमय कोषाधिष्ठित आत्मा का शरीर भी है। अब विज्ञानमय कोषाधिष्ठित आत्मा ही आनन्दमय कोषाधिष्ठित आत्मा का बाह्यभाव होने के साथ उसका शरीर भी है। अतः उपलब्धि होती है कि प्राणमय ही अन्नमय की अन्तरात्मा है। मनोमय ही प्राणमय की अन्तरात्मा है। विज्ञानमय अन्तरात्मा है मनोमय का तथा आनन्दमय है विज्ञानमय की अन्तरात्मा।

पतंजलिदेव तैत्तरीय श्रुति के वचनानुसार शरीरात्मा तथा अन्तरात्मा रूप से आत्मा का दो भेद करते हैं।[2] प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय तथा आनन्दमय रूप कोष चतुष्टय अथवा सूक्ष्म एवं कारण शरीर को शरीरतत्वविद् नहीं देख सकते। यह उनकी ऑपरेशन छूरिका से व्यवच्छेद्य नहीं है। प्राणमयादि कोष चतुष्टय अथवा सूक्ष्म एवं कारण को केवल सूक्ष्म द्रष्टा ऋषि, योगी ही देख सकते हैं। यह समाधि छूरिका द्वारा व्यवच्छेद्य है। फिर भी चिन्तनशील अनुमानप्रमाण द्वारा इनके अस्तित्व का अनुमान लगा लेते हैं। विचारशील पाश्चात्य दार्शनिकों तथा विद्वानों में से किसी-किसी ने अनुमान प्रमाण की सहायता से किंचित् अनुमान द्वारा सूक्ष्मशरीर की सत्ता को स्वीकार भी किया है।

जो व्यक्त अथवा बाह्यावस्था है, वह कार्य है एवं जो अव्यक्त अथवा आन्तर है, वह कारण है। व्यक्त-बाह्य-कार्य-स्थूल एकार्थ वाचक हैं। अव्यक्त-आन्तर-कारण तथा सूक्ष्म—यह भी एकार्थवाचक है। जिस अव्यक्त से व्यक्तभाव का उदय होता है, जो अव्यक्तभाव व्यक्तभाव का व्यापक है, वह अव्यक्त ही व्यक्तभाव की आत्मा है। जो परम कारण है, जो सर्वाभ्यन्तर है, जो सत्य ज्ञान

---

1. "द्वावात्मानौ शरीरात्मा अन्तरात्मा च। अन्तरात्मा तत्कर्म करोति, येन शरीरात्मा सुख-दुःख अनुभवति। शरीरात्मा तत्कर्म करोति, येनान्तरात्मा सुख-दुःखे अनुभवति" —महाभाष्य
2. "स एव एष पुरुषोऽन्नरसमयः ...तस्माद्वा एतस्मादन्न रसमस्मात् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः I... तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात् अन्य अन्तरो आत्मा मनोमयः। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः" —तैत्तरीय आरण्यक

तथा अनन्त स्वरूप है, वह है परमात्मा। इसलिए शास्त्र ने पंचकोष अथवा स्थूलादि शरीरत्रय (स्थूल-सूक्ष्म-कारण) की विवेचना द्वारा कार्य कारणतत्त्व की ही व्याख्या की है। कार्यमात्र की अन्तः एवं बहिः अवस्था है। जो व्यक्त है वह अव्यक्त के गर्भ से धृत होकर अवस्थान करता है। स्थूल ही सूक्ष्म का व्यापक है।

अन्तः तथा बहिः का शास्त्रों में जो अर्थ है उससे ज्ञात होता है कि जो आन्तर अवस्था है, वह बाह्यावस्था से व्यापकतर है। किन्तु हमारे ज्ञान में बाह्यावस्था ही व्यापकतर प्रतीत होती है। हम अपने सहज ज्ञान से बाह्य को ही व्यापकतररूप समझते हैं और अन्तः को क्षुद्रतम मानते हैं। बाह्य प्रकृति की तुलना में आन्तर प्रकृति को परिच्छिन्न अथवा संकीर्ण मानते हैं। श्रुति के उपदेशानुसार हम आत्मा की अन्तः में, बाहर में, सर्वभूत में भावना नहीं कर पाते। इसका क्या कारण है?

अविद्या अथवा अविवेक इसका कारण है। रजः तथा तमः अथवा राग तथा द्वेष, इन गुण अथवा शक्तिद्वय के उपरागवशतः हमारा आत्मज्ञान संकीर्ण हो जाता है, हमारे धर्म-ज्ञान-ऐश्वर्य आदि नितान्त परिच्छिन्न हो जाते हैं। अतः हम आत्मा का प्रकृतरूप नहीं देख पाते, इसीलिए हमारी परबुद्धि इतनी प्रबल है और हम बाह्य को ही आन्तर से अधिक व्यापक मान लेते हैं। आत्मज्ञान मलिन हो जाने के ही कारण हम कर्म को बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक, इन दो भागों में विभक्त कर देते हैं। जो स्वयंसिद्ध कर्मरूप में विवेचित होता है, वह वास्तव में बुद्धिपूर्वक है, हम यह धारणा भी नहीं कर पाते। जिन सब कार्यों का कारण हमें बहिःस्थितिरूपेण प्रतीत होता है, उन सबको हम स्वयंसिद्ध मान लेते हैं। जो कर्म हमें स्वयंसिद्धरूपेण प्रतीत होता है, वह बुद्धिपूर्वक है, ऐसा क्या प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रमाणित होगा? प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रमाणित होगा अथवा नहीं, यह परीक्षा करने की भी हमें शक्ति नहीं है। वेद ने तो परीक्षा करने में कोई संकोच न करे, यह आदेश दिया है, तभी वेदभक्त ऋषि तथा आचार्य वेद के उपदेशानुसार बहुशः परीक्षा करके जगत् को यह कहते हैं कि 'वेद का प्रत्येक अक्षर सत्यमय है'।

कर्ममात्र ही बुद्धिपूर्वक है। सभी कर्म संकल्पमूलक हैं, यदि यह सत्य नहीं है तब शैत्य और तेज के संकल्प से जल का वाष्पाकृति में उर्ध्वगमन, पुनः पृथ्वी पर वर्षा के रूप में अवतरण करना, वृष्टि के संकल्प से अन्नोत्पत्ति, अन्न के संकल्प से प्राण का संकल्प, प्राण के संकल्प से मन्त्र का संकल्प, मन्त्र के संकल्प से अग्निहोत्रादि कर्म का संकल्प, अग्निहोत्रादि के संकल्प से लोक का संकल्प एवं लोक के संकल्प से जगत् का संकल्प होता है। अतएव संकल्प की उपासना करे। जो व्यक्ति संकल्प की उपासना करता है अर्थात् संकल्प की उपासना ब्रह्मरूप से करता है, वह संकल्प तत्व से अवगत हो जाता है। जो व्यक्ति दृढ़संकल्प है, वह काम्य होता है। उसकी कोई भी कामना अपूर्ण नहीं रहती। कोई भी कर्म उसके लिए असाध्य नहीं है। ऐसा श्रुति ने क्यों कहा? यदि इच्छाशक्ति सर्वशक्ति का मूल

नहीं है, तब पतंजलिदेव ने उसकी उपासना का आदेश क्यों दिया? योगशास्त्र यह प्रतिपादित करने के लिए आविर्भूत है कि इच्छाशक्ति (संकल्पशक्ति) जड़शक्ति के ऊपर आधिपत्य कर सकती है। शुक्राचार्य ने स्वप्रणीत शुक्रनीतिसार में नालिकास्त्र से होने वाले युद्ध की तुलना में मान्त्रिकास्त्र युद्ध को उत्कृष्ट कहा है। मन्त्र से प्रेरित बाण से जो शत्रुनाश है, वही मान्त्रिकास्त्र है। यदि मन्त्रशक्ति काल्पनिक होती तब शुक्राचार्य मान्त्रिकास्त्र का उल्लेख क्यों करते? इस दुर्दिन में भी कितने निरक्षर व्यक्ति बाँस के टुकड़ों से चेतनवत् कार्य कराकर मन्त्रशक्ति में अनास्था रखने वालों का मस्तिष्क घुमा देते हैं। किन्तु इससे क्या? प्रतिभा की महिमा अनिर्वचनीय है। यदि प्रतिभा प्रतिकूल है, तब प्रत्यक्ष देखने पर भी उस पर व्यक्ति का विश्वास नहीं होता। जो कुछ भी हो, संकल्प अथवा इच्छा ही निःसन्दिग्ध रूप से मूल कारण है। प्रकृत कारण है यह निःसन्दिग्ध है।

बिना संकल्प क्रिया कैसे होगी? बिना कारण जैसे कोई कार्य नहीं होता, इसका भी वही तात्पर्य है। चिच्छक्ति विश्व के सभी पदार्थों में विद्यमान है। इसलिए जड़ स्वयंप्रेरित होकर कार्य करे, यह बात युक्तिसंगत नहीं है। जड़वादीगण ने जिस प्रकृति अथवा शक्ति को विश्वजगत् में सर्वप्रकार के कार्य के कारणरूप में अवधारित किया है, वह प्रकृति ही परमेश्वर की इच्छाशक्ति स्वरूप है। जिसके द्वारा कोई क्रिया सम्पादित होती है, वही शक्ति है। किसी क्रिया की निष्पत्ति का स्वरूप-वर्णन करने के लिए उद्यत होने पर शक्ति की एक अवस्था का त्याग करके अन्य अवस्था का ग्रहण अर्थात् एक का वर्जन अन्य को ग्रहण करना चित्तदर्पण में (बुद्धिदर्पण में) प्रतिफलित होता है। एक शक्त्यावस्था अथवा भाव का त्याग करके अन्य भाव अथवा अवस्था का ग्रहण सन्दर्शनादि व्यापार के बिना नहीं होता। 'शक्ति बिना संकल्प तथा सन्दर्शनादि व्यापार के कार्य सम्पादन करती है' यह कहना और अकस्मात् उत्पत्तिवाद का समर्थन कर देना, दोनों एक ही स्थिति है। निर्निमित्तवादीगण कार्य का कारणानुसन्धान क्यों करेंगे? 'कार्य का कारण है, बिना कारण कोई कार्य नहीं होता' यह भी कहें और पुनः निर्निमित्तिवाद का समर्थन करें यह नहीं हो सकता। यह स्वीकार करना होगा कि विश्वजगत् में जो भी कार्य होता है, संघटित होता है, वह सब काकतालीय न्याय के अनुसार नहीं होता। बिना उद्देश्य, बिना कारण नहीं होता।

कर्ममात्र ही संकल्पमूलक है। इच्छाशक्ति सभी शक्ति की मूल है। क्रमविकासवादी प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) को विश्व के सब परिणाम का कारण कहते हैं। निर्वाचन शब्द का क्या अर्थ है? यह यह, यह नहीं, यह कर्तव्य, यह अकर्तव्य, इसे रखना है, इसे भगा देना है, इसे ग्रहण करना है, इसे त्याग करना है—यह विवेचना ही तो निर्वाचन शब्द का अर्थ है। निर्वाचन-संयोजन-क्रम अथवा आनुपूर्वा परिपाटी (Selection-Combination-Grada-

tion) यही तो बुद्धि अथवा प्रेक्षापूर्वक कर्म का लक्षण है। अतएव प्राकृतिक निर्वाचनवाद वाले विश्व के परिणाम को अबुद्धिपूर्वक कैसे कहते हैं? जिन सब कर्मों की निष्पत्ति में हम सन्दर्शनादि व्यापार की उपलब्धि नहीं कर पाते, उन्हें हम अबुद्धिपूर्वक तथा जिस कर्म की निष्पत्ति में सन्दर्शनादि व्यापार ज्ञानगोचर होता है, उसे हम बुद्धिपूर्वक कर्म कहते हैं। किन्तु बात यह है कि प्रसिद्ध अबुद्धिपूर्वक कर्म की निष्पत्ति में जो संकल्प अथवा सन्दर्शनादि व्यापार है उसे हम स्थूल दृष्टि के कारण समझ नहीं पाते, तब क्या यह सिद्धान्त उचित है कि सभी कर्म स्वयंसिद्ध हैं, स्वयं निष्पन्न कर्मसमूह ही अवस्थाभेद से बुद्धिपूर्वक कर्म का आकार ग्रहण करते हैं? अतः कर्ममात्र ही संकल्पमूलक है, अथवा बुद्धिपूर्वक है। चरम उन्नति प्रार्थी मानव के लिए यही सिद्धान्त हितकारी है। यह सिद्धान्त ही चरम उद्देश्यसिद्धि के पथ पर विशेषतः उपकारक है, यही आत्मपर कल्याणार्थी का अवलम्ब है।

कर्ममात्र ही संकल्पमूलक है, इस प्रकार का प्रत्यय हृदय में दृढ़ता से प्रतिष्ठित है। तभी तो पृथ्वी पर अष्टसिद्धिसम्पन्न पुरुषों का प्रादुर्भाव हुआ है। इससे संकल्प की सर्वतोमुखी प्रभुता में विश्वास उत्पन्न होता है। तभी तो मनुष्य मर्त्य शरीर में वास करके भी अमृतत्व की आकांक्षा कर सकता है। तभी तो वह प्रकृति को वश में करके मृत्यु से निष्कृति प्राप्त करने की इच्छा करता है। इसी कारण कितने ही प्रकृतिजयी योगियों की चरणधूलि वक्ष पर धारण करके भारतभूमि एक दिन कृतार्थ थी। मन की कितनी शक्ति है, यह हम नहीं जानते, हमने आत्मा के प्रकृत रूप देखने के नेत्र खो दिये हैं। तभी कर्ममात्र को संकल्पमूलक मानने की बात हमारे मन में युक्तिरहित प्रतीयमान होती रहती है। तभी अलौकिक पदार्थ पर हम विश्वास-स्थापन से घबड़ाते हैं। इसीलिए वेद के परम उपकारक वचनों को हम अति प्राकृतिक और काल्पनिक कहते हैं। उसकी उपेक्षा करते हैं। तभी योगविभूति हमारे लिए उपहास की सामग्री हो जाती है। आगस्ट कामटे, लॉर्ड कैलविन प्रभृति प्रतीच्य विद्वानों ने तभी असंकुचित क्षुद्रहृदय के चलते योगीगण को भण्ड कहा है।[1]

---

1. विद्वान् आगस्ट कामटे ने योग के अध्यात्मतत्वचिन्तकगण को चित्तभ्रम तथा दुष्टाभिसन्धि सिद्धि का जाल (Veil) कहा है। लॉर्ड कालविन का भी यही मत है—

विद्वान् कामटे की उक्ति है—"The metaphysical utopias in which a life of pure contemplation is held out as the highest ideal, attractive as they are to modern men of science, are really nothing but illusions or veils for dishonest scheme."

—System of Positive Polity, Vol. I, Pg. 13

लॉर्ड कालविन कहते हैं—"Clairvoyance and the like are the result of observation chiefly, some what mixed up, however with the effects of wilful imposture acting on an innocent, trusting mind."

—Popular Lectures and Addresses, Vol. I, Pg. 265

मन की शक्ति से वेदचरण सेवक आर्यगण अवगत थे। तभी वे योगशक्ति से विकसित मानसशक्ति द्वारा स्थूलदृष्टि जड़विज्ञान के परिचित नियमों के ऊपर आधिपत्य स्थापित कर लेते थे जिसे सुनकर आज के साधारण लोग असम्भव मानेंगे। उनके चमत्कारों को प्रत्यक्ष देखकर भी सहसा विश्वास न कर सकें, ऐसे कार्यों का उन लोगों ने सम्पादन किया था।

कर्ममात्र के बुद्धिपूर्वक होने से भी हम जिस कारण से उसे समझ नहीं पाते, जिस कारण से हमारे कर्म में बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक यह द्विविध विभिन्न मूर्ति ज्ञाननेत्र में पतित होती है, संक्षेप में उसे सुना। अबुद्धिपूर्वक कर्म साधारणतः साधना से बुद्धिपूर्वक में परिवर्तित हो जाते हैं, इसका तनिक आभास प्राप्त हो सका। संकल्प के कर्ममात्र का मूल होने पर भी बुद्धि की परिच्छिन्नता अथवा चित्त की बहिर्मुखीनता के कारण वह हमें उपलब्ध नहीं होता, यह भी विज्ञापित हो गया। अब यह जानना है कि शास्त्र ने किस लिए सृष्टि को बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक भागद्वय में विभक्त किया है, साथ ही यह भी ज्ञात करना है कि जीव के जन्मतत्व के विचार में प्रवृत्त होकर जिस कारण से हमने इन दोनों कर्म के स्वरूप-निरूपण का प्रयत्न किया उसे बताना है।

श्रुति का कथन है सृष्टि के पूर्व परमेश्वर ने प्रथमतः 'मै बहु होऊँ' ऐसी इच्छा की। तदनन्तर उन्होंने तप किया। सृज्यमान जगत् के रचना की आलोचना की। तदनन्तर प्राणिगण के अतीत कल्पकृत कर्मादिकारण के अनुरूप विश्वजगत् की सृष्टि की।[1] ऋग्वेदसंहिता का भी यही मत है। ऐतरेय आरण्यक में उक्त है कि परमेश्वर 'पृथिव्यादि लोकसृष्टि करूँगा' ऐसा ईक्षण-विचार करते हैं। इस प्रकार के विचार से सृष्टि करते हैं।[2]

इन सब श्रुतिवचन से प्रतिपन्न होता है कि बुद्धिपूर्वक सृष्टि ही श्रुति से अनुमोदित है। अद्वैत प्रतिपादक श्रुति का इस वचन से यही अभिप्राय है कि 'एक ही ब्रह्म अथवा आत्मा से भिन्न द्वितीय पदार्थ नहीं है'। आत्मा ही उपादान, आत्मा ही निमित्त, वही ज्ञाता, ज्ञेय है। ऐन्द्रियक ज्ञान में यह सब वचन असंगत अथवा अर्थशून्य से लगते हैं। ऐन्द्रियक ज्ञान में भोक्तृ तथा भोग्य, द्रष्टा तथा दृश्य, ज्ञाता तथा ज्ञेय से भिन्न पदार्थ प्रतीत होते हैं। हम उपादान कारण को निमित्त कारण से भिन्न समझते हैं। कुम्भकार तथा दण्डचक्रादि को हम मृत्तिका से अभिन्नरूप नहीं समझ पाते। तत्पश्चात् निर्विकार एक ब्रह्म नामक पदार्थ, अन्य किसी पदार्थ की सहायता न लेकर विविध विचित्र जगदाकृति धारण करते हैं, सहजज्ञान में यह

---

1. "सोऽकामयत्। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत्। स तपस्तप्तः। इदं सर्वमसृजत्।" —तैत्तरीयोपनिषत्

2. "स ईक्षत, लोकन्नऽसृज्य इति स इमांल्लोकानसृजत्"—ऐतरेय आरण्यक

भी सम्भव नहीं लगता। निर्विकार अथवा पूर्ण एवं आप्तकाम को सृष्टि की इच्छा क्यों? अप्राप्त पदार्थ को पाने के लिए ही इच्छा का उदय होता है। जो आप्तकाम, पूर्ण हैं, उन्हें कुछ भी अप्राप्त नहीं है। अतः आप्तकाम पूर्णब्रह्म में इच्छा क्यों? सृष्टि में पहले मात्र ब्रह्म थे, कुछ और कदापि नहीं था, अतः एक अद्वितीय ब्रह्म ने बहुः होने की इच्छा क्यों की। उन्होंने तप करके विश्वजगत् की सृष्टि किया इत्यादि श्रुतिवचनों का अभिप्राय क्या है, इस पर विचार करने से मन में अनेक संशय उदित होते हैं, फलतः इन सबके यथार्थ अभिप्राय को सम्यक् रूप से नहीं समझ पाता।

एक जड़शक्ति से सर्व प्रकार के चेतन-अचेतन पदार्थ जात का परिणाम होता है और हो रहा है, चैतन्य जड़शक्ति से आविर्भूत हो रहा है, द्रष्टा तथा दृश्य जड़शक्ति की द्विविध अवस्था है इत्यादि। ये सब वाक्य हमारे समीप जिस प्रकार से युक्तिविरुद्ध प्रतीत हो रहे हैं, वैसे ही एक सच्चिदानन्द ब्रह्म से भोक्तृभोग्यात्मक विश्वजगत् की उत्पत्ति हुई है, ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय है ही नहीं, यह भी युक्तिविरुद्ध लग रहे हैं। केवल हमें ही क्यों, ऋषि तथा आचार्यों ने भी इसे अनायास बोध्य नहीं माना है। साधारण ज्ञान से ये सभी युक्तिविरुद्ध ही प्रतीयमान होते हैं।

ऋषियों तथा आचार्यों ने यह देखा कि वेदोपदिष्ट अद्वैतवाद अनायास- बोध्य नहीं है। बहिर्मुख प्रणव व्यक्ति का आपाततः परमपुरुषार्थरूप अद्वैत मार्ग में प्रवेश सम्भव नहीं है, तभी उन्होंने अद्वैतमार्ग में प्रवेश के द्वार स्वरूप द्वैतवाद समर्थक शास्त्रों का प्रचार किया। प्रथमतः नास्तिकवाद के निराकरण की चेष्टा की गयी।[1] श्रुतिबोधित अद्वैतमार्ग साधारण के लिए प्रवेशार्ह नहीं है। सभी उसके प्रकृत अभिप्राय की धारणा यथायथ रूप से नहीं कर सकते। इसीलिए महर्षि कणाद तथा गौतम ने ईश्वराधिष्ठित परमाणपुंज को विश्व का मूल उपादान तथा ईश्वर एवं अदृष्ट को निमित्त कारण बताया। निरीश्वर सांख्यदर्शन ने इसी कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति को तथा सेश्वर सांख्यदर्शन ने प्रधान (प्रकृति) को विश्व कारण बताया। पूर्व मीमांसा दर्शन ने वेद को ईश्वर स्थानीय प्रतिष्ठित किया, धर्म को विश्वजगत् का निमित्त कारण निश्चित किया। आरम्भवाद-विवर्तवाद-परिणामवाद-असत्कार्य-वाद-सत्कार्यवाद-सत्कारणवाद का आविर्भाव अधिकारानुसार तत्वोपदेशार्थ है।

निर्विकार एकतत्व ब्रह्म नामक पदार्थ का जगदाधार होना, जगदाकृति धारण करना, जगत् भाव प्राप्ति कर लेना सम्भव नहीं है। इसीलिए श्रुति ने कहा कि

---

1. "न हिं ते मुनयो भ्रान्ताः। तेषां सर्वज्ञत्वात्। भ्रान्तत्वे वा विनिगमनाविरहात्। किन्तु बहिर्मुख प्रवणानां आपाततः पर[illegible]पुरुषार्थेऽद्वैतमार्गे प्रवेशो न सम्भवतीति नास्तिक्य निराकरणाय तैः प्रस्थानभेदाः प्रदर्शिताः न तु तात्पर्येण"—अद्वैत ब्रह्मसिद्धि

इन्द्र अथवा परमात्मा माया द्वारा पुरु (बहु) रूप प्राप्त करते हैं। मायासहित ब्रह्म विश्व के उपादान कारण हैं। अन्य श्रुति में माया को प्रकृति, मायी को (माया जिनकी शक्ति है) महेश्वर कहा गया है। माया के साथ ब्रह्म की जगत् भाव प्राप्ति आरम्भ अथवा परिणाम नहीं है, यह है विवर्त्त। आरम्भवादी न्यायवैशेषिक दर्शन जिस दृष्टि से परमाणु को विश्वजगत् का उपादान अथवा समवायिकारण कहता है, परिणामवादी सांख्यदर्शन जिस दृष्टि से सत्व-रजः-तमः इन त्रिगुणात्मिका प्रकृति (प्रधान) को विश्वकार्य के उपादानरूप में ग्रहण करता है, श्रुति अथवा वेदान्तदर्शन उसी दृष्टि से मायासहित ब्रह्म को विश्वजगत् का उपादान नहीं मानते। आरम्भ, परिणाम तथा विवर्त्त के लक्षण पहले परिभाषित हो चुके हैं। अब प्रश्न उठता है कि श्रुति तब माया अथवा प्रकृति नामक पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार करती है, ऐसी स्थिति में इस प्रतिज्ञा का क्या होगा, कैसे स्थापन होगा 'एक ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय पदार्थ नहीं है।' ब्रह्म भिन्न पदार्थ का सद्भाव स्वीकार करते ही तो अद्वैतवाद खण्डित हो जाता है। यह प्रश्न अत्यन्त विचारापेक्ष है। एक-दो बात से इसकी मीमांसा नहीं हो सकती। अद्वैतवादियों ने इसके समाधानार्थ जो कुछ कहा है उसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रथम सिद्धान्त है कि शक्ति, शक्तिमान से भिन्न पदार्थ नहीं है। माया ब्रह्म की ही शक्ति है। अतः माया का अस्तित्व स्वीकार करने में अद्वैत की कोई क्षति नहीं है। द्वितीय सिद्धान्त है कि माया सत् पदार्थ नहीं है। अतएव अवस्तुभूत (जो वस्तु नहीं है) माया को अंगीकार करना अद्वैतवाद के सिद्धिमार्ग में कोई विघ्न नहीं कर सकता। 'माया अवस्तुभूत' इस वाक्य की यथार्थ मर्मोपलब्धि अत्यन्त दुरूह है। अघटन घटित कराने वाली माया को मिथ्या कह सकना साधारण प्रतिभा के लिए असम्भव कार्य है। सत्य का जो लक्षण हमें विदित है उससे माया सत् पदार्थ के रूप में उपलब्ध है। जो मिथ्या है, अवस्तुभूत है, उसका क्रियाकारित्व उत्पन्न कैसे होगा। आकाशकुसुम के समान अलीक पदार्थ विश्व जगत् पर इतना प्रभुत्व करे, यह कैसे माना जायेगा? अतः वैदान्तिकगण माया को अवस्तुभूत पदार्थ कहने की चाहे जितनी चेष्टा क्यों न करें, साधारण प्रतिभा उसे सत्य ही मानेगी। ऋग्वेदसंहिता ने इसी कारण कहा है कि जो अविद्या से सम्यक्रूपेण बद्ध हैं, जो मन के वश में विचरण करते हैं, इन्द्रियाधीन होकर जो अविराम विविध सुख-दुःख का भोग कर रहे हैं, जो राग-द्वेष के वश में हैं, वे कभी 'एक ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय नहीं हैं' वेदोक्त इस तत्वज्ञान को यथायथरूप से हृदय में धारण कर ही नहीं सकते। ऋत अथवा परब्रह्म के प्रथमज प्रथमोत्पन्न आदिभूत ज्ञान का जब विकास होगा, ऐन्द्रियक ज्ञान भूलकर मानव जब अतीन्द्रिय सनातन ज्ञान का ज्ञानी हो सकेगा, बहिर्मुखचित्त को जब योगशास्त्रोक्त नियमानुसार अन्तर्मुख कर सकेगा, तभी सर्वसंशय विदूरित होगा और तभी स्वयं-

प्रकाश अद्वैतज्ञान के अनुसार, अविद्या का आवरण दूर होगा। माया का मिथ्यात्व तभी यथायथ रूप से उपलब्ध होगा।

आजकल यहाँ देश में वेदान्त के प्रति श्रद्धा उमड़ पड़ी है, लोग अद्वैतवाद के उपदेश को सुनते हैं। अद्वैतवाद के उपदेष्टाओं ने भी प्रचुर परिणाम में जन्म ले लिया है। यह उन्नति का लक्षण है अथवा अवनति का? यह तो कालप्रवाह में प्रमाणित होगा, तब भी मेरे विश्वास से यह उन्नति का लक्षण नहीं है। अद्वैतवाद संसार की वस्तु नहीं है। यह संसारसागर पार करने की नौका है। जिनको इससे पार होना है, उनका अद्वैतवाद परम बन्धु है। परन्तु मैं यह समझ नहीं पाता कि संसारासक्त जीव इसके इतने भक्त क्यों हो गये? मेरे विचार से यह अविद्या की क्रीड़ा है। मेरी बात अनेक को श्रुतिविरस लगेगी, तथापि जो सत्य समझा उसे प्रकट करना आवश्यक है।

शुक्लयजुर्वेद संहिता के अनुसार जीव जल के बुलबुले के समान है। इसी प्रकार उसकी उत्पत्ति तथा लय होता है। जैसे गुड़, तण्डुल इत्यादि के संयोग से मद का आविर्भाव होता है, उसी प्रकार पृथिव्यादि परमाणुओं के पारस्परिक संयोग से विज्ञान आविर्भूत होता है। जो यह मानते हैं कि मृतक का पुनर्जन्म नहीं होता अतएव वर्तमान देह का पतन होने पर मुक्ति अवश्य होती है, वे अज्ञान लक्षण तमः लोक प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार आधुनिक काल के वेदान्त अनुशीलन से जो लोग कर्म से विरत होकर अपनी-अपनी बुद्धि की लघुता को न समझकर केवल आत्मज्ञान में रत हैं, आत्मा ही सत् है, कर्म, वर्णाश्रम धर्म असत् है, ज्ञान के साथ कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे लोग गाढ़तम अन्धकार में चले जाते हैं।

"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः।"

(शुक्लयजुर्वेद संहिता, 44/9)

हमारा यही भय है। तभी बन्धुभाव से दो-एक बात कहने की इच्छा होती है। जड़वादी होकर जड़विज्ञान की चर्चा करके आत्मा से परे का, अन्य का उपकार करना उचित है, श्रेयः है, परन्तु ऐसा वेदान्तिक बनना उससे भी भ्रष्ट है, उससे नष्टश्रेयः होना होगा। खैर, यह सब अधिक नहीं कहना है।

परमात्मा विश्वजगत् में केवल निमित्तकारण नहीं है। वे ही उपादान कारण तथा प्रकृति हैं। यथा—

"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्" (वेदान्तसूत्र)

न्यायवैशेषिक अथवा सांख्यपातंजल परमात्मा को विश्व का उपादान कारण नहीं कहते। इसीलिए वेदान्तदर्शन ने न्यायवैशेषिक मत का खण्डन करके यह प्रतिपादन किया है कि परमात्मा निमित्त तथा उपादान कारणद्वय स्वरूप है। जगत् का उपादान कारण चेतन है अथवा अचेतन, इसका निर्णय आवश्यक है।

सांख्यदर्शन ने जब त्रिगुणात्मिका अचेतन प्रकृति को जगत् का उपादान कारण माना है, तब इस मत से जगत् का उपादान कारण अचेतन है। जीव तथा अणु (अणु संघातवाद बौद्धों का) व्यतिरिक्त चेतन ईश्वर नामक निमित्तकारणाधिष्ठित चतुर्विध परमाणु को जो जगत् का उपादान कारण कहते हैं, उनके मत से भी जगत् का उपादान कारण अचेतन है।

सांख्यदर्शन ने कहा है कि ब्रह्म अपरिणामी है। अतः ब्रह्म का ज्ञान तथा क्रिया-सद्भाव सम्भव नहीं है। कार्य द्वारा शक्ति का सद्भाव अनुमित होता है। जो स्वयं अपरिणामी है, उसका कार्य कैसे होगा? अतएव निर्गुण अपरिणामी चिदात्मा में ज्ञान तथा क्रियाशक्ति का अस्तित्व सप्रमाण नहीं होता। त्रिगुणात्मक-प्रधान परिणामी (त्रिगुणात्मिका प्रकृति) में ही ज्ञान तथा क्रिया का सद्भाव सम्भव है। यद्यपि साम्यावस्था में अवस्थित प्रधान अथवा प्रकृति में ज्ञान एवं क्रियाशक्ति व्यक्तरूपेण विद्यमान नहीं है, तथापि ये तत्काल सूक्ष्म एवं अव्यक्तभावेन् शक्त्यात्मा में विद्यमान रहते हैं। अतः प्रकृति ही सर्वज्ञ है, वही सर्वशक्ति है, ब्रह्म सर्वज्ञ अथवा सर्वशक्ति नहीं है। स्वरूप चैतन्य निष्क्रिय है। अतः इसका कर्तृत्व सम्भवपर नहीं है।[1]

भोग तथा अपवर्ग—पुरुषार्थद्वय प्रयुक्त, अनादि प्रधान (प्रकृति) तथा पुरुष के संयोगनिमित्त, चेतन कर्तृक अनधिष्ठित अचेतन प्रधान (प्रकृति) का जो महत् अहंकारादि क्रमेण परिणाम होता है, वही सर्ग है, सृष्टि है। चेतन कर्तृक अनधिष्ठित अचेतन जो पुरुषार्थ में प्रवृत्त होता है, उसका अनेक दृष्टान्त है जैसे बच्चे में विवृद्धि के लिए अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति इत्यादि। जिज्ञासा होती है कि तब 'मैं बहुत होऊँ' ऐसी इच्छा से परमात्मा सृष्टि करते हैं, श्रुति ने ऐसा क्यों कहा? सांख्यदर्शन उत्तर देता है कि 'कूल गिरने की इच्छा कर रहा है', उक्त श्रुतिवचन इस प्रकार की प्रकृति विषयक है। यह गौण तथा औपचारिक है। यह अचेतन का चेतनवत् उपचार है। अथवा ऐसा श्रुतिवाक्य बुद्धिपूर्वक सृष्टि प्रतिपादक है। अबुद्धिपूर्वक आदि सर्ग प्रतिपादक नहीं है। वेदान्त दर्शन ने इस मत के खण्डनार्थ जो कहा है नीचे उसका सारांश सन्निवेशित हुआ है।

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' —वेदान्त दर्शन, 1/1/5

अर्थात् सांख्यपरिकल्पित अचेतन प्रधान (प्रकृति) जगत् का कारण नहीं हो सकती। क्योंकि श्रुति शब्द से जगत् कारण का ईक्षितृत्व है—ईक्षणकर्तृत्व ही श्रुत है। जगत् की सृष्टि ईक्षणपूर्वक है, यही श्रुति ने कहा है। [illegible]

1. [illegible] —भामती

प्रकृति से · कभी भी ईक्षापूर्वकारित्व उत्पन्न नहीं होता, त्रिगुणात्मक प्रकृति प्रकाशशील सत्वांश द्वारा ईक्षण करती है, यदि यह कहें, तब भी वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि सत्वगुण भी जड़ है। जड़ का ईक्षण कैसे उत्पन्न होगा? सत्वगुण स्वच्छ है, रजः एवं तमः मलिन हैं। सत्वगुण स्वच्छता के कारण चैतन्य का बिम्बग्राही है। तभी उसे प्रकाशशील कहा गया है। शीशा तथा लकड़ी दोनों पार्थिव हैं, परन्तु शीशे में बिम्बग्राहिता है। लकड़ी में वह नहीं है।

सांख्य ने गुणत्रय की साम्यावस्था को प्रकृति कहा है। प्रधानावस्था में जब गुणत्रय समभाव में रहते हैं तब सत्वधर्म ज्ञान का विकास कैसे होगा? गुणत्रय की साम्यावस्था में भी सत्वधर्म ज्ञानशक्ति का आश्रय है। ज्ञानशक्तिमत्व से प्रधान (प्रकृति) सर्वज्ञ हो जाती है, यदि कहें तब रजः एवं तमोगुण की ज्ञानप्रतिबन्धक शक्ति के आश्रय से यह स्वल्पज्ञ हो जाती है, क्या यह नहीं कहा जायेगा? अतएव रजः और तमोगुण की प्रतिबन्धकता के कारण प्रकृति की सर्वज्ञता नहीं सिद्ध होती (प्रकृति में गुणत्रय रहते हैं। अतः जहाँ सत्वज्ञान शक्ति का आश्रय है, वहीं रजः तथा तमः ज्ञानप्रतिबन्धक है। अकेला सत्वगुण ही प्रकृति में हो ऐसा सम्भव नहीं है, अतः वहाँ ज्ञानप्रतिबन्धकता भी है)। अब जिज्ञासा होती है कि क्या सत्ववृत्ति ही ज्ञान है? असाक्षिका सद्वृत्ति क्या कुछ जान सकती है? क्या अचेतन अथवा जड़ प्रकृति में साक्षात् द्रष्टव्य—ज्ञातृत्व उत्पन्न होता है? निश्चय ही नहीं। अतएव अचेतन प्रधान (प्रकृति) की सर्वज्ञता कभी भी सिद्ध नहीं हो सकती। यदि कहें कि जैसे अग्नि के लिए लौह पिण्डादि का दग्धृत्व कल्पित हो, तब उसी प्रकार साक्षी पुरुष के सन्निधान के लिए प्रकृति का ईक्षितृत्व कल्पित होता है, तब जिसके लिए प्रकृति का ईक्षितृत्व कल्पित होता है, उसे ही मुख्य सर्वज्ञ तथा जगत् का कारण कहना युक्तिसंगत है। प्रकृति विकार रूप 13 अन्तःकरण तथा बाह्यकरण यद्यपि सत्वप्रधान हैं, तब भी स्वयं अचेतन हैं। अतः इनकी वृत्तियाँ कभी भी स्वयं को अथवा पर को जान ही नहीं सकतीं। एक हजार अन्धे कभी भी मार्ग का निर्णय नहीं कर सकते, परन्तु अकेला एक चक्षुमान पथ निश्चय कर लेता है। इसलिए सिद्ध हो जाता है कि एक चक्षुमान ही मार्गदर्शी स्वतन्त्रकर्ता तथा हजारों अन्ध पथिकों का नेता है। स्वयं अचेतन बुद्धिसत्व में चिच्छक्ति का प्रतिबिम्ब संक्रान्त होने पर तब उसे जानने का सामर्थ्य होता है। इसलिए चिच्छक्ति को ही स्वतन्त्र ज्ञात्री कहना होगा। नित्य ज्ञानक्रिय ब्रह्म का सर्वज्ञत्व उपपन्न नहीं होता, क्योंकि जो नित्य ज्ञानक्रिय है उनका ज्ञान क्रिया के प्रति स्वातंत्र्य है। वहाँ कर्तृत्व नहीं रह सकता। जिनमें सभी विषयों का अवभासनक्षम ज्ञान नित्य विद्यमान है, क्या वे असर्वज्ञ हैं? जिनका ज्ञान अनित्य है, वे कभी जानते हैं कभी नहीं जानते, अतः ऐसे जो हैं उन्हें असर्वज्ञ कहा जा सकता है। परन्तु ब्रह्म का ज्ञान नित्य है, इस कारण उन्हें असर्वज्ञत्व कहना उचित नहीं है। 'ब्रह्म नित्य ज्ञानक्रिय है, इसीलिए उसका ज्ञानक्रिया के प्रति

स्वातंत्र्य उपपन्न नहीं होता।' इस प्रकार के आक्षेपों के परिहारार्थ भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि आदित्य की उष्णता तथा प्रकाशधर्म आदित्य में विद्यमान है। आदित्य नित्य उष्णता तथा प्रकाशधर्मयुक्त है, तथापि (सूर्य दग्ध हो रहा है) अथवा प्रकाश कर रहा है इस प्रकार से सूर्य के स्वातंत्र्य का, कर्तृत्व का, व्यपदेश व्यवहार परिदृष्ट हो रहा है। अर्थात् नित्य में भी औपाधिक जन्यत्व का व्यपदेश हो रहा है। नित्यज्ञान ब्रह्म पर भी इसी प्रकार दृश्यावच्छेद कृत अनित्यत्व के आरोप से वे सर्वज्ञ हैं, ऐसा व्यपदेश हो रहा है। ब्रह्म के नित्य-ज्ञान-क्रियत्व के कारण उसका ज्ञानक्रिया के प्रति स्वातंत्र्य है। वहाँ कर्तृत्व सम्भव ही नहीं है। अतः उसका मुख्य सर्वज्ञत्व भी उपपन्न नहीं होता। इसका अभिप्राय क्या है?

क्रिया-सिद्धि में जिस कारक की स्वतन्त्र-प्रधान अथवा अगुणी भूतरूप से विवेचना की जाती है, पाणिनिदेव ने उस कारक को कर्तृ इस संज्ञा से संज्ञित किया है। स्वातंत्र्य किसे कहते हैं? स्वतंत्र का भाव स्वातंत्र्य। तन्त्र शब्द प्राधान्य अर्थ का वाचक है। 'स्व' का अर्थ है आत्मा। 'स्व' अथवा आत्मा है जिसका प्रधान भूततन्त्र, वह है स्वतन्त्र।[1] अनेक कारक साध्य क्रिया में जिसका व्यापार धातु द्वारा अगुणभाव से, प्रधान्यतः उक्त होता है, वही स्वतन्त्र अथवा कर्तृकारक है।[2] कर्त्ता द्वारा प्रवर्तित होने पर काष्ठादि को करणादि शक्ति प्राप्त होती है। कर्त्ता पहले से ही करणादि का प्रवर्तक शक्ति विशेष है। कर्त्ता की सन्निधि से करणादि स्वतन्त्र हैं। क्योंकि इनकी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति कर्त्ता के अधीन है। प्रधान कर्त्ता प्रतिनिधि दृष्ट नहीं होता, किन्तु करणादि का प्रतिनिधि दृष्ट होता है। करणादि के अभाव में केवल कर्त्ता को देखा जाता है, किन्तु कर्त्ता के अभाव में कभी भी करणादि परिदृष्ट नहीं होते। कारकान्तर भी अविवक्षा में भी कर्त्ता का अगुणभाव है। कर्त्ता का स्वातन्त्र्य रहता है।[3] कर्त्ता तटस्थ रहकर भी दूर रहकर, करणादि की तरह द्रव्य में बिना अनुप्रवेश किये फलसिद्धि कराते हैं। करणादि ऐसा नहीं कर सकते। भर्तृहरि कर्त्ता के स्वातन्त्र्य का

---

1. "अस्ति प्राधान्ये वर्तते। तद्यथा स्वतन्त्रोऽसौ ब्राह्मण इत्युच्यते स्वप्रधान इति गम्यते"—महाभाष्य
तथा
स्व शब्द आत्मवाची है "स्द आत्मा तन्त्रं प्रधानं यस्य स स्वतन्त्र उच्यते।" —कैय्यट
2. "यस्य धातुना व्यापारोऽगुणभावेनोच्यते स एवा सौ स्वतन्त्र इति" —कैय्यट
3. "तेन यस्य गुणाभावो नास्ति स कर्त्ता कारकान्तराविवक्षायामपि चागुण भावोऽस्त्येव"
—हरदत्तमिश्र विरचित पदमंजरी

तथा
"स स्वतन्त्रस्त्रिविधः। शुद्धः प्रयोजकः कर्मकर्त्ता चेति। तदनुकूल व्यापाराश्रयः शुद्धः। व्यापारानाश्रयत्वे सति फलाश्रयो द्वितीयः। फलानाश्रयत्वे सति अनुकूल व्यापाराश्रयस्तृतीयः"
—गोगाभट्ट

तथा
"धातुपात्त व्यापारश्रयत्वं स्वातन्त्र्यम्"—शब्दकौस्तुभ

स्वरूप वर्णन करने के लिए यह सब कहते हैं।[1] पाणिनिदेव कहते हैं—"जो कर्तृसंज्ञायुक्त स्वतंत्र का प्रयोजक है, उसका हेतु संज्ञा तथा कर्तृसंज्ञा अवश्य होना चाहिए।"[2] देवदत्त यज्ञदत्त द्वारा पाक करा रहा है, यहाँ देवदत्त यज्ञदत्त के प्रयोजक होने से कर्तृसंज्ञा को प्राप्त हो गये। भाट्टचिन्तामणि में कहते हैं कि स्वतन्त्र अथवा कर्ता शुद्ध, प्रयोजक तथा कर्मकर्ता भेद से त्रिविध है। अनुकूल व्यापार तथा फल का जो आश्रय है वह है शुद्ध स्वातन्त्र्य। व्यापार (अनुकूल) का आश्रय न होकर जो फल का आश्रय है, वह प्रयोजक है और जो फल का आश्रय न होकर अनुकूल व्यापार का आश्रय है, वह है कर्मकर्त्ता। धात्वर्थ-व्यापार का आश्रय ही कर्तृत्व है। भट्टोजीदीक्षित स्वप्रणीत शब्दकौस्तुभ नामक ग्रन्थ में धातुपात्त व्यापार के आश्रयत्व को ही स्वातंत्र्य कहते हैं।

स्वातंत्र्य शब्द का अर्थ क्या है, उससे अवगत हो गये। अब "ब्रह्म का नित्यज्ञान क्रियत्व के कारण स्वातंत्र्य सम्भव नहीं होता, इसका क्या अभिप्राय है, इसका चिन्तन करना होगा।

जो जानते हैं—वे हैं 'ज्ञ'। 'ज्ञा' धातु के उत्तर में क प्रत्यय करके ज्ञ पद सिद्ध हो जाता है। जो सर्व को जानते हैं, वे हैं सर्वज्ञ। नित्य ज्ञानक्रिया ब्रह्म के ज्ञानक्रिया के प्रति स्वातन्त्र्य अथवा कर्तृत्व के असम्भव होने से मुख्य सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती। जो ऐसा कहते हैं उनसे भगवान् शंकराचार्य पूछते हैं कि प्रकृत्यर्थ के अभाववशात् ब्रह्म का सर्वज्ञत्व असिद्ध हो जाता है, अथवा प्रत्ययार्थ के अभाव के कारण उसकी सर्वज्ञता अनुपपन्न हो जाती है? प्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययर्थ, इन शब्दद्वय का अर्थ क्या है? प्रकृति और धातु दोनों एकार्थक हैं।[3] अतएव प्रकृत्यर्थ शब्द का अर्थ है धात्वर्थ। प्रकृति को निमित्त करके विधीयमान स्वार्थबोधक शब्दविशेष का नाम है प्रत्यय। प्रत्यय का अर्थ प्रत्ययार्थ। 'ज्ञा' धातु का अर्थ है जानना। 'क' प्रत्यय कर्त्रर्थक है। ब्रह्म को जानना असम्भव है, क्या इसीलिए उसे असर्वज्ञ कहा गया?

भाष्याकर भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि जिनका सभी विषयों में अवभासनक्षम नित्यज्ञान विद्यमान है, वे असर्वज्ञ हैं, क्या यह कभी सम्भव है? इस वाक्य द्वारा ब्रह्म में 'ज्ञा' धात्वर्थ की अनुपत्ति नहीं होती, यह समझाया गया है। यह समझाकर भगवान् भाष्यकार 'क' प्रत्ययार्थ में भी अनुपपत्ति नहीं होती, इसका प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं कि सविता के नित्य औष्ण्य तथा प्रकाशयुक्त

---

1. "प्रागण्यतः शक्तिलाभान्नयग्भावापादनादपि। तदधान प्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्तनात्। अदृष्टत्वात् प्रतिनिधेः प्रविवेकेऽपि दर्शनात्। आरादप्युपकारित्वात् स्वातन्त्र्यं कर्त्तुरिष्यते"
—वाक्पदीय

2. "तत्प्रयोजको हेतुश्च" 1।4।55

3. "तत्र प्रकृतिर्धातुरित्येकोऽर्थः" —निरुक्त टीका

होने पर भी कहते हैं कि सविता दग्ध कर रहा है, प्रकाश कर रहा है। इससे सविता के स्वातन्त्र्य का, कर्तृत्व का व्यपदेश होता है। जो स्वतन्त्र है वह सर्वत्र बिना व्यभिचार क्रिया व्यापार का आश्रय होगा ऐसा नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि क्रिया-श्रयत्व ही स्वातन्त्र्य का एकमात्र लक्षण है। प्रयोजक तो व्यापार का आश्रय न होकर भी स्वतंत्र है।

'जाना' सकर्मक धातु है। ज्ञेय तथा कर्म न रहने से जाना क्रिया कैसे निष्पन्न होगी? ब्रह्म का ज्ञातृत्व ही तब कैसे सिद्ध होगा?

फल तृथा व्यापार (Action and Effect) में जहाँ एकनिष्ठता है, एकाधिकरणवृत्तिता है, और धातु अकर्मक है तथा जहाँ फल एवं व्यापार का अधिकरण अथवा आश्रय विभिन्न है, वहाँ धातु सकर्मक हो जाती है अर्थात् फल और व्यापार, इन दोनों का आश्रय एक होने पर धातु अकर्मक हो जाती है और जहाँ इनका आश्रय भिन्न है, फलाश्रय तथा व्यापाराश्रय एक नहीं है, वहाँ धातु सकर्मक कही गयी है[1] राम अन्न भोजन कर रहा है, श्याम हँस रहा है, इन वाक्यद्वय का चिन्तन करने से अकर्मक तथा सकर्मक क्रिया का स्वरूप विशद रूप से समझा जा सकता है। 'राम अन्न भोजन करता है' इसमें राम कर्तृपद है और अन्न कर्मपद है। राम शब्द बोध्य अर्थ के साथ ' अन्न' शब्द बोध्य अर्थ का समानाधिकरण्य नहीं है। राम अधिकरण में है, जिस आधार तथा देश में है, अन्न उस अधिकरण में नहीं है। राम तथा अन्न, इस उभय के मध्य जो दैशिक व्यवधान है, वह सहज बुद्धिगम्य है। फल और व्यापार में यहाँ एकनिष्ठता नहीं है। इसीलिए ' भोजन करते हैं' यह है सकर्मक क्रिया। 'श्याम हँस रहा है' इसमें श्याम कर्तृपद है तथा 'हँस रहा है' यह क्रियापद है। हास्य व्यापार सम्पादन करते श्याम को भिन्न अधिकरण में स्थित वस्तुविशेष के साथ संयुक्त होने की आवश्यकता नहीं है। हास्य व्यापार तथा हास्यफल दोनों का आश्रय है श्याम। हँस रहा है क्रिया पद इसलिए अकर्मक है। कर्त्ता का जो इप्सिततम है[2] वह जब कर्त्ता के स्वाधिकार में विद्यमान रहता है, उसे पाने के लिए कर्त्ता को जब भिन्नाधिकरण वस्तु के साथ मिलित नहीं होना पड़ता, तब कर्त्ता का जो व्यापार होता है, वैसे व्यापार को अकर्मक कहते हैं। प्रश्न उत्थित होता है ''मैं अपने को जानता हूँ'' आत्मा आत्मा को धारण करता है। आत्मा आत्मा का उत्पादन करता है, इन वाक्यों में सकर्मक क्रियापद का व्यवहार क्यों?

महाभाष्यकार पतंजलिदेव कहते हैं कि शरीरात्मा तथा अन्तरात्मा भेद से आत्मा द्विविध है। अर्थात् जो कार्य है, उसकी अन्तः-बहिः दो अवस्था है। शरीरात्मा कर्म

1. फलव्यापारयोरेक निष्ठतायामकर्मकः। धातुस्तयोधर्मिभेदे अकर्मक उदाहृतः
—वैयाकरणभूषण सार

2. कर्त्ता का जो इप्सिततम है पाणिनिदेव ने उसे कर्म बताया है। 'कर्तुरीप्सितम कर्म'
—पाणिनि 1/4/49

करता है। अन्तरात्मा तद्जनित सुख-दुःखानुभव करता है। निर्विकार परब्रह्म के अतिरिक्त सभी के साथ अन्य आत्मा अथवा ज्ञाता है। जो जिसके अन्तर में है, वे उसके आत्मा हैं। वे उसके ज्ञाता अथवा कारण हैं। जो जिसके बाहर है, वे उसके ज्ञेय हैं। वे उसके दृश्य अथवा कार्य हैं। 'मैं अपने को देखता हूँ', यहाँ 'मैं' शब्द अन्तरात्मा का है और 'अपने' यह पद शरीरात्मा का वाचक है। द्वैत ज्ञान है। दो राशि जब परस्परतः इस प्रकार सम्बन्ध से सम्बद्ध प्रतीत होती है, तब एक में तनिक परिवर्तन होने पर, दूसरे में भी परिवर्तन हो जाता है।[1] ऐसा होने पर दूसरे को साधारणतः पहले के कार्य (Function) रूप में अवधारित करते हैं। अतएव जो गणितशास्त्री हैं वे समझ सकते हैं कि पतंजलिदेव ने इस वाक्य द्वारा कि "शरीरात्मा जो कर्म करता है अन्तरात्मा तज्जनित सुख-दुःख का अनुभव करता है" कार्यकारण सम्बन्ध का ही वर्णन किया है। गणितिक परतन्त्रपरिवर्त्त्य तथा स्वतन्त्र परिवर्त्य (Dependent and Independent Variables) इन दोनों परिवर्तन तत्व से हम अवगत हैं। परतन्त्र्यपरिवर्त्य तथा कार्य और स्वतन्त्र परिवर्त्य एवं कारण समान पदार्थ है।

शक्ति कारण की आत्मभूता है तथा कार्यशक्ति का आत्मभूत है। अतः कार्य तथा कारण अभिन्न है। भेदबुद्धि इन्हें जैसा समझाती है, वैसे ये नहीं हैं। जगत् के ज्ञान को वैज्ञानिक क्रम तथा यौगपद्य ज्ञान बतलाते हैं। तभी ये यौगपद्य (सहवर्तिताघटित) एवं क्रमघटितरूपी द्विविध प्राकृतिक व्याप्ति अथवा अविनाभाव सम्बन्ध (Uniformities of co-existence and uniformities of succession) का तत्वानुसन्धान करते हैं। प्रोफेसर बेन क्रमिक सम्बन्ध (Uniformities of Succession) को ही कार्यकारण सम्बन्ध बताते हैं। क्रम तथा यौगपद्य को अतिक्रम करके कोई लौकिक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। कार्यमात्र क्रम तथा यौगपद्य, इन दो सम्बन्ध से सम्बद्ध है, इसका कारण क्या है? पूज्यपाद भर्तृहरि की चरण-कृपा से हमने इसका सन्तोषप्रद उत्तर प्राप्त किया है। भर्तृहरि कहते हैं कि शब्दों के प्रयोगकाल में क्रम तथा यौगपद अवलम्बित रहता है। जगत् कदापि इनका अतिक्रमण करके अवस्थित नहीं रह सकता।[2]

क्रम तथा यौगपद्य—इनका स्वरूप क्या है? क्रम में रूप का भेद होता है। यौगपद्य में ऐसा नहीं होता। तब यौगपद्य भी क्रिया क्रमरूपामुपातिनी रहता है। एक के बाद एक पुनः एक, इस प्रकार का पौर्वापर्य ही क्रम (Succession) का स्वरूप है। अतएव परिवर्तन है एकभाव का त्याग करके अन्यभाव का ग्रहण। क्रिया है

---

1. In general, whenever two quantities are so related, that any change made in the one produces a corresponding variation in the other then the latter is said to be function of former. —Differential Calculas
2. द्वावभ्युपायौ शब्दानां प्रयोगे समवस्थितौ। क्रमो वा यौगपद्यं वा यौलोको नातिवर्त्तते (वाक्पदीय)

क्रमरूपानुपातिनी। एक के बाद एक तदनन्तर और एक, यह जो पौर्वापर्य है इसे सुना। किन्तु बात तो यह है कि और एक के बाद एक का आगमन हो रहा है, यदि उसे पहले के साथ सम्बद्ध न माना जाये तब क्रम का ज्ञान होगा क्यों? अतएव क्रमोत्पन्न व्यापारसमूह को परस्परतः सम्बद्ध करने वाली कोई शक्ति है, यह तो मानना होगा। वैदिक या वैयाकरण तो विश्व को शब्द का परिणाम अथवा विवर्त्त कहते हैं। यह अनेक बार बताया है। शब्द जब जगदाकृति में परिवर्तित है, तब शब्द का ज्ञान होने से जगत् का ज्ञान होता है। भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द की भेदवृत्तिक (Separative) तथा संसर्ग वृत्तिक (Aggregative) यह द्विविध शक्ति है। शब्द के भेद से क्रम का तथा यौगपद्य का ज्ञान संसर्ग शक्ति से होता है। वास्तव में क्रम एवं यौगपद्य यथाक्रमेण भेद तथा संसर्ग शक्ति का कार्य है।[1] रजोगुण प्रधानता से भेदबुद्धि का प्राधान्य होता है। रजोगुण से ही द्वैत ज्ञान की प्रसूति है। भगवद्गीता में श्रीभगवान् ने वही समझाया है। इसका उद्धरण इस ग्रन्थ में पहले अंकित किया जा चुका है। कारण से कार्य भिन्न न होने पर भी जिस कारण से हम उसे भिन्न समझते हैं, संक्षेप में बतलाया गया है। अकर्मक तथा सकर्मक का भी स्वरूप देखा। शारीरिक भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य ने नित्य ज्ञानक्रिय ब्रह्म का कर्त्तृत्व तथा स्वातंत्र्य भी उपपन्न होता है, यह समझाने के लिए सभी तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनका तात्पर्य परिग्रह करने से तथा अबुद्धिपूर्वक एवं बुद्धिपूर्वक कर्म के तत्व से अवगत होने के लिए कारक तथा अकर्मक-सकर्मक क्रिया के स्वरूप का चिन्तन अवश्य कर्त्तव्य है। हमने इसीलिए इस सन्दर्भ में एक-दो बातें कही हैं।

कर्म न रहने पर भी कर्त्तृत्व अथवा स्वातंत्र्य का व्यपदेश रहता है। 'घट हो रहा है' इस वाक्य के उपादान कारण मृत्तिका का ही घटरूप कार्यात्मा में परिणत होना इसका अर्थ है। सूर्य का प्रकाश हो रहा है, यहाँ जैसे कर्म के अभाव में भी सूर्य का कर्त्तृत्व तथा स्वातंत्र्य दृष्ट हो रहा है, उसी प्रकार सृष्टि के पूर्व कोई भी कर्म नहीं था, तदनन्तर 'ब्रह्म ने ईक्षण किया' ब्रह्म के ऐसे कर्त्तृत्व से स्वातंत्र्य का व्यपदेश हो सकता है। सविता के दाह्य तथा प्रकाश के साथ संयोग होने से 'सविता दग्ध कर रहे हैं, सविता प्रकाश कर रहे हैं' इस प्रकार कर्त्तृत्व का व्यपदेश उत्पन्न होता है, किन्तु सृष्टि के पहले ब्रह्म का ईक्षण कर्त्तत्व कैसे उपपन्न होगा? इस प्रश्न का उत्तर मिला। भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य प्रदर्शित दृष्टान्त से दार्ष्टान्तिकों का वैषम्यवाद निराकृत हो गया।

कुम्भकार जब घट-निर्माण की इच्छा करता है, तब कुम्भकार के उपाधिरूप अन्तःकरण की जो परिणति होती है, वही कुम्भकार का ईक्षण, संकल्प है। इस प्रकार अनादिकाल प्रवृत्त सृष्टि संस्करण विशिष्ट ब्रह्मोपाधि अविद्या के प्रलयकारण

---

1. 'भेदसंसर्गशक्ती द्वे शब्दादृभिन्ने इव स्थिते' तथा 'ततश्च क्रमयौगपद्ये भेदसंसर्गशक्ति रूपे'
—वाक्‌पदीय

कर्म का क्षय अथवा उत्थापित प्रबोधित संस्कारादि निमित्त के कारण सृष्टि की जो सर्गोन्मुख परिणति है, वही है ब्रह्म का ईक्षण-ब्रह्म संकल्प।

मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि सर्वगत सुसूक्ष्म अव्यय ब्रह्म ही भूतयोनि है। अखिल विश्व कारण है। उर्णनाभ-लूताकीट (Spider) जैसे किसी कारणान्तर की अपेक्षा के बिना स्वयं ही अपने शरीर से अव्यतिरिक्त तन्तुओं को बाहर प्रसारित करके उसका अपने में प्रत्याहार कर लेता है (Out brings and absorbs), पृथ्वी से जैसे पृथ्वी से अतिरिक्त अलग औषधि वनस्पति की उत्पत्ति होती है, जीवित पुरुष में जैसे केश-नख-रोम स्वयं उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार निमित्तान्तर से अनपेक्ष अक्षर परब्रह्म से विश्व जगत् उत्पन्न हो जाता है।

ब्रह्म से उत्पद्यमान विश्व क्या युगपत उत्पन्न होता है, अथवा क्रमशः (क्रम से) विकसित होता है? श्रुति का कथन है कि विश्व सृष्ट होता है, यह समझाने के लिए श्रुति ने (मुण्डकोपनिषद्) कहा है कि भूतयोनि अक्षरब्रह्म तपः अथवा नामरूपात्मक ज्ञान द्वारा (यहाँ स्मरण रखना होगा कि भगवान् का तप ज्ञानमय है, प्रयासमय नहीं है) उपचित होते हैं। परमेश्वर की विश्व सृष्टि-स्थिति-संहार की शक्ति विशिष्ट है। फिर भी वे इसकी उत्पत्ति-स्थिति अथवा लय की विधि नियम से करते हैं। बीज जब अंकुर होता है, उस समय उसकी जैसी वृद्धि होती है, वैसे ही विश्व बीज जब अव्याकृत से व्याकृतावस्था में आने की इच्छा करता है तब उसकी उपचय-स्थूलता प्राप्ति प्रारम्भ होती है। सत्य संकल्प, सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, सर्वकाम ब्रह्म का सूक्ष्मावस्था से व्यक्त अथवा स्थूलावस्था प्राप्ति का संकल्प ही उनकी उपचिति है। सत्यसंकल्प, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान परमेश्वर की व्याचिकीर्षा व्याकृत स्थूलरूप में अभिव्यक्त होने तथा बहुः होने की इच्छा, अथवा जगत् सृष्टि करने की कामना होने पर अन्न के अव्याकृत भोग्य से साधारण संसारीगण की व्याचिकीर्षित अवस्था की उत्पत्ति होती है। अन्न से प्राण का उद्भव होता है। हिरण्यगर्भ ब्रह्म के ज्ञान तथा क्रियाशक्ति के अधिष्ठान सम्मूर्च्छित भाव से (जिसे सांख्य में महत्तत्व कहा है) जगत् के साधारण सूत्रात्मारूप आविर्भूत होते हैं।

प्राण अथवा हिरण्यगर्भ से संकल्प-विकल्पादि लक्षण मन अभिव्यक्त होता है। मन से सत्य संज्ञक आकाशादि पंचभूत क्रमशः उत्पन्न होते हैं। आकाशादि भूत पंचक की उत्पत्ति होने पर महदण्ड का तथा क्रमशः भूरादि सप्तलोक का विकास होता है। तत्पश्चात् मनुष्यादि प्राणिजात, वर्णाश्रम क्रम से धर्माधर्मरूप कर्मसमूह तथा उनके फल की अभिव्यक्ति होती है। जो सर्वज्ञ हैं (सामान्यतः सबको जानते हैं) तथा सर्ववित् (विशेषतः सबको जानने वाले) हैं, उन कारण ब्रह्म से इस कार्य लक्षण हिरण्यगर्भाख्य जगदात्मा का आविर्भाव होता है।[1]

---

1. तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकः कर्मसु चामृतम्।

—मुण्डकोपनिषद्

मुण्डकोपनिषद् के विश्वजगत् सृष्टि विषयक इस अतीव सारगर्भित उपदेश का तात्पर्य परिग्रह करने से विश्व की सृष्टि बुद्धिपूर्वक है अथवा संकल्प मूलक, इस कथा का प्रकृत मर्म आयत्त हो जाता है। जड़प्रधान कदापि विश्व का मूल कारण नहीं है। यह भी उपलब्धि होगी। ब्रह्म का संकल्प अथवा इच्छाशक्ति ही प्रकृति है, यह प्रमाणित होगा। वैशेषिक सृष्टिवाद तथा क्रमविकासवाद के बीच के विरोध का भंजन होगा।

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि यथोक्त कर्म पदार्थ को ब्रह्म से भिन्न नहीं कहा जा सकता, साथ ही अभिन्न भी नहीं कहा जा सकता। अव्याकृत अनभिव्यक्त, व्याचिकीर्षित, व्याकृत होने की इच्छा वाले नाम तथा रूप ही उस कर्म के स्वरूप हैं। जो नामरूपात्मक कर्म को अव्याकृत कहा गया है, उसका कारण है कि जो व्याकृत है, उसकी सृष्टि पुनः कैसे होगी? यदि अव्याकृत का स्वभाव यह होता कि वह अव्याकृत में ही रहना चाहता तब सृष्टि और व्याकृत अवस्था की प्राप्ति असम्भव हो जाती। इसलिए उसे व्याचिकीर्षित—व्याकृत होने की इच्छा अथवा संकल्पयुक्त कहा गया।[1]

(ज्ञेय को) कर्म को जब ज्ञाता से भिन्न अथवा अभिन्न रूप से निर्वाचन करना सम्भव नहीं है, तब कर्म का स्वरूप कैसे निश्चित होगा? तब दार्शनिकगण तर्क-वितर्क क्यों करते हैं? ''यह किस स्वरूप का है यह नहीं कहा जा सकता।'' इस प्रकार के सिद्धान्त में उपनीत होने के लिए इतना प्रयास स्वीकार करने का क्या प्रयोजन? क्या यह बह्वाडम्बर की लघुक्रिया तो नहीं (Much a do about nothing)

ब्रह्म ही जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण, दोनों है। अद्वैतवाद की पुष्टि के लिए इसे प्रमाणित करना होगा। विश्व जगत् शुद्ध जड़ प्रकृति से उत्पन्न नहीं है। हो भी नहीं सकता। अद्वैतवाद का स्थापन, जड़ैकत्ववाद का प्रत्याख्यान तथा ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करने के लिए उसे भी प्रमाणित करना नितान्त प्रयोज्य है। अद्वैतवादियों का ईश्वर केवल निमित्त कारण नहीं है। यदि ईश्वर केवल निमित्त कारण होते, तब उपादान कारण अथवा प्रकृति को निमित्त कारण से पृथक् पदार्थ-रूपेण निर्वाचित करना पड़ता। उपादान कारण को निमित्त कारण से पृथक् पदार्थ रूप से मानने से अद्वैतवाद की हानि तथा असिद्धि हो जाती। यदि यह प्रतिपन्न हो कि जड़ प्रकृति चेतन के प्रेरणा निरपेक्ष होकर स्वयं विश्व जगदाकृति परिणत हो जाती है, तब ईश्वर का ईश्वरत्व, उसका कर्त्तृत्व तथा स्वातंत्र्य व्याहत होगा। इसीलिए

---

1. कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः। किं पुनस्तत् कर्म यत् प्रागुत्पत्तेरीश्वर-ज्ञानस्य विषयो भवति। तत्वान्यत्वाभ्यामनिवर्चनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति क्रमः (शारीरकभाष्य)

अद्वैतवादीगण ब्रह्म को ही विश्व का उपादान निमित्तकारण मानते हैं। वे ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान स्वरूप में तथा ब्रह्म के ईक्षण-संकल्प को सृष्टि के मूल कारण के रूप में प्रमाणित करते हैं। वही निमित्त है। वही उपादान है, यह कैसे प्रमाणित होगा? साथ ही अद्वैत का खण्डन करके द्वैतवाद स्थापनार्थ किस युक्ति का आश्रय लिया जायेगा? ब्रह्म ही निमित्तोपादन है, इसे प्रमाणित करने के लिए प्रथमतः उपादान तथा निमित्त—इन दोनों कारण का स्वरूप-निरूपण आवश्यक है। तदनन्तर जहाँ तक सम्भव है, ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय करना कर्त्तव्य है।

द्वैतवाद का स्थापन करने से अधिक कष्टप्रद है अद्वैतवाद का स्थापन करना। अद्वैतवाद का स्थापन करने में केवल प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण का आश्रय लेने से इष्टसिद्धि नहीं होगी। वेदान्त दर्शन ने इसीलिए श्रुति का ही विशेष आश्रय लिया है। वाग्युद्ध करना तथा सत्य की उपलब्धि करना निश्चय ही पृथक् सामग्री है। जल के जन्तु का पृथ्वी पर ज्ञानार्जन जैसे असाध्य व्यापार है, उसी प्रकार द्वैतज्ञान सागर में निमग्न व्यक्ति का अद्वैत ज्ञानार्जन व्यापार उतना ही असाध्य है। द्वैतबुद्धि का संस्कार हमारे रोम-रोम में लग्न है, जब तक इसे जड़ से उखाड़ कर न फेंका जायेगा, तब तक अद्वैत ज्ञान की विमलप्रभा बुद्धिदर्पण में प्रतिफलित नहीं हो सकेगी। जो यथारीति पुनः-पुनः ऐसे सिद्धान्त में उपनीत होते हैं, वे ही अद्वैत ज्ञानार्जन के अधिकारी हैं। इसलिए वेदान्तिकों का अनिर्वचनीयवाद निरर्थक नहीं है। मनुष्य को वाणी द्वारा जहाँ तक समझाया जा सकता है, अद्वैतवादियों ने वहाँ तक समझाने का प्रयत्न किया है। तथापि जो वाणी द्वारा नहीं समझाया जा सकता, जो स्वानुभूतिवेद्य है, उसे वचन द्वारा कैसे समझाया जा सकेगा? श्रुति का कथन है कि सर्वव्यापी, सर्वान्तरात्मा परमपुरुष को कोई भी पंच ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। वे स्वप्रकाश स्वरूप हैं। जिनकी बुद्धि यथाविधि साधना द्वारा निर्मल है, जो संशय विरहित हैं, परमात्मा उनकी बुद्धि में ही प्रकाशित होते हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियाँ जब मन के साथ बाह्य विषय से निवृत्त हो जाती हैं, अध्यवसाय लक्षण बुद्धि जब अपने व्यापार का निष्पादन नहीं करती, तभी अद्वैत ज्ञानरूपी सूर्य का उदय होता है। जो अनन्त है, अनादि है, सर्वकार्य कारण है, परमकारण है, उसके स्वरूप का वाक्य द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐन्द्रियक ज्ञान उसके समीप पहुँच ही नहीं सकता। मनः उसको धारण नहीं कर सकता। जो यह मानते हैं, वे ही वास्तव में परमात्मस्वरूप को यत्किंचित् जान सके हैं। तब भी यहाँ यह कहना है कि "ऐसे मतप्रकाशन की शक्ति तो सबमें है।" जो ऐसा कहते हैं, वे इन सबका प्रकृत मर्म जान सकने की स्थिति में नहीं हैं।

अनेक जन्मों के साधन बल से, बहुकालव्यापी श्रवण से, मनन निदिध्यासन करने के अनन्तर पहले सन्दर्भित श्रुतिवचन समूह के प्रकृत अर्थ के परिग्रह की

शक्ति विकसित होती है। आत्मकल्याणार्थी को सदा यह मानना चाहिए कि जो मैं समझता हूँ, जो मैं कर सकता हूँ, वह सब अकिंचित्कर है। स्वीय उत्प्रेक्षामूलक स्व-स्व बुद्धि परिकल्पित वेदविरुद्ध तर्क-वितर्क द्वारा कोई कभी वेद प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान में समर्थ नहीं हो सकता।[1] ब्रह्म तथा क्षत्र-हिरण्यगर्भ तथा प्रकृति, सर्वधर्म विधायक होने पर भी, सबके प्राणभूत होने पर भी, परमात्मा के ओदन, अशन तथा भोग्य स्वरूप हैं। सर्वहर, सर्वभक्षक मृत्यु जिनकी उपसेचन है, उपकरण है, साधन-विहीन होकर प्राकृत बुद्धि लेकर कौन व्यक्ति उनको जान सकेगा?[2]

एक ब्रह्म में अविद्योपहितत्व द्वारा उपादानत्व तथा अविद्या के परिणाम इच्छा यत्नादि आश्रयत्व हेतु से निमित्तत्व सम्भव होता है। निर्विशेष, निर्विकार ब्रह्म का कैसे उपादान तथा निमित्तकारण होना सम्भव है? विकरवत् कारण से ही उपादानत्व उपपन्न होता है। निर्विकार का उपादानत्व उपपन्न नहीं होता। ब्रह्म को यदि विश्व जगत् का उपादान कहें तब 'ब्रह्म निर्विकार हैं वे शुद्ध हैं' इत्यादि श्रुतिविरोध होगा। अद्वैतसिद्धिग्रन्थकार पूज्य मधुसूदन सरस्वती इसका उत्तर देते हैं कि परिणामिता द्वारा ब्रह्म का उपादानत्व सिद्ध नहीं होने पर भी विवर्त्ताधिष्ठानता द्वारा उपादानत्व सिद्ध हो जाता है। विवर्त्ताधिष्ठानत्व किसे कहते हैं, जानना है?[3] विवर्त का कारण अज्ञानवियत्व ही विवर्त्ताधिष्ठानत्व है। अविद्या अथवा माया ब्रह्म का आश्रय लेती है। वह ब्रह्म की शक्ति है। यहाँ द्वैत इन्द्रजाल का उपादान कारण अज्ञान ब्रह्माश्रित है। अतएव अद्वैत दृष्टि से ब्रह्म को जगत् का उपादान कहा है। विशेष विवरण अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ में देखा जा सकता है। सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि विचार द्वारा स्वरूपावधारण का अयोग्यत्व ही, अनिर्वचनीयत्व ही अविद्या का अलंकार है। यही तो अविद्या का अविद्यात्व है। यही उसका लक्षण भी है। यदि अविद्या विचार सहिष्णु न होती तब वह वस्तु (जो वास करे, जो सत् है, वह वस्तु) होती।[4]

भगवान् शंकराचार्य निरीश्वरवादीगण को नित्यज्ञानक्रिय ब्रह्म का स्वातंत्र्य, ब्रह्म की सर्वज्ञता बतला कर तत्पश्चात् सेश्वरवादी योगशास्त्र जानने वालों से कहते हैं कि जो प्रसन्नता-लाभ करते हैं, ऐसे योगीगण अतीत तथा अनागत विषयों का भी

1. नैषा तर्केण मतिरापनेया —कठोपनिषद्
2. यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनम्। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ —वही
3. ननु निर्विशेषं चेद्ब्रह्म कथं तदेव निमित्तमुपादानमित्यभिन्ननिमित्तोपादानकत्वं जगतः विकारवत् कारणस्यैवोपादनत्वात् ब्रह्मणोऽविकारत्वात् अन्यथा निर्विकारो हरः शुद्ध इत्यादि श्रुतिविरोधापत्तिरिति चेन्नपरिणामितयोपादानत्वाभावेऽपि विवर्त्ताधिष्ठानतयोपादानत्वसम्भवात् विवर्त्ताधिष्ठानत्वं च विवर्त्तकारणाज्ञानविषयत्वमेव तदुक्तं वार्त्तिककृद्भिः अस्यद्वैतेद्रजालस्य यदुपादानकारणं अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते इति...—अद्वैतसिद्धि।
4. सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी। सहते न विचारं सा तमो यद्वद्दिवाकरम्।
   विचारासहत्वं चाविद्याया अलङ्कार एव। अविद्याया अविद्यात्वमिदमेवात्र लक्षणम्।
   यद्विचारासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्॥ —नैष्कर्म्यसिद्धि ग्रन्थ

प्रत्यक्ष करते हैं, ऐसी आशा है। उन नित्यसिद्ध ईश्वर को विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा संहार विषयक परम नित्य ज्ञान रहना असम्भव नहीं है, क्या उन योगशास्त्रज्ञ लोगों को यह समझाना होगा? पतंजलिदेव कहते हैं कि ईश्वर प्रणिधान द्वारा व्याधि प्रभृति चित्तविक्षेपक समस्त अन्तराय तिरोहित हो जाते हैं और योगी को ईश्वर अथवा आत्मा का स्वरूपदर्शन होता है।[1]

प्रतिभा के अनधिगम्य पदार्थ को कोई नहीं जान पाता। संस्कार का आवरण-भेद करना दुःसाध्य व्यापार है। स्थूलप्रत्यक्ष तथा तन्मूलक अनुमान के बाहर की बातों को साधारणतः असम्भव कह कर विवेचित करना क्या अन्याय नहीं है? संकल्प अथवा ईक्षण शरीरादि सम्बन्ध के बिना उत्पन्न नहीं होता, यह हमें प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतएव संशय होता है कि सृष्टि के पहले शरीरादि सम्बन्ध के बिना ब्रह्म का संकल्प कैसे होगा? भगवान् शंकराचार्य ऐसे संशय के निरसनार्थ कहते हैं कि सविता के प्रकाश के समान ब्रह्म का ज्ञान नित्य है, ब्रह्म नित्यज्ञानस्वरूप है। जो नित्यज्ञान स्वरूप हैं, उनका ज्ञान साधनापेक्ष नहीं है। उसमें साधन की अपेक्षा नहीं है। संसारी जीव अविद्या प्रतिबद्ध हैं। इसलिए उनकी ज्ञानोत्पत्ति में शरीरादि ज्ञानसाधन का प्रयोजन होता है। ज्ञान प्रतिबन्धक कारणरहित ईश्वर का ज्ञानसाधना में प्रयोजन क्यों होगा? श्वेताश्वतर श्रुति कहती है कि परमेश्वर का कार्य शरीर अथवा चक्षुरादि इन्द्रियाँ नहीं हैं, उनके समान अथवा उनसे अधिकतर कोई पुरुष कभी भी कहीं न तो सुना गया, न तो देखा ही गया। परमेश्वर ही विविध प्रकृष्ट शक्तिसमूह से तथा स्वाभाविक स्वतःसिद्ध ज्ञानक्रिया तथा बलक्रिया से युक्त हैं। पाणि न होते हुए भी सर्वग्राही हैं। पैर न होने पर भी दूरगामी हैं इत्यादि। वे सर्वकार्य के कारण हैं इसीलिए उन्हें अग्र्य प्रथम कहा गया है। वे ही पूर्ण तथा महान् हैं।[2]

जड़ अथवा अचेतन प्रकृति विश्व का मूल कारण नहीं है। विश्व सृष्टि तो प्रेक्षापूर्वक है। यह समझाने के लिए श्रुति तथा श्रुति तात्पर्य प्रकाशक वेदान्तदर्शन का जो मत है उसे संक्षेप में कहा गया।

सांख्यदर्शन जिस कारण से ब्रह्म को विश्व का कारण कहने से अनिच्छुक है, उसे पहले बताया गया है। जो कूटस्थ तथा अपरिणामी हैं, उनका कर्त्तृत्व सम्भव ही नहीं है। सांख्यमतानुसार अनुकूल प्रयत्न विशिष्ट अन्तःकरण का जो प्रकृतित्व है, वही कर्त्तृत्व है। अतएव अपरिणामी अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म का कर्त्तृत्व उपपन्न नहीं होता। न्यायमत से कर्त्तृत्व गौण तथा मुख्यभेद से द्विविध है। ज्ञान, इच्छा तथा

---

1. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च —योगसूत्र
2. न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
   पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलाक्रिया च।
   अपाणिपादौ जवनोग्रहीता पश्यत्य चक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
   स चेति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् । —श्वेताश्वतर उपनिषत्

प्रयत्नवत्व ही मुख्य कर्त्तृत्व है तथा व्यापार एवं क्रिया प्रयत्न गौण कर्त्तृत्व है। अतः विदित होता है कि चेतन का जो कर्त्तृत्व है, न्यायमत से वही है मुख्य कर्त्तृत्व। तथा अचेतन का जो कर्त्तृत्व है, वह है गौण कर्त्तृत्व। वैयाकरणगण स्वातंत्र्य को ही कर्त्तृत्व कहते हैं। स्वातंत्र्य में जड़ अथवा परतन्त्र नहीं रह पाता। तब अपरिणामी, एक निर्गुण ब्रह्म में भी कर्त्तृत्व ज्ञातृत्वादि उत्पन्न नहीं हैं।

न्यायमतानुसार कर्त्तृत्व दो प्रकार का है—मुख्य तथा गौण। ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नत्व, ये सब मुख्य कर्त्तृत्व हैं। व्यापार एवं क्रियाश्रयत्व गौण कर्त्तृत्व हैं। वैयाकरणगण स्वातंत्र्य को ही कर्त्तृत्व कहते हैं। स्वातंत्र्य में जड़ अथवा परतन्त्र नहीं हो सकता। यह निःसन्दिग्ध है। तथापि अपरिणामी निर्गुण ब्रह्म में भी कर्त्तृत्व-ज्ञातृत्वादि उपपन्न नहीं होता, यह मानना पड़ेगा। सांख्यदर्शन के ही समान प्रत्यीच्य दार्शनिक भी कहते हैं कि परिवर्तन के बिना ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती और वह सर्वदा द्वयात्मक है, यथा ज्ञातृ एवं ज्ञेय, कुछ भी जानने के लिए चिन्तन करना होता है। चिन्तन व्यापार चित्त संस्कार अथवा भावना के साथ वर्तमान चित्तोपराग के सम्मेलन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। अतः परिवर्तन के अधीन न होने से कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। अतएव अपरिणामी ब्रह्म का ज्ञातृत्वादि किस प्रकार से उत्पन्न होता है, इस प्रश्न का समाधान सुसाध्य नहीं है। वैदान्तिक कहते हैं कि चैतन्य ब्रह्म का स्वभाव ब्रह्म चैतन्यस्वरूप, नित्य, अपरिणामी है, इस कारण वह क्रिया पदार्थ नहीं है। ब्रह्म के अनवच्छिन्न होने पर भी विषय के उपधान भेदकृत अवच्छेद के कारण उसका भेद कल्पित हो जाता है। कल्पित भेद से ब्रह्मकार सगुण ब्रह्म में अनित्यत्व तथा कार्यत्व उपपन्न होता है।

अनादि काल प्रवृत्त सृष्टि संस्कार विशिष्ट ब्रह्मोपाधि अविद्या की प्रलय कारण कर्म के क्षयवशात् उत्थापित प्रबोधित संस्कारादि निमित्त कारण से जो सृष्टि अथवा सर्गोन्मुख परिणति है, वही है ब्रह्म का ईक्षण। यथोक्त लक्षण ब्रह्म का इस प्रकार का ईक्षण अथवा संकल्प स्वतंत्रसिद्ध हो सकता है। कूटस्थ-नित्य-अपरिणामी ब्रह्म का औदासीन्य वास्तव में होने पर भी अनादि, अनिर्वचनीय, अविद्यावच्छिन्न ब्रह्म का व्यापारवत्व प्रतीयमान होता है, उसका कर्त्तृत्व उपपन्न होता है।[1] सांख्य के साथ वह होने पर, दोनों में विरोध कहाँ?

सांख्यदर्शन ब्रह्म का (ब्रह्म कूटस्थ नित्य है, ब्रह्म अपरिणामी है इसलिए) ज्ञातृत्वादि स्वीकार नहीं करता। सांख्य मत से चिछक्ति के सन्निधान के लिए प्रकृति स्वयं विश्वाकार में परिणत हो जाती है। प्रकृति की चेष्टा स्वभाव अथवा संस्कार-वशात् होती है। अनादि कर्म का आकर्षण ही प्रकृति की सम्यावस्था की विक्षोभ

---

1. यद्यपि च कूटस्थनित्यस्यापरिणामिनः औदासीन्यमस्य वास्तवं तथाप्यनाद्य निर्वचनीय विद्यावच्छिन्नस्य व्यापारवत्त्वमवभासत इति कर्तृत्वोपपत्तिः (भामती)।

विच्युति का कारण है। अध्यवसाय लक्षण महत्तत्व प्रकृति का आद्य विकार है। प्राथमिक परिणाम है ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति तथा सम्मूर्च्छित भाव। जो सब कर्म सन्दर्शन पदार्थों के स्वरूपावधारण, प्रार्थना तथा अध्यवसाय, इन त्रिविध मानस व्यापार तथा संकल्पयुक्त हैं (पहले कहा गया है) बुद्धिपूर्वक हैं। सांख्यदर्शन जब नित्य ईश्वर को स्वीकार नहीं करता, चेतन के व्यापारमूलक अधिष्ठातृत्व को स्वीकार नहीं करता, प्रकृति संस्कारवशात् क्रिया करती रहती है, विश्वाकार में परिणत हो जाती है यह मानता है, तब प्रकृति की साम्यावस्था से विच्युति हो जाने पर अध्यवसाय लक्षण महत् अथवा बुद्धितत्व की अभिव्यक्ति होती है। जब सांख्यदर्शन का यह सिद्धान्त है, तब सांख्यदर्शन आदिसर्ग को 'अबुद्धिपूर्वक' के अतिरिक्त और क्या कह सकता है?

प्रकृति जो क्रिया करती है, क्या वह संकल्प अथवा यथोक्त सन्दर्शनादि त्रिविध व्यापार द्वारा नहीं है। प्रकृति क्या स्वेच्छाक्रम से किसी नियम का पालन किये बिना परिणामसाधन कर सकती है? विश्व का सृष्टि-स्थिति लय क्या अनियमित है? सांख्यदर्शन को इसके उत्तर में निश्चय ही कहना होगा कि प्रकृति उद्देश्यविहीन नहीं है। यह यदृच्छाक्रम से बिना किसी नियम के परिणामसाधन नहीं करती। प्रकृति का प्रत्येक कार्य नियमित है। शुद्ध जड़शक्ति में क्या काल ज्ञान सम्भव है? क्या शुद्ध जड़शक्ति कर्त्तव्याकर्त्तव्य निर्वाचन में समर्थ है? क्रिया करना जड़शक्ति का धर्म तथा स्वभाव है। इसे स्वीकार किया गया किन्तु क्रिया की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में जड़ को स्वातंत्र्य नहीं है, यह भी मानना होगा। अतः आदिसर्ग में भी बुद्धिपूर्वक तथा संकल्पपूर्वक कर्म है। सांख्यदर्शन जड़ैकत्ववादी गण के समान चिच्छक्ति को जड़ प्रकृति का कार्य नहीं कहता। सांख्य मत से प्रकृति तथा पुरुष दोनों नित्य हैं। दोनों अनादि हैं। तब भी सांख्यदर्शन चिच्छक्ति का व्यापारवत्व अंगीकार नहीं करता। जो व्यापारविहीन है, उसे किस प्रमाण से सत् कहा जायेगा? जर्मन देशवासी पण्डित हेगेल कहते हैं कि जो व्यापारशून्य है, निरुपाधिक तथा निर्गुण है, वह अभाव, असत् के समान पदार्थकेवलभाव अथवा अभाव भिन्न पदार्थ नहीं है। सांख्य की चिच्छक्ति अथवा पुरुष क्या तब असत् पदार्थ है? जो व्यापार-रहित है हम उसे अपनी प्रतिभा के अनुसार सत् पदार्थ कहकर नहीं समझ पाते। सत् शब्द विद्यमान वाची 'अस' धातु के उत्तर में शतृ प्रत्यय से सिद्ध होता है। जो विद्यमान है, क्या उससे सत्, अस्, भू, विद् का धातुत्व उपपन्न होता है? ना होगा क्यों? व्यापार अथवा क्रिया धातु का अर्थ है, किन्तु विद्यमान वाची अस्, भू, विद् के व्यापार अथवा क्रिया की उपपत्ति नहीं होती। धातु क्रियावचन है, इसका प्रमाण क्या है? 'कृ' धातु से निष्पन्न पद के साथ पचादि धातु का सामानाधिकरण्य है, इसी निमित्त प्रतिपन्न होता है कि सभी धातु क्रिया वचन हैं। "क्या करते थे" उत्तर है 'पाक करते थे' "क्या करोगे", उत्तर

''पाक करेंगे''। अतः देखा जाता है कि 'कृ' धातु से निष्पन्न पद के साथ धातुओं का सामान्यधिकरण्य है। क्रिया पद 'कृ' धातु से निष्पन्न होता है। पचादि धातु के साथ जैसे 'कृ' धातु निष्पन्न पद का सामान्याधिकरण्य है, 'भू' धातु निष्पन्न पद के साथ भी उसी प्रकार से सामानाधिकरण्य है, ऐसी प्रतीति नहीं होती। अतः सभी धातु क्रियावचन हैं। भाववचन नहीं हैं। जब सभी धातु भाववचन नहीं हैं तथा क्रियावचन हैं तब 'अस', 'भू' प्रभृति की धातु संज्ञा नहीं हो सकती।[1]

अस्, भू, धातु क्रियावाचक नहीं है। इसीलिए इनका धातुत्व सिद्ध नहीं होता। यहाँ 'क्रिया' शब्द से कैसी क्रिया को लक्ष्य किया गया है? 'देवदत्त कास्यपात्र में पाणि द्वारा। अन्न-भक्षण कर रहा है'। क्या यहाँ क्रिया कहने से इसी प्रकार की क्रिया को लक्ष्य किया गया है? कारकसमूह क्रिया नहीं है। इनकी प्रवृत्ति विशेष ही क्रिया है। सभी प्रवृत्ति प्रवृत्यन्तर से भिन्न है, अतएव सभी प्रवृत्तियों का क्रियात्व सिद्ध हो जाता है। शुष्क अन्न भोजनकर्त्ता की मन्द प्रयत्न प्रवृत्ति है और मांसमिश्रित अन्न में संवेग प्रवृत्ति दृष्ट होती है। जैसे भोजन क्रिया में सबके पारस्परिक वैलक्षण्य से प्रवृत्ति का विशेषत्व प्रतीत होता है, अस्, भू-प्रभृति धातुसमूह में ऐसी प्रवृत्ति का विशेषत्व लक्षित नहीं होता। यदि प्रवृत्ति का विशेषत्व ही 'धातु' संज्ञा प्राप्ति का कारण है, तब 'अस', 'भू' इत्यादि की भी धातु संज्ञा हो जाती है। क्योंकि 'है' (अस्ति) में आत्मधारण रूप प्रवृत्ति की तथा 'मरता है' इसमें आत्मत्याग की प्रवृत्ति उपलब्ध होती है।

भगवान् वार्षायणि कहते हैं कि जन्म, स्थिति, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय तथा विनाश इन छः विकारों में प्रत्येक ही सत्ता (Existence) के अनुषङ्ग में हैं। ये परस्परतः कार्यकारण से सम्बद्ध हैं। जन्म पदवाच्य भावविकार के पहले अस्ति पदवाच्य भावविकार विद्यमान था, क्योंकि अविद्यमान की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। जन्म नामक भाव विकार पूर्वभाव की आद्यावस्था की सूचना दे देता है। जन्म का अर्थ है आविर्भाव प्रकाश। वस्तु का जन्म अथवा आविर्भाव विकार ही है। पूर्वभाव है। उससे सहज ही समझ में आ जाता है कि जन्म अथवा आविर्भाव विकार बुद्धिगोचर होने के पश्चात् अस्त्यादि भावाविकार समूह की उपलब्धि हो जाती है। जिसका जन्म ही नहीं है, उसमें अन्य भाव विकार कैसे हो सकते हैं? निविष्ट चित्त से विचार करने से प्रतीति होगी कि जन्मादि भावविकार समूह कार्यकारण भाव से अथवा द्वारद्वारिभाव (Reciprocally) से विशेषात्म भाव को प्राप्त हो रहे हैं।

जन्मविकार द्वारा अस्तिविकार तथा अस्तिविकार द्वारा विपरिणाम विकार अभिव्यक्त होता है। विशेषात्मवाद प्राप्त करता है। अजात का अनुत्पन्न अथवा

---

1. 'कथं पुनर्ज्ञायते क्रियावचनाः पचादयः इति। यदेतेषां करोतिना सामानाधिकरण्यम्। किं करोति पचति किं करिष्यति पक्षाति....' —महाभाष्य

अनभिव्यक्त का अस्तित्व व्यवहार तथा अविद्यमान का विपरिणाम, प्रत्यय नहीं होता। क्रिया के उपक्रम (Beginning) से अपवर्ग अर्थात् समाप्तिपर्यन्त जितने प्रकार के परिवर्तन होते हैं, पूर्वोपरीभूत उन भावविकार समूह की आद्यावस्था है जन्म नामक भावविकार। जायमान अवस्था में अस्ति पदवाच्य विकार भी विद्यमान रहता है, किन्तु इसके द्वारा वह आख्यात नहीं होता। जन्म भावाविकार भले ही अस्ति भावाविकार की सूचना न करे, किन्तु वह प्रतिषेध भी नहीं करता। जिसका अस्तित्व है, उसी का ही जन्म या आविर्भाव सम्भव है। अनात्मक का जन्म हो ही नहीं सकता। अस्तित्व का प्रतिषेध करने पर, क्या सहारा लेकर जन्म परिणाम सिद्ध होगा?

अस्ति शब्दवाच्य भावविकार से तो उत्पन्न तथा जात सत्व की अवधारणा मात्र सूचित होती है। अपूर्णत्व के कारण यह विपरिणाम भावविकार का संवाद नहीं प्रदान करता तथा उपस्थित्ववशात् इसका प्रतिबोध भी नहीं होता। विपरिणाम भाव विकार द्वारा तत्व (तद्भाव) से अप्रच्यवमान अनपभ्रश्यमान विकार मात्र को कहा जाता है। अपने अंग प्रत्यंगादि की शिरः, ग्रीवा, बाहु प्रभृति की, अथवा सांयौगिक हिरण्य-ध्यानादि अर्थसमूह के अभ्युच्चय की वृद्धि को, वृद्धि भाव विकार कहा गया है। वृद्धि जैसे साङ्ग अथवा सांयोगिक द्रव्यसमूह की उपचय व्यंजक है, उसी प्रकार से अपक्षय इनका अपचय व्यंजक है। विनाश अथवा तिरोभाव विकार द्वारा अपरभाव के आदि को लक्ष्य किया गया है। जैसे जन्म पूर्वभाव की आद्यावस्था है, उसी प्रकार विनाश अपर भाव की आद्यावस्था है। विनाश भावविकार जन्मपूर्व भाव- विकार का न तो कोई संवाद देता है, न प्रतिषेध करता है।

अतएव देखा जाता है कि जन्मादि छः भाव विकार एकभाव अथवा क्रिया के ही छः प्रकार भेद हैं अथवा इनके भाव और सत्ता की विशेष-विशेष अवस्था है।[1] अनेक क्रियात्मिका सत्ता ही साधन सम्बन्ध हेतु प्रतीयमान साध्यरूपा होकर जन्मादिरूपेण अवभासित होती है।[2] जितने प्रकार के अन्य भावविकार हैं, सभी जन्मादि षड्विकार के ही विकार हैं।[3] भाव कार्यात्मा तथा कारणात्मा भेद से द्विविध है। कार्यात्मा भावक्रिया निर्वर्त्य है अथवा कार्यात्मभाव तथा क्रिया एक पदार्थ है। निरुक्त टीकाकार भगवान् दुर्गाचार्य समझाते हैं कि भावविकार अथवा कार्यत्मभाव

---

1. को पुनः क्रियाभवान् मत्वाह अस्तिभवतिविद्यातीनां धातुसंज्ञा न प्राप्नोति। किं यत्तद्देवदत्तः कांस्यपात्र्यां पाणिनौदनं भुङ्क्ते इति। न क्रमः कारणाणि क्रियेति। किं तर्हि कारकानां प्रवृत्तिविशेषः क्रिया। शुष्कौदने प्रवर्त्तन्ते अन्यथा च कारणानि मांसौदनै यद्येवं। सिद्धास्तिभवति विद्यतीनां धातु संज्ञा। अन्यथा हि कारकाण्यस्तो प्रवर्त्तन्तेऽन्यथा हि म्रियतौ। षड्भावविकारा इतिऽस्माहंवार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरणिमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति —महाभाष्य
2. भावस्य क्रियायाः षट्प्रकारा इत्यर्थः। अथवा भावस्य सत्ताया एते प्रकाराः। सत्तैवानेक-क्रियात्मिका साधनसम्बन्धादवसीयमानसाध्यरूपा जन्मादिरूपतयावभासते —कैयट
3. अताऽन्येभावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीतिऽस्माह —निरुक्त

समूह ही द्रव्य (Substance), गुण (Attributes) तथा कर्म (Action), इन तीन भावों में अवस्थान करता है। इसी को नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात इन चतुर्विध पद से अभिहित किया गया है।[1] महर्षि जैमिनि कहते हैं जिन शब्दों के उच्चारित होने से रूप की; किसी प्रकार के सत्य की उपलब्धि होती है, जो सकृत् उत्पन्न होकर कालान्तर में विद्यमान रहते हैं, क्रिया के समान उत्पन्न होने मात्र से विनष्ट नहीं होते, उस शब्द को नाम कहा गया है।

श्रीमत् शबर स्वामी कहते हैं कि नाम पद द्रव्य तथा गुण का (Substance and Attribute) वाचक है। जिन शब्दों के उच्चारित होने से किसी सत्वभूत अर्थ की प्रतीति नहीं होती, उसे आख्यात कहा गया है। जैमिनी न्यायमाला में सिद्धभाव तथा साध्यस्वभाव भेद से धात्वर्थ को दो भागों में विभक्त करते हैं। साध्यस्वभाव धात्वर्थ 'करोति' शब्द द्वारा व्यवहृत होता है। साध्यस्वभाव धात्वर्थ ही क्रिया है।[2] वैयाकरण क्रिया को परिस्पन्दसाधनसाध्य गमनादि (Motion) तथा उसके विपरीत अपरिस्पन्दन साधन साध्य अवस्थानादि (Existence) इन दो भागों में विभक्त करते हैं। अतएव 'अस', 'भू' इत्यादि धातुसंज्ञा पाने में कोई बाधा नहीं है। अध्यापक बेन, मिल प्रभृति विद्वान् इसी मत को मानते हैं।[3]

कार्यात्मभाव अथवा भावविकार अनित्य है। परिणामी है। कारणात्म भाव नित्य है। अखिल कार्यात्मभाव अथवा भावविकार कारणात्मा में ही विद्यमान रहता है। कारणात्मभाव सर्वार्थ प्रसव सामर्थ्य विशिष्ट है।

पुरुष अथवा चिच्छक्ति में कोई व्यापार अथवा क्रिया नहीं है, इस बात का क्या अभिप्राय है? कूटस्थ नित्य पदार्थ की गमनादि क्रिया न रहने पर भी अवस्थानादि क्रिया है। परिणामी पदार्थ समूह को सत्ता तथा चैतन्यप्रद कहने से उनको सत् कहना होगा। अपरिणामी भाव अथवा सत्ता न रहने पर परिणामी भाव के अस्तित्व की उपलब्धि नहीं होती। भगवान् शंकराचार्य नित्य ज्ञानक्रिय ब्रह्म का ज्ञानक्रिया के प्रति जो स्वातंत्र्य है, वह समझाने के लिए सविता के प्रकाश-औष्ण्य को दृष्टान्त रूप में ग्रहण करते हैं। 'सविता प्रकाश करते हैं' यहाँ विषयोपहित प्रकाश के जनत्व के कारण सविता का प्रकाश कर्त्तृत्व उपपन्न होता है। ऐसे ही

---

1. स च पुनरुभयात्मा भावः। कार्यात्मा कारणात्मा च। तयोर्यः कार्यात्मा तमधिकृत्योक्तमक्रिया-निर्वर्त्याऽर्थः सभावः क्रियैव वा भावः ।....तद्विकारा एव हि द्रव्यगुणकर्म भावेनावस्थिताः सन्तो नामाख्यातोपसर्गनिपातैरभिधीयन्ते। —निरुक्त टीका
2. "एषामुक्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि...." मीमांसादर्शन 1/1/3 तथा "सिद्धसाध्य-स्वभावाभ्यां धात्वर्थो द्विविधः"—जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
3. "Many verbs, of the kind which grammarians call neuter or untransitive verbs expresses rest or inaction; assit tie and in some cases stand" —Analysis of the Phenomena of the Human Mind, By James Mule, Vol. I, P. 155.

'ब्रह्म को जानते हैं' यहाँ भी विषयोपहित ज्ञान के जन्यत्व के कारण ज्ञातृत्व सिद्ध हो जाता है।[1]

अकर्मक क्रिया तथा सकर्मक क्रिया का लक्षण पहले विवेचित हो चुका है। जो सर्वव्यापक है, सर्वत्र विद्यमान है, उसका कोई कर्म सकर्मक नहीं हो सकता। कारण उसका व्यापार और उसका फल, एकाधिकरण में ही रहता है। सर्वगत सर्वाधार ब्रह्म से व्यतिरिक्त अधिकरण अथवा आधार नहीं रह सकता। शुद्ध निर्विकार ब्रह्म उपपदविहीन भाव अथवा सत्ता है। उपपदविहीन भावसत्ता किसको कहते हैं? जिस भाव अथवा सत्ता का कोई पहले से विशेषण पद नहीं है, जो निर्विशेष भाव है, वही उपपदविहीन भाव है। कोई भी शब्द क्यों न हो, भाव तथा सत्ता ही उसका वाच्य है। एक सामान्य भाव जब विशेषित होता है, तब उसका प्रकाश करने के लिए उपपद युक्त करके व्यवहार करना होता है। परमाणु ईश्वर-प्रकृति-माया-भूत-शक्ति-पृथिवी-जल-अग्नि-मनः-बुद्धि-ताप-तड़ित्-आलोक इत्यादि सोपपद भाव हैं। परमाणु-ईश्वर-प्रकृति आदि शब्द परमाणु भाव हैं। ईश्वर-भाव, प्रकृति-भाव, मायाभाव, भूतभाव, शक्तिभाव, इस प्रकार से विशेष-विशेष भाव के वाचक हैं।[2] यह कार्यात्मभाव, सिद्ध तथा साध्य भेद से द्विविध है। सिद्ध कार्यात्मभाव द्रव्य तथा गुण नाम से एवं साध्य कार्यात्मभाव क्रिया नाम से अभिहित होता है। परमाणुभाव, ईश्वरभाव इत्यादि सोपपद भावजात अनित्य हैं। क्या तब कार्यात्मभाव समूह शून्य तथा असत् पदार्थ हैं? ना, शून्य से हम जो कुछ समझते हैं, यह कार्यात्मभावजात वैसा पदार्थ नहीं है। शून्य एक शब्दविशेष है। उसका प्रयोग असद् अर्थ में नहीं है। शब्द के साथ शब्द बोध्य अर्थ का सम्बन्ध रहता है। अतः शून्य किंचित् सत्य है। शून्य में भी सोपपदभाव (शून्य भाव) है। शून्य शब्द से सम्पूर्ण अभाव अथवा सर्वभाव का विरोधित्व उक्त नहीं किया गया है। वह अपेक्षाकृत अभाव का बोधक है। यहाँ शून्य के साथ भाव शब्द भी उपपद के रूप में युक्त है, यदि यह कहा जाये, अर्थात् भावशून्य 'शून्य' शब्द का यदि यह अर्थ ग्रहण करे तब क्या दोष होगा? शून्य अथवा अभाव के साथ भाव का प्रयोग अप्रसिद्ध है। शून्य अथवा अभाव के साथ भाव शब्द का उपपद के रूप में प्रयोग करने से भाव शब्द ही रह जाता है। वह प्रधान परमाणु इत्यादि शब्द की ही तरह किसी विशेष भाव प्रत्यय का जनक हो जाता है।

अतएव सर्वोपपदविहीन भावात्मा से जगत् तो कार्यात्म भाव में नित्य है। वह परमाण्वादि सोपपदभाव अथवा विकारात्मा से अनित्य है। अर्थात् सभी भावविकार

---

1. "ब्रह्म जानाति सविता प्रकाशत इत्यादौ विषयोपहित ज्ञानस्य तदुपहित प्रकाशस्य च जन्यत्वात्तत्कर्तृत्वं ब्रह्मसवित्रोः" —मञ्जूषा
2. 'ईश्वरभावः परमाणुभाव इति सोपपदत्वात्' निरुक्त टीका।

ही कारणात्मा में अपरिणामी हैं और कार्यात्मा में परिणामी हैं। यहाँ अनित्य शब्द शून्य अथवा अभाववाची नहीं है। इसे प्रतिपादित करने के लिए भगवान् दुर्गाचार्य यह सब कह रहे हैं।[1]

निर्विकार ब्रह्म ही पूर्ण सत्य हैं। वे ही विशुद्ध करणात्मा हैं। उनकी सत्ता से ही सबकी सत्ता है। उनका ज्ञान ही सबका ज्ञान है। उनका आनन्द ही सबका आनन्द है।

श्रुति ने "ज्ञान ही ब्रह्म है" यह कहा है। ज्ञान ही ब्रह्म है, यहाँ ज्ञान शब्द ज्ञा धातु के उत्तर में भाववाच्य ल्युट् प्रत्यय करके सिद्ध हुआ है। जो अखण्ड हैं, जो नित्य हैं, जो पूर्वापरीभूत अवयव विशिष्ट नहीं हैं, उनकी प्रकृति अथवा स्वभाव में जाना (ज्ञा) यह सकर्मक धातुत्व कैसे उपपन्न है? वेदान्तिकगण निर्विकार ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में वृत्तिधर्म के आरोप द्वारा उनमें 'जाना' इस धातुत्व की उपपत्ति प्रदर्शित करते हैं। निर्गुण ब्रह्म में कर्तृत्व, ज्ञातृत्व वास्तव में नहीं है। वेदान्त दर्शन भी इसे स्वीकार करता है। तब ऐसी स्थिति में ब्रह्म के कर्तृत्व तथा ज्ञातृत्व की उपपत्ति प्रदर्शनार्थ इतने तर्क-वितर्क का क्या प्रयोजन? हमारी जिज्ञासा अभी भी विनिवृत्त नहीं है। अभी भी चित्त स्वास्थ्य-लाभ नहीं कर सका है। तब सांख्यदर्शन के साथ वेदान्त का पार्थक्य क्या है अभी भी मन में यह प्रश्न उठ रहा है। वेदान्त का कथन है कि निर्विकार ब्रह्म वास्तव में उदासीन है। तब ब्रह्म के कर्तृत्व तथा ज्ञातृत्व का प्रतिपादन करने के लिए उन्होंने विविध तर्क-वितर्क किया है। इसका कारण क्या है?

ब्रह्म शब्द श्रुत्यादि शास्त्र में परब्रह्म तथा अक्षर ब्रह्म, इन द्विविधभाव के वाचक रूप में व्यवहृत है। नाम रूपादि उपाधि विशिष्ट ब्रह्म अपर अथवा कार्यब्रह्म है और नामरूपादि विवर्जित सर्व उपाधि वर्जित ब्रह्म ही परब्रह्म अथवा कारणब्रह्म है। भगवान् बादरायण कहते हैं कि परब्रह्म के सामीप्य हेतु अपरब्रह्म को समझाने के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग दोषपूर्ण नहीं है। परब्रह्म ही उपाधियुक्त होकर अपरब्रह्म नाम से अभिहित होते हैं।[2] हिरण्यगर्भ को कार्यब्रह्म नाम से कहा गया है। भगवान् दुर्गाचार्य कार्यब्रह्म को ही कार्यात्मभाव-सोपपदभाव तथा कारणब्रह्म को कारणात्मभाव अथवा उपपदविहीन भाव कहते हैं। विष्णुपुराण में कहा गया है कि "ज्ञान ही परब्रह्म है। ज्ञान ही बन्धन का कारण है। विश्व ज्ञानात्मक है, ज्ञान से परे कुछ भी नहीं है। हे

---

1. "एतेनैव ईश्वरपरमाण्वादिभावाः प्रत्युक्ताः। ईश्वरभावः परमाणुभाव इति सोपपदत्वात्। शून्यं तर्हि। तदपि न। यस्माच्छून्यशब्दोऽपि भावशब्दासङ्गदर्शनम् नह्यसत्यर्थे शब्दः प्रयुज्यते। शब्दोहि शब्दस्यत्तर्थेन सम्बन्धः किञ्चित्तदस्ति यच्छून्यमिति... किं तर्हि अपेक्षाकृतं शून्यत्वमिति। भावशब्द एवात्रोपपदत्वेनयुक्त इति चेत् प्रयोगाप्रसिद्धेः। नहि अभावे भाव इति प्रसिद्धः प्रयोगः। न च प्रयुज्यमानोऽपि भावशब्दो भावशब्द एवोपपदत्वेन प्रधानादि शब्दवत् किञ्चिद्विशेषप्रत्यमादधाति तस्मात् सर्वोपपदहीनस्य भवतरात्मभावेनेदं जगन्नित्यम् इतरैस्तु भावविकारैः परमाण्वादिभिर्भावविकारात्मभिरनित्यम्" —निरुक्त टीका
2. 'सामीप्यात्तु तद्ष्यपदेशः' —वेदान्तसूत्र 4/3/8

मैत्रेय! विद्या तथा अविद्या, इन दोनों को ही ज्ञान मान कर अवधारित करो।'' निरुपाधिक ब्रह्म को विद्या तथा सोपाधिक ब्रह्म को अविद्या कहते हैं।[1]

प्रकृति तथा माया को ब्रह्म से भिन्न समझने से द्वैत ज्ञान ही में रहना होता है। अचेतन चेतन अधिष्ठान के बिना कर्म कर सकता है, ऐसा ज्ञान चरम पुरुषार्थ सिद्धिपथ अथवा निर्वाण मुक्ति लाभ के मार्ग में प्रतिबन्धक है। वेदान्त दर्शन में इसीलिए प्रकृति तथा माया ब्रह्म से भिन्न नहीं है। चेतन अधिष्ठान के बिना अचेतन कोई कर्म नहीं कर सकता, इसका प्रतिपादन करते हैं। प्रकृति अन्ध है। चिच्छक्ति के सन्निधान से निमित्तनिरपेक्ष होकर प्रकृति कोई कर्म नहीं कर सकती। यह सांख्यदर्शन का मत है। दो प्रकार द्वारा इत—ज्ञात द्वीत, द्वीत का भाव द्वैत। अतः द्वैत शब्द नाम तथा रूप का वाचक है। नामरूप रहित भाव ही अद्वैत है।[2] श्रुति ने विकार अथवा कार्य को नाममात्र, व्यावहारिक सत्य कहा है। पारमार्थिक सत्य नहीं कहा है। घट कार्य है, मृत्तिका कारण है। मृत्तिका के बिना घट का अस्तित्व नहीं रह जाता, केवल नाम रह जाता है।[3] तन्त्रान्तर में सांख्यादि द्वैत प्रतिपादन के पश्चात् शास्त्रसमूह में द्वैत (नाम-रूप) का प्रतिपादन वस्तु अथवा सद्रूप में किया गया है। इसीलिए अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन ने इतना तर्क-वितर्क किया है।

चेतन सन्निधान मात्र से देह-इन्द्रिय-मनः प्रभृति में क्रिया होती है, इसीलिए चिच्छक्ति में प्रेरकत्व-जनकत्वादि धर्म का आरोप किया गया है। श्रुति पाठ से ज्ञात होगा कि ब्रह्म के दो लक्षण प्राप्त होते हैं। तटस्थ तथा स्वरूप। जिससे विश्व जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें विश्व प्रपंच अवस्थान करता है, अपिच जिसमें इसका लय हो जाता है, वे ब्रह्म हैं।[4] वेदान्तदर्शन ने ब्रह्म के इस तटस्थ लक्षण की इस सूत्र से व्याख्या की है—'जन्माद्यस्य यतः'। अर्थात् जिन कारण से विश्व प्रपंच का जन्मादि होता है वे ब्रह्म हैं।[5] यह ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है। जिस रूप में जो निश्चित होता है, यदि उसका उस रूप में कदाचित् व्यभिचार न हो तब वह सत्य है। अनृत अथवा मिथ्या एतद् विपरीत है। इसी कारण श्रुति ने विकार को मिथ्या कहा है। जो सत्य है, वही सत्य है। अतएव ब्रह्म ही सत्य है। सत्य शब्द द्वारा निर्विकार ब्रह्म लक्षित हो रहे हैं। जो सत्य है, जो वस्तु है, वही कारण है, जो कारण है, वही है कारक।

---

1. ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते। ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम्। विद्याविद्ये च मैत्रेय ज्ञानमेवापधारय —विष्णुपुराण
   तथा—निरुपाधि ब्रह्मैवविद्या सोपाधितदेवाविद्येति —मञ्जूषा
2. ''द्वैतशब्देन च द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामितं ज्ञातं द्वीतं तस्य भावो इति व्युत्पत्या नामरूपे उच्यते तद्रहितं चाद्वैतशब्देन'' —मञ्जूषा
3. विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् — छान्दोग्योपनिषत्
4. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसं विशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति—तैत्तिरीयोपनिषद्.
5. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म —वही

ब्रह्म का विशेषण ज्ञान शब्द भावसाधन है। 'ज्ञा' धातु के उत्तर में भाववाच्य 'ल्युट्' प्रत्यय करके यह सिद्ध होता है। ब्रह्म विशेषण ज्ञान शब्द को भावसाधन स्वीकार न करने से इसकी सत्यता तथा अनन्तता उपपन्न नहीं होती। ज्ञान कर्तृत्व के कारण विक्रियमाण परिवर्तनाधीन ब्रह्म कैसे सत्य तथा अनन्त होगा? जो किसी कारण से प्रविभक्त नहीं होता, वही है अनन्त। ज्ञानकर्तृत्व ज्ञेय तथा ज्ञानकरण द्वारा प्रविभक्त हो जाता है। छान्दोग्य श्रुति ने इसीलिए कहा है कि "जो अन्य को जाने वह भूमा अपरिच्छिन्न-अविभक्त (Unconditioned) नहीं है, वह अल्प है। परिच्छिन्न है। लौकिक ज्ञान परिच्छिन्न, अन्धवत् ब्रह्म भी अनन्त है। इसीलिए ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कहा है। इसीलिए ब्रह्म का विशेषण ज्ञान शब्द भावसाधन है। स्वरूपलक्षण द्वारा श्रुति ने सर्वधर्म-त्यागपूर्वक अद्वैत, अशुद्ध, शुद्धब्रह्म को लक्ष्य किया। कणाद आदि महर्षिगण ने भी विश्व प्रपंच के मायिक मिथ्याभूत अनृत रूप तथा ब्रह्म अथवा क्षतरूप, इन द्विविध रूप का विमल ज्ञान दृष्टि से अवलोकन किया है। तब बोधनीय शिष्यों के अधिकार की ओर दृष्टिपात करके उनके मायिक रूप का अपलाप करके ब्रह्म अथवा सत्य रूप से प्रतीयमान परमाणु आदि द्वारा सृष्टि तत्व की व्याख्या की थी।

अतएव नागेश भट्ट कहते हैं कि कणादादि महर्षियों द्वारा कहे गये पदार्थ-समूह का शुष्क तर्क बल द्वारा खण्डन करने की चेष्टा युक्तिसंगत नहीं है। वास्तव में असत् होने पर भी परमाणु आदि पदार्थ जब सद्रूप में भासमान होते हैं, तब सर्वज्ञ ऋषियों की रीति के अनुसार उनकी कल्पना करना ही कर्त्तव्य है। परमार्थसार में कहा गया है कि रागान्ध पुरुष शास्त्रीय सिद्धान्तों में अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार जिस सिद्धान्त को समीचीन मान कर भ्रमण करते हैं (समीचीन मानने पर भी वास्तव में चित्त स्वास्थ्य-लाभ नहीं कर पाता (सन्तुष्ट नहीं हो पाता) इसीलिए भ्रमण करना कहा है), हम सर्वात्मवाद बुद्धि द्वारा (सर्वात्मवाद सब आत्मा ही हैं) उन-उन सिद्धान्तों का अनुमोदन करते हैं।[1]

नागेशभट्ट प्रभृति विद्वानों के ऐसे वाक्यसमूह का अभिप्राय है कि ऋषिगण तत्वदर्शी होने पर भी बोधनीय लोगों के बोध सामर्थ्य के अनुसार भिन्न-भिन्न उपदेश प्रदान करते हैं। सभी अद्वैत ज्ञानी होने योग्य नहीं हैं। इसीलिए द्वैत का समर्थन किया है। सर्वज्ञ ऋषिगण ने जिस रीति का अनुसरण किया है, वह निश्चय ही हितकारी है। ऋषियों के तत्वोपदेश की रीति कदापि निष्प्रयोज्य नहीं है। वे कोई भी बात अनर्थक नहीं करते। अतः वाग्युद्ध न करके तत्वज्ञानार्जन के लिए यथाविधि साधन ही कर्त्तव्य है।

वेदान्त दर्शन सगुण ब्रह्म को ही विश्व की सृष्टि-स्थिति-संहार का कारण कहते हैं। निर्गुण ब्रह्म निष्क्रिय है। यह वेदान्त दर्शन का भी मत है। अतः सांख्य के

1. यद्यत् सिद्धान्तागमतर्कादिषु भ्रमन्ति रागान्धाः।
अनुमोदामस्तत्तत्तेषां सर्वात्मवादधिया। —परमार्थसार

सिद्धान्त को वेदान्त एकबारगी अकिंचित्कर नहीं कह सकता। आदि सर्ग को जिस कारण से सांख्य ने अबुद्धिपूर्वक कहा है, उसे संक्षेप में कहा गया। महत् अथवा बुद्धितत्व का विकास होने के पूर्व बुद्धिपूर्वक कर्म नहीं हो सकता था। इसलिए आदि को सांख्य ने अबुद्धिपूर्वक कहा है। सांख्य के महत्तत्व, वेद के हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति, वेद के कार्यब्रह्म सब एक ही हैं। अखिल जगत् के अधिष्ठान रूप परब्रह्म ही हैं। वे प्रजापति के पिता हैं तथा चित् प्रतिबिम्बिता मूल प्रकृति उनकी माता हैं। सांख्य ने हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति को अर्थात् ब्रह्म की सृष्टि को अबुद्धिपूर्वक कहा है। श्रुति तथा श्रुति तात्पर्य प्रकाशक वेदान्त का उपदेश है कि हिरण्यगर्भ की सृष्टि ईक्षणपूर्वक है। ईक्षण शब्द का प्रयोग श्रुति ने किस अर्थ में किया है? अविद्या अथवा प्रकृति की जो सर्गोन्मुखा परिणति है, जो विक्षोभ है, वही है ब्रह्म का ईक्षण। प्रकृति का विक्षोभ स्वतः नहीं होता, क्योंकि जड़ की स्वतः प्रवृत्ति नहीं होती। सांख्य के साथ वेदान्त का यहाँ मतविरोध है। वेदान्त का ईश्वर मायाधिष्ठित चिच्छक्ति है। सांख्य का ईश्वर महत्तत्व अवश्य हिरण्यगर्भ है। सांख्य के ईश्वर ब्रह्मा-विष्णु-महेश हैं, सांख्य नित्य ईश्वर स्वीकार नहीं करता। सांख्यदर्शन चिच्छक्ति के व्यापार को अंगीकार नहीं करता। सांख्य यह बात मानता है कि पुरुष अथवा चिच्छक्ति के सान्निध्य के कारण प्रकृति ही महत्तत्वादि रूप में परिणत हो गयी। अचेतन प्रकृति को स्वभावतः शक्तितः सांख्यदर्शन ने मान्यता दी है। जीव के जन्मतत्त्व पर विचार करने के लिए प्रवृत्त होने पर हम बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक कर्म की चेष्टा करने में क्यों प्रवृत्त हुए?

जीव के जन्म के सम्बन्ध में वेदादि से जो उपदेश प्राप्त किया है, आधुनिक विज्ञान वर्णित जीव के उत्पत्ति तत्त्व के साथ इन सभी उपदेशों की सर्वांश में एकता नहीं है। एक ही विषय के यदि परस्परविरुद्ध बहु प्रकार के सिद्धान्त जागरूक होते हैं, तब किस सिद्धान्त को समीचीन मानकर ग्रहण किया जायेगा? परीक्षा द्वारा जिस सिद्धान्त का सत्यत्व प्रतिपन्न होगा, उसे ही सत्य मानकर ग्रहण किया जायेगा। साधारण लोगों को यही बतलाया जा सकता है। किन्तु बात यह है कि अतीन्द्रिय या परोक्ष विषयों के प्रकृततत्व क्या स्थूलप्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा निश्चित किये जा सकते हैं? क्या इन्द्रियों से परे जो विषय हैं, उनकी परीक्षा स्थूल इन्द्रियों से की जा सकेगी? शास्त्र कहते हैं कि परोक्ष विषयों का तत्व अवगत करने का एकमात्र उपाय आप्तोपदेश है। वेद ही मूल तथा प्रधान आप्तोपदेश है। वेद तथा शब्द एक ही पदार्थ है। अतः वेद का स्वरूप जानने के लिए शब्द के स्वरूप से अवगत होना नितान्त आवश्यक है। जो वेद को तथा शास्त्रों को अतीन्द्रिय अथवा परोक्ष विषयों की अवगति के लिए एकमात्र हेतु मानते हैं, ऐसे तत्वजिज्ञासु तथा सत्यानुत्सन्धित्सु के लिए वेद के स्वरूप को जानने की चेष्टा करना स्वाभाविक ही है। ऋषियों ने वेद को जिस दृष्टि से देखा था, ऋषियों के

नयन में वेद जिस प्रकार से उपादेय पदार्थ के रूप में प्रतिभात हो सका था, वर्तमान काल में अत्यल्प व्यक्ति ही वेद को उस दृष्टि से देखने में सक्षम हैं।

ऐसी दृष्टि से देखना तो दूर की बात है, आज के (नवशिक्षित) लोग वेद को अर्धसभ्यावस्था का काव्य जानकर उपेक्षा करते हैं। मैं तो शास्त्र का दासानुदास होने की अभिलाषा रखता हूँ। मैं वेद तथा वेदपूजक ऋषि तथा आचार्यों के उपदेशानुसार अथवा सहज प्रतिभा की प्रेरणा से वेद को ब्रह्म अथवा ईश्वर से अभिन्न पदार्थ कहने का इच्छुक हूँ। वेद के बिना जीव की गति ही नहीं है। दुस्तर भव परावार में वेद ही एकमात्र नौका है। वेद इहलोक, परलोक का एकमात्र बन्धु है। यही मेरी धारणा है। ज्ञाननिधि पितृ-पितामहगण जो वेद-चरणों में लुण्ठित-विलुण्ठित हुए थे, मैं भी उसी प्रकार वेद-चरण में लुण्ठित-विलुण्ठित होने की श्लाघा लिये हुए हूँ। वेद के सम्बन्ध में मेरा पूर्ण विश्वास है। तभी मैं स्थान-अस्थान का विचार किये बिना वेद की महिमा-कीर्त्तन की इच्छा करता हूँ। वेद के सम्बन्ध में मेरा ऐसा विश्वास है कि हजारों मुख से उसका गुणगान करना मेरे लिए परम पावन कर्त्तव्य है। 'वेद' शब्द का उच्चारण करने से मेरा दृढ़ विश्वास है कि उससे भगवान् का ही नामोच्चारण हो रहा है।

पूज्यपाद महर्षि शौनक कहते हैं कि द्विजगण जितनी संख्या में वेदाक्षर का पाठ करते हैं, वे उतनी संख्या में हरिनाम कीर्त्तन कर रहे हैं।[1] पूज्यपाद भगवान् शौनक का उपदेश प्राणों में धारण करने की इच्छा करता हूँ। जीव के जन्म के सम्बन्ध में वेद ने जो कहा है, वही परमसत्य है, यह मेरा विश्वास है। अनेक का कथन है कि वेद का कथन—उपदेश प्रायः रूपकादि से आवृत है, अलंकारिक है। वेद से सत्य का आविष्कार करना तथा जीव-जन्म के सम्बन्ध में मन्तव्य की अनुवृत्ति करना दुःसाध्य व्यापार है। जीव के जन्म के सम्बन्ध में वेद से जो उपदेश मिला है, उनका तात्पर्य यह है कि उनका तात्पर्य परिग्रह करने के लिए, यथाशक्ति निष्कलंक वेद पर आरोपित कलंक के अपनोदनार्थ हम कुछ चेष्टा करें। वेद तथा शब्द एक ही पदार्थ है। इसलिए शब्द का स्वरूपदर्शन आवश्यक है। आप्तोपदेश श्रेष्ठ प्रमाण है। उसका प्रतिपादन करने के लिए शब्द का स्वरूपावलोकन आवश्यक है। शब्द का स्वरूपदर्शन करने से यह ज्ञात होता है कि शब्द निर्गुण ब्रह्म है। वह विश्व का उपादान कारण है। शब्द ही निमित्त कारण भी है। शब्द से ही विश्व जगत् सृष्ट है। शब्द में ही जगत् स्थित है। लय काल में इसी में विलीन हो जाता है। विज्ञान तथा दर्शन शब्द का ही तत्वान्वेषण करता है। ताप-तड़ित् आलोक इत्यादि सब शब्द का ही परिणाम है। परमाणु तथा अणु भी शब्द का कार्य है। प्राण-मनः-बुद्धि शब्द से भिन्न नहीं है।

---

1. ''वेदाक्षराणि यावन्ति कीर्त्तितानि द्विजानतिभिः तावन्ति हरिनामानि कीर्त्तितानि न संशयः ॥''
—ऋग्विधान

जगत् कर्ममूर्त्ति है। कर्म का आकर्षण ही प्रकृति की साम्यावस्था की विच्युति का कारण है। कर्म ही सुख-दुःख का दाता है। बुद्धिपूर्वक कर्म का यह द्विविध रूप हमारे ज्ञाननेत्रों में पतित होता है। जन्म-मरण-स्थिति-वृद्धि-विपरिणाम-अपक्षय ये सब कर्म अथवा क्रिया की ही अन्य अवस्थाएँ हैं। जीव का जन्मतत्व अथवा विश्व के जन्म आदि षड्विकार का तत्व जानने के लिए 'कर्म' पदार्थ का तत्वानुसन्धान प्रयोज्य है। शब्द ही वास्तव में कर्म का निष्पादक है। शब्द ही बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक कर्मों का कारण भी है। ये दोनों शब्द भी उनके कर्म के स्वरूप हैं। अतः इनके प्रतिपादन की क्या आवश्यकता? वेद के स्वरूप का दर्शन करने के लिए इस शास्त्रोपदेश के कर्म को जानना होगा कि "विश्व जगत् शब्द का परिणाम है, देवता आदि सभी विश्वप्रपंच शब्द से सम्भूत हैं। जो मन्त्र का साधन करने के इच्छुक हैं, जो उसका प्रयोजन जानते हैं तथा मन्त्रशक्ति में विश्वास रखते हैं, उन्हें लक्ष्य करके यह कहना है कि दर्शनाध्ययन को व्यवहार में लाने के लिए, आधिभौतिक तथा जड़विज्ञान एवं अध्यात्मविज्ञान के सम्बन्ध में जानने के लिए प्रत्यावृत्त (Reflex) अथवा स्वयंसिद्ध (Automatic) कर्मसमूह के तत्व का निरूपण करने के लिए यह प्रतिपादन करना होगा कि बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक दोनों कर्म का शब्द ही कारण है।"

शब्द कहने से हम साधारणतः श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य गुण अथवा कर्म (Motion) को समझते हैं। वेदादिशास्त्र जिस शब्द को देवतादि विश्वप्रपंच का कारण मानते हैं, वह श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य गुण पदार्थ नहीं है। भाषा परिच्छेद में शब्द को वीचितरंगन्यायानुसार उत्पन्न पदार्थ कहा गया है।[1] वीचितरंगन्याय किसे कहते हैं? वीचि का अर्थ है उर्मि (Vave)। जलाशय में पत्थर फेंकने से देखा जाता है कि पत्थर से आहत स्थान पर प्रथमतः उर्मि की मण्डलाकार छोटी-छोटी तरंगें (Ring of Wave) उठती हैं। तदनन्तर वे उत्तरोत्तर वृत्ताकार प्रसारित हो जाती हैं। एक उर्मि से अन्य उर्मि, इस प्रकार उर्मि पर उर्मि उठने लगती है। इसे वीचितरंग- न्याय कहा गया है। प्रशस्तपाद कहते हैं कि संयोग-वियोग शब्द से वीचिसन्तान से (Propogation) शब्द का सन्तान होता है। एक जलवीचि से तद्व्यवहित देश में जैसे अन्य वीचि (Wave) उत्पत्ति होती है, उससे अन्य, इस प्रकार से जैसे वीचि का सन्तान होता जाता है, उसी प्रकार एक देश से उत्पन्न शब्द से अव्यवहित देश में शब्दान्तर की उत्पत्ति होती है। उससे अन्य शब्द का, इस प्रकार से शब्द सन्तान (Propogation) होता चला जाता है। इस वीचितरंगन्याय से उत्तरोत्तर वर्द्धित होते-होते शब्दोर्मि कानों में समागत होकर गृहीत होती है।[2] जर्मनी के विद्वान्

---

1. सर्वशब्दो नभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते। वीचितरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्त्तिता। (भाषा परिच्छेद)।
2. "शब्दाच्च संयोग विभागनिष्पन्नाद्विचीसन्तानवच्छब्दसन्तान इत्येवं सन्तानेन श्रोत्रदेशमागतस्य ग्रहणम्" (प्रशस्तपदभाष्य)

हेल्महोल्ज अपने ग्रन्थ 'The Sensation of the Tone' में शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विवेचना कर गये हैं।[1]

जलाशय में पत्थर फेंकने से उत्तरोत्तर उर्मिसन्तान अवश्य होते हैं, किन्तु जिन जलीय अणुओं द्वारा आद्य उर्मि की उत्पत्ति होती है, वह द्वितीय उर्मिमण्डल का समवायि कारण नहीं है। द्वितीय उर्मिमण्डल उन अणुओं द्वारा संगठित नहीं होता। उर्मि के कारण जलीय अणु अपने-अपने स्थान को छोड़कर उर्मि के साथ नहीं चले जाते। प्रत्येक उर्मि ही पृथक्-पृथक् जलीय अणुओं से संगठित होती है। वीचिरूपेण जो चला जाता है, वह कौन पदार्थ है? पण्डित हेल्महोल्ज कहते हैं, वह केवल परिस्पन्दन है। शुद्ध कम्पन है, जो जलपृष्ठ का, जल के दृश्यांग का परिवर्तित रूप है। अन्यथाभूत आकार है। प्रत्येक जलीय अणुराशि अपने स्थान का त्याग करके अधिक दूर न जाकर ऊर्ध्व-अधः रूप से मात्र आन्दोलित होती है। तरंगित जल में एक टुकड़ा लकड़ी फेंकने से उर्मि प्रवाह काल में जलीय अणुसमूह कैसी गति में रहते हैं, यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

जब शब्द वीचितरंगन्याय से उत्पन्न होता है, तब शब्दोर्मि प्रवाह से भी समन्तात् व्याप्त वायवीय अणुराशि स्व-स्व स्थान त्याग करके नहीं जाती। शब्दोर्मि प्रवाह जब वीचिरूपेण संचरण करता है, तब वह क्या है? वह वायवीय अणुओं का परिस्पन्दन है। परिस्पन्द क्या द्रव्य (Matter) के बिना चल सकता है? द्रव्य के बिना क्या परिस्पन्दनात्मिका क्रिया की देशान्तर प्राप्ति सम्भव है? गति क्या गतिशीलद्रव्य (Moving Matter) के बिना अवस्थान कर सकती है? "उर्मिकारण जलीय अणुसमूह स्व-स्व स्थान त्याग करके उर्मि के साथ नहीं चले जाते" इस वाक्य का यह तात्पर्य नहीं है कि उर्मि जलीय अणु के बिना संगठित होती है? उर्मि जलीय अणु विच्छिन्न होकर प्रवाहित होती है। अब बात यह है कि जिस जलीय अणु द्वारा पहली उर्मि की (जब पत्थर फेंका था) उत्पत्ति होती है, द्वितीय उर्मि की उत्पत्ति उसके द्वारा नहीं होती। उससे भिन्न अथच तत्संलग्न अणुओं द्वारा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर उर्मि उत्तरोत्तर अणुओं से गठित होती है।

ताप (Heat), आलोक (Light), तड़ित्प्रवाह (Electric currents) इत्यादि भी आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से शब्दवत् आन्दोलायित गति विशेष हैं। ये

---

1. "Suppose a stone to be thrown into a piece of calm water. Round the spot struck, there forms a little ring of wave, which advancing equally in all directions, expands to a constantly increasing circle. Corresponding to this ring of wave, sound also proceeds in the air from the excited point and advances in all directions as for as the limits of the mass of air extend the process in the air is essentially identical with that of surface of water."

—The Sentation of Tone, Page 9, Helmholt

भिन्न-भिन्न रूप परिस्पन्दनात्मक क्रिया हैं। ताप तथा आलोक के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों में दो मत प्रचलित हैं। एक पक्ष कहता है कि ये सूक्ष्म द्रव्य पदार्थ हैं, दूसरा पक्ष इनको द्रव्य की अवस्थाविशेष (A Condition of matter) कहता है। स्थिति स्थापक धर्म विशिष्ट समन्ता द्व्याप्त ईथर नामक पदार्थ की द्रुत आन्दोलायित गति अथवा प्रकम्पन से ताप तथा आलोक की उद्‌भूति होती है। ताप तथा आलोक की उत्पत्ति सम्बन्धित यह मत प्रसिद्ध वैज्ञानिकों द्वारा समादृत भी हो गया है। वैज्ञानिक पण्डित डेवी (Devy) ताप को भेद वृत्तिक गति विशेष (Repulsive Motion) कहते हैं। ताप कार्य में गति (Motion) ही साक्षात् कारण है। ताप संचार नियम तथा गति संक्रमण नियम प्रायः एकरूप है।[1] तड़ित् (Electricity) पदार्थ के सम्बन्ध में भी वैज्ञानिकों ने नानाविध सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। फैराडे (Faraday) के मतानुसार अणुओं की संघर्षण निमित्तक विशेष अवस्था ही तड़ितावस्था है। किसी मत से सूक्ष्मतम सर्वदिक्‌व्यापी आलोकवाहन 'ईथर' नामक पदार्थ के साथ तड़ित् की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है। कोई-कोई ईथर को ही तड़ित् कहते हैं। इनके मतानुसार द्रव्यपृष्ठ संलग्न ईथर का स्वस्थान भ्रंश ही धन तथा ऋण, इन दो तड़ितावस्था के अपादान का कारण है। ताप-आलोक-तड़ित् इत्यादि जो आणविक स्पन्दन से अभिव्यक्त होता है, उसमें कोई सन्देह नहीं है। अणुसमूह का संयोग-विभाग अथवा आकर्षण-विप्रकर्षण ही गति का उत्पादक है। पण्डित ग्रोभ के अनुमान से भौतिक द्रव्य की आणविक तरंग से आलोक तथा ताप की अभिव्यक्ति होती है। विद्वान् ग्रोभ ईथर के अस्तित्व को नहीं मानते। अध्यापक रेमा कहते हैं कि ईथर तो साधारणतः परिचितभूत है, विजातीयभूत (Matter) नहीं है। यह रेमा भी अंगीकृत करते हैं, तथापि उनके अनुसार यह भी मानना होगा कि ईथर कोई विजातीय भूत न होकर भी भौतिक वस्तु है। मूर्त्त भूत को यथासम्भव विरलावयव (Refraction) करने से क्या वह ईथर के समान तीव्र वेग से आलोक संचरण में समर्थ होता है? साधारण भूत कितना ही विरलीभूत क्यों न हो, वह कभी भी आलोक संचरण का द्वारीभूत (Medium) नहीं हो सकता। अतएव 'तैजस ईथर' (Luminiferous Ether) नामक पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार करना ही होगा। वैज्ञानिकों में से कोई-कोई ताड़ित् ईथर तथा तैजस ईथर रूप से ईथर को भागद्वय में विभक्त करते हैं।

नोदन अथवा अभिघात के संयोग से एक द्रव्य अथवा अणुपुञ्ज में आद्यकर्म उत्पन्न होता है। इसी आद्यकर्मजनित संस्कार से तत्परिवर्त्ती द्रव्य अथवा अणुपुंज से

1. It may with propriety be called the repulsive motion... The immediate cause of the phenomenon of heat, then, is motion, and the laws of its communication precisely the same as the !aws of the communication of motion. — Heat, By P.G. Tait, Page 27-28

कर्म उत्पन्न होता है। इस प्रकार अणुपुंज से उत्तरोत्तर कर्म का सन्तान होता है। महर्षि कणाद नोदन, अभिघात (आपीड़न) तथा संयुक्त संयोगरूपी त्रिविध संयोग को पृथिव्यादि कर्मोत्पत्ति का कारण मानते हैं। शक्ति का संचार एक देश से अन्य देश में दो रीति से होता है। छोड़ा गया तीर (Arrow) बृहन्नलिका यन्त्र (Cannon) युक्त गोलक इत्यादि के स्थानान्तरप्राप्ति में नोदनादि कर्मोदित शक्ति से, ईषु प्रभृति आधार द्रव्य के साथ, प्रथमाधिकरण के साथ गमन करता है, किन्तु शब्द, ताप, आलोक का संचार ऐसे नहीं होता। शब्दादि शक्तिसमूह प्रथमाधिकरण के साथ नहीं करते।

नोदनादि कारण से कोई अणु साम्यावस्था (Position of Equilibrium) की विच्युति (Displacement) होने से, वह परवर्त्ती अणु के साथ नूतन दैशिक सम्बन्ध स्थापन करता है। इसी कारण परवर्त्ती अणुसमूह की साम्यावस्था से विच्युति हो जाती है। अणुसमूह की आद्य स्थानिक विच्युति नोदनादि संयोग से संघटित होती है। नोदनादि कर्म अणुसमूह की आद्यस्थान विच्युति के कारण हैं। प्रथमतः स्थान से च्युत अणुसमूह परवर्ती द्वितीय अणुसमूह के, द्वितीय भी तृतीय चतुर्थ के, इसी प्रकार पूर्व-पूर्व अणुपुंज परस्परतः अणुपुंजों की स्थानच्युति के कारण हैं।

संवेग (Velocity) अथवा शक्ति (Energy) एक आधार से आधारान्तर में संचरण (Transmit) करते हैं। अध्यापक रेमा कहते हैं कि यह बात सत्य नहीं है। संवेग द्रव्य की अवस्था विशेष है। द्रव्य की अवस्था द्रव्य को छोड़कर अन्यत्र गमन करे, यह सम्भव नहीं हो सकता। अतः 'क' नामक द्रव्य में पूर्व से विद्यमान संवेग नहीं है। वह वास्तव में 'क' नामक द्रव्य अपने साथ 'ख' नामक द्रव्य की क्रिया से समुत्पन्न है।[1] वैशेषिक दर्शन का कथन है कि नोदनादि द्वारा आद्य कर्म उत्पन्न होता है, तदनन्तर उसके द्वारा समानाधिकरण वेगाख्य संस्कार उदित होता है। अब इस स्थिति में गति का उत्तरोत्तर सन्तान (Propagation) होने लगता है।[2] कर्म का लक्षण बताते समय महर्षि कणाद कहते हैं जो एकद्रव्य है (एक द्रव्य है आश्रय जिसका) वह अगुण है (जिसमें गुण का वास नहीं है।) जो संयोग-वियोग का अनपेक्ष कारण है वह है कर्म पदार्थ[3]। द्रव्य (Substance), गुण (Attribute) तथा कर्म (Action) इन पदार्थत्रय के स्वरूप सम्बन्ध में दार्शनिक तथा वैज्ञानिकों में विस्तृत मतभेद है। इसी मतभेद के कारण पदार्थतत्व निरूपण कष्टसाध्य हो गया

1. Consequently the velocity of the body. A cannot be identically transmitted to the body B. Therefore the velocity acquired by the body 'B' is not the velocity pre-existing in the body A, But a velocity really produced by 'A' acting upon 'B'

—Molecular Mechanism, pg. 18.

2. "नोदनाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरञ्च" —वैशेषिक दर्शन
3. एक द्रव्यमगुणं संयोगवियोगेष्वनयेक्षकरणमिति कर्मलक्षणम् —वैशेषिक दर्शन 5/1/17

है। विविध तर्कोत्थापन का अवसर हो गया है। द्रव्य-गुण-कर्म सम्बन्धित मतभेद तथा भूत एवं शक्ति सम्बन्धित मतभेद एक ही बात है।

महाभाष्यकार पूज्यपाद पतंजलिदेव कहते हैं—"गुण सन्द्राव का नाम द्रव्य है।" द्रव्य के इस प्रकार निर्वाचन में अन्वर्थ हो गया है। द्रव्य का यह यथार्थ निर्वाचन है।[1] सन्द्रुत अथवा संगत हो जिससे वह सन्द्राव है। गुण का सन्द्राव = गुण सन्द्राव। जो गुण सन्द्राव है, गुणों का आश्रय है, वह द्रव्य है।[2] महर्षि कणाद कहते हैं कि जो क्रिया तथा गुण विशिष्ट है, वह समवायिकारण (Coinherent Cause) है, वह द्रव्य है।[3] जो द्रव्याश्रयी है, जो द्रव्य का आश्रय लेकर रहता है, वह है गुण। इतना कहने मात्र से द्रव्य तथा कर्म का गुण भी पदार्थ में अन्तर्भूत हो जाता है, क्योंकि द्रव्य भी द्रव्यान्तर का आश्रय लेकर रहता है। कर्म भी द्रव्याश्रयी है। जिससे द्रव्य तथा पदार्थ में गुणलक्षण अतिव्याप्त न हो, इसीलिए कहते हैं कि जो अगुणवान है वह संयोग-विभाग से अनपेक्ष न होकर कारण नहीं हो सकता, गुण को यह दो इतरेतर लक्षण प्रदत्त किया है, गुण है। जिसका वह गुणवान द्रव्य गुणवान है, किन्तु गुण गुणवान नहीं है। गुण में गुण नहीं रह सकता। इसलिए गुण और द्रव्य एक पदार्थ नहीं हो सकते। सब्स्टेन्स (Substance) शब्द Subsitando अन्यापेक्ष स्थितिशील स्वतः वर्त्तमान (What subsists by itself) किंवा Substando जो गुण तथा धर्मसमूह के आश्रय रूप से विद्यमान है (What subsists in its accidents, being the basis of qualities or attributes) से जन्मलाभ करता है। अध्यापक Bain (बेन) कहते हैं "कि साधारण शब्दबोध द्रव्य (Substance) गुण (Quality) इन पदार्थद्वय का वैधर्म्य बताया गया है, किन्तु हम जानते हैं कि इन्द्रियों द्वारा हम जो प्रत्यक्ष करते हैं, वही तो गुण अथवा धर्म पदार्थ है, अपिच द्रव्य रूपेण कल्पित पदार्थ से उसके समस्त गुणों को पृथक् करने से कोई बचा हुआ पदार्थ यथोक्त लक्षण द्रव्य रूप से अपनी विद्यमानता कदापि प्रमाणित नहीं कर सकता। सुवर्ण एक द्रव्य (Substance) पदार्थ है। सुवर्ण गुरुत्व (Weight), काठिन्य (Hardness), आनम्यता (Ductility), वर्ण (Colour) इत्यादि गुणयुक्त है।"

अब जिज्ञासा होती है कि गुरुत्वादि गुण अथवा धर्मव्यतिरिक्त किसी पदार्थ को सुवर्ण द्रव्य के रूप में ग्रहण किया जायेगा? जड़त्व (Inertra), जड़वस्तु का धर्म है। तब किस पदार्थ को द्रव्य कहा जायेगा।[4] जो द्रव्य को गुणव्यतिरिक्त स्वतन्त्र पदार्थ

---

1. अन्वर्थ खल्वपि निर्वचनं गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति —कैय्यट
2. सन्द्रयते सङ्गम्यते आश्रीयते इति सन्द्रावः। गुणनामाश्रयो द्रव्यमित्यर्थः
3. क्रियगुणवत् समवायिकारणामीति द्रव्यलक्षणम् —वैशेषिक दर्शन 1/1/25
4. Gold has the qualities of weight hardness, ductility, colour. What then is the substance gold? Matter has the property (inertia) : What is Substance? – Mental and Moral Science, Appendix, Pg. 98

कहते हैं, वे गुण व्यतिरिक्त द्रव्य नाम वाले पदार्थ के स्वतन्त्र अस्तित्व के प्रतिपादनार्थ विविध गुण के आधारस्वरूप एक अज्ञात तथा अज्ञेय तत्व को अभ्युपगम (स्वीकार) करते हैं। यही अज्ञात तथा अज्ञेय द्रव्य पदार्थ किसी अविदित स्वरूप, निगूढ़ नियमानुसार गुणसमूह को धारण करता है। जो द्रव्य को गुण व्यतिरिक्त पृथक् सामग्री स्वीकार नहीं करते, उनके सिद्धान्त में सामान्य-विशेष गुण समुदाय ही द्रव्य है। जब हम एक-एक गुण को पृथक्-पृथक् रूप से लक्ष्य करते हैं, तब वे गुण पदार्थ रूप से एवं अवशिष्ट गुणसमूह द्रव्य रूप से पृथक्-पृथक् भाव से लक्षित गुणों को आधार रूप से ग्रहण करते हैं। किसी के मत से गुण अथवा धर्म नित्य तथा अनित्य भेद से द्विविध है। जड़त्व (Inertia), जड़वस्तुजात का अपरिवर्त्तनशील अथवा नित्यधर्म एवं वर्ण (Colour), स्वच्छता, काठिन्य, स्थितिस्थापकता, दहन अथवा पाक (Oxidation) इत्यादि परिवर्तनशील अनित्य धर्म है। पण्डित काण्ट कहते हैं कि किसी स्थिर अथवा नित्य आधार अस्तित्व को स्वीकार न करने से क्रम (Succession) एवं यौगपद्य तथा सहवर्त्तिता (Sumultareity) का सातत्य उपपन्न नहीं होता। जिस नित्य अथवा स्थिर आधार में क्रम तथा यौगपद्य धृत होता है, वह द्रव्य (Substance) है। द्रव्य काल्पनिक पदार्थ नहीं है। विद्वान् मैक्वेश (Mccosh) कहते हैं कि हम जो प्रत्यक्ष करते हैं, वह गुण पदार्थ भले ही हो तथापि यौक्तिक एवं सहज ज्ञान की प्रेरणा से गुणसमूह किसी के आश्रित हैं, हम ऐसा विश्वास करने के लिए बाध्य हैं।[1] विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं—"प्रत्येक अनुभव तथा भावनामय कृत्स जीवन तब अनित्य क्षणविध्वंसी है। केवल यही नहीं, जिन पदार्थों के मध्य जीवन अतिवाहित हो रहा है, वे अपेक्षाकृत् चिर परिणामी होने पर भी त्वरित-विलम्बित चाहे जैसे भी हो, जब प्रत्येक स्व-स्व व्यक्तिता, व्यक्तिगत अस्तित्व का परित्याग करते हैं, तब इसी परिणामभावसमूह में विद्यमान अप्रत्यक्ष सत्ता का कोई अपरिणामी अथवा स्थिर पदार्थ किसी स्थिर भाव में है, हमें यह अनुमान होता है।[2] महाभाष्यकार पतंजलिदेव कहते हैं कि जिसका गुणान्तर में प्रादुर्भाव होने पर भी तत्व विहत न हो, वह द्रव्य है।[3]

भावविकारजात का स्वरूपदर्शन करने में सूक्ष्मदर्शी के नयनप्रान्त में इनका द्विविध रूप प्रतीत होता है। सूक्ष्मदर्शी भावविकारसमूह का परिवर्त्तनात्मक तथा अपरिवर्त्तनात्मक चंचल तथा ध्रुव रूप प्रत्यक्ष करके तथा स्थूलदर्शी लोग अपनी-

---

1. "We learn that the one thing permanent is its unkowable reality hidden under all these changing shapes"
— Principles of Psychology, Vol. II, Pg. 503
2. "We know it is said, only qualities, but we are constrained by reason or by common-sense to believe in a something in which they inhere."
—The Intutions of Mind, Page 142
3. "गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवत्सु तत्व न विहन्यते तद्द्रव्यम्" —महाभाष्य

अपनी प्रेरणा से उसे क्षणिक क्षणभंगुर अथवा अस्थायी समझते हैं। परिणामी धर्मसमूह के अन्वयी, परिवर्तनशील भावजात के अनुगत धर्मी पदार्थ का रूप इनकी दृष्टि में पतित नहीं होता। सूक्ष्मदर्शी कहते हैं कि जागतिक वस्तु प्रतिक्षण परिणाम प्राप्त होने पर भी तत्वतः विनष्ट नहीं होती। धर्मी के धर्मसमूह में परिवर्तन अवश्य होता है, किन्तु उसके आश्रय का अन्यथा नहीं होता। असत् की उत्पत्ति अथवा सत् का विनाश असम्भव है। न्याय वैशेषिक मत से जड़ जगत् वायवीय, तैजस, आप्य तथा पार्थिव परमाणुओं का कार्य है। परमाणु नित्य द्रव्य पदार्थ है। गुण तथा कर्म के आश्रय से द्रव्य भी नित्य एवं अनित्य रूप से दो प्रकार का है। परमाणु, आकाश, दिक्, काल तथा आत्मा नित्य है। नित्य द्रव्य नित्य गुणयुक्त है। परमाणुओं के कार्य तथा तन्निष्ठ गुणसमूह अनित्य हैं। न्याय वैशेषिक ने द्रव्यादि पदार्थत्रय को भिन्न कहा है।

सांख्य पातंजल मत से परिणामी धर्मसमूह का अनुगत धर्मी नामक पदार्थ है। द्रव्यरूप धर्मी के विकार अथवा कार्यजनन शक्ति को सांख्य पातंजल ने धर्म नाम से अभिहित किया है। धर्मीमात्र ही स्थायी है, तभी उनका धर्म, गुण तथा अवस्था परिवर्तनशील है। यद्यपि धर्मी का धर्म परिवर्तनशील अवश्य है, किन्तु किसी धर्म का अत्यन्त विनाश नहीं होता। पतंजलिदेव धर्मी तथा धर्म का स्वरूपनिर्णय करते समय जो कह रहे हैं उससे यह विदित होता है कि उन्होंने धर्म तथा धर्मी के अत्यन्तभेद अथवा अत्यन्तअभेद को अस्वीकार किया है। इनके मत से धर्मी से कथंचित् धर्म भिन्न होता है, कभी अभिन्न होता है। धर्मी से यदि धर्म भिन्न पदार्थ होता तब उसका धर्म धर्मीभाव सिद्ध न होता। जिसके साथ जिसका कोई सम्बन्ध है, वह उससे नितान्त भिन्न नहीं है। पक्षान्तर से अत्यन्त अभिन्न होने पर भी धर्म धर्मीभाव उत्पन्न नहीं हो सकता। धर्म है जिसका, वह धर्मी है, एवं धर्मी की योग्यता तथा शक्ति ही धर्म है। अतः धर्म धर्मी का एवं धर्मी धर्म का अस्तित्वज्ञापक है। धर्म जो धर्मी के अस्तित्व का विज्ञापन करता है, उसकी युक्ति क्या है? असत् से सत् की अथवा अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। जिसमें जो सूक्ष्म भाव से विद्यमान नहीं है, वह उससे कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। धर्म एक अवस्था त्यागकर अन्य अवस्था को प्राप्त होते हैं। ताप-तड़ित् आलोक प्रभृति भौतिक शक्तिसमूह परस्परतः परस्पर का धर्म ग्रहण करते हैं। ताप तड़िदाकृति आकारित होता है, तड़ित् तापाकार में परिणत हो जाता है। आलोक ताप का तथा ताप आलोक का भाव ग्रहण करता है। रासायनिक शक्ति इन तीनों का भाव ग्रहण कर लेती है। ताप-तड़ित्-आलोक इत्यादि धर्म अथवा शक्ति-समूह जब परस्परतः परस्पर के भाव से भावित होते हैं, तब यह मानना होगा कि तापादि पदार्थों में एक-दूसरे के भाव से भावित होने की योग्यता है।

ताप जब आलोकादि रूप में परिवर्तित होता है, तब उसमें पुनः तापाकार धारण की योग्यता निःसन्दिग्ध रूप से रहती है। यदि उसमें यह योग्यता अव्याहत न

रहती, तब वह पुनः तापाकार में परिवर्तित नहीं हो सकता था। इसलिए मानना होगा कि परिणामी तापादि धर्मसमूह में अनुगत, इनका अन्वयी, इनके प्रसव में समर्थ कोई स्थिर पदार्थ अवश्यमेव है। इस स्थिर पदार्थ को ही तापादि धर्म का धर्मी तथा द्रव्य कहा गया है। धर्म भी धर्मान्तर की स्वरूपापेक्षा से धर्मी हो सकता है। तन्मात्र की (सांख्य पातंजल मत से पंचतन्मात्र का धर्म अथवा कार्य) अपेक्षा करके पृथ्वीभूत को धर्म कहा जाये, तब यही पृथिवीभूत अथवा पार्थिव अणु पुनः घटादि मृद्विकार का धर्मी हो जायेगा। परमार्थतः यदि केवल धर्मी की विवक्षा हो, तब यदि धर्म एवं धर्मी का अभेदप्रतिपादन किया जाये, तब यह होने पर (अभेदोपचार के कारण) धर्मी में ही धर्म, लक्षण तथा अवस्थासमूह का अन्तर्भाव हो जाता है। इसीलिए विद्वान् मैक्वेश ने अनेकतः ऐसे ही मत का प्रकाशन किया है।[1] बौद्धगण धर्म से अतिरिक्त धर्मी पदार्थ स्वीकार नहीं करते। इनके सिद्धान्त से धर्मसमूह ही द्रव्य अथवा धर्मी है। बौद्धगण परिणामधर्मानुतापी हैं। किसी स्थिर पदार्थ का अभ्युपगम नहीं करते। वे धर्मसमूह को आश्रितरूपेण नहीं समझते। अतएव बौद्धमत से पातंजल मत की समता नहीं है।

साधर्म्य-वैधर्म्य विचार से ही वस्तुतत्व निर्णीत होता है। एक पदार्थ यदि धर्मतः पदार्थन्तर के समानरूप में प्रतिपन्न होता है, तब उसे समान पदार्थ कहा जायेगा। धर्मगत भिन्नता उपलब्ध होने पर वे विभिन्न रूप से निर्वाचित होते हैं। इसीलिए महर्षि कणाद पदार्थत्रय के साधर्म्य का विचार करते हैं। सांख्य ने त्रिगुण की साम्यावस्था को प्रकृति तथा वैषम्यावस्था को विकार कहा है। महत्तत्व-अहंकार-पंचतन्मात्र—11 इन्द्रिय—पंचस्थूल भूत तथा पुरुष, 25 पदार्थों को ही द्रव्य माना है। सांख्य मत से धर्म तथा धर्मी कथमपि भिन्न नहीं है। धर्म तथा धर्मी के अभेद के कारण वैशेषिक दर्शनोक्त गुणकर्मादि पदार्थसमूह (गुण-कर्म-सामान्य विशेष एवं समवाय) द्रव्यरूप 25 तत्व ही अन्तर्भूत हैं। ये इन 25 पदार्थ ही परस्पर प्रवेश द्वारा किसी तन्त्र में 1 संख्या में, किसी में 6 संख्या में, किसी में 16 संख्या में, किसी तन्त्र में संख्यान्तर में उपदिष्ट हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत में भी यही कहा गया है।

द्रव्य-गुण तथा कर्म के सम्बन्ध में अनेक वक्तव्य रहने पर भी हम यहाँ उनका उल्लेख नहीं कर रहे हैं। आधिभौतिक तथा जड़विज्ञान के भूत तथा शक्ति (Matter Energy) ये दो पदार्थ हैं। वैज्ञानिकों ने अपनी-अपनी प्रतिभा से इनका नानाविध लक्षण बताया है। भूत तथा शक्ति का स्वरूप इनके समक्ष भिन्न-भिन्न रूप से प्रकट हुआ है। ये उस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। मैकसायेल भूत को शक्ति का आधार, शक्ति का वाहन मानते हैं। वैशेषिक दर्शन जिस कारण से द्रव्य को गुण तथा कर्म का आश्रय कहते हैं, मैकसायेल अनेकतः उसी कारण से मैटर को शक्ति का

1. Intution of Mind ग्रन्थ का पृष्ठ 150-151 देखें

आधार अथवा वाहन (Vehicle of Energy) कहते हैं। प्रोफेसर वेमा (Bayma) का कथन है कि भूत तथा भौतिक वस्तु (Matter and Material Substance) एक ही पदार्थ नहीं है। भौतिक वस्तुसमूह में जो गति तथा कर्म को ग्रहण करे, गति तथा कर्म का जो आश्रय है, वही Matter है। भौतिक वस्तु व्यामिश्र धर्मयुक्त होने पर उनके धर्मसमूह को प्रवृत्ति शक्ति (Motive Power), क्रियाव्याप्यत्व (Mobility) तथा जड़त्व (Inertia) रूपी प्रधान 3 भागत्रय में लघुकृत किया गया है। भगवान् पतंजलिदेव दृश्य पदार्थ के स्वरूप प्रदर्शनार्थ कहते हैं कि प्रकाशशील सत्व, क्रियाशील रज: तथा स्थितिशील तम: रूप दृश्य पदार्थ भूत तथा इन्द्रियात्मक है। भूत भले ही त्रिगुण कार्य है, तब भी भूत की उत्पत्ति में स्थितिशील तमोगुण अंगी है, प्रधान है। अध्यापक वेमा का उपदेश गतिप्रवर्त्तन, गति अथवा कर्म का ग्रहण तथा स्थानिक गति (Local Motion) अथवा कर्म का संरक्षण (Conservation) रूप भौतिक वस्तुजात त्रिविध-क्रिया रूप से परिदृष्ट होता है। इन त्रिविध क्रिया की निष्पत्ति के लिए भौतिक वस्तुसमूह को प्रवृत्ति शक्ति, क्रिया व्याप्यत्व एवं जड़त्व रूप त्रिविध धर्मविशिष्ट होना चाहिए। प्रवृत्ति शक्ति ही सांख्य तथा पातंजल दर्शन में रजोगुण की संज्ञा से अभिहित है। अत: स्थितिशील तमोगुण को अध्यापक Bayma जड़त्व धर्म कहते हैं। सत्वगुण ही क्रियाव्याप्य है। भगवान् वेदव्यास तापक रजोगुण को ही तप्य कहते हैं। सत्व शब्द द्रव्य के वाचक रूप से व्यवहृत हुआ है। अध्यापक वेमा ने त्रिगुण तत्व की ही व्याख्या कुछ अंश में करने का प्रयत्न किया है। ऐसा विश्वास करने का प्रचुर कारण है। त्रिगुणतत्व का स्वरूपदर्शन यथायथ भाव में होने से यह तात्पर्य परिग्रह होता है कि गुणत्रय इतरेतराश्रयवृत्तिक, अन्योन्य मिथुनवृत्तिक, तथा परस्पराभिभव वृत्तिक हैं। यह जान लेने से Energy और Matter सम्बन्धित मतभेद का समन्वय हो जाता है। शब्द-ताप-तड़ित् प्रभृति पदार्थ-समूह के स्वरूप सम्बन्ध में पाश्चात्य विज्ञान में जो उपदेश मिलता है, हमारा विश्वास है कि सांख्य, पातंजल व्याख्यात त्रिगुणतत्व का प्रकृत रूप दर्शन हो जाने पर पाश्चात्य विज्ञान के उपदेशों का मूल्य अपेक्षाकृत अल्प प्रतीत होने लगेगा। विद्वान् किली (Keely) यह समझाने के लिए कि Electricity कौन पदार्थ है, उसे त्रिगुण प्रवाह (Tripple Currents) कहते हैं। केवल तड़ित् ही क्यों, मस्तिष्क, कीशक्ति, मध्याकर्षण शक्ति, चौम्बकाकर्षण शक्ति इत्यादि शक्तियों को त्रिगुण प्रवाह मानना उनकी उपलब्धि है।[1]

---

1. "Keely's discoveries prove that the 'Doctrine of the Trinity' should be set down as an established canon of science —the trinity of force. All nature's sympathetic streams cerebellie, gravital, electric and magnetic are made up of triple currents."

—The Science of Keely's, p. 13

गति (Motion) में रजोगुणप्रधान त्रिगुण परिणाम है। गति प्रवृत्ति में क्रियाशील रजोगुण, स्थितिशील प्रतिबन्धक उपष्टम्भ धर्मक तमोगुण इसका कारणत्व है। बाधा के बिना गति की उत्पत्ति नहीं होती। बाधा देना स्थितिशील तमोगुण का कार्य है। अतएव गति प्रवृत्ति में जो तमोगुण (Resistence) का कार्यकारित्व है, वह स्वीकार करना ही होगा। बाधा अथवा प्रतिबन्धक द्वारा अभिभूत न करने पर गति की प्रवृत्ति ही नहीं होती। बाधा का अतिक्रमण करना क्रियाशील रजोगुण का कार्य है। इसलिए गति प्रवृत्ति में रजोगुण का प्राधान्य आवश्यक है। यह सुखबोध्य है कि सत्वगुण के अभाव में क्रिया की उत्पत्ति ही नहीं होती, प्रकाश नहीं हो पाता। शुक्लयजुर्वेदप्रतिशाख्य में कहते हैं कि शब्द वाव्यात्मक है। वायु शब्द का कारण है। यह आकाश से उत्पन्न होता है।[1]

महर्षि कात्यायन शब्द को वाव्यात्मक कहते हैं। इसलिए शब्द को जानने से पहले वायु को जानना आवश्यक है। भगवान् यास्क कहते हैं कि सतत गतिशीलत्व वायु का लक्षण है। वायु अथवा गति रजोबाहुल्य त्रिगुण का परिणाम है। श्रुति ने वायु की क्रियाशक्ति को यज्ञ की योनि कहा है। जिस पदार्थ की क्रियाशक्ति को श्रुति ने यज्ञ की योनि कहा है, उसका स्वरूप क्या है? बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि जैसे धागे से पुष्पों को गूँथा जाता है, उसी प्रकार आकाश के समान विष्टम्भक, सन्धारक, सूत्रस्थानीय वायु द्वारा इहलोक, परलोक तथा अखिलभूत संग्रहीत-विधृत होता है। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि कर्मवासनासमूह का समवायी, आश्रय, प्राणिगण की समष्टि व्यष्टि रूप 17 लिंगशरीर तथा समुद्र की लहरों के समान 49 प्रकार की वायु जिसका स्थूल तथा बाह्यभाव है, उसे श्रुति ने वायु शब्द द्वारा (यहाँ) उस तत्पदार्थ को ही लक्ष्य किया है।[2]

वायु शब्द ज्ञान तथा क्रिया का सम्मूर्च्छित भाव है। प्राण जगत् के सूत्रात्मा अथवा हिरण्यगर्भ का वाचक है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रतीच्य विज्ञान का शक्ति सातत्य (Persistence of Force) नाम से लक्षित पदार्थ यथोक्त वायु का ही सधूमिक रूप है। शब्द की परा-पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैखरी अवस्था है। नाद उभयात्मक है, चित् तथा अचित्। अतएव चैतन्याधिष्ठित प्रकृति ही शब्दब्रह्म अथवा नाद है। वैयाकरणगण चिच्छक्ति को ही स्फोट शब्द द्वारा लक्ष्य करते हैं। भर्तृहरि कहते हैं कि नाद व्यङ्ग स्फोट एक अथवा नित्य होने पर भी नादाभि-व्यक्तिगत क्रमवशात सक्रम-भेदवान रूप से गृहीत होता है। अन्यथा स्फोट का पूर्ववत्व-परत्वकृत् क्रम अथवा भेद वास्तव में नहीं है।[3] चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब जिस

---

1. "वायुः कारणभूतः शब्दस्य स च खादाकाशद्युत्पद्यते "शब्दस्तत्" —शुक्लयजुर्वेदाख्य
2. बृहदारण्यक उपनिषद् तथा उसका शांकरभाष्य
3. "नादस्य क्रम जातत्वान्न पूर्वो नापरश्च सः। अक्रम क्रमरूपेण भेदवानिव गृह्यते"—वाक्पदीय

आधार से संसृष्ट होता है, उस आधार की क्रिया से स्वतः निष्क्रिय होकर भी उसी प्रकार सक्रिय रूप से प्रतीयमान होता है। उसी प्रकार से स्फोट स्वभावतः निर्विकार होकर भी नाद की विचित्रता से विचित्ररूपेण प्रतीत होने लगता है।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् में वायु को विश्व जगत् का सूत्र कहकर इस सूत्र के अन्तर्यामी अथवा नियन्ता के रूप का प्रदर्शन किया है।[2]

पृथिव्यादि भूत, प्राण, मनः, इन्द्रिय, बुद्धि तथा एक प्रकार से आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक का अन्तर्यामी आत्मा ही अमृत है। महाभाष्यकार भगवान् पतंजलिदेव ऋग्वेद के प्रमाण के अनुसार शब्दब्रह्म को अन्तर्यामी कहते हैं। शब्द की दो आत्मा है। प्रथम है नित्य, द्वितीय है कार्य।[3] जो व्यावहारिक है, वह कार्य है एवं जो सर्वव्यवहार का कारण है, सबका अन्तः सन्निवेशी है जो सर्वकर्म का आश्रय है, सुख-दुःख का अधिष्ठान है, जिसकी कार्यशक्ति सर्वत्र अप्रतिहृत है, जो सर्वमूर्त्ति की अपरिणामा प्रकृति है, जो बोधरूप है, जो प्रसव तथा उच्छेद (सृष्टि तथा संहार) शक्ति युक्त हैं, अर्थात् जो सर्वेश्वर हैं, सर्वशक्ति हैं, वे ही सर्वान्तर्यामी हैं, वे ही नित्य शब्द भी हैं।[4] वाक् अथवा शब्द ही प्रकाश्य के साथ प्रकाशन क्रिया का साधन तथा शब्द का प्रकाशक है। इसीलिए हम कहते हैं कि आधिभौतिक विज्ञान शब्द की स्तुति करता है। आधिदैविक विज्ञान शब्द की स्तुति करता है, आध्यात्मिक विज्ञान भी शब्द की स्तुति करता है। इसीलिए कहते हैं कि पंच इन्द्रियों द्वारा जिसे जाना जाता है, वह शब्द की वैखरी अवस्था है। शब्द का जड़रूप है। शब्द की आधिभौतिक मूर्ति है। प्राण-मनः-बुद्धि इत्यादि शब्दात्मक है।

व्यावहारिक शब्द को नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात इन भाग चतुष्टय में विभक्त किया गया है। नाम द्रव्य तथा गुण का, आख्यात क्रिया का वाचक है। इसे पहले भी कहा गया है। नाम कभी भी आख्यात विरहित होकर तथा उसी प्रकार आख्यात कभी नाम विरहित होकर अवस्थान नहीं करता। ये दोनों इतरेतराश्रयी हैं। द्रव्य कभी भी क्रियारहित होकर अवस्थित नहीं होता।

शब्द के सम्बन्ध में जहाँ तक चिन्तन किया गया, उससे विदित होता है कि शब्द ही ब्रह्म है, वही ईश्वर है, वही जीव है, वही प्रकृति तथा माया है। वही परमाणु है, प्राण है। वही सर्व है। पद अथवा शब्दबोध्य अर्थ का नाम है पदार्थ। जो भी पदार्थ है, वह शब्दबोध्य है। इसलिए उसे पदार्थ संज्ञा प्रदत्त है। जब विज्ञान

---

1. प्रतिबिम्बं यथानात्र स्थितं तोय क्रियावशात्।
   तत्प्रवृत्ति मिवान्वेति सधर्मः स्फोटनादयोः॥ —वाक्पदीय
2. इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिनः ब्रूहीति —बृहदारण्यक उपनिषद्
3. अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
   प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्य मिष्यते॥ —वाक्पदीय
4. द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। —महाभाष्य

तापादि को आणविक स्पन्दन कहता है, तब उसे इन सबको शब्द कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। शब्द से अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। इस बात को समझने में हमारे मन में अनेक संशय आ जाते हैं। व्याकरणादि शास्त्र ने 'शब्द के साथ अर्थ का नित्य सम्बन्ध है' यह बतलाने के लिए अनेक चेष्टा की है, परन्तु हमारी प्रतिभा में वह सम्यक् रूप से प्रतिभात नहीं हो सकी है। न जानने पर भी जैसे अग्नि में हाथ देने पर हाथ जल जाता है, उसी प्रकार ऐसे शब्द का उच्चारण करने पर जिसका अर्थ हमें ज्ञात नहीं है, उसकी अर्थोपलब्धि नहीं होती। अतएव शब्द के साथ अर्थ का नित्य सम्बन्ध है, इसे कैसे मान लिया जाये? अग्नि भी शब्द का रूपभेद है। अग्नि के साथ (अग्नि शब्द के साथ) उसका बोध्य अर्थ नित्य सम्बद्ध है, इसे सभी मानते हैं। इसी प्रकार से अन्य भूत तथा भौतिक पदार्थ स्व-स्व अर्थ तथा योग्यता के साथ नित्य सम्बद्ध हैं। शब्द कहने से हम जो समझते हैं, उनमें भी योग्यता है, यह वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है।

जब एक अणु अन्य अणु का आकर्षण अथवा विप्रकर्षण करता है, तब शब्दाभिव्यक्ति होती है। विद्वान् स्पेन्सर भी इसी मत को मानते हैं। शब्दार्थक अण् धातु में 'उ' प्रत्यय करने से अणु पद सिद्ध होता है। 'जो शब्द करे' अथवा जो सूक्ष्मत्व प्राप्त करे, वह है अणु। कोई एक वस्तु जब एक अन्य वस्तु को आघातित करती है, तब उस घात-प्रतिघात से जो क्रियोत्पत्ति होती है, अथवा कर्म उत्पन्न होता है, उसे हम गति अथवा स्थिति कहते हैं। एक वस्तु का आघात अन्य वस्तु पर करने से गति अथवा स्थिति ही उत्पन्न होती हो, ऐसा नहीं है। अत्यल्प चिन्तन से विदित होगा कि वहाँ साथ में शब्द की भी उत्पत्ति होती है। जहाँ स्पन्दन है किन्तु सूक्ष्मत्व के कारण हमें उसकी उपलब्धि न होने पर भी, वहाँ शब्द है। जो अणु को आकाशीय तरंग अथवा चक्रावर्त्त मानते हैं, वे उसे शब्द क्यों नहीं कहेंगे? अणु समूह की शक्ति है आकर्षण तथा विप्रकर्षण।

भगवान् भर्तृहरि ने अणु को भेदसंसर्ग वृत्ति कहा है। शब्द उच्चरित होने से हमारी इन्द्रियों में क्रिया होती है, वह विदित है। इन्द्रियों में क्रिया होने पर मन में भी क्रिया होती है। मन में जो क्रिया होती है, उसे हम जानते हैं। जानना किसे कहते हैं? इस शब्द का क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह यह है, यह यह नहीं है। यहाँ अनुमान समान अथवा असमान होता है। इस प्रकार वर्त्तमान विषय अथवा संवेदन के साथ अतीत अथवा पूर्वानुभूत एवं चित्त में संस्काररूपेण विद्यमान विषय अथवा संवेदन का समीकरण-सम्मेलन। जड़ जगत् में आकर्षण-विकर्षण इन दोनों का लीलाभिनय होता रहता है। अणु तथा परमाणु निरन्तर परस्परतः आकर्षण-विप्रकर्षण करते रहते हैं। फिर भी इनकी यह क्रिया अनियमित नहीं है। यह निर्दिष्ट नियमानुसार होती है। ये जिस नियम से यह क्रिया करते हैं, जड़विज्ञान उसका ही

तत्वान्वेषण करता है। अणु-परमाणुओं में सजातीय-विजातीय का भेद है। एक पार्थिव अणु के साथ अन्य एक पार्थिव अणु में जो भेद है, वह सजातीय भेद है। एक जलीय अणु से पार्थिव अणु का जो भेद है, वह है विजातीय भेद।

अद्वैतसिद्धि में ग्रन्थकार कहते हैं कि गुणगत भेद की भेदोपलब्धि के लिए विचार करने से प्रतीति होती है कि कर्म संस्कार ही भेदबुद्धि का कारण है। जड़ द्रव्य में सामान्य साधारण तथा विशेष असाधारण, इन द्विविध धर्म का निर्वाचन करना होगा। आधुनिक रसायनवेत्ता काल तथा आकर्षण-विकर्षण भेद को ही भौतिक (Physical) तथा रासायनिक (Chemical) धर्मगत भेद के कारणरूपेण अवधारित करते हैं। हाईड्रोजन, ऑक्सीजन प्रभृति भौतिक वस्तु काल-आकर्षण-विकर्षण तथा गुरुत्व भेद के कारण पृथक्-पृथक् रूपेण अभिव्यक्त हो रही हैं। यही इनका अनुमान है। शास्त्रोक्त कर्म नामक पदार्थ की स्वरूपचिन्ता करने से यह प्रतिपन्न होगा कि काल-आकर्षण-विकर्षण ये सभी कर्म पदार्थ के अन्तर्भूत हैं। अणु-परमाणु सभी का, आकर्षण-विकर्षण नहीं करते। ये इनमें से प्रत्येक की एक-एक आपेक्षिक साम्यावस्था (Position of Relative Equilibrium) है। यही आपेक्षिक साम्यावस्था सभी पदार्थों का आपेक्षिक अथवा परिच्छिन्न अहं है। इस आपेक्षिक साम्यावस्था की विच्युति कोई भी अबाध रूप से सहन नहीं कर सकता। अतः क्रियामात्र की प्रतिक्रिया है, तभी जड़वस्तु समूह स्थितिस्थापक धर्म वाले हैं।

सजातीय अणु ही सजातीय अणुओं का आकर्षण करते हैं। विजातीय भी अन्य विजातीय का आकर्षण करते हैं। रासायनिक आकर्षण विजातीय अणु अथवा परमाणुसमूह के मध्य ही होता है। यह निर्दिष्ट मात्रा के अनुसार होता है। मनमानी मात्रा में ये परस्पर रासायनिक संयोग में संयुक्त नहीं होते। इसका भी कारण है कर्म संस्कार। बात अग्राह्य न करें। अणुओं को सम्बन्धज्ञान है, अन्यथा वे कभी किसी का आकर्षण तथा कदाचित् विप्रकर्षण क्यों करते? सम्बन्धज्ञान न होने से ये निर्दिष्ट नियमानुसार कर्म क्यों करते? जड़ को ज्ञान नहीं होता, अतएव स्वीकार करना होगा कि अणु किसी अन्तर्यामी पदार्थ द्वारा नियमित होकर कर्म करते हैं। ये अन्तर्यामी पदार्थ की प्रेरणा से कार्य करते हैं, उस प्रेरणा को भी शब्दवेत्तागण शब्द ही कहते हैं।

शब्दवेत्ता 'शब्द' नाम द्वारा जिसे लक्ष्य करते हैं, अन्य दार्शनिक उसे आत्मा अथवा चिच्छक्ति भी कहते हैं। शाब्दिक गण द्वारा दृश्य पदार्थ जात के बोधक रूप से व्यवहृत 'शब्द' पद त्रिगुण के विकार अथवा कार्य रूप परमाण्वादि का वाचक है। आणविक स्पन्दन अथवा ग्राह्य शब्द के स्नायुतन्त्र में क्रिया करने से स्नायु तन्त्र के अणुसमूहों की आपेक्षिक साम्यावस्था से विच्युति हो जाती है और वे स्वभाव में अवस्थित होने के लिए सचेष्ट हो जाते हैं और अव्यहित हो परवर्त्ती अणुसमूह में स्पन्दन संचारित करते हैं। तदनन्तर चैतन्य प्रतिबिम्बित अन्तःकरण उसके ग्रहणानन्तर

समीकरण करता है। तदनन्तर यह निश्चित होता है कि यह अमुक के समान तथा असमान है। इसे ही हम जानना कहते हैं। भिन्न-भिन्न स्पन्दनों का ग्रहण अथवा इन्द्रिय में भिन्न-भिन्न प्रसिद्ध शब्दाख्य स्पन्दन श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ही गृहीत होता है। श्रोत्र के अतिरिक्त अन्य इन्द्रिय से गृहीत नहीं होता। इसी प्रकार तापादि स्पन्दन तथा उर्मिसमूह भी पृथक्-पृथक् इन्द्रियों द्वारा गृहीत होते हैं। अलग-अलग इन्द्रियों द्वारा अलग-अलग विषय क्यों गृहीत होते हैं, क्या कारण है?

भर्तृहरि कहते हैं कि ग्रहण तथा ग्राह्य में नियत योग्यता है। जिस नियम से अणुसमूह परस्परतः विशेषतः आकर्षण-विकर्षण करते हैं, भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ भी उसी नियम से भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करती हैं।[1] स्पन्दन के भेद से ही विषय का भेद होता है। इसी भेद से इन्द्रियों का भी भेद होता है। गुणत्रय का तारतम्य ही विषय अथवा ग्राह्य का तथा इन्द्रिय या ग्रहण के भेद का हेतु है। विषय अथवा ग्राह्य अपेक्षाकृत तमोगुण प्रधान परिणाम है। इन्द्रिय अथवा ग्रहण अपेक्षा सत्वगुणप्रधान परिणाम है।

जानना शब्द का जो अर्थ है, संक्षेप में कहा गया। विषय के साथ इन्द्रियों का जो सम्बन्ध है, वह अणुसमूह के पारस्परिक संयोग के समान अबुद्धिपूर्वक है, वह संस्कार तथा योग्यतामूलक है। शाब्दिकगण द्वारा उसे 'शब्द संस्कार' कहा गया है। वैयाकरणों से शब्द के स्वरूप के सम्बन्ध में जो कुछ श्रवण किया है, उसके अनुसार शब्द संस्कार तथा अणु संस्कार भिन्न नहीं है। जड़वादी कहते हैं कि अणुओं में जो परस्परतः आकर्षण-विकर्षण चल रहा है, उसमें जड़शक्ति के अतिरिक्त चिच्छक्ति को अंगीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं है। जड़शक्ति के व्यतिरिक्त चिच्छक्ति का नियन्त्रण अंगीकार न करने का जो दोष है, उसे पहले विवेचित किया गया है। हमारे बीच जो चिच्छक्ति है, वह जड़शक्ति का परिणाम नहीं है। वह स्वतंत्र है। जो इसे स्वीकार करते हैं कि चित्प्रतिबिम्बित चित्त अथवा आत्मा ही ज्ञाता है, जो यह स्वीकार करते हैं, तथा 'जड़शक्ति ज्ञाता का निर्माण करती है' इस प्रकार के मत को असार मानने की प्रतिभा से युक्त हैं, तथा यह मानते हैं कि यह जन्म ही हमारा अन्तिम जन्म नहीं है, तथा पूर्व जन्म की प्रतिभा लिंगदेह में लग्न रहती है, उनको शब्द के साथ अर्थ के नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करना ही होगा। विषय के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने मात्र से हमें जो आलोचन या निर्विकल्पज्ञान होता है, उसी से सप्रमाण होता है कि शब्द के साथ अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। सविकल्पक ज्ञानोत्पत्ति भी शब्द संस्कार का कारण है। भर्तृहरि कहते हैं कि अन्तर्यामी चैतन्य ही जैसे प्रकाशत्व का स्वरूप है, उसी प्रकार से प्रकाश अथवा अवबोध का वाक् अथवा

---

1. ग्रहणं ग्राह्ययोः सिद्धो योग्यता नियता यथा, व्यङ्ग्यत्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः। सदृश ग्रहणानां च गन्धादीनां प्रकाशकम्। निमित्तं नियतं लोके प्रतिद्रव्यमनस्थितम् —वाक्पदीय

शब्द ही स्वरूप है। वाक् या शब्द के बिना अवबोध नहीं होता। बाह्य अर्थ के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष के कारण विशेष निमित्त के परिग्रह के बिना 'वह वस्तु मात्र है', यह सत् है, ऐसा जो निर्विकल्पक ज्ञान होता है, शब्द ही उसका कारण है।

तत्पश्चात् 'यह यह, अथवा यह नहीं' इस प्रकार का सविकल्पक ज्ञान होता है वह भी विशेष-विशेष शब्द संस्कार से होता है। शब्द भावना के बिना चिन्तन कैसे होगा? उपदेश के अभाव में भी प्रथमोत्पन्न बालक का जो इन्द्रिय विन्यासादि होता है, प्रति पुरुष में अवस्थित अनादि शब्द भावना ही उसका हेतु है। अर्थ के स्मरण में भी शब्द का उल्लेख होता है।[1] सविकल्पक तथा निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्ष द्विविध है। इन्द्रिय के साथ विषय का सम्बन्ध होने मात्र ही से 'कौन कुछ है' इस प्रकार का अविकल्पित, नाम-जात्यादि योजनारहित (यह अमुक है, यह अमुक जाति है, यह मनुष्य है, वह अश्व है), वैशिष्ट्यानवगाही, निष्प्रकारक (Indefinite) ज्ञान होता है। यह ज्ञान उपलभ्यमान पदार्थ 'यह यह है' इस प्रकार के विशेषण, विशेष्यभाव द्वारा विवेचित नहीं होता। यह ज्ञान प्रत्युपस्थित वस्तु का निर्धारण मात्र करता है। यही है आलोचन ज्ञान। आलोचन ज्ञान होने के अनन्तर संकल्पात्मक मन प्रत्युपस्थित वस्तु की इदन्ता का निर्धारण करता है। उपलभ्यमान अथवा आलोचित वस्तु के विशेष-विशेष धर्म की सम्यग्रूपेण कल्पना करता है। वैशिष्ट्यानवगाही अथवा सामान्यास्तित्व ज्ञान ही निर्विकल्पक ज्ञान है। सविकल्पक ज्ञान है विशिष्ट ज्ञान।[2]

अरणिस्थ अग्निमन्थन काष्ठ गर्भ में लुक्कायित तेजः अथवा ज्योतिः यावत् अविवृत्तभाव में, तन्ववस्था में विद्यमान रहती है, तब तक किसी को दृष्टिगोचर नहीं होती। अरणि (Wood used for kindling fire) गर्भ में जो अग्नि है, तब तक उसे कोई जान नहीं सकता। घर्षण द्वारा तन्ववस्था (Potential State) में अवस्थित अग्नि जब अभिज्वलित होता है, तब वह स्वरूप तथा पररूप का प्रकाशक हो जाती है।[3]

---

1. प्रथमोत्पन्नस्य बालस्यायमिन्द्रियविन्यासादि उपदेशाभावेऽपि ज्ञानसाध्यं जायमानं दृश्यते। तस्मादनादि ज्ञानबीज शब्द परिग्रहा शब्दभावना प्रतिपुरुषमवस्थितेहि मन्तव्यम्। अर्थस्मरणस्यापि शब्दोल्लेखनैव दर्शनात् —वाक्पदीयटीका
2. तच्च प्रत्यक्षं द्विविध निर्विकल्पकं सविकल्पञ्चेति। तच्चनामजात्यादियोजनारहित वैशिष्ट्यानवगाहि निष्प्रकारकं निर्विकल्पकं सविकल्पकं च विशिष्टज्ञानं यथा.... तत्व चिन्तामणि (प्रत्यक्ष खण्ड) तथा—"सङ्कल्पकं मन इति, सङ्कल्पेन रूपेण मनोलक्ष्यते आलोचितमिन्त्रियेण वस्त्विदमिति सम्मुग्धमिदमेवं नैवमिति सम्यक् कल्पयति विशेषेण विशेषाभावेन विवेचयतीतियावत्" —तत्वकौमुदी
3. अवनिस्थं यथाज्योतिः प्रकाशान्तरकारणं। तद्वच्छन्दोऽपि बुद्धिस्यः श्रुतानां कारणं पृथक् —वाक्पदीय

भगवान् यास्क तथा निरुक्त टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी यही कहा है। बुद्धिस्थ शब्दभावना या शब्दसंस्कार ही सविकल्पक ज्ञान के कारण हैं। सांख्यदर्शन ने महत्तत्व अथवा हिरण्यगर्भ को ही बुद्धितत्व कहा है। यह तत्व समष्टि तथा व्यष्टि-भेद से द्विविध है। समष्टिभूत बुद्धितत्व है हिरण्यगर्भ। व्यष्टिभूत बुद्धितत्व परिच्छिन्न है। इसीलिए उसकी शक्ति संकीर्ण है। इसकी संकीर्णता के कारण हम बिना उपदेश सभी शब्दों के अर्थ को नहीं जान पाते। अरिणि की अग्नि के समान हमारा ज्ञान आवृत्त रहता है। जैसे अरणि में स्थित अग्नि को अरिणि घर्षणादि द्वारा अभिव्यक्ति किया जाता है, उसी प्रकार उपदेश श्रवणादि क्रिया से हम बुद्धिस्थ शब्द संस्कार को प्रबोधित करते हैं। जिनका संस्कार जितना मलिन है, जितना तामस है, उन्हें ज्ञानार्जनार्थ उतना ही अधिक श्रम करना होगा। संस्कार का जड़त्व बुद्धि को जड़ बनाता है। जड़बुद्धि मनुष्य अपने-अपने स्वभाव की प्रेरणा से स्व-स्व शब्द संस्कार के वश में कतिपय अबुद्धिपूर्वक तथा कतिपय संकीर्ण बुद्धिपूर्वक कर्म करते हैं।

इसीलिए जिस शब्द का जो अर्थ है, शब्दज्ञ पुरुष से उसे सुने बिना यथार्थ शब्दार्थज्ञान नहीं होता। इसी कारण जो शब्द के साथ अर्थ के संस्कार को मानव स्थापित अथवा सांकेतिक (Conventional) कहते हैं, उनकी दृष्टि स्थूल है। दुर्गाचार्य कहते हैं कि धातुरूपा बुद्धि ही धात्वर्थरूपेण संयुक्त होकर रहती है। धात्वादिरूपेण विपरिणाममाना बुद्धि भी शास्त्र से संस्कृत होगी।[1] ऋषिगण बिना परीक्षा किसी भी पदार्थ को सत्यरूपेण ग्रहण नहीं करते। शब्द के साथ तद्बोध्य अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। ऋषि तथा आचार्यों ने अनेक परीक्षा द्वारा यह सिद्धान्त उपनीत किया है। 'इस शब्द का यह अर्थ है', बिना उपदेश चित्तमल शोधनरूप तपस्या द्वारा भी उपलब्ध हो सकता है। किसे वेद पढ़ाना है, किसे नहीं, यह बताते समय भगवान् यास्क कहते हैं कि जो वैयाकरण नहीं है, उन्हें वेद न पढ़ायें। जो प्रकृत शिष्यभाव से तत्वजिज्ञासु होकर नहीं आये हैं, जो अभिमानरूपी राहु से ग्रस्त हैं, उन्हें वेद न पढ़ायें। जो व्यक्ति तपस्वी हैं, यदि वे व्याकरण नहीं जानते तब भी उन्हें वेद पढ़ायें। कारण, मेधावी तथा तपस्वी के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। तपस्या से वेदार्थ स्वयं प्रादुर्भूत हो जाता है।[2]

●

1. 'तथा च धातुरूपा बुद्धिस्तदर्थया संयुज्यते। बुद्धिरेव हि धात्वादिरूपेण विपरिणममाना शास्त्रेण संक्रियते' —निरुक्तटीका
2. ''निर्ब्रूयाद्यो बालं विज्ञतु स्यान्मेधाविने वा'' —निरुक्त
तथा— ''तपसा हि स्वयमपि वेदार्थः प्रादुर्भवेदेव॥'' —निरुक्तटीका

हिन्दू षड्दर्शन

लेखक : स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

अनुवादक

एस०एन० खण्डेलवाल

प्रख्यात महाग्रन्थ 'जपसूत्रम्' के प्रणेता महान् दार्शनिक, गणितज्ञ तथा मनीषी स्वामी प्रत्यगात्मानन्द प्रणीत 'हिन्दू षड्दर्शन' का भाषानुवाद प्रस्तुत करते समय कहना है कि यह ग्रन्थ इस प्रसंग की सूक्ष्म विवेचना न होकर इसका दिशानिर्देश मात्र है, जो सूत्र रूप से ग्रथित है। साथ ही षड्दर्शन का साररूप है। जो विशाल कलेवरयुक्त गूढ़ तत्त्व समावृत षड्दर्शन का समग्र अध्ययन नहीं कर सकते, तथापि इस विषय के प्रति जिज्ञासु हैं, उनके लिए यह ग्रन्थ एक पथ प्रदीप के समान है। यह ग्रन्थ केवल वागविलास न होकर मनीषियों की गहन अनुभूति एवं चिन्तना पर आधारित होने के कारण अत्यन्त उपयोगी है। प्रत्यक्ष ज्ञानयुक्त है।

तत्वानुभूति

लेखक : पद्मविभूषण महामहोपाध्याय डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज

अनुवादक : एस०एन० खण्डेलवाल

प्रातःस्मरणीय महामहोपाध्याय डॉ० पं० गोपीनाथ कविराजजी की साधनोज्वल प्रज्ञा में जिस तत्वानुभूति का प्रतिफलन हुआ था, यह उसी का संकलन है। तत्त्व से यहाँ षट्त्रिंश तत्त्व किंवा पंचतत्वादि का तापर्यार्थ नहीं है। यहाँ तत्त्व का अर्थ प्राणब्रह्म, आत्मब्रह्म, परब्रह्मरूप सत्ता है, जो तत्वातीत होकर भी सर्वतत्त्वमय है। इनका तत्वातीत रूप मन-वाणी-अनुभूति, सबसे परे है। जीवदशा में इनके इस रूप की अनुभूति कर सकना भी असम्भव है, यहाँ तक की इनकी धारणा भी इस देहयन्त्र से कोई कैसे कर सकता है? तथापि महापुरुष के अन्तःचक्षु इनके तत्त्वमय [illegible] की अनुभूति कर ही लेते हैं, यही है परमतत्त्व की अनुग्रह रूप कृपा। [illegible] कोई भी इस तत्वानुभूति का अधिकारी नहीं हो सकता। यह कृपा-सापे[illegible]

यह अनुग्रहानुभूति सामान्य जन के लिए दुष्प्राप्य है। इस [illegible] को धारण करने योग्य जिस चित्तफलक की आवश्यकता है, वह पा[illegible]ुष्य पर संश्लिष्ट कल्मष का मार्जन नहीं कर सका है। ऐसी स्थि[illegible]ए को तत्वानुभूतिपूर्ण वाङ्मयी त्रिपथगा में, ज्ञान-भक्ति-कर्म की अन्तः[illegible]ज्जन करके जिज्ञासुवर्ग अवश्य कृतार्थ होगा और उसके इस स्ना[illegible]च्छ-धौत-निष्कल्मष चित्तफलक पर किंचित परिमाण में वह अनुभूति अ[illegible] प्रतिच्छवित हो सकेगी, यह विश्वास करता हूँ।

अध्यात्म, योग, तंत्र, धर्म, दर्शन, संस्कृति विषयक प्रमुख ग्रन्थ

जपसूत्रम् (प्रथम व द्वितीय खण्ड) — स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
वेद व विज्ञान — स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
वेदान्त और आइन्सटीन — अनिल भटनागर
सृष्टि-तत्त्व तथा राजा एवं प्रजा — भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द
मानव-तत्त्व तथा वर्ण विवेक — भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द
अतीन्द्रिय लोक — गोविंद प्रसाद श्रीवास्तव
योग वासिष्ठ की सात कहानियाँ — भरत झुनझुनवाला
कुण्डलिनी शक्तियोग तथा समाधि एवं मोक्ष — डॉ० दिनेशकुमार अग्रवाल
साधना और सिद्धि (योग से आरोग्य) — डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
बृहत श्लोक संग्रह (सर्वधर्म सार) — प्रो० कल्याणमल लोढ़ा
हिन्दी ज्ञानेश्वरी — अनु० : ना०वि० सप्रे
श्रीमद् एकनाथी भागवत — अनु० : ना०वि० सप्रे
तुकाराम गाथा (संतश्रेष्ठ तुकाराम के चुने हुए अभंगों का भावानुवाद) — अनु०: ना०वि० सप्रे
मनीषी की लोकयात्रा (पं०गोपीनाथ कविराज का जीवन-दर्शन) — डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन — नन्दलाल गुप्त
योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस — अक्षयकुमारदत्त गुप्त कविरत्न
योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग तथा तत्त्व कथा — पं० गोपीनाथ कविराज
स्वर से समाधि — स्वामी कृष्णानन्दजी 'महाराज'
यंत्र-मंत्र रहस्य — स्वामी कृष्णानन्दजी 'महाराज'
गुप्त भारत की खोज — पाल ब्रंटन

म०म०पं०गोपीनाथ कविराज की अध्यात्मपरक कृतियाँ

भारतीय धर्म साधना * क्रम-साधना * अखण्ड महायोग * श्री साधना
श्री कृष्ण प्रसंग * शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी * तत्त्वजिज्ञासा
सनातन-साधना की गुप्तधारा * साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग (भाग 1-2, 3 व 4)
ज्ञानगंज * प्रज्ञान तथा क्रमपथ * परातंत्र साधना पथ * तत्त्वानुभूति * दीक्षा
साधन पथ * योग-तन्त्र साधना * रहस्यमय सिद्धभूमि तथा सूर्यविज्ञान

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

₹ 300.00
ISBN:978-81-7124-784-4
9 788171 247844
www.vvpbooks.com